

हजार दस्तूरों (पुंजारी) और विद्वानों की एक सभा की। उनमें से चार हजार चुने और चार हजार में से चार सौ, चार सौ में से चालीस और चालीस में से सात व्यक्तियों को चुनकर एक धर्म-प्रचार समिति बना दी और मरते समय अपने पुत्र को उपदेश दिया—

“यह कभी मत भूलो कि धर्म की रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार राज्य की। धर्म और राज्य एक-दूसरे की शक्ति हैं। फिर भी बिना राज्य के धर्म तो रह सकता है किन्तु धर्म के बिना राज्य नहीं रह सकता। राज्य में शान्ति रखने के लिये धर्म सर्वोत्तम साधन है। इसलिये अपने आचरण से ऐसा आदर्श उपस्थित करो जिससे तुम्हारी प्रजा धर्मात्मा बनी रहे।”

सत्य के प्रति अगाध निष्ठा— सैयद अब्दुल कादिर

प्राचीन समय में, जब यातायात के साधनों का विकास नहीं हुआ था, रेगिस्थानी देशों में एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने-जाने की बड़ी असुविधा थी। व्यापारी लोग प्रायः ऊँटों पर सामान लादकर, काफिले बनाकर चलते थे क्योंकि मार्ग में लुटेरों का भी भय रहता था।

एक बार एक विद्याव्यसनी बालक ने बगदाद जाकर ज्ञानार्जन की बात सोची। माँ ने मातृसुलभ ममत्व के वशीभूत होकर प्रारम्भ में तो उसे अपना नगर छोड़कर इतनी दूर न जाने के लिए समझाया, परन्तु बालक का हठ तथा ज्ञान-प्राप्ति के प्रति उसकी असामान्य निष्ठा देखकर अन्ततः अनुमति देनी ही पड़ी।

माता ने पुत्र की सदरी के अन्दर चालीस अशर्फियाँ सावधानी से टाँक दीं, जिससे कि किसी को उसका पता न लग पाये। चलते समय बालक को समझाया— “बेटे ! तुम्हारे पिता इतना ही धन छोड़ गये थे। इसे सावधानी से खर्च करना। एक बात ध्यान रखना—तुम पर चाहे कितने ही संकट आयें, कभी झूठ मत बोलना। अल्लाह पर विश्वास रखना, वे बुरी से बुरी परिस्थितियों में भी तुम्हारी सहायता करेंगे।

माँ की सीख बच्चे ने गाँठ बाँध ली और उनका आशीर्वाद लेकर काफिले के साथ चल दिया। रास्ते में अचानक काफिले को चारों ओर से डाकुओं ने घेर लिया। व्यापारी भय से काँपने लगे। डाकुओं ने उन्हें बहुत पीटा और सारा सामान छीन लिया।

चलते समय डाकुओं की दृष्टि सहसा एक स्थान पर खड़े बालक पर पड़ी। एक डाकू पूछ बैठा ‘अरे लड़के क्या तेरे पास भी कुछ है ?’ उसे अपनी माता की बात याद आ गयी। बोला— ‘मेरे पास चालीस अशर्फियाँ हैं।’ डाकुओं को विश्वास न आया कि इस फटे-पुराने कपड़े पहनने वाले गरीब बालक के पास इतना धन कहाँ से आया। एक डाकू ने डराया— ‘या तो अशर्फियाँ निकाल कर दे, अन्यथा अभी मारते हैं। तुझे झूठ बोलने का परिणाम भुगतना पड़ेगा।’

सभी की आँखें फटी की फटी रह गयीं जब उसने अपनी सदरी

फाड़कर चालीस अशर्फियाँ निकाल कर दीं। डाकुओं के सरदार ने पूछा— ‘लड़के क्या तुझे पता नहीं था कि हम तेरी अशर्फियाँ छीन लेंगे ?’ बालक ने उत्तर दिया— “इन थोड़ी-सी अशर्फियों के पीछे मैं झूठ कैसे बोलता। यदि तुम मेरा धन छीन लो— तो भी खुदा मेरी सहायता करेगा परन्तु झूठ बोलने तथा दूसरों को सताने वालों को खुदा कभी माफ नहीं करता।’

एक बार साधु-जनों के तनिक से वार्तालाप से लुटेरे बाल्मीकि के ज्ञान चक्षु खुल गये थे। इस इतिहास की पुनरावृत्ति यहाँ भी हुई। छोटे-से बालक के मुख से ऐसी बातें सुनकर डाकुओं के अन्तःकरण पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने उसी दिन भविष्य में कभी इस प्रकार की लूट मार न मचाने का संकल्प लिया तथा व्यापारियों को सारा माल लौटा दिया।

सत्य के प्रति ऐसी असामान्य निष्ठा रखने वाला यह बालक एक महान् सन्त हुआ। आज संसार इन्हें हजरत अब्दुल कादिर जीलानी के नाम से जानता है। मुसलमानों में ये बड़े पीर साहब के नाम से जाने जाते हैं। इनका मकबरा आज भी बगदाद शरीफ में बना हुआ है जहाँ प्रति वर्ष हजारों मुसलमान विश्व के कोने-कोने से आते हैं तथा अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

अब्दुल कादिर का जन्म लगभग नौ सौ वर्ष पूर्व ईरान देश में जीलान नामक स्थान पर हुआ था। उन दिनों जीलान के आस-पास शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था अतएव इन्होंने बगदाद जाकर ज्ञान-पिपासा तृप्त की थी।

इनका सम्पूर्ण जीवन त्याग, तपस्या और साधना की कथा है। मानव अन्तःकरण में प्रसुप्त देवत्व की भावनाओं को जगाने वाले ऐसे महापुरुषों के चरणों में जितनी श्रद्धाञ्जलियाँ चढ़ायी जायें। उतनी ही कम हैं।

अनीति के जन्मजात विरोधी— मौलवी अहमदुल्ला

उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे-पाँचवें दशक में आजादी के लिए संघर्ष करने वाले क्रान्तिकारियों में विस्मृत योद्धा मौलवी अहमदुल्ला का नाम भी सदैव याद रखा जाना चाहिए। वे आजीवन अँग्रेज और अँग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा लिए खड़े रहे और अपने अनुयायियों को दासता की जंजीरों को तोड़ देने अथवा मर जाने के लिए प्रेरित करते रहे।

पटना (सादिकपुर) के एक विख्यात मौलवी परिवार में उनका जन्म हुआ। यह परिवार अपनी विद्वत्ता और सम्पन्नता के कारण भारतीय मुसलमानों के साथ ही साथ उनके सम्पर्क में आए मुस्लिमोत्तर लोगों में भी आदर की दृष्टि से देखा जाता था। अहमदुल्ला का बाल हृदय आरम्भ से ही अँग्रेजों की कुटिल नीति तथा अत्याचारों के प्रति घृणा और विद्वेष से भरने लगा। किशोरवय में अपने साथियों को उन्होंने विरोध व्यक्त करने के लिए प्रेरित किया और स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने हेतु संगठनबद्ध भी किया। जिस परिवार का बालक

२.१२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

इतना आक्रोश व्यक्त करता है उसके अभिभावक तो और भी ज्यादा विद्रोह भावना वाले तथा खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। किशोर युवा अहमदुल्ला की गतिविधियों को देख जानकर अंग्रेज अधिकारी उनके परिवार के प्रत्येक सदस्य को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। परन्तु परिवार के प्रभाव और जन-साधारण का श्रद्धास्पद होने के कारण उन पर हाथ डालने की हिम्मत नहीं हुई।

कुछ बड़े होने पर अहमदुल्ला ने सीमा प्रान्तों की विद्रोही सैनिक छानिनियों से सम्पर्क बनाया और उन्हें प्रत्येक आवश्यक सहायता देना आरम्भ कर दिया। आदमी, रुपया, हथियार और अन्य प्रकार से उनकी मदद की। इन क्रियाकलापों का समाचार अंग्रेजों के पास भी पहुँचा। उन्होंने पर्याप्त प्रमाण जुटाए और अहमदुल्ला को अपना शिकार बनाना चाहा। जिस अधिकारी को इस कार्य के लिए भेजा था जनसाधारण पर 'मौलवी परिवार' की अगाध श्रद्धा के कारण वह भी चुप रह गया। विद्रोही छावनी के मुन्शी मुहम्मद अली और उसके साथियों को पकड़ कर उन्हें ही सजा दी गयी और मामला खत्म कर दिया गया।

मौलवी साहब को इन घटनाओं से अपनी गतिविधियाँ और अधिक तीव्र करने का साहस मिला। अब आया सन् १८५७ तब तत्कालीन क्रान्तिकारियों ने सभी स्थानों पर एक नियत दिन। सशक्त संघर्ष छेड़ देने का समय निर्धारित कर लिया था। परन्तु हृदय में भरे अपरिमित उत्साह के कारण साहसी और जान की बाजी लगाकर स्वतन्त्रता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए लालायित वीरों ने नियत समय से पूर्व ही विद्रोह कर दिया। फलस्वरूप स्थान-स्थान पर एक साथ मोर्चा सम्हालने की अपेक्षा अलग-अलग समय पर लड़ाई चली। अंग्रेजों ने स्थान-स्थान पर अपने थोड़े-से सैन्य बल से ही विद्रोह कुचलने के सफल प्रयास किये।

पटना भी इस आन्दोलन से अछूता कैसे रह सकता था। वहाँ भी उत्तेजना फैलने लगी और तत्कालीन कमिश्नर से न रहा गया। मौलवी साहब को घर बुलाया नगर में शान्ति रखने के उपायों के सम्बन्ध में परामर्श करने के बहाने। मौलवी साहब तो जानते थे कि जन-भावनाओं को और अधिक नहीं कुचला जा सकता। स्वतन्त्रता संघर्ष के रूप में जो विस्फोट हुआ है वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अवश्य ही सफल होगा। यही पक्ष रखने के लिए मौलवी अहमदुल्ला कमिश्नर टेलर के घर गये। परन्तु कुटिल टेलर तो अपने काम की तैयारी पहले से ही कर चुका था। मौलवी साहब को गिरफ्तार कर लिया गया।

सोचा गया था जनता को उत्तेजित करने तथा विद्रोह की आग फैकने का काम मौलवी साहब ही करते हैं। अभी तक तो पटना शहर में उत्तेजना ही फैली थी। जैसे ही लोगों में यह समाचार फैला कि उनके प्रिय जन-नेता को गिरफ्तार लिया गया है उपद्रव होना शुरू हो गये। ३ जुलाई, १८५७ को एक बड़े जन-समूह ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का झण्डा उतार कर अपना झण्डा फहराया और स्वाधीनता की घोषणा कर दी। एक सिख रेजीमेंट को यह आन्दोलन कुचलने के लिए भेजा गया तो भीड़ ने उसका डटकर मुकाबला किया। शस्त्रास्त्रों से लैस प्रशिक्षित सैनिकों के आगे निहत्थे या थोड़े से हथियारबन्द भी परन्तु अप्रशिक्षित लोग कब तक टिके रहते। अन्ततः सेना जनता

पर भारी पड़ने लगी। आन्दोलन शान्त होने के बाद लगभग चालीस व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया जिनमें से आठ को फाँसी हो गयी।

मौलवी अहमदुल्ला बहुत दिनों तक नजरबन्द रखे गए। अंग्रेजी शासन ने देखा कि यह 'उपद्रव' उनकी गिरफ्तारी के कारण ही जनता ने उत्तेजित होकर किया था तो कमिश्नर टेलर को पद मुक्त कर दिया गया तथा मौलवी साहब रिहा हो गये।

लाखों भारतीयों का खून बहाकर अंग्रेजों ने इस क्रान्ति को विफल कर दिया। परन्तु सीमा प्रान्त की इस विद्रोही छावनी की सक्रियता मौलवी साहब के रिहा हो जाने के बाद और भी अधिक बढ़ने लगी। क्रान्ति के बाद इस छावनी की शक्ति भी काफी बढ़ गयी। स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वाले बहुत-से विद्रोही सुरक्षा और अपने प्राण बचाकर आजादी के लिए लड़ने की संकल्प पूर्ति दृष्टि से इस छावनी में आ गए। इस समय हिन्दू और मुसलमान सभी धर्म और जाति के लोग विदेशियों को भारत से खदेड़ने के लिए पीढ़ियों से चले आ रहे बैरभाव को भुलाकर यत्नशील थे। इस छावनी के लोग ब्रिटिश चौकियों पर हमला कर अपनी सामर्थ्य के अनुसार विरोध तथा बगावत की आवाज बुलन्द करते। संख्या के रूप में नगण्य रहते हुए भी सन् १८६३ में सीमा प्रान्त पर स्थित इस छावनी में एक बार फिर विद्रोह कर दिया। सन् ५७ के बाद के वर्षों में उन्होंने पर्याप्त युद्ध सामग्री जुटा ली थी। सरहद की पहाड़ियाँ एक बार फिर शोले उगलने लगीं। अंग्रेजों ने अब की बार कूटनीतिक चाल चलनी पड़ी। पठान कबीलों को अपनी ओर फेड़ लिया। युद्ध जारी रहा परन्तु शक्ति और सामर्थ्य की तुलना में अंग्रेजी सेनाएँ भारी पड़ीं। एक बार फिर विद्रोह कुचल दिया गया।

इस युद्ध में अंग्रेज बौखला उठे और मौलवी अहमदुल्ला को दूसरी बार गिरफ्तार किया गया तथा उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। पंजाब-सरकार ने इस मुकदमे में लोगों को बहला फुसला कर अपने गवाह खड़े किए। मौलवी साहब पर सरकार के विरुद्ध युद्ध की योजनाएँ बनाने, सीमा प्रान्त की छावनी का संगठन और सहायता करने तथा विद्रोह के लिए लगातार प्रयास करने के अभियोग लगाकर उन्हें फाँसी की सजा सुना दी गयी।

हाईकोर्ट ने इस प्राण दण्ड को आजीवन कारावास में परिवर्तित कर दिया और उन्हें अण्डमान भेज दिया गया। सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी और उसे नीलाम कर दिया गया। जन-साधारण में से कोई भी व्यक्ति इस देशभक्त का सामान खरीदने के लिए तैयार नहीं हुआ इसलिए सरकारी अफसरों को ग्राहक भी जुटाने पड़े।

अण्डमान जेल में भी मौलवी साहब सीमा प्रान्त की छावनी को जीवित रखने के लिये योजनाओं पर विचार करते रहे तथा उसे अपने मित्रों, भाइयों और रिश्तेदारों को बताया करते।

सीमा प्रान्त की यह छावनी जिसे मौलवी अहमदुल्ला ने अपने जीवन से सींचा था सन् १९४७ तक बनी रही और अंग्रेजों की छाती पर मूँग दलती रही। भरसक कोशिशें करने पर भी इसे सवर्था नष्ट नहीं किया जा सका। इस छावनी के अन्तिम नेता मौलवी फजल इलाहाबादी थे जो भारत के स्वतन्त्र होने के बाद ही इस छावनी से वापस आये।

जो लोग मौलवी साहब और उनके कृत्यों से परिचित हैं उन्हें नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की आजाद हिन्द सेना के साथ ही मौलवी साहब की इस सीमान्त सैनिक छावनी का भी सहज-स्मरण हो आता है। जो अपने लक्ष्य को प्राप्त करने तक संघर्षरत रही। यों स्वतन्त्रता का त्रेय अन्यान्य लोगों को भी दिया जा सकता है परन्तु उनका साहस और देशप्रेम अभूतपूर्व है।

मिर्जा अहतशामुद्दीन

परिश्रमशील और निष्ठावान् होते हुए भी जिनका जीवन एक करुण गाथा है

अंग्रेज भारत में यद्यपि व्यापारी के रूप में आये थे। परन्तु अवसरवादिता, चालाकी, मक्कारी और झूठ-फरेबी के आधार पर वे किस प्रकार यहां के शासक बन बैठे इतिहास का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाले यह अच्छी तरह जानते हैं। १६३४ में तत्कालीन मुस्लिम बादशाहों की खुशामद और वाक्यचातुरी के बल पर अंग्रेजों ने बंगाल में अपना व्यापार आरम्भ किया था। अंग्रेज प्रारम्भ से ही अपने इरादों को किसी भी प्रकार पूरा करने के लिये प्रयत्नशील थे। व्यापार से उन्होंने राजकीय व्यवस्था में भी अपना सिर घुसाया और १६९८ में सुलामारी, कलकत्ता और गोविंदपुर की जमींदारी प्राप्त की। उस समय इस क्षेत्र का नाम कलीकाता था। कलकत्ता तो आगे चलकर कहा जाने लगा। उन दिनों दिल्ली पर शक्तिशाली और राजनीतिज्ञ मुस्लिम बादशाह राज्य करते थे। इसलिए तब तो अंग्रेजों की चल न सकी।

लेकिन जब नादिरशाह ने १७३४ में दिल्ली को लूटा और दिल्ली के बादशाहों की कमजोर नसों का राज खुला तो अपने फन के माहिर अंग्रेजों ने मौका देखकर राजसत्ता को डस लेने में बड़ी चातुरी दिखाई। बड़े पैमाने पर व्यापार कार्य के बहाने से सुरक्षा के लिए अंग्रेज सेनाओं को भी तब रखा जाने लगा था और जब इतना प्रबन्ध कर लिया कि वे किसी देशी रियासत से टकरा सकें तो तो क्लाइव के सेनापतित्व में अंग्रेजी सेनायें बंगाल पर टूट पड़ीं और नवाब को हराकर अंग्रेजी राज की नींव रखी। इसी कारण लार्ड क्लाइव भारत में अंग्रेजी राज्य की आधारशिला रखने वाला माना जाता है। इसके बाद क्लाइव ने बड़ी चालाकी से शाहआलम को नवाब बनाया और अपना उल्लू सीधा कर पूरी बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की।

शाहआलम को उस समय तक कुछ पता नहीं था। लेकिन जिन शर्तों के आधार पर दिल्ली सम्राट ने अंग्रेजों को इन प्रान्तों की दीवानी सौंपी थी उन शर्तों की अवहेलना की जाने लगी तो शाहआलम का माथा ठनका। इन शर्तों में एक शर्त यह थी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी दिल्ली सम्राट के लिए दिल्ली में एक अंग्रेज रेजीमेन्ट रखेगी। लेकिन दीवानी प्राप्त करते ही क्लाइव ने इस शर्त की भी उपेक्षा कर दी, शाहआलम अनुभव करने लगे कि क्लाइव ने उन्हें धोखा दिया है। जब उन्होंने यह अनुभव किया तो बात बूते से बाहर हो चुकी थी।

शायद कहीं भूल हो रही हो। हालांकि ऐसा था नहीं फिर भी यह सोच कर क्लाइव को इस शर्त की याद दिलायी गयी तो जवाब आया कि सन्धियों में यह सूत्र जल्दबाजी के कारण आ गया है।

इंग्लैण्ड के राजा की अनुमति प्राप्त किये बिना कम्पनी किसी भी भारतीय के लिए उसके अधीन अंग्रेजी सेना नहीं रख सकती। यह सलाह भी दी गयी कि शाहआलम अपने संदेशवाहक को इंग्लैण्ड भेजें। प्रश्न उठा कि नजराना भी ले जाया जाय तो एक लाख रुपये पर पहुंच कर बात खत्म हुई कि इतना रुपया नजराने के रूप में दिया जाय। राजदूत के हाथों दिल्ली सम्राट और लार्ड क्लाइव को इसी संदर्भ में सिफारिशी-पत्र भेजा जाय निश्चित हुआ। इस विश्वासघात से शाहआलम इतने टूट चुके थे कि उन्हें किसी पर भी विश्वास नहीं आ रहा था। एक लाख रुपये उस समय काफी मूल्य रखते थे। जब लोगों को पांच सात रुपये मासिक वेतन मिलता हो— अच्छे-अच्छे अधिकारियों का वेतनमान भी इतना हो। तो एक लाख रुपये देखकर तो हर किसी का ईमान डोल सकता है और इस बात की भी कोई निश्चित सम्भावना नहीं थी कि इंग्लैण्ड का राजा अपने पक्ष में ही निर्णय देगा। क्लाइव की तो यह एक चाल ही थी। मन्तव्य यह था कि शाहआलम को पूरी तरह निचोड़ कर कमजोर कर दिया जाय। और शाहआलम यह आखिरी दांव चल देना ही चाहते थे।

सभी पक्षों से विचार कर उन्होंने अपने विश्वासपात्र मीर मुंशी-जो हर कसौटी पर उनके लिए विश्वस्त, प्रामाणिक और वफादार सिद्ध हो रहा था— को एक लाख रुपया और दोनों पत्र देकर भेजने का निश्चय किया। यह विश्वासपात्र मीर मुंशी थे मिर्जा अहतशामुद्दीन। अहतशामुद्दीन वर्षों से शाहआलम की सेवा करते रहे थे। एक सामान्य और दीन निर्धन स्थिति में रहते हुए अपनी कर्मठता, परिश्रम, लगन और सूझबूझ के आधार पर उन्होंने शाहआलम के हृदय में सर्वाधिक विश्वासपूर्ण स्थान बनाया था। कई बार ऐसे अवसर आये जिसका फायदा यदि मिर्जा उठा लेते तो उनका सारा जीवन बड़ी शान के साथ गुजर सकता था परन्तु उन्होंने सम्पत्ति को ईमान से अधिक महत्त्व नहीं दिया। हक और ईमान की जो भी नसीब हुई भले ही वह रूखी सूखी क्यों न हो— पाकर उन्होंने सदैव सन्तोष ही किया। इसी कारण शाहआलम का उन्होंने इतना विश्वास अर्जित किया कि कहते हैं— 'शाह अपने आप पर विश्वास खो सकता है परन्तु मिर्जा अहतशामुद्दीन पर नहीं।' "

मिर्जा अहतशामुद्दीन का जन्म पश्चिम बंगाल के जिला नदिया ग्राम पाचनूर में हुआ था। १७३० में जन्मे मिर्जा की पारिवारिक आर्थिक दशा अत्यन्त साधारण थी। जिस समय वे जन्मे उस समय बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर नवाब मुर्शिदाबाद का शासन था। नवाब के ही दफ्तर में उनके निकट सम्बन्धी मुंशी शमी अल्लाह काम करते थे। शमी अल्लाह ने ही उनके पालन-पोषण और शिक्षादीक्षा का प्रबन्ध किया। शमी अल्लाह एक पश्चिमी और कर्तव्यनिष्ठ कर्मचारी थे। जब क्लाइव ने बंगाल के नवाब को हराकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य क्रयण किया तो जिन आठ मुंशियों को कम्पनी में लिया गया उनमें से एक शमी अल्लाह भी थे।

शमी अल्लाह के सान्निध्य और संरक्षण में रहने से अहतशामुद्दीन पर भी उनके व्यक्तित्व का असर हुआ और वे भी मुंशीजी की ही तरह कार्य कुशल और कर्तव्यनिष्ठ सिद्ध हुए। शमी अल्लाह ने ही उन्हें पढ़ाया-लिखाया और जीविका के सम्बन्ध के तौर पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी दिलवादी।

अहतशामुद्दीन को कम्पनी में मेजर पार्क के अधीन काम मिला था। मेजर उनके व्यक्तित्व, असाधारण कार्य क्षमता और वफादारी से काफी प्रभावित हुए। युद्ध में कई बार मिर्जा ने अपने प्राणों पर खेल कर मेजर की जान बचायी। दोनों में अधिकारी और अधीनस्थ का सम्बन्ध होते हुए भी विश्वसनीय हार्दिक मैत्री का नाता बना। इसलिए जब मेजर सेवा निवृत्त होकर इंग्लैण्ड जाने लगे तो उन्होंने अहतशामुद्दीन की वफादार मित्रता से थोड़ा उन्नत होना चाहा और किसी अच्छे पद पर नियुक्ति दिलाने का प्रबन्ध किया।

मेजर पार्क के ही एक स्वजातीय गहरे मित्र थे मेजर एडम। जिनका विभागीय कार्य क्षेत्र था अजीमाबाद। अहतशामुद्दीन जब अपने बास को विदा करने उनके साथ दूर तक गये और वापस लौटने लगे तो मेजर ने एक पत्र दिया और कहा कि इसे लेकर वे अजीमाबाद; मेजर एडम के पास पहुँच जायें। एडम उनके लिए और अधिक अच्छी व्यवस्था कर देंगे। उस पत्र में लिखा था—अहतशामुद्दीन बहुत मेहनती और वफादार आदमी हैं। उन्हें किसी अच्छे काम पर रखा जाय।

अहतशामुद्दीन वह पत्र लेकर मेजर एडम के पास गये परन्तु उन्हें खाली हाथ ही लौट आना पड़ा। मेजर एडम की कुछ ऐसी विशेषतायें थीं जिनके कारण वह अपने मित्र की इच्छा का आदर नहीं कर सका था। उधर की भी गयी और इधर की भी नहीं रही। अब अहतशामुद्दीन बेकर इधर-उधर भटकने लगे।

लेकिन परमात्मा परिश्रमी और मेहनती व्यक्तियों के लिए कोई न कोई प्रवेश द्वार खोल ही देता है। एक विचारक का यह कथन—‘ईश्वर एक द्वार बन्द करता है तो दस नये द्वार खोल देता है।’ मिर्जा के सम्बन्ध में पूरी तरह सत्य सिद्ध हो रहा था। वे जशोर चले आये और प्रयत्न किया तो कैप्टन निम्सन के अधीन एक छोटा-सा काम मिल गया। जो प्राप्त है उसे ही स्वीकार कर आगे बढ़ने के लिये प्रयत्न करना—मिर्जा का सिद्धान्त वाक्य था। कार्य कुशलता, परिश्रम और ईमानदारी तो उनमें थी। उसी के बल पर अपने वर्तमान दायित्वों को भली प्रकार निभाते हुए मिर्जा कुतुबपुर के तहसीलदार बन गये। बाद में और भी विकास किया।

शाहआलम ने जब उनके गुणों की चर्चा सुनी और पक्ष भेंट का अवसर मिला तो वे उनकी बुद्धिमत्ता और पैनी सूझबूझ से बड़े प्रभावित हुए। शाहआलम के निमंत्रण पर वे शाह के निजी सचिव-मीर मुंशी हो गये। कई पेचीदे मामलों को उन्होंने इस तरह सुलझा कर रख दिया कि लगने लगा कि ये इस क्षेत्र के पुराने खिलाड़ी रहे हों, उनकी कार्य कुशलता से प्रसन्न हो कर शाहआलम ने उन्हें मिर्जा की उपाधि से विभूषित किया। यह उपाधि उस समय सर्वोच्च सम्मान का द्योतक समझी जाती थी और कदाचित् ही विख्यात घराने के बड़े अमीरों को मिलती थी। सो अब उनकी गणना दिल्ली के अमीरों में की जाने लगी। इस उपाधि ने उन्हें गर्वित करने की अपेक्षा विनीत और उदार ही बनाया तथा दायित्वों के प्रति और अधिक सजग भी।

शाहआलम ने जब मिर्जा को इंग्लैण्ड भेजने का प्रस्ताव किया तो—‘जिसका नमक खाया उसके लिए यह भी हाजिर मानने वाले मिर्जा ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया। कम्पनी ने नजराने का एक लाख रुपया यह कह कर पहले ही बसूल कर लिया कि मार्ग में चोर डाकुओं का खतरा होने से इतनी बड़ी राशि सुरक्षापूर्वक आसानी से नहीं ले जायी जा सकती। नजराने का यह रुपया उनके राजदूत को जलयान में ही दे दिया जायगा। शाह ने मिर्जा को मार्ग व्यय के चार हजार रुपये देकर विदा किया।’

जहाज हुगली नदी के सीने पर तैरता हुआ समुद्र में उतरा परन्तु मिर्जा को नजराने की राशि नहीं दी गयी। मिर्जा को आशंका हुई कि कहीं उनके साथ धोखा तो नहीं हुआ। उन्होंने जहाज के कप्तान से पूछ-तलाश की तो पता चला कि वह रुपया और पत्र क्लाइव ने अपने पास ही रख लिया है। क्योंकि वे एक और अन्य जहाज से इंग्लैण्ड आने वाले हैं। आशंका अब प्रतीति में बदल गयी कि उनके साथ सरासर धोखा हुआ है। उनके हृदय को बड़ा आघात लगा और वे बीमार पड़ गये। उन्होंने खाना-पीना भी छोड़ दिया था। किस मुँह से वापस हुआ जा सकेगा तथा पत्र के बिना उन्हें इंग्लैण्ड में पहचानेगा भी कौन कि वे शाहआलम के प्रतिनिधि हैं।

जहाज के डॉक्टरों ने उन्हें दवा बगैरा पिलाना चाहा परन्तु मिर्जा ने इसके लिए अनिच्छा जाहिर कर दी। इंग्लैण्ड में उनके बहुत से परिचित व्यक्ति थे और किसी प्रकार यह बात भी लंदन में पहुँच गयी थी कि मिर्जा शाहआलम के प्रतिनिधि रूप में यहाँ आ रहे हैं। मार्ग में पड़ने वाले कई देशों और बंदरगाहों का निरीक्षण करते हुए वे लंदन पहुँचे। जब उनके साथ घटी घटना के बारे में वहाँ के अधिकारियों ने जाना और यह भी जाना कि वे क्लाइव के व्यवहार से तथा अपने मिशन की असफलता से दुःखी होकर वापस भारत जाने की तैयारी कर रहे हैं, तो अंग्रेजों को यह डर सताने लगा कि कहीं उनकी काली कर्तूतों का पर्दाफाश न हो जाय।

इसका एक ही समाधान था कि उन्हें इंग्लैण्ड में ही रोक जाय। दो वर्ष तक प्रतीक्षा करने के बाद भी जब क्लाइव इंग्लैण्ड नहीं आया तो मिर्जा ने वापस भारत आने का प्रबन्ध किया। अंग्रेजों ने उन्हें इंग्लैण्ड में रोकने का प्रयत्न किया। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में फरसी का प्रोफेसर बनाने का प्रस्ताव किया। यह भी लालच दिया कि बंगाल में उनके रिश्तेदारों को काफी पैसा देकर मालदार बना दिया जायेगा परन्तु सारे प्रयत्न व्यर्थ। उन्होंने समझ लिया कि वे दिल्ली-सम्राट, को मुँह दिखाने लायक नहीं रहे हैं। परन्तु जब वे भारत लौटे तब तक तो भारत की तस्वीर ही बदल गयी।

मिर्जा अहतशामुद्दीन का जीवन एक कर्तव्यनिष्ठ, ईमानदार और परिश्रमशील व्यक्ति की प्रेरक कहानी होते हुए भी अन्ततः हृदय द्रावक और करुण है। समय रहते जो कुटिल व्यक्ति की या समुदाय की कुटिलताओं को समझते नहीं उनके हाथ पछताने के सिवा कुछ नहीं आता। ईमानदारी, परिश्रमशील और कर्तव्य निष्ठ के साथ-साथ सजग चातुरी भी हो तो सुखद फल प्राप्त किये जा सकते हैं। मिर्जा ने अपने यात्रा के संस्मरण ‘सफर नामा विलायत’ में लिखा जिसमें अंग्रेजों की छद्मनीति को अनावृत किया गया है।

000

विश्व मानवता के संदेशवाहक

स्वामी सहजानन्द—जिन्होंने संन्यास को सार्थक बनाया

प्राचीन वर्णाश्रम धर्म के अनुसार संन्यास व्यक्ति के आत्मविस्तार का वह अन्तिम चरण होता था जहाँ जाकर वह परिवार से सब प्रकार से नाता तोड़ प्राणिमात्र से आत्मीयता जोड़ लेता था। अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम स्तर तक घटाकर अपनी समस्त शक्ति, ज्ञान, अनुभव का लाभ सारे विश्व को समभाव से बाँटता था। संन्यास आश्रम वह संस्था थी जो समाज के निरीक्षण, संचालन, नियन्त्रण और दिशा निर्धारण का कार्य भली प्रकार से सम्पादित कर सकती थी। संन्यासी होने का अवसर प्रत्येक व्यक्ति को नहीं मिलता था। उसके पात्रत्व की कसौटी भी बड़ी खरी होती थी। थोड़े-से ज्ञान वृद्ध ब्राह्मणों को यह सौभाग्य मिलता था।

ज्यों-ज्यों आश्रम धर्म में विकृतियाँ आती गयीं त्यों-त्यों संन्यास की महान् गरिमा, महत्ता भी क्षीण होती गयी और आज स्थिति यह है कि संन्यासी का अर्थ मात्र भिक्षुक रह गया है। हजारों में से एक-आध व्यक्ति अपवाद हो सकता है। पर अन्य सभी आज के तथाकथित संन्यासी, साधु, बाबा, त्यागी समाज पर बहुत बड़ा बोझ बने हुए हैं।

स्वामी सहजानन्द भी इसी समुदाय के एक घटक थे। उन्होंने इस वर्ग की समस्त दुर्बलताओं से ऊपर अपने को सर्वतोभावेन लोकहित के लिये समर्पित कर संन्यास को सार्थक किया। उन्होंने मठों में पड़े रहने और अकर्मण्यता का जीवन बिताने की अपेक्षा देश की स्वतन्त्रता व देशवासियों की, विशेषकर कृषकों की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए कर्मक्षेत्र में आकर जो उद्योग किया वह उन्हें चिर-स्मरणीय बनाये हुये हैं।

सन् १८६९ में गाजीपुर (उ. प्र.) के निकटवर्ती एक गाँव के सामान्य ब्राह्मण परिवार में जन्मे स्वामी सहजानन्द जब अठारह वर्ष के थे तभी उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। बचपन में वे नवीं कक्षा तक पढ़ सके थे। संन्यासी बनने के पीछे उनका उद्देश्य शास्त्राध्ययन व योगाभ्यास ही था न कि किसी मन्दिर का अधिकारी बनने का।

संन्यासी जीवन के थोड़े-से वर्षों के अनुभव से वे समझ गये कि ये परम्परा अत्यधिक विकृत हो चुकी है, बस संन्यास से तो गृहस्थ धर्म क्या बुरा था? पर अब जब वे संन्यासी बन ही गये हैं। उन्हें पूर्व पद्धति के अनुसार लोक-सेवा का बहुत बड़ा क्षेत्र मिल गया है। उन्हें उसी क्षेत्र में जम कर कार्य करना है।

भिन्न-भिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए उन्होंने सामान्य जनता की जो दुरावस्था देखी तो वे उसे दूर करने के लिए कृत-संकल्प हो गये। आगे चलकर उन्होंने इस दुरावस्था को मिटाने के लिए जो काम किये वह बड़े क्रान्तिकारी सिद्ध हुए।

काशी में रहकर विद्याध्ययन व साधना करते हुए उनको निकटवर्ती क्षेत्रों को देखने का अवसर मिला। उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि बलिया के ब्राह्मण लोग अपने खेतों पर स्वयं कृषि कार्य नहीं करके दूसरों से कराते थे। वे खेती को पाप कर्म मानते थे क्योंकि इसमें जीव हत्या की सम्भावनाएँ रहती थीं। १९१४ ई. में भूमिहार ब्राह्मण महासभा में उन्हें आमन्त्रित किया गया तो उन्होंने वहाँ प्रवचन में मुख्य बात यही कही कि आज की परिस्थिति में पुरोहित कर्म करने की अपेक्षा खेती करना अधिक श्रेयस्कर है। यह एक क्रान्तिकारी विचार था इसे सुन लोगों को यह तो आश्चर्य हुआ पर स्वामी जी ने उनकी शंकाओं का समाधान किया तो बात उनके गले उतर गयी।

धीरे-धीरे स्वामी जी का ध्यान प्राणायाम और समाधि से हटकर लोकसेवा की ओर गया तो परम्परा के अन्ध-पुजारी लोगों ने उनका विरोध भी किया किन्तु उन्होंने विरोधियों की परवाह न करते हुए क्षेत्र के भूमिहार ब्राह्मणों की भिन्न-भिन्न शाखाओं को एक करने के उद्देश्य से समस्त बिहार में घूम-घूम कर ऐसे तथ्य एकत्रित किये जिनसे कि एक ही जाति के भिन्न-भिन्न गोत्रों के मध्य वैवाहिक तथा सम्बन्ध स्थापित हो सकें। इससे उनके बीच का बिखराव समाप्त हो सके। इन तथ्यों के आधार पर उन्होंने भूमिहार ब्राह्मण परिचय नामक चार-सौ पृष्ठ का एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ तैयार किया।

स्वामी सहजानन्द बिहार और उत्तरप्रदेश के सीमावर्ती जिलों में यह कार्य कर रहे थे उन्हीं दिनों जालियाँवाला बाग काण्ड हो गया। इसका समाचार जब उन्हें मिला तो उनका मन भारत को अंग्रेजी दासता से मुक्त करने के लिए जो जन-आन्दोलन चल रहा था, उसमें भाग लेने के लिये तड़प उठा। इसका फल यह हुआ कि गाँधी जी जब पटना आये तो स्वामी सहजानन्द ने उनसे सम्पर्क किया। गाँधी जी से मिलने के बाद वे उनके परम भक्त बन गये और असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के लिए कटिबद्ध हो गये।

नागपुर कांग्रेस अधिवेशन में भी उन्होंने भाग लिया। वहाँ से लौटकर अपने क्षेत्र में जोर-शोर से प्रचार करने लगे। जातीय सुधार के कार्य के साथ ही जनता पर उनका प्रभाव तो बढ़ ही चुका था, अब वे पैदल-पैदल ही गाँवों का दौरा करके जन-साधारण का काम

करने लगे। वे गांधी जी के हर आदेश का पालन करते और कांग्रेस समर्थकों की संख्या में वृद्धि करते। इस कर्म के लिये उन्होंने न दिन को दिन समझा न रात को रात। पाँव में बिवाई फट गयी है तो भी उनका चलना नहीं रुकता। जो कुछ रूखा-सूखा मिल जाता उसे ही स्वीकार कर वे स्वतन्त्रता का शंखनाद किया करते।

स्वामी जी ने राजनैतिक स्वतन्त्रता की ओर ही ध्यान नहीं दिया वरन् उन्होंने समग्र शोषण से जनता को मुक्त कराने का प्रयास किया। शोषण, अत्याचार, उत्पीड़न चाहे वह विदेशी शासकों द्वारा किया जाता हो या भारतीय जमींदारों द्वारा या पूँजीपतियों द्वारा, वे इसके विरोधी थे। उनका विरोध किसी जाति या वर्ग से न होकर शोषण व अत्याचार से था। अतः आगे चलकर वे राजनैतिक नहीं आर्थिक स्वतन्त्रता के पृष्ठ पोषण में ही निरत रहे।

प्रिंस आफ वेल्स के आगमन के समय ददरी (बलिया) में हुई हड़ताल और प्रान्तीय कौंसिल की सदस्यता के चुनाव में हथुआ नरेश को हराकर कांग्रेस की धाक जमा देने के बाद उन्होंने शाहबाद के सिमिरी ग्राम को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। वहाँ के निवासियों में से उन्होंने राम सुभग पाण्डे व राम आदर्श पाण्डे जैसे दृढ़ सत्याग्रही साथी ढूँढ़ निकाले। राम आदर्श पाण्डे को इस आन्दोलन में अपनी एक आँख की आहुति देनी पड़ी किन्तु उन्हें इस बात का कोई मलाल नहीं रहा।

स्वामी सहजानन्द जी ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य बिहार और उत्तर प्रदेश के सीमावर्ती जिलों में किया वह था किसान आन्दोलन, जो यहाँ से उठकर राष्ट्रव्यापी आन्दोलन बना। इसके पूर्व वे कांग्रेस के एक अग्रगण्य सेनानी की तरह कार्य करते रहे थे। उन्हें सत्याग्रह में भाग लेने के कारण जेल भी जाना पड़ा। जेल में भी वे निष्क्रिय नहीं बैठे रहे। वहाँ राजनैतिक कैदियों का एक संगठन बनाकर वे उन्हें गीता पढ़ाया करते थे। उनकी राजनीति का मूल उद्गम अध्यात्म ही था। जेल में उन्हें पर्याप्त समय मिला और उन्होंने गीता का गम्भीरतापूर्वक मनन-चिंतन किया।

एक वर्ष की जेल कटकर वे गाजीपुर लौटे। यहाँ आने के बाद उन्होंने यह अनुभव किया कि कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति से अनुचित लाभ उठाने की गरज से कुछ अवसरवादी अमीर और जमींदार लोग इसमें घुस आये हैं। यह अब जन-सामान्य की पार्टी न रहकर अमीरों की पार्टी बन जायेगी इस बात की उन्हें भनक लग गयी। उन्होंने सामान्यजन विशेषकर कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने और उन्हें जमींदारों के शोषण तथा अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिये उन्हें संगठित करने की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ कर दिया।

इस आन्दोलन में उन्हें कांग्रेस से सहायता नहीं भी मिल सकती है बहुत सम्भव है उसका विरोध भी सहना पड़ सकता है। यह सोचकर स्वामी जी ने अपना पृथक् केन्द्र स्थापित किया क्योंकि आज तक के अनुभवों से वे यह सीख ले चुके थे कि कई अच्छे-अच्छे संगठनों में अवसरवादी और स्वार्थी तत्त्वों ने घुसकर उन्हें सिद्धान्तहीन बना दिया। जनतन्त्र आने पर जनता को उसका समुचित लाभ मिले इसके लिये उसे अपने अधिकारों के लिए जागरूक बनाना बहुत जरूरी है। उनके अपने इस कार्य के लिये कांग्रेस से विशेष सहायता मिलने वाली नहीं है। यह अनुमान उन्होंने पहले ही लगा लिया था और अपने

कृषक आन्दोलन के लिये कार्यकर्ता तैयार करने के लिए उन्होंने पटना से थोड़ा दूर बिहटा नामक स्थान में श्री सीतारामाश्रम की स्थापना की।

वही हुआ जिनकी उन्हें आशंका थी। अगले दिनों उन्हें किसान आन्दोलन का सूत्र संचालन करना पड़ा। इस आन्दोलन में कांग्रेस से उन्हें कोई सहायता नहीं मिली। १९२६-२७ में उन्होंने 'लोक-संग्रह' नामक निर्भीक पत्र का पटना से प्रकाशन आरम्भ किया। इसका उद्देश्य किसानों को जमींदारों के शोषण, अत्याचार से मुक्त होने के लिए संगठित करना था। यहीं से आगे चलकर किसान सभा संगठित हुई और उसने जोरदार आन्दोलन चलाया।

१९३० में नमक सत्याग्रह में भाग लेने के कारण सहजानन्द जी छह मास की कड़ी सजा भोगकर वापस बिहटा आये तो उन्हें यह देखकर बड़ा खेद हुआ कि उनके दल के समानान्तर कुछ स्वार्थी लोगों ने नकली किसान पार्टी स्थापित कर ली है। स्वामी जी ने सारे राज्य का तूफानी दौरा करके उस नकली किसान सभा का भण्डाफोड़ किया।

जमींदारों ने स्वामी जी को धन का लालच दिया। उनके लिए अच्छा सा मठ बना देने का लालच दिया पर वे जनहित के काम से हटे नहीं इन सब को ठुकराकर वे किसान सभा को मजबूत बनाते गये। इस प्रश्न को लेकर उन्हें कांग्रेस का भी विरोध सहना पड़ा किन्तु वे तो सत्य के समर्थक थे। सब कुछ सहते हुए भी उन्होंने इस किसान सभा को राष्ट्रीय स्तर पर विकसित किया।

१९३७ में बिहार में कांग्रेस का मन्त्रिमण्डल बन जाने पर भी किसानों के हितों की उपेक्षा की गयी तो स्वामी जी ने आन्दोलन की गति और तेज कर दी। सन् १९३८ में स्वामी जी पटना के सेक्रेटेरियट तक एक मील लम्बा जलूस लेकर गये। सामान्य जन शोषित वर्ग की इस बढ़ती शक्ति से सरकार भी भयभीत होने लगी। स्वामी जी को कांग्रेस छोड़नी पड़ी पर जनहित का जो कार्य उन्होंने हाथ में लिया था उसे नहीं छोड़ा। बिहार से उठकर यह कृषक आन्दोलन राष्ट्रव्यापी बना। सरकार ने किसानों के साथ सख्ती बरती। आन्दोलन व भूख हड़ताल में कई लोगों ने प्राणों की आहुति दी। स्वामी जी को भी दो वर्ष तक जेल भोगनी पड़ी। जमींदारी उन्मूलन में उनके इस आन्दोलन का बहुत बड़ा हाथ रहा। अगर यह किसान आन्दोलन नहीं चला होता तो बहुत सम्भव था जमींदारियाँ इतनी शीघ्र समाप्त नहीं होतीं।

१९५० में स्वामी जी की मृत्यु हुई तब तक वे अपने इसी कार्य में लगे रहे। एक संन्यासी का समाज को दिया गया यह अनुदान उन्हें सच्चे संन्यासी की उस प्राचीन कसौटी पर खरा सिद्ध करता है। उनका यह जीवन संन्यासियों को अपना धर्म और जनता से जो सीख देता है वह कम मूल्यवान नहीं है।

मातृ हृदय—मातृ उपासक— साने गुरुजी

अछूत और दलित वर्ग की जातियों के लिए महात्मा गाँधी ने सर्वप्रथम ऐसे शब्द का प्रयोग किया जो इतिहास में शायद ही कभी किसी के लिए किया गया हो। उनके शब्दों में 'अस्पृश्यता के सर्प

को मारे बिना हम कुछ नहीं कर सकते। अस्पृश्यता वह विष है, जो हिन्दू समाज के मर्म को खोखला कर रहा है। वर्णाश्रम ऊँच-नीच का धर्म नहीं है। भगवान् का कोई भी भक्त दूसरे को अपने से नीच नहीं समझता। उसे तो प्रत्येक भाई को अपना सगा मानना चाहिए। इसी आधार पर गाँधीजी ने अस्पृश्यता निवारण को स्वराज्य के समकक्ष का सवाल माना था और छुआछूत के निवारण हेतु प्रबल अभियान भी छेड़ा था।

तब हरिजनों को भगवान् के मन्दिर में जाने और उनके पूजा विग्रह का दर्शन करने का भी अधिकार नहीं था। इसलिए हरिजनों को मंदिर प्रवेश का अधिकार हरिजनोंद्वारा का एक प्रमुख कार्यक्रम बना। इस आन्दोलन की लहर महाराष्ट्र प्रान्त में भी पहुँची और वहाँ भी हरिजनों के लिए मंदिर प्रवेश की माँग उठी। महाराष्ट्र में इस अभियान के प्रमुख सेनानी का दायित्व ग्रहण किया साने गुरुजी ने। उन्होंने अपने साथी कार्यकर्ताओं को लेकर मंदिर प्रवेश का सन्देश गाँव-गाँव जाकर सुनाया। गोवा से नागपुर तक सभी स्थानों पर उनके माध्यम से यह सन्देश गुँजा।

और सब जगह तो अपेक्षित सफलतायें मिलीं परन्तु महाराष्ट्र प्रान्त भर के प्रमुख तीर्थ स्थल पंढरपुर के मन्दिर में अछूतों को प्रवेशाधिकार नहीं मिला। ऐसे स्थानों पर हरिजनों को मन्दिर प्रवेश का अधिकार दिलाने के लिए गाँधीजी, आचार्य विनोबा भावे तथा अन्य सर्वोदयी, गाँधीवादी नेताओं ने सत्याग्रह करने का आह्वान भी किया था। पंढरपुर में भी सत्याग्रह का प्रश्न उठा और उसके लिए स्वयं को प्रस्तुत किया साने गुरुजी ने। अनशन के लिए स्वयं को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था— “अगर हमारे जीने से कुछ नहीं होगा तो हमें अपने जीवन की आहुति देकर इस काम को करना होगा।”

सत्याग्रह की प्रेरणा देते हुए वे छह माह तक आस-पास के गाँवों में घूमे और हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का औचित्य प्रचारित करते रहे। यद्यपि इस कार्य को जनशक्ति के आधार पर भी सम्पन्न किया जा सकता था परन्तु गाँधीजी का समग्र जीवन दर्शन नैतिक बल और हृदय परिवर्तन पर निर्भर है। इस विचार का छह माह तक प्रचार करते हुए उन्होंने जन-जागरण किया और छह माह बाद अनशन के लिए बैठे।

एक दिन— दो दिन— तीन दिन यह अनशन लगातार ग्यारह दिन तक चला। साने गुरुजी अपने सकल्प पर दृढ़ रहे अन्ततः पुजारियों को ही उनके सामने घुटने टेकने पड़े और पंढरपुर मन्दिर के द्वार हरिजनों के लिए खुल गये। आरम्भ में पुजारियों तथा मन्दिर के अधिकारियों द्वारा लोकमत की उपेक्षा होते देख यह भय होने लगा था कि कहीं साने गुरुजी को अपने प्राण ही न गँवाने पड़ें। परन्तु साने गुरुजी नैतिक बल और न्याय तथा औचित्य के आधार पर पुजारियों का हृदय परिवर्तन कराने में सफल रहे। इस अवसर पर महात्मा गाँधी ने साने गुरुजी की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा— “पंढरपुर का पुराना और मशहूर मन्दिर उन्हीं शर्तों पर हरिजनों के लिए खोल दिया गया जैसे कि दूसरे हिन्दुओं के लिए।

इसका समूचा श्रेय साने गुरुजी को है, जिन्होंने उसे हरिजनों के लिए हमेशा खुलवाने के मकसद से आमरण उपवास किया। उनकी यह हरिजन यात्रा इतिहास में अभूतपूर्व कही जायेगी।”

इस प्रकार सामाजिक न्याय और धार्मिक अधिकारों के लिए अपने प्राणों को भी दाँव पर लगा देने वाले साने गुरुजी का नाम सर्वोदय और स्वराज्य आन्दोलन के इतिहास में स्वर्णक्षरों में लिखा जायेगा। उनका पूरा नाम पाण्डुरंग सदाशिव साने था लेकिन लोग श्रद्धा से उन्हें साने गुरुजी के नाम से ही अधिक जानते हैं। यह नाम आचार्य विनोबा भावे का दिया था— जो उनके आचरण और व्यवहार से वाणी तथा विचार से— वाणी और लेखन से लोक-मानस का शिक्षण करने के लिए गाँधीजी ने सर्वप्रथम प्रयोग किया था।

साने गुरुजी का जन्म २४ दिसम्बर, १८९९ ई० को हुआ था। उनके पिता महाराष्ट्र में वडवली नाम के गाँव के छोटे से जमींदार थे। इस गाँव से जमींदारी के रूप में कोई विशेष आमदनी नहीं होती थी। जो होती थी वह भी उनके पिता अपने पर-दुःखकातर स्वभाव से विवश होकर दूसरे लोगों की आवश्यकताओं में लगा देते थे। परिणामतः परिवार को सदैव आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ा। साने गुरुजी की माता भी बड़ी संस्कारवान महिला थीं— वे भी अपने पति के कदम व कदम चलती थीं। दोनों का स्वभाव इतना मेल खाता था कि दोनों ने एक-दूसरे को अपने कार्यों में बाधक नहीं पाया।

पूरे परिवार को सदैव अभावग्रस्त स्थिति में रहना पड़ा परन्तु संस्कारवान माता-पिता ने अपने बच्चों को इतना स्नेह और वात्सल्य दिया कि उन्हें कभी अभावों का अनुभव ही नहीं हुआ और न ही दूसरे सम्पन्न बच्चों से अपनी तुलना करने की इच्छा। माता-पिता के स्वभाव का प्रभाव अनिवार्य रूप से सन्तान पर पड़ता है और उस स्थिति में तो और भी अधिक जब माता-पिता इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखते हों। विशेषतः उनकी माता ने साने गुरुजी को सुसंस्कृत व्यक्तित्वसम्पन्न बनाने पर ज्यादा ध्यान दिया। छोटी-छोटी बातों को लेकर वे अपने बच्चों को इस प्रकार शिक्षित करतीं कि साने गुरुजी में ऊँचा और अच्छा बनने की महत्वाकांक्षा जाग्रत हो गयी और जोर भी पकड़ गयी।

शिक्षा प्राप्ति के लिए निर्वाह की भाँति ही उन्हें काफी तंगियों का सामना करना पड़ा। घर में कभी-कभी तो फाका भी हो जाता। ऐसी स्थिति में उनकी माता भगवान् की इच्छा में सन्तुष्ट रहने तथा ध्येयमुखी दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करतीं। समय पर साने गुरुजी पाठशाला की फीस भी नहीं दे पाते— अक्सर भूखे पेट ही स्कूल दौड़ना पड़ता और इधर माँ का स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता जा रहा था। इन सब परिस्थितियों में वे बजाय हताश होने के इस धुन में रहने लगे कि किस प्रकार माँ को आराम दिया जाय। एक ही रास्ता था कि खूब पढ़ें और वे दिन-रात मेहनत से जी लगाकर खूब पढ़ते परन्तु उनका वह सपना अधूरा ही रह गया जो उन्होंने अपनी माँ के लिए देखा था। जिस समय वे मैट्रिक में अपने गाँव से बाहर पढ़ रहे थे— उनकी अनुपस्थिति में माँ स्वर्ग सिधार गयीं।

साने गुरुजी को लगा सब-कुछ लुट गया। अब उन्हें पढ़ने में कोई रस नहीं आता। तभी उनके मन में यह विचार आया कि शरीर ही कोई माँ नहीं मातृ-भावना तो शरीर से परे है और उसका विकास करना—माँ की आकांक्षा पूरी करने के लिए साधनारत रहना ही सच्ची मातृ-सेवा है और सचमुच ही उन्होंने मातृ भावना का उच्चतर विकास किया। अपनी सर्वाधिक चर्चित कृति में मातृशक्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है—

“माता के रूप में ही भारतीय संस्कृति की अपार महिमा है। वह सार सम्भाल करने वाली है। बच्चों को संभालने वाली, पति को सम्भालने वाली, ध्येय को सम्भालने वाली है। वह किसी को भी मरने नहीं देती ईश्वर को भी माँ कहकर पुकारने से बढ़कर और कोई अर्थ वाली उपयुक्त पुकार नहीं है। यदि ऐसी कोई वस्तु है जिससे ईश्वर के प्रेम की कल्पना हो सकती है तो वह ‘माँ’ ही है।”

यही भावना आगे इन शब्दों में व्यक्त हुई है—“विठ्ठल (ईश्वर) माँ है। भारत माँ है। गाय माँ है। भारतवर्ष में सब जगह माता की वंदना पहले की जाती है। कोई भी मंगल कार्य क्यों न हो सबसे पहले माँ को ही प्रणाम किया जाता है।”

न केवल ‘भारतीय संस्कृति’ पुस्तक में वरन् जीवन के हर क्षेत्र में उनकी यह मातृ-भावना ही प्रबल रही है। मातृ-शक्ति के प्रति श्रद्धा जगाने के लिए भी आगे चलकर उन्होंने कई प्रयास किये और ‘श्यामयी आई’ जैसी पुस्तक लिखी, जिसमें उनकी माँ के संस्मरण संकलित हैं। इस पुस्तक को पढ़कर पाठकों की आँखें अनायास ही अश्रुपूरित हो उठती हैं। जिस लेखक की कृति में इतनी भाव-प्रवणता हो उसकी अन्तःस्थिति का परिचय और आन्तरिक निष्ठाओं का बोध शब्दों में नहीं दिया जा सकता।

मातृ-भावना के विकास में इतनी ऊँची मंजिलों को अपना लक्ष्य बनाकर चलते हुए साने गुरुजी उस समय पुनः पढ़ने लगे। यद्यपि बाह्य परिस्थितियाँ तो पहले से भी अधिक विकट हो उठी थीं लेकिन उन्होंने पुरुषार्थ और पश्चिम के बल पर उन सभी परिस्थितियों को परास्त करते हुए एम. ए. पास किया और अमलनेर के तत्वज्ञान मन्दिर में प्रवेश प्राप्त किया। एक साल वहाँ रहने के बाद वे अमलनेर हाईस्कूल के शिक्षक बनकर युवकों को पढ़ाने लगे। यद्यपि उनके सामने और भी क्षेत्र पड़े थे—उन दिनों तो एम. ए. पास युवकों का अच्छा मान था और ऊँचे पदों पर भी ऐसे युवकों की सदा आवश्यकता अनुभव की जाती। परन्तु साने गुरुजी ने शिक्षक का कार्य ही चुना।

वे जानते थे कि छात्रों का रचनात्मक मार्गदर्शन कर उन्हें देश के नव-निर्माण के लिए तैयार किया जा सकता है और यह कार्य भावनाशील तथा कसक रखने वाले लोग ही कर सकते हैं। सौभाग्य से यह ठीस उन्होंने अपने में उत्पन्न कर ली थी अतः उन्होंने शिक्षक का पेशा ही चुना। इस नौकरी से उपार्जन का एक रास्ता तो खुला परन्तु उन्होंने अर्जित राशि का उपयोग अपनी अपेक्षा ऐसे विद्यार्थियों पर ही अधिक किया जो उनकी-सी परिस्थितियों में रहते हुए पढ़ रहे थे। उनका यापन स्तर पूर्ववत् ही रहा। अमलनेर के हाईस्कूल में छात्रों से संपर्क बना रहे इस उद्देश्य से उन्होंने छात्रावास का काम भी

सम्हाला। वहाँ विद्यार्थियों को उन्होंने मातृवत् प्यार दिया। यद्यपि वे काय-कलेवर से तो पुरुष थे परन्तु उनके सीने में माँ की ममता भरा हृदय था। उसी ममत्व का परिणाम कहना चाहिए कि उनके शिष्य छात्र त्यागी और संयमी बन गये। उन्होंने ऐसे छात्रों को भी सुधारा जो विलासप्रिय और उद्विग्न-उद्धतता के लिए कुख्यात रहे थे।

स्कूल के पाठ्यक्रम के अतिरिक्त उन्होंने अन्य विषयों की जानकारी देना भी अपने अध्यापन में सम्मिलित किया। इस प्रकार के अतिरिक्त शिक्षण का कार्य मुख्यतः छात्रों के चारित्रिक निर्माण को दृष्टिगत रखते हुए किया जाता था। कुछ दिनों बाद विद्यार्थियों के लिए हस्तलिखित पत्र निकालने लगे। यह प्रक्रिया आगे चलकर छपे हुए ‘विद्यार्थी’ मासिक के रूप में विकसित हुई।

१९२०-२१ में आरम्भ हुआ असहयोग आन्दोलन। यह आन्दोलन अंग्रेजी शासन के विश्वासघात के जवाब में छेड़ा गया था। प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीयों का सहयोग अंग्रेजी सरकार ने इस वचन-बद्धता के आधार पर लिया था कि वह धीरे-धीरे भारतीयों को उनका देश सौंप देगी परन्तु विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेज सरकार अपने वचनों से मुकर गयी और उससे खिन्न तथा क्षुब्ध होकर महात्मा गाँधी, कांग्रेसी नेता तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने असहयोग आन्दोलन का शंखनाद किया। यह आन्दोलन दिनों-दिन बढ़ता गया और कुछ ही वर्षों में पूर्ण स्वाधीनता की माँग का प्रतीक बन गया। साने गुरुजी ने इस स्थिति में अनुभव किया कि उन्हें अब भारतमाता पुकार रही है। और वे असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े—उनके साथ उनके पुत्रवत् विद्यार्थी भी।

अंग्रेजी सरकार ने विद्यार्थी मासिक-पत्र भी बन्द करा दिया क्योंकि उसमें राष्ट्रभक्तिपूर्ण लेख निकलते थे। साने गुरुजी जब असहयोग आन्दोलन में कूदे तो अमलनेर के अधिकारियों ने उन्हें पकड़ कर कारावास में भेज दिया। जेल में उनके अन्य परिचित, मित्र, साथी भी थे, वे अपने साथियों को निरन्तर देश के लिए कुर्बानी और त्याग बलिदान की प्रेरणा दिया करते। अन्य कैदियों पर उनका गहरा प्रभाव होता था अतः अधिकारियों ने उन्हें सूदूर दक्षिण की त्रिचनापल्ली जेल में भेज दिया। यहाँ उनसे मिलने-जुलने वाले तो थे नहीं—परिचय करने के लिए भी वहाँ की भाषा का जानना आवश्यक था अतः उन्होंने दक्षिण की भाषायें वहाँ रहकर सीख लीं।

१९३० में उनकी रिहाई हुई। इसके बाद वे स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने के साथ-साथ एक ऐसी संस्था खोलने का स्वप्न देखने लगे। जहाँ देशभर के लोगों में भावनात्मक एकता उत्पन्न करने के लिए कुछ किया जा सके। आन्तर भारती नाम की इस संस्था का स्पष्ट चित्र मस्तिष्क में बहुत कुछ रवीन्द्रनाथ टैगोर की विश्व-भारती जैसा था। इस स्वप्न को साकार किया जा सके इससे पूर्व ही सरकार ने उन्हें १९३२ में पुनः गिरफ्तार कर लिया और जेल भेज दिया।

उस समय धूलिया जेल में महाराष्ट्र के कई तपे हुए देशभक्त नवयुवक थे। जमनालाल बजाज, विनोबा भावे आदि भी उस समय कारावास कर रहे थे। विनोबा जी साने गुरुजी से परिचित हुए तो बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने साने गुरुजी को धूलिया जेल में रह

रहे महाराष्ट्रीय युवकों को संस्कारित करने का दायित्व सौंपा और यहीं से उन्हें साने सर के स्थान पर साने गुरुजी कहा जाने लगा। साने गुरुजी तथा विनोबा भावे में प्रगाढ़ प्रेम सम्बन्ध कायम हो गये। जैसे दोनों में पूर्व जन्म के सम्बन्ध हों। इन्हीं दिनों विनोबा भावे ने कैदियों को गीता समझाने के लिए प्रति रविवार गीता के एक अध्याय पर प्रवचन देना आरम्भ किया। २१ फरवरी से ये प्रवचन आरम्भ हुए तथा अन्तिम प्रवचन १९ मई को हुआ। इन प्रवचनों में विनोबा भावे ने गीता पर अपना दृष्टिकोण सरल भाषा में व्यक्त किया— जिसमें गीता के गूढ़ ज्ञान का सहज विश्लेषण भी आ गया। साने गुरुजी प्रवचन के समय कागज-कलम लेकर बैठते और नोट करते जाते। बाद में यह प्रवचन (गीता-प्रवचन) के रूप में पुस्तककार प्रकाशित हुए। यह पुस्तक अब तक पच्चीस संस्करण में छप चुकी है तथा लाखों प्रतियाँ बिक चुकी हैं। यही नहीं देश-विदेश की २० अन्य भाषाओं में भी इसका अनुवाद प्रकाशित हुआ है और इसका श्रेय साने गुरुजी को ही जाता है। विनोबा भावे ने स्वयं लिखा है— “मेरी तो कल्पना में भी नहीं आया था कि यह कभी छपेगा। साने गुरुजी जैसा सहृदय और शार्ट हैण्ड से लिख सकने वाला लेखक यदि नहीं मिल पाता तो जिसने कहा और जिन्होंने सुना उन्हीं में इसकी परिसमाप्ति हो जाती।”

विनोबा और साने गुरुजी का संयुक्त प्रभाव धूलिया जेल में इतना गहरा हो गया कि अंग्रेज अधिकारियों को चिन्ता होने लगी और अन्ततः दोनों को अलग-अलग करना ही उन्होंने हित में समझा। साने गुरुजी को वहाँ से हटाकर नासिक जेल में भेज दिया गया। वहाँ रहकर उन्होंने कई कवितायें, संस्मरण तथा गद्य साहित्य लिख डाला। पत्र, श्यामयी आई तथा धडपडगारी भुले आदि के रूप में ये पुस्तकें प्रकाश में आयीं। पत्नी की कवितायें तो इतनी क्रान्तिकारी सिद्ध हुई कि अंग्रेज सरकार ने उसे जब्त ही कर लिया।

जेल से छूटने के बाद वे अज्ञात रहने लगे और अपने कार्य करते रहे। विद्यार्थियों का समुदाय ही प्रमुख रूप से उनका कार्यक्षेत्र होता था। अज्ञातवास में पूना में रहते हुए उन्होंने मराठी भाषा की कोई दो हजार ओवियों का संकलन किया जो बाद में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ।

उन दिनों स्वाधीनता ही उनकी आत्मा की पुकार बन चुकी थी तथा भारत माता की सेवा ही एकमात्र कार्य। इसके लिए उन्होंने अहर्निश परिश्रम किया। महाराष्ट्र में कांग्रेस के सदस्यों की संख्या बढ़ाने के लिए तो उन्होंने अपने प्राणों की बाजी ही लगा दी। वे इस बात के लिए कृत संकल्प थे कि एक वर्ष में कांग्रेस की सदस्य संख्या एक लाख हो जाय। राष्ट्रीय आन्दोलन की विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने के लिए उन्होंने कांग्रेस नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला।

१९३९ में दूसरा विश्वयुद्ध हुआ। राष्ट्रीय नेता जेल में दूँसे जाने लगे। साने गुरुजी को भी गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। रिहा होने पर उन्होंने जन-जागरण की नयी पद्धति अपनायी। १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन के अनेकों किस्से और घटनायें वे गाँव-गाँव जाकर सुनाने लगे।

१९४८ में महात्मा गाँधी की हत्या कर दी गयी। यह हत्या अपने ही देश के एक युवक ने की थी उसका उन्हें काफ़ी दुःख हुआ और इसके प्रायश्चित्त के लिए उन्होंने २१ दिन का उपवास किया। उन्हीं दिनों सांप्रदायिक तनाव बढ़ा और जगह-जगह सांप्रदायिक दंगे होने लगे। साने गुरुजी जगह-जगह शान्ति स्थापना के लिए जाने लगे। ११ जून, १९५० ई० को उनका निधन हो गया। उस समय उन्हें सम्भवतया अपने जीवन से पूर्ण सन्तोष था कि उन्होंने अपनी लौकिक माता की आकांक्षायें सच्चे अर्थों में पूरी कर दी हैं।

धर्मात्मा सुचारु नरेश की न्यायप्रियता

समुद्र के तट पर बसा वह प्रदेश धरती का स्वर्ग कहा जाता था। प्रकृति का प्रसन्न दर्शन, सुस्वादु अन्न से भरे भण्डार, निर्मल नीर से परिपूर्ण जलाशय, फुलवारियों की प्रफुल्ल सुमनावली, फलों, औषधियों और बहुमूल्य कण्ठ से भरपूर वन श्री। प्रजाजन निष्ठा और आस्था के प्रतिरूप। ब्रह्म-भक्ति, भावना और सहानुभूति से सम्पन्न आबाल, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सन्तुष्ट, सुखी और समृद्ध, जीवन का आनन्द लेते हुये यह जानते ही न थे, कि उनकी मातृभूमि के अतिरिक्त कहीं कोई अन्य स्वर्ग भी है और अपने इस स्वर्ग को उन्होंने न्याय, नियम, सहयोग, सह-अस्तित्व, परिश्रम एवं पुरुषार्थ के बल पर स्वयं रचा था। आत्मनिर्मित अपने उस स्वर्ग से उन्हें बहुत प्रेम था। जन-जन अपने प्राणपण से अपनी उस श्री को बनाये रखने में सदा सावधान तथा संलग्न रहते थे।

उस प्रदेश के पूतचरित्र सुचारु नरेश विषय, वासना भोग-विलास, शोषण-पीड़न से सर्वथा विरत आत्मोपाजित अजीविका में ही विश्वास करते थे। राजकोष का एक पैसा भी अपने पर खर्च करना पाप मानते थे और महामात्य। वह तो सामान्यजन से भी अधिक परिश्रम करते और साधारण स्थिति में रहते थे। प्रजा की सेवा करने का वह कोई पाश्चिमिक न लेते थे। स्वयं खेती करते और सन्तुष्ट रहते। ऐसे शुभ संस्कार और पूत चरित्र के रक्षक और शिक्षक पाकर क्यों न प्रजाजन वैसे बनते और क्यों न वह प्रदेश स्वर्ग का उपमान बनकर सर्वसाधनों से सुसम्पन्न होकर सुखी रहता।

एक बार झंझावात से विक्षुब्ध वह समुद्र भयंकर हो ही उठा। ऊँची-ऊँची तरंगों के अंक में फँसकर एक व्यापारी का बहुमूल्य सामग्री से भरा जहाज समुद्र में डूब गया। किसी प्रकार वह व्यापारी एक सहायक नौका के सहारे तट पर आकर लग गया। किन्तु उसने उस जीवन को व्यर्थ समझा। वह धन-कुम्बर से भिखारी बन चुका था। उसका सर्वस्व उस समुद्र के तल में समा चुका था। समुद्र-तट पर बैठा वह विलाप करता हुआ, भाग्य को कोस रहा था। तभी एक व्यक्ति आया और उससे दुःख का कारण पूछा। उस व्यापारी ने रोते हुये अपना दुर्भाग्य कह सुनाया। उस व्यक्ति ने उस दुःखी व्यापारी को ढाढस बंधाया और राजा के पास जाकर सहायता की प्रार्थना करने

को कहा। व्यापारी को आशा बाँध गई और वह नगर की ओर चल दिया।

नागरिकों द्वारा निर्दिष्ट किये संकेतों के अनुसार वह राजा के निवास पर पहुँचा। किन्तु उसे विश्वास न हुआ कि राजालय हो सकता है। उस निवास और नगर में देखे अन्य निवासों में कोई विशेष अन्तर न था। उसने विश्वास के लिये पास ही जाते हुये एक व्यक्ति से पूछा—क्या राज-निवास यही है? ‘हाँ भद्र’ उत्तर सुनकर व्यापारी झिझकता हुआ अन्दर बढ़ा। उसे कोई द्वारपाल अथवा प्रहरी रोकने नहीं आया और वह आगे बढ़कर एक सुन्दर उद्यान से घिरे एक विशाल प्रांगण के द्वार पर आकर रुक गया। तभी सुना—‘आइये भद्र, निस्संकोच चले आइये। व्यापारी ने पास जाकर देखा कि एक स्फटिक वेदिक पर अमराई की सघन छाया में एक अत्यन्त सुन्दर, स्वरूप और तेजस्वी युवा बैठा हुआ सन कात रहा है।

उसने क्षण भर अपना काम रोककर आगन्तुक को पास ही बनी उपवेदिक पर बैठने को कहकर कहा “यात्री मालूम होते हैं।” कहिये कैसे कष्ट किया। युवक का काम पुनः शुरू हो गया था। व्यापारी ने कहा—“भद्र मैं मुसीबत का मारा एक व्यापारी हूँ, इस प्रदेश के राजा से मिलकर कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। आप मुझे उनके दर्शन करा दें। बड़ी कृपा होगी।”

युवक ने बड़े सौम्यभाव में बतलाया, “मैं ही इस प्रदेश का राजा कहा जाता हूँ। कहिये आपको क्या कहना है।” व्यापारी श्रद्धा से आत्मविभोर होकर चरणों पर गिरकर रो उठा। राजा ने अपना सन और चरखा एक ओर हटाकर व्यापारी को ढाढस दिया और अपनी व्यथा बतलाने को कहा।

व्यापारी ने रूँधे हुये कंठ और भरी हुई आँखों से अपनी दुःख-कथा कह सुनाई। राजा ने उसे विश्वास दिलाया कि उसकी खोई हुई सम्पत्ति वापस मिलेगी और एक चिट्ठी के साथ महामात्य के पास भेज दिया।

व्यापारी महामात्य के निवास पर पहुँचा और यह देखकर चकित रह गया कि प्रदेश के महामात्य बाहर से जल भर कर ला रहे थे। व्यापारी ने नमस्कार करके पत्र सेवा में प्रस्तुत किया। महामात्य ने पत्र पढ़ा और वे तुरन्त व्यापारी को साथ लेकर कार्यालय आये। वहाँ उन्होंने समुद्र के नाम एक आदेश लिखा कि इस व्यापारी का जहाज तुरन्त वापस कर दिया जाय—और उस पर राजमुद्रा अंकित कर व्यापारी को सौंपते हुये निर्देश किया कि वह पत्र को समुद्र में पहुँचा दे।

व्यापारी ने समुद्र-तट पर पहुँच कर उस पत्र को एक पत्थर से बाँधकर समुद्र में फेंक दिया और किनारे पर बैठकर प्रतीक्षा करने लगा। कुछ ही देर बाद उसका विशाल व्यापार-पोत समुद्र के बाहर सकुशल आकर किनारे पर लग गया। व्यापारी पुनः राजा के पास आया और पैरों पर गिर पड़ा। राजा ने पूछा आपका जहाज मिल गया। व्यापारी ने ‘हाँ’ उत्तर दिया और हाथ जोड़कर निवेदन किया—“महाराज, अब मैं इस जहाज को ले न जाऊँगा। आप इसे उपहार रूप में स्वीकार करें।”

राजा ने मुस्कराते हुये पूछा—“श्रेष्ठी! क्या तुम्हारे देश में किसी आपत्तिग्रस्त की सहायता करने का उपहार भी लिया जाता है? यदि ऐसा है तब तो निश्चय ही तुम्हारे देश में जल नहीं बरसना चाहिये।” नहीं, महाराज! पानी खूब बरसता है।” व्यापारी ने उत्तर दिया। ‘तब वह पानी अवश्य ही उन पशु-पक्षियों के पुण्य-प्रताप से बरसता है जो अपनी सेवा और उपकार के बदले में कोई उपकार न तो लेते हैं और न चाहते हैं। आपकी विपत्ति का निवारण ही मेरा उपहार है। जाओ और आनन्दपूर्वक अपनी मातृभूमि के दर्शन करो।’

साधुओं के लिये मार्गदर्शक— स्वामी सोमदत्त गिरि

एक थे साधु। एक गाँव के शिव मंदिर में पूजा किया करते थे। गाँव वालों ने उनकी आजीविका के लिये कुछ सम्पत्ति व थोड़ी जमीन लगा दी थी। उस जमीन का कोई उपयोग न हुआ। साधु के लिये गाँव वाले ही भोजन की, दूध-पानी की व्यवस्था करते थे। जैसी स्थिति आज सामान्य साधुओं की है ठीक वैसी ही, उसी परम्परा के यह भी एक साधु बाबा थे, जिन्हें न तो लोकशिक्षण से कोई प्रयोजन था न तप-साधना से। स्वावलम्बन की बात तो बेचारे सोचते भी कहाँ से। यह कोई कहानी नहीं एक सत्य घटना है। जो इन पंक्तियों में उद्धृत की जा रही है। दिल्ली से कोई २० मील दूर दिल्ली-कलकत्ता ग्राण्ड ट्रंक रोड पर अब—स्थित बुलन्दशहर जिले का भूमदादरी गाँव है यहीं पर वह मन्दिर है जहाँ इस प्रकार के एक बाबा जी रहा करते थे।

कुछ दिन में एक आत्म-जिज्ञासु वैरागी शिष्य भी उधर आ गुजरे। बाबा जी को जीवन के अन्तिम दिन सेवा-सुश्रूषा के लिये एक चेले की आवश्यकता भी थी सो इस बात का कोई ध्यान किये बिना कि उसकी जिज्ञासाओं की कोई तृप्ति की जा सकती है अथवा नहीं। उस अबोध शिष्य को आत्मज्ञान का कोई प्रकाश एवं मार्गदर्शन दिया भी जा सकता है या नहीं, सहर्ष शिष्य वरण कर लिया गया। शिष्य का नाम था सोमदत्त गिरि।

गिरि महाशय ने थोड़े दिन के ही सत्संग से जान लिया कि उन्हें यहाँ क्या मिल सकता है। उन्हें साधु-बाबाओं की दयनीय स्थिति का बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सोचा क्या यही वह लोग हैं जो समाज का मार्गदर्शन किया करते थे। क्या यही वह वर्ग है जिसे समाज ने भगवान् की तरह पूजा और यह आशा की कि वे जन-जन के कल्याण का, देश, धर्म, जाति एवं संस्कृति के उत्थान की पावन ज्योति जाग्रत रखेंगे। जब समाज शिक्षण के कोई लक्षण उनमें न जान पड़े तो सोमदत्त गिरि को बड़ा दुःख हुआ, पर अब वे पीछे कदम हटाकर गृहस्थ में भी नहीं आ सकते थे। उससे पंथ कलंकित होने का भय था। इसलिये उन्होंने सोचा यदि हम समाज को कुछ दे नहीं सकते तो हमें उस पर आश्रित रहने का भी कोई अधिकार नहीं होना चाहिए।

जब तक सोमदत्त के गुरु जीवित रहे तब तक वे चुप रहे। स्वाध्याय के द्वारा, कुछ कथा-कीर्तन के द्वारा अपनी योग्यता और

भक्ति बढ़ाते रहे। इसी बीच गुरु की मृत्यु हो गई। अब श्री गिरि ने विचार किया कि क्या उन्हें अब तक चली आ रही परम्पराओं पर ही चलते रहना चाहिये अथवा कुछ ऐसा सुधार करना चाहिये जिससे ग्रामवासियों के हित में मन्दिर का कुछ उपयोग भी हो सके, उसमें लगी सम्पत्ति निरर्थक न पड़ी रहे और अपना साधु-व्रत भी कलंकित न हो।

अपनी विचार शक्ति ने काम नहीं दिया तो उन्होंने कई शिक्षित व्यक्तियों से परामर्श किया। कई लोगों ने कई काम के सुझाव दिये जिससे उनकी कठिनाई का सरल समाधान निकल आया।

उन्होंने पहला काम तो यह किया कि मन्दिर में नियमित कीर्तन की व्यवस्था की जिससे नवयुवक, बच्चे और वृद्ध जो अपने खाली समय का उपयोग झगड़े और राजनीतिबाजी में किया करते थे वे उन बुराइयों से बचने लगे। लोगों का मनोरंजन होने लगा और धर्मभावना के प्रसार से परस्पर प्रेम भाव, आत्मीयता, सहयोग और संगठन के भाव भी पनपने लगे। जन-मार्गदर्शन के लिये तो आज साधुओं के उत्तरदायित्व बहुत अधिक और बहुत कठिन हैं किन्तु इतना भी क्या कम था कि श्री सोमदत्त गिरि ने अवांछनीय परम्परा को उसी तरह तोड़कर रख दिया जिस तरह किसी अयोग्य और अशिक्षित बाप का शिक्षित और समझदार बेटा परिवार में अब तक चल रहे रूढ़िवादी रीति-रिवाजों, अन्ध मान्यताओं, मृतक भोज, शादियों में अपव्यव से जेवर जकड़े के मोह, बालिकाओं को न पढ़ाने आदि की संकीर्णताओं को तोड़कर रख देता है और पारिवारिक जीवन में नये आदर्शों, कई और विवेकशील मान्यताओं को प्रतिष्ठित और क्रियान्वित करता है।

सोमदत्त ने एक बार मन्दिर के आस-पास दृष्टि दौड़ाई। सब जगह झाड़-झंखाड़ भरा पड़ा था। पेड़-पौधों की न कभी निकासी हुई थी न गोड़ाई, न ही उन्हें खाद-पानी मिला था, इसलिये वे ऐसे सूख गये थे जिस तरह मार्गदर्शन, उचित पालन-पोषण एवं संरक्षण के अभाव में छोटे बालकों के संस्कार सूख जाते हैं। श्री गिरि ने कई दिन केवल सफाई में लगाये, अनावश्यक झाड़ियाँ, सूखे पेड़ काटकर लकड़ी एक स्थान पर जमा की और जो कूड़ा-करकट था उसे दूसरी तरफ इकट्ठा करके आँच लगा दी। अब वही स्थान साफ-सुथरा व सुन्दर दीखने लगा जो लोग न भी आना चाहते थे वह भी मन्दिर आने लगे। सौन्दर्य के आकर्षण के साथ ही ग्रामीणों की श्रद्धा-भक्ति का भी विकास होने लगा।

दूसरा काम, जो श्री सोमदत्त की प्रतिष्ठा बढ़ाता है वह यह था कि आपने अन्न के लिये पराश्रय त्याग दिया। सूखी लकड़ी बेचकर चार गायें खरीदीं, उनके दूध से अपना अधिकांश भोजन का काम चलाते। बचा हुआ दूध बेच देते उससे जो पैसा बचता उसका छोटा अंश अपने भोजन, मन्दिर के प्रसाद आदि पर लगाते, शेष से जमीन को खेती योग्य बनाने और एक बाग लगाने का काम प्रारम्भ किया। पहली बार ही उन्हें खेतों से ६०० रुपये का गेहूँ मिला। यह उस हिस्से से अलग था जिसे उन्होंने अपने खाने के लिये रख छोड़ा था। इस धन से मन्दिर की सफाई, सजावट, कथा, कीर्तन, स्वागत-

समारोह, सत्कार का खर्च खूब मजे में चलने लगा और गाँव वालों के आश्रय की जो बात थी सो दूर हो गई।

एक फसल उतारने के बाद जमीन खाली पड़ी रहती थी, उसका कैसे उपयोग किया जाये? यह प्रश्न कई दिन तक गिरि जी को परेशान किये रहा, अन्त में उसका भी एक उपयुक्त हल निकल ही आया।

गिरि जी ने तीन गायें बेच दीं। अपने और मन्दिर में भोग के लिये एक गाय रखी। कुछ पैसा पहले एकत्रित था उससे एक ट्यूबवेल लगवा दिया और जमीन को खाद देकर उसे फसल के अतिरिक्त समय में साग-भाजी पैदा करने का कार्य आरम्भ कर दिया। बाहर खेतों में घीया, टिन्डे, टमाटर, भिण्डी आदि सब्जियाँ बोनी प्रारम्भ कर दीं। उससे उन्होंने दूध की कमी पूरी की, शेष को बेचने की व्यवस्था कर दी। इस तरह फसल और साग-सब्जी के दोहरे उपयोग ने मन्दिर की आर्थिक स्थिति सम्भाल दी। उन्होंने ८-८ घण्टे लगातार का कठोर श्रम खेतों में किया। फसल की निकासी-गुड़ाई तक अपने हाथों की। खुरपी-फवड़ा ही उनके धूनी और कमंडल हैं, वेष से ही वे एक साधु लगते हैं अन्यथा हैं वे शत-प्रतिशत किसान ही।

जिस तरह कोई चतुर किसान अपनी उन्नति के लिये तरह-तरह के उन्नत बीज, खाद और पानी की व्यवस्था के नये और उन्नत प्रयोग करता है, मन्दिर की खेती की उन्नति के लिये श्री सोमदत्त जी ने भी वैसे ही प्रयोग किये हैं। सोनारा ६४ किस्म का गेहूँ और मैक्सिकन गेहूँ का बीज लाकर बोया पर उपज बढ़ाने के लिये कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट व यूरिया आदि का भी उपज-वृद्धि साधनों में उपयोग किया और उसके सत्परिणामों से न केवल साधु-महन्त वरन् गाँवों की किसान जनता भी बहुत प्रभावित हुई। गिरि जी ने ग्रामीणों के मनोरंजन और देश-विदेश की गतिविधियों की जानकारी के लिये रेडियो भी लगाया है। इस तरह मन्दिर को समुन्नत और स्वावलम्बी संस्था का सफल रूप प्रदान करने का श्रेय श्री सोमदत्त जी गिरि ने प्राप्त किया और यह सिद्ध कर दिया कि साधुओं को यदि सामाजिक जीवन में अपनी प्रतिष्ठा और उत्तरदायित्व के पालन की योग्यता बनाये रखनी है तो उन्हें स्वावलम्बी, कर्मठ और परिश्रमी होना चाहिये। जो औरों को मार्ग दिखाता, औरों का कल्याण करता है, उसे पर-मुखापेक्षी और परावलम्बी क्यों होना चाहिये।

साधुवेश का गौरव बढ़ाने वाले— स्वामी शंकरदास

इन पंक्तियों में जिस व्यक्ति का जिक्र किया जा रहा है, इसका संक्षिप्त परिचय इतना ही है कि वे एक साधु हैं, वेश से भी और वृत्तियों से भी। समाज के सहारे जीवित रहे तो बदले में उनसे अधिक सेवा भी करते रहे। साधु का यही धर्म है कि वह अपना जीवन तुच्छ भोगों से हटाकर परोपकार में लगाये। उसके बदले में समाज जो कुछ रूखा-सूखा दे उसे भिक्षा के रूप में नहीं, प्रसाद के रूप में ग्रहण कर लें। भिक्षा को अधिकार नहीं मानना चाहिये। भिक्षा से प्राप्त धन नशा, संचय-भोग जैसी दुष्प्रवृत्तियों में नहीं लगाया चाहिये।

प्रथम भेट में बाबा शंकरदास के बारे में भी धारणा ऐसी ही थी। एक हृष्ट-पुष्ट अथेड़ व्यक्ति को शिक्षा-पात्र आगे बढ़ाते हुए देख बड़ा कष्ट हुआ। हमारे मन में विचार आया कि आज देश में वैसे ही खाद्य-संकट है, दूसरे इन आलसी बाबाओं का बोझ और ढोना पड़ता है। क्या ये अपने उदर-पोषण के लिये भी मजदूरी नहीं कर सकते? कर सकते हैं, पर हराम का खाने की इनकी आदत पड़ गई है। अविवेकशील वर्ग इनकी प्रतिष्ठा करता है और प्रबुद्ध वर्ग उदासीन है, इन्हें निरुत्साहित नहीं कर सकते, इसी से शिक्षावृत्ति बढ़ती जा रही है। हम और कुछ नहीं कर सकते तो इनकी संख्या न बढ़ने देने का काम तो कर ही सकते हैं।

शंकरदास को रोककर मैंने व्यंग से कहा—महाराज, डील-डौल से तो कमजोर नहीं दिखाई देते, फिर क्या अपना अकेले का पेट भी नहीं भर सकते?

मेरी माता जी को मेरी वाचालता अच्छी नहीं लगी, पर मुझे हर्ष हुआ। समझ रहा था, साधु महाराज अप्रसन्न हो उठेंगे, उठकर चल देंगे या कुछ उलटी-सीधी कहेंगे। पर यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बाबा जी ने न कुछ कटु कहा और न अप्रसन्न हुए। उनके भरीए शब्दों से इतना ही जान पड़ा कि उन्हें मानसिक आघात अवश्य पहुँचा है। बाबा जी जाते-जाते कह गये—बेटा! तुमने सचेत कर दिया। आगे भीख न माँगूँ।

हुआ भी ऐसा ही, बाबा शंकरदास ने आगे किसी के सामने शिक्षा-पात्र नहीं उठाया, पर इस घटना ने मुझे बड़ा मानसिक कष्ट पहुँचाया। बाद में माता जी और दूसरे ग्रामवासियों ने बताया कि यह बाबा जी वैसे तो टिकैया पुरवा के निवासी हैं, पर आस-पास के २५-३० गाँवों में उनका इतना अच्छा परिचय है कि किसी दरवाजे पर रुक जायें, वहीं लोग प्रसन्नतापूर्वक उनका आतिथ्य करते हैं। भोजन वे स्वयं पकाते हैं। शिक्षा में एक घर से एक मुट्ठी से अधिक कोई देना भी चाहे तो नहीं लेते। दस घर से ज्यादा माँगते नहीं। जो खाने से बच जाता है उसे गाँव के गरीब हरिजनों को बाँट देते हैं। बचा कर रखना उन्होंने पाप समझा, बीड़ी-तम्बाकू पीते नहीं, शिक्षा का अनाज बेच कर कभी कोई चीज खरीद कर खाई हो, यह किसी ने नहीं देखा।

साधु शंकरदास पढ़े-लिखे नहीं हैं इसलिए कथा-प्रवचन या उपदेश नहीं दे सकते, पर उनके शरीर से जो सेवा होती है वह किसी प्रेरणाप्रद शिक्षण से कम महत्त्व नहीं रखती। आस-पास के गाँवों में वे हलक़ारे का काम करते हैं। दस घर माँगने के बाद उनका अधिकांश समय लोगों से मिलने-जुलने में लगता है। योग्य लड़कों की जानकारी लड़की वालों को देना, सगाई पक्की कराना, देहेज लेने वालों पर दबाव डालकर कम करा देना, किसी के जानवर को चोट लगे तो पशुओं के डॉक्टर को बुला देना, बाजार से कोई सौदा ला देना यह सारे कार्य शंकरदास जी ऐसे करते हैं जैसे सब उन्हीं का काम हो। इन गाँवों के लोगों में उनके प्रति विश्वास जम गया है। बाबा जी स्वयं पढ़े-लिखे नहीं, पर बच्चों को बड़े आग्रह करके पढ़ने भिजवाते हैं। उनका लोगों में सम्मान भी कुछ ऐसा है कि कोई उनकी बात नहीं ठुकराता।

जब इन सब बातों की जानकारी मिली तो बड़ा पश्चाताप हुआ। उनका जी दुःखाने का असंजस बहुत दिन तक बना रहा। फिर काफ़ी दिनों तक उनके दर्शन नहीं हुए। एक दिन अवसर निकाल कर टिकैया पुरवा गया। वहाँ जो कुछ देखा उससे स्तब्ध रह गया, एक बाड़ी लगा ली थी, उसमें तरह-तरह की सब्जियाँ लगी थीं। लोगों ने बताया कि अब ये भीख नहीं माँगते, सब्जी और तरकारी उगाते हैं और उसी को खाकर ही गुजारा करते हैं और समाज-सेवा का कार्यक्रम? हाँ, उसमें कोई अन्तर नहीं आया, जन-सम्पर्क का कार्य यथावत् चलता है। मैंने जब उनसे अपने कहे की क्षमा माँगी तो हँसकर बोले—बेटा, तुमने ठीक ही किया था, हम साधु हो गये तो इसका मतलब यह नहीं कि मैं गलती नहीं कर सकता। अच्छी बात कोई भी कहे, मानना चाहिये। तुमने तो भला ही किया।

इधर टिकैया पुरवा में एक शिवालय की स्थापना की गई तो बाबा शंकरदास ही उसके पुजारी नियुक्त कर दिये गये। यह काम तो वे करना नहीं चाहते थे, पर जब लोगों ने स्वीकार कर लिया कि उनकी क्रियाओं पर प्रतिबन्ध न लगेगा तो वे शिवालय में रहने लगे। यहाँ रहकर भी उनकी समाज-सेवा का काम ज्यों का त्यों चलता रहा। इसी बीच गाँव वालों ने भण्डारा करने का निश्चय किया। शिवालय के लिए जो जमीन लगाई गई है उसकी उपज का बहुत-सा अनाज जमा था, उसे खर्च करने की बात थी। पर फसलों में सूखा पड़ रहा था, दूरदर्शी साधु ने जैसे पहले ही भविष्य जान लिया था और वे भण्डारे के लिए हरिगंज तैयार न हुए। कई लोग बुरा मान गये, पर शंकरदास इस बार चट्टान की तरह अडिग हो गये।

सचमुच पिछले वर्ष भयानक सूखा पड़ा। ग्रामीणों में सर्वत्र हल-चल मच गई। जिसके पास अनाज था, उसने दाब लिया और मनमाने दामों पर बेचा। पर न तो किसी ने गरीबों की परवाह की, न कृषि के लिए बीज की। ऐसे समय में शंकरदास देवता सिद्ध हुए। मन्दिर के भण्डार में जो सुरक्षित गल्ला था, उसे वे बीज बोने वालों को उधार बाँटने लगे। बाद में धनी लोगों को भी लज्जा आई और उन्होंने भी अनाज के बोरे खोल दिये। अन्न के अभाव में कोई मरने न पाया, साथ ही साथ समय पर किसानों को बीज मिल गया।

इस तरह अपना एक छोटा-सा क्षेत्र बनाकर बाबा शंकरदास आत्म-कल्याण और समाज-सेवा के कार्य किया करते हैं। इस युग में इतना भी कम नहीं है। देश में जितने साधु हैं वे सब अपने लिए इसी तरह सेवा के छोटे-छोटे दायरे नियत कर लें और उस पर सच्चाई के साथ चलते रहें तो उसी से समाज का बड़ा हित हो सकता है।

भक्त हरिदास—जो कठिन से कठिन परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए

भारतवर्ष में सदैव भगवान् के अनेक भक्त होते रहे हैं। ये भक्त प्रायः त्यागी हुये हैं और सर्वसाधारण में भक्ति का प्रचार करने के लिये उन्होंने प्रयत्न भी किया है। पर इधर कुछ समय से भक्ति-मार्ग में कुछ अन्तर आने लगा है। अब अनेक भक्त वैभव और

ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करते हैं और इस कारण अन्य लोगों पर उनका प्रभाव भी स्थायी नहीं होता ।

× × × ×
यवन हरिदास प्रथम श्रेणी के भक्त थे । वे मुसलमान खानदान में उत्पन्न होने पर भी बाल्यावस्था से ही हिन्दू धर्म के अनुसार भक्ति के रस में डूब गये थे । इसलिये छोटी अवस्था में ही उनको अपना घर त्याग देना पड़ा और वे वनग्राम नामक स्थान के समीप जंगल में कुटी बनाकर निवास करने लगे । वे प्रायः लोगों के घरों पर जाकर भिक्षा माँग लाते थे और उनके भक्त भी अनेक प्रकार के फल-फूल लाकर दे देते थे । हरिदास इस सामग्री में से दिन-रात में केवल एक बार आवश्यकतानुसार खा लेते और जितना बच रहता था उसे अगले दिन के लिये न रखकर बालकों तथा अन्य आगन्तुकों को बाँट देते थे ।

× × × ×
वनग्राम का जमींदार रामचन्द्राँ दुष्ट स्वभाव का व्यक्ति था । हरिदास की प्रशंसा सुनकर उसने निश्चय किया कि हरिदास को भजन से भ्रष्ट करके बदनाम किया जाय । इसलिये एक रूपवती, यौवन सम्पन्न वेश्या को सिखा पढ़ाकर हरिदास के पास भेजा । वह संध्या के समय हरिदास की कुटी पर पहुँची । हरिदास भी रूप-यौवन सम्पन्न पुरुष थे और उनको देखकर वह उन पर मोहित हो गई । उसने हाव-भाव द्वारा अपना आशय उन पर प्रकट कर दिया । हरिदास ने कहा “मैंने नाम जप का जो व्रत ग्रहण कर रखा है वह पूर्ण हो जाय तो मैं तुम्हारी जो इच्छा हो उसे पूर्ण करूँ । बस वे जप करने लग गये, उस जप में न विराम था और न नाम कीर्तन थोड़ी भी देर के लिये रुका । वेश्या कुटी के द्वार पर बैठी-बैठी सब देखती रही । भजन ही भजन में सबेरा हो गया । तब वह उठकर जमींदार के पास गई और कहने लगी कि “कल तो काम नहीं हो सका, पर आज मैं उसे अपने रूप-जाल में फँसाकर अवश्य भ्रष्ट कर दूँगी ।” शाम होने पर वह फिर कुटी पर पहुँच गई और कामुकतापूर्ण हाव-भाव और नजाकत दिखाने लगी । हरिदास ने फिर वही उत्तर दिया कि “नाम-जप की संख्या पूरी होने पर तुम्हारी बात पर ध्यान दूँगा ।” उस दिन भी भजन करते-करते सबेरा हो गया और वेश्या को निराश होकर उठ जाना पड़ा । जब इसी प्रकार तीन दिन बीत गये और चौथे दिन भी हरिदास ने वैसा ही उत्तर दिया तो वेश्या का मनोभाव बदल गया । उसने विचार किया यह रक्त-मांस का पुतला जब ऐसे ज्वलन्त प्रलोभन को इस प्रकार ठुकरा रहा है, तो यह सच्चा हरिभक्त है और इसके सामने किसी प्रकार का नीच प्रयत्न सफल नहीं हो सकता । उसकी आँखों में अनुताप के आँसू भर आये और उसने अपनी समस्त पाप कथा भक्त के आगे निवेदन कर दी ।

हरिदास ने कहा— “मैं तो तुम्हारे उद्धार के लिये ही यहाँ टिका हुआ था । अब तुम्हारे पास जितनी सम्पत्ति हो वह सब दीन-दुःखियों को बाँट दो और अपना शेष जीवन भगवान् का भजन करने में लगाओ ।” यह कह कर वे अपनी कुटी को छोड़ कर अन्यत्र चले

गये । इधर उस वेश्या ने अपना सर्वस्व गरीबों को दान करके सिर मुड़ा लिया और हरिदास की उसी कुटी में रहकर तपस्वी जीवन बिताने लगी । वेश्या के जीवन में ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन देखकर सब लोगों की भक्तिहरिदास पर और भी बढ़ गई ।

× × × ×
कुछ समय बाद हरिदास की कठिन परीक्षा का अवसर उपस्थित हो गया । उस प्रदेश के काजी ने नवाब के यहाँ जाकर हरिदास की शिक्रायत की कि “उसने मुसलमान होकर हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया है । इस उदाहरण का दूसरे मुसलमानों पर भी बुरा असर पड़ सकता है, इसलिये हरिदास को उचित दण्ड दिया जाय ।” इस पर हरिदास अपने निवास स्थान फुलिया गाँव में गिरफ्तार कर लिये गये और नवाब के सम्मुख हाजिर किये गये । पहले तो उनको फिर से मुसलमानी धर्मानुसार आचरण करने को बहुत समझाया गया, पर जब वे अपने विश्वास पर अटल रहे तो काजी के आग्रह पर नवाब ने उनको बाईस बाजारों में ले जाकर बेटों से मारने का दण्ड दिया । सरकारी सिपाही उनको पकड़ कर एक-एक बाजार में ले जाते और पीठ पर सड़ासड़ बेटों की बौछार करते । पर रोना-चिल्लाना या क्रोध करना तो दूर रहा हरिदास भगवान् का नाम लेते हुये बेटों की मार को प्रसन्नता-पूर्वक सहन कर रहे थे । जब सिपाहियों ने देखा कि इन पर इस भयंकर मार का भी कोई असर नहीं होता तो वे बड़े घबड़ाये और कहने लगे— “महाराज, हमको आज्ञा दी गई है कि बेटों से मारते-मारते आपके प्राण ले लिये जायें । पर यदि आप न मरे तो नवाब हमको दण्ड देंगे ।” हरिदास तो अपने शत्रुओं पर भी दया करने वाले थे । उन्होंने सिपाहियों की विपत्ति को मिटाना स्वीकार कर लिया और उसी समय योग बल के प्रभाव से शरीर से प्राणों को खींच कर अचेत होकर गिर गये । सिपाही लोग उनको उठाकर नवाब के सामने ले गये और जब सबको उनकी मृत्यु का निश्चय हो गया तो उनके शरीर को गंगाजी में फेंक दिया गया । गंगाजी में बहते-बहते कुछ देर में वे फिर होश में आकर हरिनाम लेने लगे । जब यह समाचार नगर में फैला तो स्वयं नवाब और काजी आदि उनके दर्शनों को पहुँचे और उनके चरणों पर गिरकर अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी ।

× × × ×
अन्त में हरिदास बंगाल में भक्ति रस की धारा बहाने वाले चैतन्य महाप्रभु की शरण में जा पहुँचे । वे अपने को बहुत दीन-हीन और मुसलमान खानदान में जन्म लेने के कारण अपवित्र मानते थे, इस लिये कीर्तन के समय सबसे पीछे बैठे रहते, पर चैतन्य ने उनको अपने पास बुलाकर कहा— “तुम अपने को अशुद्ध कदापि मत समझो, तुम्हारी देह मेरी अपेक्षा भी पवित्र है ।” जब चैतन्य महाप्रभु पुरी धाम में जाकर रहने लगे । तो वहाँ भी उन्होंने हरिदास के लिये एक सुन्दर उद्यान में कुटिया बनवा दी । हरिदास जीवन के अंतिम समय तक वहीं रहकर लोगों को भगवत्भक्ति का उपदेश करते रहे, और हजारों पतित लोगों को दुष्कर्मों से छुड़ाकर सुमार्ग पर चलाने लगे । अत्यन्त दीन-हीन वेष में रह कर भी उन्होंने अनगिनती लोगों का उपकार किया और उनके जीवन को सुधार दिया ।

अभिनव समाज के रचनाकार हारीत मुनि

“इतने समय कौन ?” उन्होंने अचकचा कर इधर-उधर देखा न दिखाई देने पर भी पदों की आहटें, शरीरों के रगड़ खाने से उठी पत्तों की सरसराहट साफ सुनाई दे रही थी, वह सोचने लगे इस धुंधलके में यहाँ कौन भटक गया ? सामान्यतया यहाँ तो कोई आता भी नहीं, जानवर चराने वाले लड़के भी दिवस के तीसरे प्रहर तक वापस चले जाते हैं। इतने में कुछ सुनाई पड़ा, आवाजें क्रमशः साफ होती गईं। वह भी कान लगाकर सुनने लगे। एक अपने साथियों से कह रहा था, “अरे ! यहाँ कहाँ आ फँसे इस वियावान जंगल में रात हो चली है, कुछ सुझ भी नहीं रहा, अच्छा हो हम लौट चलें।”

कोई और कुछ कहे, इसके पहले सभी की आँखें नजदीक आती जा रही मशाल की ज्योति शिखा की ओर जा टिकीं, कौन ? कौन मार्गदर्शक, देवदूत, आश्रयदाता सभी के मनों में अलग-अलग भाव उभरे। धीरे-धीरे मशाल के प्रकाश में एक आकृति स्पष्ट हुई अरे ! यह तो साधू है—एक साथ कई कंठस्वर बोल पड़े, हाँ भाई ! मैंने आप लोगों की आवाजें सुनीं, मुझसे रहा नहीं गया, मशाल जलाई और इधर चला आया। कौन हैं आप लोग ? आने वाले ने सहज भाव से पूछा। “मैं ब्राह्मण हूँ,” वृद्ध दिखने वाले व्यक्ति ने कहा। “साधू और ब्राह्मण, एक कर्महीन दूसरा विचारहीन।” कहकर ठहाका लगाकर हँस पड़ा सुनने वाले सकपका गए, अपने को संभालते हुए एक ने कहा—“महाराज ! एक के बाद अनेक असह्य दुःखों ने आचार्य जी को व्यथित कर दिया है, उनके कथन का बुरा न मानें।”

नहीं भाई इसमें बुरा मानने की क्या बात ? यह तो कठोर सच्चाई है, जर्जरित समाज की दुरावस्था का प्रधान कारण है—साधु ने सौम्य स्वर में बात आगे बढ़ाई, अच्छा हो आप सब यहीं पास में मेरी कुटिया तक चलें। थोड़ी ही देर में पच्चीस-तीस लोगों का समूह कुटिया के सामने था। सभी ने हाथ, पैर, मुँह धोए। इतने में गौरिक वस्त्रधारी सन्त ने भुने हुए कन्दों का एक छोटा ढेर सबके सामने लगा दिया, कुछ अन्य जंगली फल भी थे। सभी धीरे-धीरे खाने लगे, आज अनेक दिनों के बाद उन्हें तृप्ति अनुभव हो रही थी। तृप्ति सत्कार की, अपनत्वं की, प्यार की, सम्मान की। सिर्फ भोजन से भला कौन कहीं तृप्त हुआ है ?

भोजन के बाद बातों का क्रम चल निकला। फूट पड़ी व्यथा कथा सिन्धु के राजा दाहिर पर आक्रमण की, किसी ने तो उसका साथ नहीं दिया। हे मानव ! तूने पड़ोस में लगी आग बुझाने को बड़ा सोचा है। तेरी नींद तो खुद के जल रहे घर को देखकर भी नहीं टूट रही। महिलाएँ कुचली-मसली गईं। बच्चे भालों की नोक पर उछलने के लिए मजबूर हुए। पुरुषों की रक्तधार से मेदिनी सिक्त हुई और आप लोग इतने पर भी भाग-कर चले आए। साधु के शब्द बताने वाले के वाणी प्रवाह के सामने बाँध बनकर खड़े हो गये। एक क्षण के लिए वह सहमा फिर प्रकृतिस्थ होकर बोला—“भागो—भागते क्यों ? नहीं हम सावधान करने, आए हैं यह बताने आए हैं कि हम

तो जल गए अब तुम्हीं झुलसने से बचो।” कहते-कहते वह तमतमा उठा। तमतमाहट सिसकियों में घुलने लगी। साधु ने सभी को आश्वासन दे जैसे-तैसे उन्हें सोने के लिए प्रेरित किया। वह भी कुटिया के अन्दर चले गए।

सोने की कोशिश की पर आँखों में नींद कहाँ ? सोचने लगे आज समाज में चारों ओर छिद्र ही छिद्र हो गए हैं। जन अज्ञान, अभाव और आत्म चिन्तन से जर्जर है, कुरीतियों की सर्पमालाएँ, रूढ़ियों के वृश्चिक दंश उसे मूर्छित और विकल कर रहे हैं, अनन्तधा विदीर्ण हो उठा है। जन-जीवन। क्या करूँ ? तुम्हीं कुछ कर्तव्य सुझाओ—एकलिंग ! कहकर उसने सामने प्रतिष्ठित शिवलिंग की ओर कातर भाव से ताका। सोचते-विचारते पता नहीं उसे कब नींद आ गई। स्वप्न में देखा ज्योतिलिंग साकार हो उठा है। धीरे-धीरे उसने एक ज्योति पुरुष का रूप लिया। ज्योति रेखाओं से इसका शरीर बना है, माना अग्नि शिखा को छानकर स्वर्ण शलाकाओं से बाँधकर, विद्युत शिखाओं से खरादकर और सूर्यकान्त मणियों को गलाकर ही यह अपूर्व ज्योति मण्डल तैयार किया गया है। अहा यह अकारण दयालु परमदेव कौन है ?

मानव का चिरपुरातन और चिरनवीन मार्गदर्शक अन्तःस्थित और बहिर्व्याप्त महाकाल। एक गुरु गम्भीर स्वर उभरा। समाज जर्जर है तो सिर्फ इस कारण कि हर कोई अपने स्वार्थों का घरोदा बनाने के फेर में है। यहाँ तक कि तेरा भी जगत प्रवाह से विच्छिन्न होकर व्यक्तिगत साधना के कंचुक से निरन्तर संकुचित होते रहकर स्वयं के मुक्ति लाभ की आशा करना और क्या है ? समाज की रक्षा का अर्थ है—स्वार्थों का बलिदान। धरती पर स्वर्ग वही लाएगा, जिसके पास सहज जीवन का कवच होगा, सत्य की तलवार होगी, धैर्य का रथ होगा, साहस की ढाल होगी, मैत्री का पाश होगा, धर्म का नेतृत्व होगा, उठो, रोंदों इन स्वार्थों को तुम्हारे बलिदानों का प्रत्येक कण भावी पीढ़ियों को साहस और निर्भीकता का सन्देश देगा, प्रचण्ड आँधी की तरह बहो, बिजली की तरह कड़को, सुधा की तरह बरसो, कायरों और निकम्मों के गढ़ पर धक्का मारो। उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ने वाले प्रत्येक निःस्वार्थ कदम के साथ मैं स्वयं हूँ।

टूट गई उसकी झपकी, सोचने लगा कैसी सारगर्भित थी उद्बोधक वाणी, स्वप्न होने पर भी जाग्रत से कहीं अधिक सजीव, यही तो वह सन्देश है जिसे सुनने के लिए मेरा अन्तर तक व्याकुल था। सचमुच कहाँ समाज की स्तब्धता, अवमानता, भय, कातरता और परमुखापेक्षिता से बचाने का महान् सन्देश और कहाँ व्यक्तिगत चौखटों में छटपटाने वाली मुक्ति-साधना के मेरे प्रयत्न ! उपास्य के निर्देश ने उसके अंग-अंग में स्फूर्ति, उल्लास और प्रसन्नता भर दी थी।

लक्ष्य स्पष्ट था धरती पर स्वर्ग उतार कर रहूँगा। राह सुस्पष्ट थी—महाकाल का सहचर बनने की। योजना दिमाग में कौंध गई। कौन देगा मेरा साथ ? धनिक ! जो वैभव के मद में चूर है, विद्वान ! बुद्धि के तिकड़मों की पट्टी जिनकी आँखों से कस कर बंधी है, फिर कौन ? शासन करने वाले, पर उन्हें शोषण और उत्पीड़न से फुरसत कहाँ ? तब फिर ? साधारण जन, भील, आदिवासी हर व्यक्ति जिसके

कान विकलता की मर्मभेदी पुकारों को सुनने के लिए बहरे नहीं हुए हैं, जिनका सम्वेदनशील हृदय हर किसी छटपटाहट और तड़पन के साथ धड़क उठता है, और योजना के प्रथम चरण में वह जा पहुँचा भीलों की बंस्ती में उनके तरुण नायक बप्पा के मन में अपनी सारी व्यथा उड़ेल दी। सहज जीवन को अपनी सम्पत्ति मानने वाले भील कह उठे— हम तैयार हैं महाराज किन्तु किन्तु क्या ? हम अनगढ़ और अशिक्षित माने जाते हैं, तैयार होने पर भी हम आपके अनुगामी बन सकेंगे, सन्देह है। अनुगामी हमारे नहीं, भगवान् एकलिंग के उस परा चेतना के जिसने मुझे झकझोर कर उठाया है, अपना यंत्र बनाना चाहा है। वही तुम्हें, तुम जैसों को अपना यंत्र बनाना चाहते हैं। परवाह नहीं, यदि तुम बहुत नहीं हो, धन का अभाव है, रहने के लिए गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ नहीं हैं, वर्तमान के जराजीर्ण समाज में तुम्हारा स्थान नहीं है। हमें नया समाज रचना है, नया समाज जिसका हर स्पन्दन मनुष्य में दिव्यत्व को उभार सके। जिसके समस्त मान-दण्डों के आधार धन और बुद्धि न होकर संवेदनशील मानवीयता होगी।

बोलो तैयार हो ? हाँ शताधिक कंठस्वर गूँज उठे। ये शब्द सुनकर साधु भी हर्षपूर्वक बोला, “भीलो तुम्हारे काले शरीरों में उजले दिल हैं, तुम्हारी आत्माएँ महान् और पवित्र हैं, आज के तुम्हारे ये संकल्पित स्वर आने वाली मानवता का दिग्दर्शन करेंगे। तुम्हारा कर्तृत्व प्रज्ज्वलित दीपशिखा की तरह अनेकों के थके पाँवों को बल देगा। उसके ये शब्द हरीतमुनि की जय, बप्पा रावल की जय की प्रचण्ड ध्वनि के साथ फैल गए।

प्रचण्ड गति से बढ़ चला परिवर्तन का चक्र जिसकी धुरी हरीत मुनि थे। बप्पा रावल लोकनायक बने। उनकी प्रचण्ड कर्मनिष्ठा ने इतिहास में एक स्वर्णयुग रचा। बीतते समय में महाकाल के स्वर पुनः गूँजे हैं पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सतेज सूरज की तपन, हवा का बहाव, जल की लहरें एक ही गीत गा रही हैं— किसी भी स्थिति में लोकनायक चाहिए।

ईसा के सच्चे शिष्य और सच्चे प्रेम पुजारी—वेरियर एल्विन

कटनी बिलासपुर रेलवे लाइन पर एक छोटा-सा स्टेशन—‘पेण्डारोड’। यहाँ के आदिवासी क्षेत्रों से सर्वथा अनभिज्ञ, दो युवक बापू का आशीर्वाद लेकर इसी स्टेशन पर उतरे। दोनों ने इस अनजान इलाके में आने की बात तो दूर कल्पना तक नहीं की थी। उन्हें करंजिया तक जाना था, पुलिस की सहायता लेना अनिवार्य लगा। पेण्डारोड के पुलिस स्टेशन से मदद मिली भी सही। लेकिन कुछ दूर चलकर पुलिस इन्स्पेक्टर ने आगे चलने से इन्कार किया। दोनों साथी समझाने-बुझाने लगे पर इन्स्पेक्टर टस से मस नहीं हुआ और वापस चला गया।

एक गोंड युगल आता दिखाई दिया। उन्होंने सोचा इनकी मदद से गाँव तक पहुँचा जाय परन्तु वह युगल इन्हें देखकर ही भाग गया।

ऐसे जीवन्त और संघर्षशील अनुभवों को शुरूआत में ही सहकर दूने उत्साह से अपने काम में लगे रहने वाले इस महामानव का नाम था— वेरियर एल्विन और उनके साथी थे शामराव। जिन्होंने अपना सारा जीवन आदिवासियों की सेवा में लगा दिया। एल्विन उसी घने जंगल में बैठ गये और शामराव करंजिया पहुँचे। गाँव वालों को सारी घटनाएँ सुनाई। कुछ भलेमानुस साथ आए जहाँ एल्विन बैठे शामराव की प्रतीक्षा कर रहे थे।

एल्विन को इस क्षेत्र में आने की प्रेरणा तत्कालीन कांग्रेस के निष्ठावान नेता श्री जमनालाल बजाज ने दी थी। एल्विन ने महात्मा गाँधी से भी परामर्श किया। उनकी भी सहमति और आशीर्वाद पाकर नर्मदा के भोले लाइलों की सेवा भावना से अमर कंटक से दस मील दूरी पर स्थिति इस रम्य स्थान पर आये।

करंजिया में एल्विन चार बरस रहे। पूरे आदिवासी बनकर— ठेठ आदिवासी। आदिवासियों के समस्त जीवन बनाकर ही उनकी सेवा कर सकना सम्भव था अन्यथा किसी शहरी आदमी का वहाँ रहना तो क्या ठहर पाना भी मुश्किल था। और कोई शहर का विलायती साहब एकदम ग्रामीण—आदिवासियों जैसा जीवन बिता सकेगा इसकी कल्पना करने से पहले भी हजार बार सोचना पड़ेगा। परन्तु एल्विन ने यह सब कर दिखाया और सिद्ध कर दिया कि जिनके मन में सेवा की लगन है वे हर वातावरण में साँस ले सकते हैं। किसी भी प्रकार के सामयिक जीवन में अपने आपको एक रस कर सकते हैं।

एल्विन इंग्लैंड के रहने वाले थे। आरम्भ में ही इनमें लोकसेवा के लिए बड़ी उमंग थी। इनका पालन-पोषण भी धार्मिक वातावरण में हुआ था फॅलस्वरूप महात्मा ईसा की पवित्र शिक्षाओं के प्रसार का सेवा मार्ग चुना। उन दिनों शासक वर्ग यूरोपीय देशों में भारत की भेदी एवं विकृत तस्वीर जनता के सामने रखते थे। जिससे वहाँ के लोगों के मन में भारत के गन्दे, असभ्य, गरीब और अन्धविश्वासी जन-समाज के प्रति घृणास्पद भाव पैदा हो जाता। एल्विन को मालूम हुआ तो उन्होंने भारत के पिछड़े समझे जाने वाले समाज को ही अपना कार्यक्षेत्र चुन लिया।

‘क्रिस्त सेवा संघ’— नामक संस्था के अंतर्गत वे भारत आये। परन्तु उन्होंने सेवा का यहाँ दूसरा ही रूप देखा। इस संघ का उद्देश्य था गरीब आदिमियों को प्रलोभन देकर ईसाई बनाना तथा उनकी राष्ट्रीय और धार्मिक मान्यताओं को खरीद लेना। इस प्रकार विदेशी साम्राज्यवाद की जड़ें भारत में मजबूत बनाने का कुचक्र चल रहा था। एल्विन ने यह सब देखा तो मिशनरियों की कार्य पद्धति से उन्हें बड़ी निराशा हुई।

उन्हीं दिनों भारत में राजनैतिक स्वतन्त्रता का युद्ध घोष चल रहा था। भारत की सांस्कृतिक और राजनैतिक चेतना करवट बदल रही थी। संघर्ष और उत्थान का यह समय गाँधी की प्रतिष्ठा का युग था। यहाँ की नैतिक और प्राचीन सभ्यता की महानता अरविन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ जैसे उद्भट विद्वानों और महापुरुषों के रूप में व्यक्त हो रही थी। एल्विन ने भारत की सांस्कृतिक गरिमा के आगे पश्चिम को बहुत बौना अनुभव किया।

उन्होंने पाया कि जिन सिद्धान्तों और धार्मिक मान्यताओं का प्रचार करने के उद्देश्य से वे यहाँ आये हैं। पर भारत तो उनका प्रवर्तन ईसा के जन्म से भी शताब्दियों पूर्व कर चुका है। मानवता की शिक्षाएँ भारत में प्रचारित करने का झाँसा देने का षडयन्त्र तो उन्होंने यहाँ आते ही अनुभव कर लिया। परन्तु जब वे यहाँ के दार्शनिक विचारों के सम्पर्क में आये तो लगा कि अपना प्रयास क ख ग जानने वाले विद्यार्थी का विद्वान् आचार्य को उपदेश देने सरीखा है।

अन्ततः उपदेश देने और अपने पाण्डित्य को प्रदर्शित करने की अपेक्षा उन्होंने आदिवासियों की सेवा का मार्ग अपनाया। तथा अपने साथियों के साथ मिलकर करंजिया में ही एक 'गोंड-सेवा मण्डल' की स्थापना की। वहाँ उन्होंने आदिवासियों में शिक्षा के प्रचार के लिए एक स्कूल खोला, एक अस्पताल भी खोला। जिसके माध्यम से वे आदिवासियों के निकटवर्ती सम्बन्धियों की तरह स्नेह पात्र बन गये। कहाँ तो शुरू में लोग उनसे डरकर भाग जाते थे और कहाँ बात-बात में एल्विन—'बड़े-भैया'—की सलाह को मान्यता दी जाने लगी। इस श्रमसाध्य परिवर्तन और लोकप्रियता का कारण एल्विन की सेवा भावना तथा वहाँ के जन-जीवन से तादात्म्य प्राप्त कर लेना ही था।

एल्विन का विश्वास था कि कोई मिशन या सेवा कार्य विश्वास और लगन से ही पूरा हो सकता है परन्तु इसकी यह एक और अनिवार्य शर्त है कि—जिस समाज को अपना कार्यक्षेत्र चुना जाए, उसके अनुरूप स्वयं को ढाला जाय। उस समाज से समरस हुए बिना न तो नागरिकों की सहानुभूति प्राप्त की जा सकती है और न ही सहयोग। इसीलिए एल्विन ने स्वयं को भी अपनी इस मान्यता के साँचे में ढाला। लोकसंघर्ष के मार्ग में आने वाली हर कठिनाई को उन्होंने धैर्य के साथ सहन किया तथा आजीवन आदिवासियों सरीखे, उनमें घुल-मिलकर रहे। आदिवासियों की तरह पोशाक, उन्हीं की तरह नंगे पैर। वहाँ के अन्दाज में बात करने का प्रयास। एल्विन की हर दैनंदिन कार्य चेष्टा आदिवासियों की शैली में होने लगी। वहाँ के लोकगीतों को वे बड़े चाव से सुनते, उनके अनुवादों की भावात्मा को जिन्दा रखकर अनुवाद कर संकलित रखते व लोकनृत्यों में भाग लेते। खाना भी एकदम आदिवासियों जैसा। एल्विन का रहन-सहन देखकर उन्हें आदिवासियों से भिन्न कह पाना मुश्किल था।

स्वयं को आदिवासी समाज में ही घुला देने के लिए उन्होंने अपना जीवन साथी भी एक गोंड कन्या 'लीला' को चुना। यद्यपि लीला निरक्षर और गँवार थी परन्तु ऐसे उदार और आदर्श पति को प्राप्त कर लीला ने अपनी अन्तर्निहित महानता को साक्षात् कर लिया। उनकी धर्म-पत्नी का जीवन इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है कि कोई भी महान् उद्देश्य पूरा करने के लिए साक्षर होना जरूरी नहीं है। महानता हर स्थिति में और हर श्रेणी के व्यक्ति में है तथा उसे प्रकट किया जा सकता है निष्ठा और लगन के बल पर। लीला अपने पति के साथ हर क्षेत्र में कदम से कदम मिलाकर चली। उसने भी इस

शहरी और विदेशी बाबू के मिशन को अपनी अशिक्षित बुद्धि से समझा था और उसकी महत्ता को स्वीकार था। स्वयं एल्विन ने अनेक स्थानों पर यह स्वीकार किया है कि जो सन्तोष और सहयोग उन्हें लीला से मिला वह अन्य दूसरी शहरी लड़की से नहीं मिल सकता था।

आदिवासियों की सेवा के साथ-साथ एल्विन एक साहित्यकार के रूप में सामने आये। उन्होंने कुल २६ किताबें लिखी हैं और एक-एक किताब पर वर्षों मेहनत की। आदिवासियों के रहन-सहन, विश्वास, परम्पराओं और कार्य-शैलियों की जितनी जानकारी उनकी पुस्तकों से मिल सकती है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

चार साल तक एल्विन करंजिया में रहने के बाद पारमगढ़ आये। उन्होंने वहाँ भी अपना सेवा यज्ञ आरम्भ किया। पूर्ववत् अस्पताल और स्कूल खोले। सेवा धर्म के प्रति समर्पित भावना से गाँव वालों के मन से उन्होंने एक भय के भूत-अन्धविश्वास से मुक्ति दिलाई। लोगों का विश्वास था कि मरघट एक अशुभ जगह है परन्तु एल्विन ने अपना दफ्तर वहीं खोला। लोगों के मन से अन्धविश्वास का भूत भगाने के लिए वे वहीं काम करते रहे—निरापद, लोकप्रवाद की बिना चिन्ता किये।

उन दिनों पूना चर्च मिशन के प्रधान विनस्लो थे। बीमारी के कारण उन्हें लन्दन जाना पड़ा। उनके स्थान पर यह पद एल्विन को दिया गया। आरम्भ से ही मिशनरियों की कार्य पद्धति के प्रति उनके मन में घृणा भरने लगी थी। इस उत्तरदायी पद पर अनाचार का सूत्रधार बन जाने से उन्हें और क्षोभ हुआ। आखिर एक दिन क्रिस्त सेवा संघ के ऊपर एक तिरंगा झण्डा लहरा दिया। अंग्रेजी शासन की जड़ें सींचने वाले पाखण्डी धर्म प्रचारकों का रोष भड़क उठा और उन्हें मिशन से निकल दिया गया।

एल्विन अब साबरमती आश्रम आ गये। बापू ने उन्हें आश्रम में जगह दी और वे वहीं रहने लगे। यहीं रहकर वे भारत के सभी बड़े नेताओं के सम्पर्क में आए। मन पर बोझ बना हुआ अनुशासन और बाहरी नियन्त्रण तो था नहीं। पहले से ज्यादा उन्मुक्त और स्वच्छन्द। एल्विन ने खुलकर स्वातन्त्र्य समर में भाग लेना आरम्भ कर दिया। आश्रम के हर आयोजन और कार्यक्रम में अपना सहयोग देते तथा मानवता के मुक्ति आन्दोलन को सबल बनाने में सचेष्ट रहते।

बम्बई में जब गाँधी जी की गिरफ्तारी हुई तो एल्विन साबरमती में ही थे। वे सारी व्यवस्था सम्भाल रहे थे। उस समय के कार्यो से खुश होकर गाँधी जी ने इन्हें अपना बेटा मान लिया। कभी-कभी वे कहा करते थे कि मीरा (बहन) मेरी बेटी है तो एल्विन बेटा।

अपने उदार दृष्टिकोण और मुदल स्वभाव के कारण एल्विन ने सहज में ही पटेल, नेहरू, सुभाष बोस, सीमांत गाँधी आदि जैसे नेताओं का स्नेह प्राप्त कर लिया। आचार्य कृपलानी के साथ वे मध्यप्रदेश के अनेक शहरों और गाँवों में घूमे। स्वतन्त्रता का सन्देश घर-घर पहुँचाने लगे। एक अंग्रेज के मुँह से ही अंग्रेजियत के विरोध में भारत की दासता और उससे उत्पन्न कुत्सित स्थिति का विश्लेषण सुनकर हर नागरिक का अन्तःकरण मचल उठता। दासता और

पशुधनता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने के लिए हर आबाल वृद्ध का रक्त उबलने लगा ।

राष्ट्रीय पुनर्जागरण के क्षेत्र में उनका सहयोग अविस्मरणीय है । साथ ही व्यक्तिगत सम्बन्धों में भी उनकी सदाशयता कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही । वे सभी धर्मों का समान आदर करते थे फलस्वरूप समय आने पर प्रत्येक धर्मावलम्बी ने उनकी मदद की । जब चर्च ने नाराज होकर उनकी आर्थिक सहायता करना बंद कर दिया तो एक प्रसिद्ध उद्योगपति ने उनकी मदद की । जिन मित्रों ने भी उनकी सहायता की, उनका आजीवन एल्विन ने अहसान माना । उनकी आत्मकथा में करीब-करीब सभी साथियों का उल्लेख आया है । शामराव के बारे में उन्होंने एक जगह लिखा है कि— “वे जीवन में जो कुछ भी कर पाये वह सब शामराव की मदद से ही कर पाये ।”

उनके पिता ऑक्सफोर्ड के प्रसिद्ध पादरियों में एक माने जाते थे । चर्च में उनका अच्छा-खासा प्रभाव था इसलिए वे चाहते थे कि उनका बेटा भी धर्म प्रचारक ही बने । इसीलिये उन्होंने एल्विन को भारत भेजा था परन्तु हुआ उलटा ही पैतृक परम्परा से हटकर वे विद्रोही बन गए ।

विद्रोही बने या मानवता के— परमात्मा के— सच्चे सेवक इसका निर्णय तो इतिहासकार ही कर पायेंगे, परन्तु ईसा के पवित्र नाम का और उनकी शिक्षाओं का उपयोग गरीबों और दलितों की आस्था तथा विश्वासों को लूटने में प्रयोग करना कितना समाचीन है ? एक-दूसरे देश को दैन्य और दरिद्रता की महामारी देकर वहाँ की आर्थिक उपलब्धियों का जौक की तरह शोषण कहाँ तक मानवता की सेवा है ? ईसा के प्रेम और न्याय की आड़-में निहित स्वार्थी तत्त्वों का कुचक्र देखकर कोई सजग आत्मा अपने साथियों का साथ देने से इन्कार कर दे तो वह विद्रोह कितना पुण्यवान होगा, कल्पनातीत है ।

गाँधी जी के जेल जाने के बाद वापस करंजिया आकर और अन्त तक करंजिया के गोंडों में ही नहीं देश के विभिन्न भागों में बेंगा, मुरिया, बाँदा, नागा, अगरिया आदि लोगों की सेवा करते रहते । वे जहाँ भी रहते मिट्टी के कच्चे मकान में लालटेन के उजाले में लिखा-पढ़ी करते । कुष्ठ रोगियों के इलाज के लिए अस्पताल, शिक्षा के प्रसार के लिए स्कूल जैसी सेवा संस्थाएँ खोलते और अन्त तक विश्व मानव परमात्मा की सेवा करते रहे ।

गाँधी जी के इस प्रिय शिष्य और आदिवासियों के ‘बड़े भैया’ का निधन फरवरी ६२ में हो गया । मानवता का यह महान् पुजारी युगों-युगों तक अमर रहेगा ।

बेसहारों का मसीहा—ओवेपियर

फ्रांस के सुविख्यात पादरी फ़ादर ओवेपियर पेरिस में रहते थे । जाड़ों की कड़कड़ाती सर्दी की एक रात में जब वह लिहाफ में घुसे पलंग पर चैन की नींद सो रहे थे कि किसी ने दरवाजा खटखटाया । खट-खट की आवाज ने उनकी नींद भंग की ।

इतनी रात गए कौन हो सकता है ? मन ही मन फ़ादर ने प्रश्न किया और उत्तर वहीं से आया जहाँ से प्रश्न पूछा गया था— शायद कोई मुसीबत का मारा व्यक्ति है ।

दरवाजा खोला तो सचमुच एक व्यक्ति जिसके तन पर नाम मात्र के वस्त्र थे, याचना की मुद्रा में खड़ा था । फ़ादर ने कहा— “कहो बेटे क्या बात है ?”

“फ़ादर ठंड लग रही है । आज आपके मकान में शरण चाहता हूँ” — व्यक्ति ने कहा ।

ईसा की राह पर चलने वाले फ़ादर न कैसे करते । उन्होंने उलटे प्रेमपूर्वक डाँट ही लगाई । “इतनी देर क्यों कर दी । कभी का आ जाना चाहिए था ।” और वह व्यक्ति अन्दर आ गया ।

फ़ादर ने उसके सोने, ओढ़ने को अच्छा प्रबन्ध कर दिया और रात भर वह चैन की नींद सोया ।

सुबह हुई, दिन बीत गया पर रात बिताने की इच्छा से आये उस व्यक्ति का जाने का मन नहीं हुआ । मौसम ही ऐसा था और उसने सारा दिन गुजार दिया । एक दिन, दो दिन, तीन दिन— चार-पाँच, पूरा सप्ताह ही बीत गया । न आये व्यक्ति की जाने की इच्छा हुई और न फ़ादर ने उसे जाने के लिए कहा ।

विपरीत इसके कुछ और लोग वातावरण के गिरते तापमान को देखकर अपने आपको बचाने के लिए फ़ादर के पास आकर रहने लगे ।

जब आगन्तुकों की संख्या बढ़ने लगी तो फ़ादर का ध्यान उनकी ओर गम्भीर हुआ । पूछा— “सारे नगर में तुम्हारे जैसे कितने लोग हैं ?”

“बहुत सारे” उत्तर मिला ।

“तो एक काम करो । फ़ादर ने कुछ विचार करने के बाद कहा ।”

उन सबको चर्च में इकट्ठा करो ।

संध्या समय ऐसे सभी लोग चर्च में इकट्ठे हुए और फ़ादर ने उन्हें अपनी बात समझाते हुए कहा— “क्यों न हम सब लोग मिलकर जाड़े की समस्या का स्थाई हल ढूँढ़ें । इसके लिए हमें मकान बनाना होगा ।” उन्होंने बात आगे बढ़ाते हुए कहा ।

सुनकर सब लोग आश्चर्य और अविश्वास भरे भावों से उनकी ओर देखने लगे ।

एक ने खड़े होकर कहा— “क्यों हँसी करते हैं, फ़ादर ? हम लोग तन का कपड़ा और पेट की रोटी तो जुटा नहीं पाते फिर भला मकान कैसे बनाएँगे ।” फ़ादर ने उत्साह भरते हुए कहा— “तुम नहीं जानते हो सामूहिक प्रयासों में बड़ी ताकत होती है । यदि इस शक्ति का सही सदुपयोग किया जा सके तो क्रान्तिकारी परिणाम सामने आ सकते हैं । हम लोग ऐसा ही करेंगे । मेरी योजना ध्यानपूर्वक सुनो-उचित लगे तो उत्साहपूर्वक क्रियाशीलता के लिए कटिबद्ध हो ।”

और उन्होंने योजना बतानी शुरू की । इसके अनुसार बेघर लोगों ने शहर के तमाम कूड़े-कबाड़ानों को छान मारा, जो कि सड़कों के आस-पास कई स्थानों पर लगे थे । टूटी ब्रकरी, टूटे-फूटे बर्तन और पुराने टूटे फर्नीचर मिले । इन सब सामानों को जो व्यर्थ समझकर

फेंक दिए गए थे इकट्ठा किया गया और उनकी मरम्मत कर बाजार में सस्ते दामों में बेच दिया गया।

जो राशि इकट्ठी हुई उससे पुनः वही धन्धा चलाया गया। धीरे-धीरे रकम इकट्ठी हुई जिससे कि एक साफ बस्ती के निर्माण की योजना को साकार रूप दिया जा सके और जब वह योजना साकार होने की ओर अग्रसर हुई तो पेरिस ही नहीं फ्रांस भर के समाचार पत्रों ने फ़रद की सूझ-बूझ और बेधर लोगों की श्रमशीलता की मुक्त कंठ से सरहना की। जनसहयोग भी प्राप्त हुआ। इस उपलब्धि से सूझ-बूझ और श्रमनिष्ठा की प्रेरणा मिलती रहे इसलिए बस्ती का नाम भी 'रैग पिकर्स कालोनी' अर्थात् कूड़ा-करकट बटोरने वालों की बस्ती रखा गया। क़श ! फ़रद ओवेपियर की भाँति कोई साधक भारत में भी होता।

जीवन यज्ञ के उद्गाता— संत एमर्सन

आत्मा हमें उन प्रश्नों का उत्तर उपलब्ध करती है, जो चेतनावृद्ध से हमें प्राप्त नहीं होते। प्रकृति के प्रत्येक अणु में आत्मा का निवास है। वह आत्मा अथवा चेतन तत्त्व ही परब्रह्म है..... मेरे कार्यों के बारे में अपनी आत्मा का मत क्या है ? यही मेरे लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, दूसरे लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, यह नहीं ?'

परमात्मा सम्बन्धी इन विचारों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी पुरातन भारतीय मनीषी ने प्रस्तुत किये हैं। पर ऐसा है नहीं, यह शब्द भारतीय 'प्रचारधारा के अनुप्राणित अमेरिकी संत एमर्सन के हैं।'

एमर्सन का जन्म अमेरिका के बोस्टन नगर में २५ मई, १८०२ को हुआ था। अपनी शिक्षा को पूर्ण कर हार्वर्ड डिविनिटी स्कूल में प्रमुख पद पर कार्य करने लगे, पर उस कार्य को उद्देश्य से परे जानकर त्यागपत्र दे दिया और निकल पड़े दो वर्षों के लिए यूरोपीय देशों का भ्रमण करने। भ्रमण के दौरान उनकी भेंट कार्लाइल, जे. एस. मिल, मैक्स मूलर, वर्ड्सवर्थ और रस्किन जैसे विचारकों और दार्शनिकों से हुई। इन विद्वानों से भारतीय दर्शन पर उनकी खुलकर चर्चा होती थी जिससे वे बहुत प्रभावित हुये।

एमर्सन के मस्तिष्क पर पड़े हुये विचारों ने हलचल मचा दी और वह अपनी भारतीय विचारधारा के प्रचार-प्रसार में लग गये। उनकी प्रेरणा से एक चिन्तक मण्डल अस्तित्व में आया जो 'कौन्कर्ड मण्डली' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस समय एमर्सन कौन्कर्ड में रहते थे वहीं इस मण्डल की स्थापना हुई थी अतः उस मण्डल का नाम नगर के नाम पर ही पड़ गया। इसके सदस्य 'सर्वीति-शायीवाद' के चिन्तन-मनन में व्यस्त रहने लगे।

एमर्सन ने अपने ऊपर राजा राममोहन के प्रभाव को स्वीकार किया है। राजा राममोहन राय ने भारतीय वांगमय का अध्ययन कर जिन तथ्यों को स्पष्ट किया था वह कौन्कर्ड मण्डली के विचारों से काफ़ी मेल खाते थे। राजा राममोहन राय हिन्दू तथा ईसाई धर्म के समन्वय का प्रयत्न कर रहे थे।

महात्मा गाँधी एमर्सन के विचारों से इतने अधिक प्रभावित हुये थे कि उन्होंने अपने पुत्र मणिलाल को एक पत्र लिखा— '..... एमर्सन के निबन्धों को पढ़कर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्चात्य गुरु के द्वारा भारतीय दर्शन की शिक्षा दी गई है। अपनी संस्कृति पर दूसरे विद्वानों के विचारों को पढ़कर प्रसन्नता होती है तुम मगनलाल से कहना कि यह एमर्सन के निबन्धों को ध्यान से पढ़ा करे। महत्त्वपूर्ण अंशों को रेखांकित कर अलग किसी कापी पर उतार लिया करे।'

सन् १८८२ में एमर्सन का देहान्त हो जाने के कारण गाँधी से भेंट का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने एक राजनीतिक निबन्ध में लिखा था कि मुझे किसी ऐसे व्यक्ति का स्मरण नहीं आ रहा है जिसने नैतिक कार्यों से प्रचलित नियमों तथा कानूनों की सविनय अवज्ञा करने का साहस दिखाया हो। महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में एमर्सन के विचारों को ही चुनौती दी थी। उन्होंने नैतिक कार्यों से प्रचलित नियमों को तोड़ा और कानून की सविनय अवज्ञा की। सरकार की दृष्टि में यही उनका अपराध था और इसी के लिये दक्षिण अफ्रीका में कारावास का दण्ड दिया गया था।

पं. जवाहर लाल नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' पुस्तक के पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन पर भी एमर्सन के विचारों का प्रभाव था। इसीलिये उक्त ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में एमर्सन के निबन्ध 'सैल्फरि लाइन्स' से अनेक अंश उद्धृत हैं।

एमर्सन को सर्वप्रथम जून १८४५ में भगवद् गीता का अध्ययन करने का अवसर मिला। उसकी आत्म-तत्त्व की विवेचना से वे इतने अधिक प्रभावित हुये कि उन दिनों एमर्सन के द्वारा लिखे गये अनेक पत्रों में भी गीता के प्रसंगों की चर्चा मिलती है।

उन्होंने भारतीय वेदान्त दर्शन का अध्ययन ही नहीं किया था वरन् बहुत कुछ सीखा भी था। वह जीवन में सुख और दुःख को समान भाव से देखते थे। वह अपने व्याख्यानों में प्रकृति की एकता तथा मानव की आधारभूत सरलता पर जोर दिया करते थे।

सृष्टि में उन्हें शाश्वत तत्त्व का साकार रूप दिखाई पड़ता था, जहाँ ईश्वर ने जगत की मौलिक एकता को विविधता प्रदान की है। एमर्सन कौन्कर्ड नगर के जिस मकान में रहते थे उसमें उनके द्वारा प्रयुक्त, प्रत्येक वस्तु सुरक्षित है उसे देखने से 'सादा जीवन उच्च विचार' का भारतीय मूलमंत्र स्मरण हो आता है।

वह शरीर से भले ही अमेरिका के रहे हों पर उनकी आत्मा भारतीय मनीषियों की आत्मा थी। वह जीवन में एकरसता के सिद्धान्त को मानते थे। उनका विश्वास था कि यदि कोई मनुष्य प्रयास करे तो इन्द्रियों के प्रभुत्व से मुक्त हो सकता है। उन्होंने इन्द्रियवाद से चेतनवाद की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त किया पर चेतनवाद उनका साध्य न था। चेतनवाद की कमी आत्मा के द्वारा पूरी होती है और वह आत्मा ही परमात्मा है, परब्रह्म है।

एमर्सन प्रत्येक प्राणी में देवत्व के दर्शन करते थे। उन्होंने जन-साधारण शब्द का कभी प्रयोग न किया। वह मानते थे कि साधारण जन कोई नहीं होता सब असाधारण होते हैं। सबमें देवत्व होता है और यह देवत्व ही प्रत्येक जन की रचना का अनिवार्य अंग है।

उनका कहना था कि किसी व्यक्ति का मूल्यांकन उस आधार पर कभी नहीं किया जाना चाहिये कि दूसरे व्यक्तियों की धारणा उसके प्रति क्या है। अपने विचारों की सत्यता जानने के लिये हमें अपनी आत्मा से ही पूछना चाहिये।

जो सत्य उनके जीवन का आधार था, उसके दर्शन जब अल्प-संख्यकों में ही पाते तो दुःख होता था। अधिकांश लोगों में कृत्रिमता दिखाई पड़ती थी, उनके विचारों और प्रतिज्ञाओं में मौलिकता का अभाव रहता था। व्यक्ति मरते समय भी आत्म-निरीक्षण नहीं करना चाहता बल्कि यह सोचता है कि उसकी शव यात्रा में कितने लोग सम्मिलित होंगे।

भारतीय विचारधार में ओत-प्रोत होने के कारण इस वेदांती संत पर यहाँ के लोगों को गर्व है और प्रत्येक भारतीय की उनके प्रति अगाध श्रद्धा है। दक्षिण भारत द्वारा एक नये राग का नामकरण 'एमर्सन प्रिया' इस श्रद्धा का द्योतक है।

ईसाई धर्म के सच्चे अनुयायी— डॉ. क्रिश्चन

अर्द्धरात्रि का समय होगा। अस्पताल के सभी कर्मचारी अपने अपने कमरों में विश्राम कर रहे थे। डॉ. क्रिश्चन अभी ही रोगियों को देखकर, सब वाडों का निरीक्षण कर लौटे ही थे और सोने की तैयारी कर रहे थे। इतने में ही किसी ने कॉलबेल दबायी। डॉक्टर आधे कपड़े पहने ही दरवाजे की ओर दौड़े। इस समय कौन हो सकता है? डॉक्टर के पास कोई रोगी ही असमय में आता है। दरवाजा खोलकर देखा—एक गाँव का भोला-भाला युवक अपनी माँ को बरामदे में छोड़कर आया था। माँ बहुत बीमार थी। हालांकि वह अपने घर से दोपहर को चला था। तीन-चार मील का रास्ता तै करने में ज्यादा समय तो नहीं लगना चाहिए था। रास्ते में तेज बारिश और फिर गाड़ी ने धोखा दे दिया इसलिए समय पर पहुँच नहीं सका।

डॉक्टर ने बारिश में भीगे युवक की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा—'क्या बात है?'

माई-बाप—युवक ने कहा—'मेरी माँ सख्त बीमार है। बारिश की ठण्डी हवा के कारण उसे रास्ते में ही तेज बुखार चढ़ गया। आपको अभी तकलीफ उठानी पड़ेगी।'

डॉक्टर भी तुरन्त तैयार होकर युवक के साथ हो लिए। न चेहरे पर परेशानी के भाव और न ही मन में किसी प्रकार की उक्ताहट। उनके लिए तो रोगी के रूप में स्वयं ईसा ही आते थे। डॉक्टर ने इत्मीनान के साथ मरीज वृद्धा का परीक्षण किया और इन्जेक्शन दिये। युवक को दिलासा देने लगे—'देखो! हालत अगर सुधरी नहीं तो मुझे फिर जगा देना।'

एक वार्ड में रोगी को दाखिल भी कर दिया। यह सब करते हुए उन्होंने किसी भी नर्स या कर्मचारी को नहीं जगाया। स्वयं ही अपने हाथों से अस्पताल का कमरा खोला और दवाईयाँ दी थीं। ऐसे

समय कोई पेशेवर या नौकरी से ही सम्बन्ध रखने वाला डॉक्टर होता तो यों ही युवक को टरकाकर भगा देता। डॉक्टर क्रिश्चन के लिए यह कोई नयी बात नहीं थी। रोज ही ऐसा क्रम चलता रहता। शायद ही कोई ऐसा दिन बीता हो जब उन्हें सोते हुए जागना नहीं पड़ा हो। इतना होते हुए भी उन्होंने कभी किसी प्रकार की कोई परेशानी अनुभव नहीं की। कई बार तो निर्घन रोगियों के लिए स्वयं ही औषधियाँ का प्रबन्ध किया और जब रोगी परिवार के सदस्य उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते तो बड़े संकोच के साथ वे कह देते—'भाई' इसमें मैंने क्या बड़ा उपकार किया है। यह तो मेरा फर्ज था। तुम लोगों के रूप में मेरा भगवान् ही आया है, उसकी सेवा-सुश्रूषा नहीं करूँ तो फिर क्या करूँ।

यह उत्तर मात्र औपचारिक नहीं हृदय से निकलता था। इसका प्रमाण है उनके द्वारा अपनाया गया वह रवैया जब उपकृत लोग अधिक ही कृतज्ञता ज्ञापन करते और उन्हें बड़ा संकोच होता था। डॉ. क्रिश्चन ऐसे अवसरों पर कह देते यह दवाई तो सरकार ने तुम लोगों के लिए ही भेजी है। मैं कोई अपनी जेब से थोड़े ही दे रहा हूँ।

वेतन का अधिकांश भाग इसी प्रकार खर्च हो जाता। डॉ. सामान्य स्तर का जीवन जीते और अपनी आवश्यकता भर का पैसा अपने लिए रखते थे। कर्मयोग का इससे उत्तम उदाहरण और क्या हो सकता है। अपनी उपार्जित कमाई को दीन-दुःखियों की सेवा में निःस्वार्थ भाव से लगा देना, स्वयं के लिए न्यूनतम और शेष सब अन्य औरों की सहायता में खर्च कर देना—डॉ. क्रिश्चन की यही साधना बन गयी थी।

अजन्ता एलोर की गुफाओं के बीच, महाराष्ट्र के औरंगाबाद शहर में पश्चिमी पोशाक पहने ईसाई मत के अनुयायी डॉ. क्रिश्चन के व्यक्तित्व की सुवास कुछ ही वर्षों पूर्व फैल चुकी है। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर अब नहीं रहा फिर भी उनसे लाभान्वित हुए लोग अभी उनकी चर्चा प्रशंसा मुक्तकंठ से करते हैं। सेवा का मार्ग व्यक्ति को इसी प्रकार सत्कीर्ति और यश प्रदान करता है। केवल कीर्ति और ख्याति ही नहीं सेवा के बदले मिलने वाला सन्तोष और तृप्ति मनुष्य को एक ऐसे आनन्द से भर देता है, जो बड़े-बड़े साम्राज्यों के अधिपति, सम्राटों और करोड़पति धन्ना सेठों के लिए दिवास्वप्न ही सिद्ध होती है।

विनोबा जी जब औरंगाबाद गये तो डॉ. क्रिश्चन की ख्याति उन्हें भी सुनने को मिली। स्वयं डॉक्टर भी उनसे मिलने आये। उनकी गतिविधियों से परिचित होकर विनोबा जी के मुँह से सहसा निकल पड़ा—'वास्तव में आप ईसा के सच्चे अनुयायी हैं। ईसा ने भी दीन, दुःखियों और रोग पीड़ितों में उसी परमात्मा का दर्शन किया था जिसका कि आप करते हैं।'

डॉक्टर साहब ने बड़ी विनम्रता के साथ उत्तर दिया था—'आप मुझे शर्मिदा कर रहे हैं। मैं अपने प्रयत्नों से सन्तुष्ट नहीं हूँ। इसके लिए क्या करना चाहिए यह आपसे जानने के लिए आया हूँ, न कि अपनी प्रशंसा सुनने।'

डॉ. क्रिश्चन की सेवा भावना अभी अतृप्त ही थी। यद्यपि उनके सहयोग से कई लोकसेवी संस्थाएँ चल रही थीं। फिर भी असन्तोष! विनोबा ने कहा— ‘अपनी प्रगति से असन्तोष करना ही साधक को ऊँचा उठाता है। आप अपनी लोकसेवा की साधना में लगे रहें। विशेष चिन्ता न करें।’

और डॉक्टर साहब ने विनोबा के मार्गदर्शन को गाँठ से बाँध लिया। उनके व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू भी था जिसने उन्हें निखरा हुआ रूप प्रदान किया है। दिन-रात रोगियों की सेवा में लगे रहते हुए भी वे सामाजिक कार्यों में भाग लेते रहते थे। गेटरी क्लब, मेडिकल एसोसियेशन, मराठवाड़ा सांस्कृतिक मण्डल, कुष्ठ सेवा समिति, विवेकानन्द समिति आदि कई संस्थाओं के वे अध्यक्ष रहे और इन संस्थाओं के कई कार्यक्रमों में भाग लेना, मरीजों की देख-भाल भी करना— दोनों ही कर्मों में समान रूप से रुचि रखते हुए उसका निर्वाह करना आसान नहीं है। परन्तु डॉ. क्रिश्चन ने जितनी सफलता के साथ ये दोनों कार्य बिना रुके चलाये उसे देखकर आश्चर्य ही होता है।

उनसे कई बार लोगों ने पूछा भी सही कि— आप किस प्रकार इतना सब कर लेते हैं? डॉक्टर ने इसका सूत्र समझाते हुए कहा था— सामाजिक कार्यों के लिए मेरा समय बँधा हुआ है। दोनों काम आसानी से इसी कारण चल सके हैं कि मैंने नियमित और अनुशासित दिनचर्या को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। एक भी क्षण बर्बाद नहीं जाने दिया। वस्तुतः किसी के भी पास समय की कमी है नहीं। लोकोपयोगी कार्यों में लगने के लिए एक-एक क्षण का सदुपयोग किया जाये तो बहुत कुछ हो सकता है।

डॉ. क्रिश्चन की एक और बड़ी विशेषता थी सभी धर्मों के प्रति समभाव। यही नहीं सभी धर्मों का अन्तर्विरोध मिटाकर वे एक-दूसरे को नजदीक भी लाना चाहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने ‘सर्वधर्म समन्वय-ज्योति मन्दिर’ का निर्माण भी करवाया था, जहाँ सभी मतों के अनुयायियों के लिए आराधना की व्यवस्था है। स्वयं उन्होंने अपने घर में भी भगवान् राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध और कुरान के वचनों की तस्वीरें तथा चित्र लगा रखे थे। प्रत्येक के सामने वे एक समान ही श्रद्धा और आदर के साथ झुकते थे। सब धर्मों को एक ईश्वर की ओर ले जाने वाली विभिन्न-भिन्न उपासना-पद्धतियाँ मानते हुए वे बताते कि वस्तुतः इन सबका आधारभूत सिद्धान्त एक है। सभी धर्म सत्य, न्याय, प्रेम, अहिंसा, करुणा, सेवा जैसे सद्गुणों की समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं और इन्हें व्यावहारिक जीवन में उतारने का उपदेश देते हैं। उपासना मार्गों के मूल सिद्धान्त भी एक हैं। किसी भी पद्धति से ईश्वर की अर्चना वन्दना एक ही भाव निष्ठा के साथ की जाती है। ईश्वर को अपने समीप, सम्मुख, साथ मानकर उसका प्यार पाने की प्रार्थना ही तो उपासना का मर्म है। देश, काल, पात्र के अनुसार पद्धतियाँ अलग-अलग बना दी गयीं तो क्या हुआ?

उनकी सेवानिष्ठा ने उन्हें जहाँ आस-पास के क्षेत्रों में लोकप्रिय बनाया वहीं उनके सर्वधर्म समभाव और ज्योति मन्दिर ने उनकी कीर्ति

को देश विदेशों में भी विस्तारित कर दिया। विदेश यात्रा के दौरान दूसरे देशों के लोग उन्हें ‘क्रिश्चन योगी’ के नाम से जानते थे। ईसा को उन्होंने अपने जीवन में जितनी सफलता के साथ अवतरित किया है। वह अन्य लोगों के लिए भी अनुकरणीय है।

कुंग फुत्ज—मनुष्य जो देवता की तरह पूजा गया

तेरह वर्ष तक वह एक राजा से दूसरे राजा के पास जाता रहा कि वे उसकी नैतिक पुनरुत्थान परक सेवाएँ लें। किन्तु किसी ने भी उसकी बात नहीं मानी। सम्मान सभी ने किया। सभी ने कहा— “आप बहुत बड़े विचारक हैं, विद्वान् हैं। आपसे हमारी सभा की शोभा है। आपके लिये हम सब प्रकार की सुविधाएँ जुटाएँगे। आप हमारे पास रहिये, हमें कृतार्थ कीजिए।”

राजा लोगों की यह बात उसे मनोनुकूल नहीं लगी। वह मात्र आदमी ही नहीं था कि उसे आवास, भोजन व अन्य सुख-सुविधाएँ मिल जाने से ही सन्तुष्ट रह जाता। उसका एक मिशन (ध्येय) भी तो था, जो कच्चे धागे से बाँधकर उसे द्वार-द्वार भटक रहा था। उसका यह ध्येय था चीन के लोगों की नैतिकता में दृढ़ आस्था उत्पन्न करना। उसने सभी राजाओं से यही कहा— “यह नहीं हो सकता महाराज! सेवा नहीं लेते तो मैं कैसे राज-धन पर अपना निर्वाह करता रहूँ यों ही अकर्मण्य बनकर।” और वह बिना राज्याश्रय के ही चीन देश में अपने सुविचारित नैतिक सिद्धान्तों को जन-जन को सुनाता रहा उनकी उपयोगिता समझाता रहा। कालान्तर में उसके यही उपदेश चीन का धर्म बन गये।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि उसे भूखा रहना पड़ता था। उसके एक शिष्य ने उससे पूछा— “गुरुदेव ऐसे धर्म प्रचार से क्या लाभ?” इस पर वह बोला— “प्रत्येक काम मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये नहीं करता और सच्चा मनुष्य तो ऐसा कभी नहीं करता। हमने भी सच्चे मनुष्य बनने की शपथ ली है। भूखों मरने से हमारी सच्चाई धूमिल होने वाली नहीं है वरन् वह तो कष्टों की आँच में तप कर खरा कुन्दन बन जाने वाली है, जिसे सभी को स्वीकार करना होगा। कष्ट सबके सामने आते हैं जो अविचलित भाव से उनका स्वागत करते हैं वे कष्टों को जीत लेते हैं। सच्चे आदमी ऐसे ही होते हैं।” और उनकी यह तपस्या, द्वार-द्वार, घर-घर जाकर अपने नैतिक सिद्धान्तों का प्रचार करने का, स्वेच्छा से अभावों को सिर ओढ़ने जैसा काम रंग लाया। उसके मरणोपरान्त सारे चीन में करोड़ों लोग उसके अनुयायी बन गये और १९१२ तक उसके द्वारा चलाया गया धर्म चीन का राजधर्म रहा। बौद्धधर्म के प्रसार के उपरान्त भी उसके नैतिक सिद्धान्तों के करोड़ों अनुयायी चीन में थे और आज भी करोड़ों लोगों की आस्थाएँ उनमें है। यह व्यक्ति मनुष्य होता हुआ भी बाद में देवता मानकर पूजा गया। उसका नाम था कुंग फुत्ज जिसे हिन्दी में सामान्य तथा कनफ्यूशियस कहा जाता है।

बाल्यकाल से ही नियति ने उसकी परीक्षाएँ लेना आरम्भ कर दिया था। हड़हत्सी प्रदेश के प्रशासक के वे अन्तिम और इकलौते पुत्र थे। उनके पैदा होने के तीन वर्ष बाद ही उनके पिता का देहावसान हो गया। पिता की मृत्यु होते ही उनका पद दूसरे व्यक्ति को मिल गया। पिता धन के प्रति विशेष अनुरक्ति नहीं रखते थे अतः उनके मरते ही परिवार पर आर्थिक संकट के बादल मँडराने लगे, अभावों की वर्षा होने लगी। किन्तु यदि उनके पिता धन-दौलत व भौतिक सम्पदा छोड़ जाते तो बहुत सम्भव था वे उसी में फँस जाते और उनके द्वारा मानवता की कोई सेवा नहीं हो पाती और न आज उनका नाम ही कोई जानता। सद्गुणों और आदर्शवादिता की जो सम्पदा पिता से विरासत में मिली थी वही उनकी प्रगति में सहायक बनी।

बाल्यावस्था में ही कुंग फुत्ज को आजीविक्कू कमाना और परिवार का खर्च चलाना पड़ा। उनके मन में ज्ञान की अदम्य तृष्णा थी। उन दिनों आज की तरह न तो पुस्तकें ही प्रचुरता से मिलती थीं न इस प्रकार गाँव-गाँव में स्कूल होते थे। चीन भर में कोई थोड़े से गिने-चुने शिक्षालय थे। कुंग फुत्ज ने जीवन में बिखरी ज्ञान की मणि मुक्ताओं को यत्नपूर्वक बटोरा और उसे अपनी झोली में सहेजा।

प्रकृति से चिन्तक और शिक्षक या साधु बनकर लोकशिक्षण करने की उनकी कामनाओं को देखकर उसकी माता को भय लगा कि कहीं यह विराणी न बन जाय सो बारह वर्ष के होते न होते उनके गले में पत्नी रूपी डोर बाँध दी कि वे भाग खड़े न हों। उन्नीस के हुये तब तक तो वह डोर और भी कस गयी। दो लड़कियाँ भी उत्पन्न हो गयीं उनके। किन्तु परिवार का पालन करना एक बात है और अन्ये मुर्गे की तरह परिवार की चक्की के चारों और चक्कर काटना दूसरी बात। परिवार समाज सेवा के काम में विशेष आड़ा नहीं आता वरन् वह व्यक्ति का नियमन करता रहता है।

थोड़े दिनों सरकारी नौकरी करने के बाद उन्होंने अपना एक विद्यालय खोला। उस समय उनकी आयु २२ वर्ष की थी। इस विद्यालय में मात्र अक्षर ज्ञान की ही शिक्षा नहीं दी जाती थी वरन् सदाचार और सुशासन सिखाना उनका मुख्य लक्ष्य था। थोड़े ही दिनों में उनका यह विद्यालय बहुत प्रसिद्ध हो गया। वे गरीबों को निशुल्क शिक्षा देते थे जबकि धनिकों से शुल्क लिया करते थे।

यह विद्यालय वास्तव में सद्बिचारों के प्रसार का केन्द्र था और समाज सुधार का केन्द्र भी। वे तत्कालीन कुरीतियों का डटकर विरोध किया करते थे। वे धर्म के उन्हीं नैतिक सिद्धान्तों को मानते थे जो चिरन्तन थे, शाश्वत थे। समय के साथ उनमें कोई विकृति नहीं आती थी। सदाचार के उन्हीं नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन वे किया करते थे। उन्होंने इतिहास और दर्शनशास्त्र का गहराई से अध्ययन करने के पश्चात् सदाचरण व सुशासन के जो नियम बनाए थे वे बहुत लोकप्रिय हो गये। उन्हें सुयोग्य शिक्षक व प्रशासक माना जाने लगा।

शिक्षक होते हुए भी उनके मन में अपने शिक्षक होने के प्रति कोई दुराग्रह नहीं था। ३४ वर्ष की आयु में जब लू प्रदेश के दो मेधावी युवक उनके शिष्य बने तो उन्हें नैतिक व प्रशासन सम्बन्धी शिक्षा

देने के साथ ही उनसे उन्होंने संगीत भी सीखा। संगीत को वे ईश्वर की बहुत बड़ी देन मानते थे।

कुंग फुत्ज ने जो उपदेश दिये वे ठोस व्यावहारिक धरातल पर टिके होने के कारण अधिक व्यावहारिक थे। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक जोर दिया। समाज के व्यक्तियों द्वारा जिन नियमों को पालने से समाज में सुख, शान्ति, सन्तोष और स्वर्गीय वातावरण बने वे नियम ही उनके धर्म के आधार थे। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसकी वस्तु कोई दूसरा गुपचुप या छीन कर न ले इसलिये अस्तेय की उपयोगिता है। धर्म के सभी सिद्धान्तों को उन्होंने व्यावहारिक स्वरूप में प्रस्तुत किया। अतः वे शीघ्र प्रभावी हुये।

उनकी भेंट उनके समकालीन सन्त लोओत्से से भी हुई जो ताओ धर्म के प्रतिपादक थे। कुंग फुत्ज ने धर्म को मात्र सैद्धान्तिक स्वरूप न देकर उसे व्यावहारिक बनाया ताकि समय के साथ उसमें विकृतियाँ न आ जायें और सम्प्रदायवादी विकृतियाँ उठ खड़ी हों—भिन्न-भिन्न मतावलम्बी आपस में मार-काट मचाएँ।

राज्य में उनका प्रभाव बढ़ रहा था। प्रदेश का राजा उनका बड़ा आदर करता था। तभी लू राज्य में क्रान्ति हो गयी। राजा कोत्सी राज्य के राजा के यहाँ शरण लेनी पड़ी। विद्रोहियों ने परेशान किया पर वे अविचलित भाव से उन्हें सहते रहे। वे जानते थे कि कोई भी अच्छा काम किया जाता है तो उसमें कष्ट-कठिनाइयाँ आती हैं। अब वे शिक्षालय का भार अपने योग्य शिष्यों के भरोसे छोड़कर धर्म, नैतिकता व सदाचरण के शाश्वत सिद्धान्तों का प्रचार करने निकल पड़े। उनकी वाणी की ओज, व्यक्तित्व की प्रखरता और चरित्र की दृढ़ता उनके इस धर्म प्रचार में बहुत सहायक रही। उनके पास शिक्षा लेने वालों का जमघट लगा रहता। उनके अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गयी। उनके शिष्य उनके उपदेशों को लिपिबद्ध कर लिया करते थे।

बावन वर्ष की आयु में उन्हें लू राज्य के चुंग तू नगर का प्रशासक बना दिया गया। उन्होंने इस नगर का प्रशासन अपने सिद्धान्तों के आधार पर किया जिससे नगर एक प्रकार का स्वर्ग ही बन गया। उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गयी लोग उनके गुणगान करने लगे। सदाचरण और नैतिकता के पालन से ऐसा चमत्कार उन्होंने कर दिखाया जो अद्भुत था।

अपने नगर प्रशासन में उन्होंने रोगियों व दुर्बलों के लिए मुफ्त भोजन की व्यवस्था की साथ ही सबल व्यक्तियों के लिये काम करना अनिवार्य कर दिया। उन्होंने व्यापार को बढ़ावा दिया, सड़कों व पुलों का निर्माण किया, सामंतों के अधिकार कम किये, न्याय की दृष्टि में गरीब-अमीर का भेद-भाव नहीं बर्ता, चोर-डाकुओं का सफाया किया। नगर में अमन-चैन रहने लगा। यह देखकर लू प्रदेश का राजा उनका भक्त बन गया।

कुंग फुत्ज के इस बढ़ते हुये प्रभाव को देखकर कुछ ईर्ष्यालु दरबारी उनसे जलने लगे। उन्होंने राजा को सुन्दरियों के मोहपाश

में बाँधकर विलासी बना दिया। यह कुंग फुत्ज को बहुत बुरा लगा। उन्होंने राजा को सचेत भी किया किन्तु राजा पर तो बुराइयों ने विजय पा ली थी। निदान कुंग फुत्ज ने राजा पर दबाव डालने के लिये नगर के प्रशासक पद से इस्तीफा दे दिया। किन्तु राजा तो विलास के मदिरा में डूबा पड़ा था, उसने इस्तीफा स्वीकार कर लिया।

नगर के प्रशासक पद को त्याग कर वे पुनः धर्म प्रचार के लिये निकल पड़े। कहीं राज्याश्रय मिल जाय तो ठीक है कि वे किसी एक नगर को चुंग तू की तरह आदर्श बना सकें। किन्तु तेरह वर्ष तक ऐसा अवसर नहीं आया और वे घर-घर, द्वार-द्वार जाकर शाश्वत मानव धर्म का प्रचार करते रहे। जब वे सत्तर वर्ष के हुए तो लू राज्य के नये राजा ने उन्हें शासन के प्रशासन में सुधार करने के लिये आमन्त्रित किया। चार वर्ष तक उन्होंने लू राज्य में लोगों को धर्माचरण सिखाया। उसके पश्चात् ७४ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। श्रेष्ठ पथ पर चलकर जीते जी भी उन्हें खूब श्रद्धा-सम्मान मिला मरने पर उन्हें देवता की तरह पूजा गया।

मनुष्य जीवन तो पानी का बुलबुला है। वह पैदा भी होता है और मर भी जाता है। किन्तु शाश्वत रहते हैं उसके कर्म और विचार। सद्विचार ही मनुष्य को सद्कर्मों को करने के लिये प्रेरित करते हैं और सत्कर्म ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध करते हैं। मनुष्य के विचार ही उसका वास्तविक स्वरूप होते हैं। ये विचार ही नये-नये मस्तिष्कों में घुसकर हृदय में प्रभाव जमाकर मनुष्य को देवता बना देते हैं और राक्षस भी। जैसे विचार होंगे मनुष्य वैसा ही बनता जाएगा।

कुंग फुत्ज का पार्थिव शरीर मर सकता था पर उनके विचार तो शाश्वत थे। आदमी की तरह विचारों को नहीं मारा जा सकता। ईसा को सूली पर टाँग देने से ईसाइयत नहीं मरी। कुंग फुत्ज के दो सौ वर्ष पश्चात् एक राजा ने उनके विचारों— उनकी शिक्षाओं को नष्ट कर देने का प्रयास किया। उनकी लिखी पुस्तकें, उनके उपदेशों व शिक्षाओं के संग्रह उसने जला दिये। जो लोग उनके मतानुयायी थे और प्रचार करते थे उन्हें उसने मौत के घाट उतार दिया। फिर भी कुंग फुत्ज के विचार मरे नहीं, वे और जीवन्त हो उठे। उनके उपदेश लोगों के मन, मस्तिष्क, हृदय अन्तःकरण में जीवित रहे। बाद के सम्राटों ने उन विचारों को स्वीकारा। कुंग फुत्ज के धर्म को मान्यता मिली, राजाश्रय मिला और वह खूब फला-फूला। आज भी चीन में करोड़ों व्यक्तियों को उनके उपदेश कण्ठस्थ हैं। यह है विचारों का अमृतत्व।

कुंग फुत्ज ने स्वयं केवल एक पुस्तक लिखी— ‘बसंत और पतझड़।’ इसमें २५० वर्ष का इतिहास लिखा है। उस इतिहास का वर्ण्य विषय मात्र घटनाएँ या लोगों के विवरण ही नहीं हैं। “व्यक्ति कोई अच्छा कार्य करता है तो उसका स्वयं पर और समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है और बुरा काम करता है तो वह समाज में दुःख फैलाने के साथ स्वयं अपना कितना अहित करता है।” इस तथ्य को बिना किसी आग्रह के इस पुस्तक में बताया है। इसे चीन के लोग बड़ा पवित्र मानते थे। आज भी करोड़ों लोगों की उस पर श्रद्धा है।

कुंग फुत्ज अपने विचारों के रूप में आज भी अमर हैं और वह अमरत्व मनुष्य जीवन में ही सुलभ होता है। अवसर खोने पर पछताना ही हाथ लगता है, हमें यह भूलना नहीं चाहिए।

करुणा तथा सेवा के पुण्य प्रतीक— जार्ज पियरे

बेल्जियम के पादरी श्री जार्ज पियरे को जब अभिनन्दनपूर्वक, उनकी शांति सेवाओं के लिये नोबेल पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया तब उन्होंने जो उद्गार प्रकट किये वे सच्चे लोकसेवी के लिये सर्वथा उपयुक्त ही थे। उन्होंने गद्गद कण्ठ से कहा—

“एक सच्चे मनुष्य को पीड़ित मानवता के लिये जितना जो कुछ करना चाहिए, उतना मैं न कर सका। मेरी सेवायें तो सिन्धु में एक बिन्दु बराबर भी नहीं हैं। मैं एक पादरी हूँ जनसेवा तो मेरा एक स्वाभाविक कर्तव्य है। मैंने जो कुछ किया वह कोई विशेष बात नहीं है। इसके लिये जिन महानुभावों ने मुझे पुरस्कार दिया है उन्होंने उदारतापूर्वक मेरी सेवाओं का अधिक मूल्यांकन किया है। मैं उनकी इस उदारता के लिये चिर कृतज्ञ रहूँगा। लोकसेवा ही मेरी ईश्वर भक्ति है। अभी उस मार्ग में मैं कुछ ही दूर चल पाया हूँ। इस सम्मान और इस पुरस्कार को मैंने अपने लिये जनसेवा की अधिकाधिक सेवा के लिये एक प्रेरणापूर्ण उत्तरदायित्व माना और उसी नाते इसको स्वीकार किया है। देखता हूँ आगे मैं अपने इस दायित्व निर्वाह में कहाँ तक सफल होता हूँ। जो लोग मुझे बधाई दे रहे हैं, मेरी सराहना कर रहे हैं, उनसे मैं यही कहूँगा कि वे मेरे बजाय उन लोगों का अभिनन्दन करें जिन्होंने मेरे साथ यह उदारता बरती है। वे ही इसके पात्र भी हैं और अधिकारी भी हैं, मैं नहीं।”

इन विनम्र तथा निस्पृह लोक-सेवी को जब यह आशंका हुई कि द्वितीय महायुद्ध की सम्भावनायें साकार हो सकती हैं तो युद्ध की भयानक विभीषिका की कल्पना से उनका हृदय रो उठा और वे मानवता को उस संहार से बचाने के लिये प्रयत्नशील हो उठे। फ़ादर पियरे कोई राजनेता तो थे नहीं और न किसी शक्तिशाली राष्ट्र के कर्णधार, जो वे राजनीति के दाँव-पेंच चलाकर अथवा अपना प्रभाव प्रयोग करके सम्भावित युद्ध को स्थगित कर सकते। वे तो धर्म प्रचारक एक पादरी थे। वे युद्ध रोकने के जो उपाय कर सकते थे उनमें से प्रार्थना, निवेदन और युद्ध द्वारा मनुष्यता के विनाश का दिग्दर्शन कराने के सिवाय और क्या हो सकते थे। उन्होंने अपने साधन और शक्ति भर उपाय किया भी।

सबसे पहले उन्होंने उद्धत राष्ट्रों के लिये युद्ध से विरत रहने की अपील निकाली। राष्ट्रों के राजनेताओं से मानवता पर दया करने के लिये प्रार्थनायें कीं। युद्धोन्मुख देशों की जनता में युद्ध के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने के लिये उसकी भयंकरता का प्रकाशन करते हुए बड़ी मार्मिकता के साथ लेख लिखे। उन्होंने यथासम्भव स्थान-स्थान पर जा-जाकर जन-सभायें कीं और उसमें अपनी बात लोकमत के सम्मुख

रखी। जिन राष्ट्र नेताओं से मिलना और बात कर सकना सम्भव हो सका उनसे मिले और अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। उन्होंने लोगों को युद्ध और धर्म के विरोध में अवगत कराया और सत्य, अहिंसा एवं शान्ति के देवदूत ईसा के अनुयायियों के लिये उसको घोर पाप बतलाया। इस प्रकार फ़ादर पियरे युद्ध रुकवाने के लिये अपनी स्थिति और साधनों के अनुसार जो कुछ कर सकते थे उन्होंने तत्परतापूर्वक किया किन्तु काल के प्रभाव से उनके प्रयत्न नक्करखाने में तूती की आवाज बनकर रह गये। विनाश से सिर टकराने की कसम खा कर उन्मत्त हुए संसार ने युद्ध के द्वार खोल ही तो दिये। फ़ादर पियरे के पास अब मानवता की कल्याण कामना करने के सिवाय और चारा ही क्या रह गया था।

उस भयानक युद्ध के समय फ़ादर पियरे के लिये जो राष्ट्रीय कर्तव्य उचित थे उनका पालन तो वे करते ही थे, साथ ही शेष समय में परमात्मा से प्रार्थना करते रहते थे कि वह युद्ध रोके और आसुरी प्रवृत्तियों से प्रभावित युद्धरत लोगों को सदबुद्धि देकर उस विनाश से विरत करे। वे स्वयं प्रार्थनायें करते थे सो तो करते ही थे, चर्चों और धर्म-सभाओं में सम्मिलित होने वाले लोगों को भी वही प्रेरणा देते थे। वे घर-घर जाकर परिवार वालों से विनय करते थे कि वे लोग संसार में शान्ति स्थापना के लिये घरों में साँझ-सबरे पूरे परिवार के साथ ईश्वर प्रार्थना किया करें। इस प्रकार उन्होंने शान्ति स्थापना के लिये एक प्रार्थना-आन्दोलन ही चला दिया।

अपने प्रचण्ड परिणामों के साथ युद्ध का उपसंहार हुआ और उसकी नारकीय विभीषिका की भयानक मूर्ति संसार के सम्मुख खड़ी हो गई। चारों ओर अनाथों, निराश्रितों, अपंगों, घायलों, रोगियों और विस्थापितों का हा-हाकर सुनाई पड़ने लगा। अभाव, आवश्यकता और भुखमरी का ताण्डव प्रारम्भ हो गया। जले खेत, उजड़े और गिरे घरों से इलाके के इलाके वीरान दिखाई देने लगे। कुछ समय पहले सामान्य गति से चलने वाला जन-जीवन भयंकर रूप से अस्त-व्यस्त हो गया। संसार की सूरत ही बदल कर डरावनी हो गई।

फ़ादर पियरे को अधिकार था कि वे उनकी बात न सुनने वाले संसार को उसकी दुर्दशा का उलाहना देते। युद्ध लिप्सालु राष्ट्र नेताओं की गरदन पकड़कर ध्वंस के दृश्य दिखलाते। रोती-बिलखती मानवता के आँसुओं में उनका अहंकार डुबाते और युद्ध के समर्थक असुर अनुयायियों की जी-भरकर भर्त्सना करते। किन्तु नहीं, सज्जन एवं जन-सेवी सन्त पुरुष कहीं किसी के साथ कटु व्यवहार करते हैं? उनके हृदय में तो अपराधियों तथा पापियों तक के लिये दया, क्षमा और सुधार की सत्भावनायें निवास करती हैं।

युद्ध से संतस्त एवं जर्जर हुए असंख्यो विस्थापित एवं शरणार्थी बेल्जियम के विभिन्न भागों में आने लगे। उनके पास न खाना था न कपड़ा। घर उनके उजड़ चुके थे। परिवार बिछुड़ गये थे। न उनके पास आजीविका के साधन थे और न दुःख के कारण उनका मन-मस्तिष्क ही ठीक से काम कर रहा था। घायलों, रोगियों और अपंगों का शुमार नहीं था। सब के सब एक अजीब दयनीय दशा से ग्रसित पागल से बने हुए थे। विधवाओं और अनाथ बच्चों-बूढ़ों की सेना-सी तैयार हो गई थी।

फ़ादर पियरे उनकी दशा देखकर आँसुओं के साथ रो उठे और अपने जीवन के सारे कार्य और सुख-सुविधाओं को छोड़कर उनकी सेवा, सहायता करने के लिये दौड़ पड़े। वे दुःखी जनों के पास गये और रोते हुए मनुष्यों के आँसू पोंछे, बिलखते बच्चों को गले लगाया। निराशों को आशा और तड़पते हुआ को धैर्य का प्रसाद दिया। उन्होंने दुःखियों का दुःख पूछा और सहानुभूतिपूर्वक ढाढस बँधाया। मानवता की यह पहली मानसिक सेवा करके फ़ादर पियरे सक्रिय सेवाओं में लग गये।

उन्होंने विस्थापितों के लिये अनेक शरणार्थी शिविरों की स्थापना की और ला-लाकर उनको उनमें आश्रय दिया। जो कुछ उनके पास था वह तो उन्होंने उनकी सेवा-सहायता में समर्पित ही कर दिया। इसके अतिरिक्त लोगों से दुःखी-जनों की सहायता करने की अपील की। घर-घर जाकर नंगों-भूखों के लिये भोजन, वस्त्र की भीख माँगी। डॉक्टरों तथा अत्तारों से रोगियों तथा घायलों के लिये उपचार तथा औषधियों की भीख माँगी और हजारों स्वयंसेवकों को अपंगों का सहारा बनाया। इस प्रकार दयावान फ़ादर पियरे ने अथक प्रयत्नों द्वारा उस उखड़ी हुई मनुष्यता को फिर से बसाया और वर्षों तक उनकी सेवा में तब तक लगे रहे जब तक उसकी अस्तव्यस्तता में व्यवस्था न आ गई। फ़ादर पियरे के वे शरणार्थी शिविर नगरों में बदलकर आज भी उनकी सेवाओं के साक्षी बने हुए हैं।

संसार में शान्ति स्थापना के बाद फ़ादर पियरे ने एक अक्षुण्ण एवं स्थायी शान्ति के लिये संसार में प्रचार का कार्य उठाया और उस मन्तव्य से लगभग तीन, साढ़े तीन लाख मील की यात्रा की। उनकी इन्हीं महानीय शान्ति सेवाओं के लिये उन्हें नोबेल पुरस्कार दिया गया था, जिसको स्वीकार करते हुए उन्होंने अपने को उसके योग्य नहीं माना था।

अन्ध-महाद्वीप के प्रदीप— डेविड लिविंगस्टन

एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में पादरी का प्रशिक्षण पाने वाला एक सुन्दर सुगठित किन्तु लजीला युवक जब पहली बार जन-समूह के सामने उपदेश देने के लिए खड़ा हुआ तो कुछ ऐसा हुआ कि जो कुछ उसने तैयारी की थी सब भूल गया। हार कर उसे यही कहना पड़ा— “मित्रों जो कुछ मैं कहना चाहता था भूल गया हूँ।” शर्म के मारे वह धर्मोपदेशक के आसन पर भी नहीं बैठ सका था। असफलता के कारण युवक कहीं लोकमंगल के पथ पर बढ़ाया हुआ अपना पग पीछे न हटा ले इस भय से एक सहृदय सज्जन राबर्ट मोफ्ट, जिन्होंने दक्षिणी अफ्रीका के कुरुमान नगर में अपना मिशन स्थापित किया था, ने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा— “घबराकर तुम यह उद्देश्य छोड़ मत देना। तुम उपदेशक नहीं तो डॉक्टर बनकर मानवता की सेवा कर सकते हो” युवक भी अस्थिरमति नहीं था उसने उपदेशक व डॉक्टर दोनों बनने का दृढ़ संकल्प ले लिया जिसे उसने पूरा किया।

इस युवक डेविड लिविंगस्टन ने आगे चलकर मानवता की महान् सेवा की। उसने करोड़ों लोगों के हृदयासन पर स्थान पाया। अफ्रीका के घने जंगलों में वहाँ की विषम जलवायु तथा भयानक जंगली जानवरों के बीच रहकर उसने वहाँ के आदिवासियों की सेवा करते-करते ही प्राण त्यागे। उस दिन उन लोगों के मुँह से यही शब्द निकले थे— “देवता चला गया। उन लोगों ने भगवान् को तो कभी देखा नहीं था। डेविड लिविंगस्टन के मुँह से सुना अवश्य था, किन्तु वह स्वयं उनके लिए किसी दूसरे भगवान् से कम नहीं थे। अपने जीवन के ३३ बहुमूल्य वर्ष उन्होंने इन्हीं लोगों की सेवा में लगा दिये थे।”

डेविड लिविंगस्टन का जन्म लंकाशायर नगर के एक श्रमिक परिवार में १८ मार्च सन् १८१३ में हुआ था। श्रमिकों की दशा आज से भी बदतर थी। अपने पिता का भार हलकर करने के लिए वह छोटी आयु में ही बारह घण्टे लंकाशायर के कपड़ा मील में काम करते थे। यह गरीबी और अभावों का वातावरण उनकी प्रगति में बाधक नहीं बना। वे स्वयं कमाते और पढ़ते थे। इसी प्रकार उन्होंने डॉक्टरी और धर्मोपदेशक दोनों क्षेत्रों में सफलता अर्जित की।

बचपन में उनका लक्ष्य एक अमीर आदमी बनने का था किन्तु ज्यों-ज्यों उनका ज्ञान भण्डार बढ़ता गया त्यों-त्यों उनका झुकाव अध्यात्म, सेवा और ज्ञान प्रसार की ओर होता गया। उनके मन में यह बात पूरी तरह जम गयी कि धन कमाना या मौज करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। यदि मनुष्य जीवन का इतना ही प्रयोजन रहा होता तो ईश्वर मानव को अन्य प्राणियों से अधिक सुविधाएँ क्यों देता? यह सब उसे मिली है ईश्वर की सृष्टि को सुन्दर-सुसज्जित बनाने के लिए— गिरे हुए लोगों को उठाने और पिछड़े हुआँ को बराबर लाने के लिए। अभी भी इस विश्व में ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ के मनुष्य पशुओं जैसा ही जीवन व्यतीत कर रहे हैं। मैं उन तक धर्मशिक्षा और सभ्यता की प्रकाश किरणें पहुँचाऊँगा।

अपनी इसी अन्तःप्रेरणा के कच्चे धागों से बँधे वे डॉक्टर बन जाने के बाद सन् १९४० में एक ईसाई मिशनरी बनकर अफ्रीका पहुँचे। अफ्रीका उस समय अन्ध महाद्वीप कहलाता था। विश्व के मानचित्र में अफ्रीका महाद्वीप का मध्यवर्ती भाग बिलकुल कोरा दिखाया जाता था क्योंकि वहाँ के सम्बन्ध में किसी को कुछ ज्ञात ही नहीं था। इस क्षेत्र को प्रकाश में लाने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को जाता है। यहाँ के लोगों को गुलामी, अन्धविश्वास तथा अशिक्षा रूपी राक्षसियों के पंजों से छुड़ाने के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन बलिदान कर दिया।

अफ्रीका से जहाजों पर पशुओं की तरह काले दास लादकर लाये जाते थे जिनके साथ गोरे मालिक पशुओं से भी गया-गुजरा व्यवहार करते थे। अपने शिक्षा काल में भी वे इन लोगों के साथ यह अमानवीय व्यवहार होता देखते थे तो उन्हें बड़ा दुःख होता था। उनकी यह संवेदना ही उन्हें अफ्रीका खींच कर लायी थी, जहाँ आने के नाम से ही लोग काँपते थे। ये काले अफ्रीकी गोरे लोगों से बहुत डरते थे तथा उन पर कभी विश्वास नहीं करते थे। उनका यह अविश्वास थोड़े समय तो लिविंगस्टन व उनके बीच दीवार बना रहा पर उनकी

प्राणरक्षक औषधियों में जीवनयापन के उत्तमोत्तम तरीकों की शिक्षा ने थोड़े ही दिनों में पाट दिया तथा वे उन लोगों के बीच ‘एक देवता’ बन गये।

उनके द्वारा बढ़ाया गया एक-एक पग जोखिम भरा तथा रोमांचक होता था क्योंकि अफ्रीकावासी अपने कबीलों के लोगों पर ही विश्वास करते थे। वे निर्भय होकर प्रत्येक अफ्रीकावासी से मिलते थे। इससे पहले उन्होंने कोई गोरा आदमी नहीं देखा था। वह उन्हें कपड़े, दवाएँ तथा मित्रता के प्रतीक रूप में कोई न कोई उपहार देते थे। इस मित्रता की स्थापना के बाद कुछ दिन वे एक कबीले में काम करते फिर आगे बढ़ जाते थे।

रविवार के दिन वे उन्हें धर्मोपदेश देते थे। उन्हें समझाने के लिए डा० डेविड लिविंगस्टन को उन्हीं की भाषा का प्रयोग करना था। उनकी लगन तथा कर्मनिष्ठा का ही परिमाण था कि वे थोड़े ही समय में कठिन से कठिन भाषा भी सीख लेते थे। जितना प्रभाव उनके उपदेशों का नहीं होता था उतना उनके व्यवहार एवं चरित्र का होता था। अफ्रीकावासियों के लिए यह कम आश्चर्य की बात नहीं थी कि कोई व्यक्ति इतना उदार और पर-दुःख कातर हो सकता है। यदि है तो यह व्यक्ति कोई न कोई देवता है और उसकी बातों में सच्चाई है। इसे मानना चाहिए। सच है बिना आचरण में लाये उपदेशों का कोई महत्त्व नहीं होता।

सर्वत्र उनका स्वागत ही होता हो ऐसी बात नहीं थी कहीं-कहीं उन्हें घोर विरोध भी सहना पड़ता था। कबीले का मुखिया यदि कोई अडियल होता तो वह इनके कर्मों में कम अड़गे नहीं डालता। एक बार तो उनके एक सवारी के लिए प्रयुक्त होने वाले बैल को मार डाला गया तथा उन्हें पकड़ लिया गया। वे निर्विकार भाव से मुखिया के सामने पहुँचे उससे अपनी बात कही तो उसने लज्जित होकर उन्हें छोड़ दिया।

कई बार उन्हें उस समय बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता था जब ये जंगली लोग उन्हें दैवी शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति मानकर उनके सामने अस्वाभाविक प्रस्ताव रखते थे और उन्हें समझाना भारी पड़ जाता था। फिर भी वे साहस नहीं खोते थे। एक बार बेकवेन कबीले के लोगों ने सूखे मौसम में उन्हें वर्षा करवाने के लिए कहा। लिविंगस्टन ने उनकी इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा— ‘यदि आप लोग मेरी सहायता करें तो मैं पानी ला सकता हूँ।’ वे सब सहमत हो गये। उन्होंने उन आदिवासियों की सहायता से निकटवर्ती झील से लकड़ी की नालियों के सहारे सिंचाई की नहर निकाली।

प्रतिकूल वातावरण, जलवायु, असभ्य जंगली लोगों, भयंकर साँपों व खूँखार शेरों के इस प्रदेश में पग-पग पर प्राणों का भय था। कई बार वे मृत्यु के मुँह में जाते-जाते बचे थे। मोम्बोत्सा नामक स्थान पर एक क्रुद्ध शेर ने उन पर आक्रमण कर दिया और उनका बायाँ हाथ लगभग तोड़ ही डाला। उनके एक अफ्रीकी शिष्य के कारण उनकी प्राण रक्षा हुई। पर्याप्त चिकित्सा के बाद भी वह हाथ पहली स्थिति में नहीं आ सका। जब भी उस हाथ से कोई कार्य लिया जाता वह दर्द करता ही रहता।

उनकी सहन शक्ति गजब की थी। उन्होंने बाका कबीले के सरदार के साथ यह जानते हुए भी कि उसने तथा उसके साथियों ने कुछ ही दिन पहले एक निर्दोष अरब व्यापारी की हत्या कर दी थी, भोजन किया। उसी की झोंपड़ी में सोये। “पाप से घृणा करो पापी से नहीं” ईसा के इन वचनों को उन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह उतारा था।

उनकी चिकित्सक के रूप में की गई सेवाएँ एक धर्मोपदेशक से कहीं अधिक महत्वपूर्ण थीं। मलेरिया जो यहाँ की सामान्य बीमारी थी उसे दूर करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली थी। स्वयं उनके पहले पाँच वर्षों में इकतीस बार मलेरिया से ग्रस्त होना पड़ा था। उन्होंने उसके बाद कुनेन का नियमित सेवन आरम्भ कर दिया। वे कहते थे कि कुनेन न लेता तो मैं मर ही जाता।

केपटाउन से लगाकर विषुवत् रेखा तक और अटलांटिक सागर के अफ्रीकी तट से हिन्दमहासागर के अफ्रीकी तट तक यायावर की तरह घूमने और अन्धकार में प्रकाश फैलाने का काम उन्होंने अकेले सम्पन्न किया था। मध्य अफ्रीका की बहुत कुछ जानकारीयों दुनिया को इन्हीं की देन थीं। वे प्रथम यूरोपवासी थे जिन्होंने नियाग्रा से दुगुनी ऊँचाई से गिरने वाले जल-प्रपात नगामी को पहली बार देखा था। उन्हीं ने उसका नामकरण विक्टोरिया प्रपात किया था।

कुरुमान मिशन के संचालन मि. मोफ्रट की पुत्री मेरी मोफ्रट से उन्होंने विवाह किया था। मेरी कभी अफ्रीका में स्वस्थ नहीं रह सकी थीं। अतः उन्हें बार-बार उसे तथा अपने पुत्र-पुत्रियों को इंग्लैण्ड भेजना पड़ता था। उनका अधिकांश जीवन परिवार से दूर असह्य आदिवासियों में ही बीता किन्तु धुन के धनी और सच्चे लोकसेवा व्रती डेविड लिविंगस्टन के चेहरे पर कभी उदासी की क्षीण रेखा भी नहीं उभरी। वे सदा मुस्कराते रहते थे।

कोलोबेग में पाँच-छह वर्ष तक वे अपने परिवार के साथ रहे थे। उनकी पत्नी मेरी का हृदय भी उन्हीं की तरह सेवा भावना से परिपूर्ण था। वह उनके मिशन में भरसक सहायता करती थी किन्तु थोड़े ही दिनों में अस्वस्थ हो जाती थी। हारकर उन्होंने उसे इंग्लैण्ड भेज दिया। जब वे अपने परिवार को जहाज में बिठाने केपटाउन गये तो लौटने पर उन्होंने पाया कि उनका सारा घर अस्त-व्यस्त पड़ा है। कपड़े व पुस्तकें चुरा ली गयी हैं। फर्नीचर जला दिया गया है। यह सब उन लोगों ने किया था जो दासों का व्यापार करते थे। लिविंगस्टन दास प्रथा के घोर विरोधी थे। उन्होंने इसे बन्द कराने के लिए आन्दोलन किये थे।

यह सब उन्हें डराने के लिए किया गया था। किन्तु वे डरते होते तो इंग्लैण्ड से अफ्रीका ही क्यों आते। उन्होंने निर्भय होकर दास प्रथा के विरुद्ध आंदोलन किया तथा अफ्रीका का तूफानी दौरा किया। ब्रिटिश सरकार को भी उन्होंने इस घन्ठे को बन्द कराने के सम्बन्ध में कठोर कदम उठाने के लिए पत्र लिखे।

लिविंगस्टन का जीवन एक मिशनरी धर्म प्रचारक व डॉक्टर का ही नहीं था उन्हें नये-नये स्थान खोजने का बड़ा शौक था। यही इस अन्ध महाद्वीप में उनके लिए मनोरंजन का साधन भी था। जेम्बेजी नदी तथा न्यासा झील को उन्होंने ही खोजा था। उनकी पत्नी मेरी

तथा पुत्र ऑसवेल भी कई खोज अभियानों में उनके साथ थे। ऐसे ही एक दौरान मेरी को भयंकर ज्वर हुआ और प्राण लेकर ही गया। अपनी जीवनसंगिनी से बिछुड़कर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अपनी पत्नी ही नहीं उन्होंने अपना एक साथी खो दिया था। किन्तु इस बिछोह ने उन्हें कर्म पथ पर अग्रसर ही किया।

अपने इन कार्य-कलापों से वे अफ्रीकावासियों में ही लोकप्रिय नहीं हुए वरन् विश्व भर में उनकी ख्याति फैल चुकी थी। एक मनुष्य किस प्रकार एक सभ्य जगत को छोड़कर महान् उद्देश्य की खातिर अपनी जान हथेली पर लेकर अफ्रीका के घने जंगलों में भटक रहा था। इन दो मानव समाजों के बीच जो चौड़ी नदी बह रही थी उस पर वे पुल बना रहे थे।

वे अपनी खोज और सहायता के कार्यों में इतने मग्न हो गये थे कि वर्षों तक उनके परिचितों तथा मित्रों तक कोई समाचार ही नहीं पहुँचा। उन्होंने स्थान-स्थान पर स्कूल खोले, चर्च स्थापित किये, लोगों को खेती करने के सही तरीके बताए, उनकी रोगों से रक्षा की। इतने बड़े महाद्वीप में वे अकेले सब कुछ कर रहे थे। उन्हें एक क्षण भी चैन की साँस लेने का समय नहीं मिलता था।

उन्हें खोजने के लिए आये लोगों ने उन्हें उनके साथ इंग्लैण्ड लौट चलने का आग्रह किया तो उन्होंने उत्तर दिया—“मुझे यहाँ बहुत काम करना है।” उन्होंने अफ्रीका की धरती पर ही प्राण त्यागे। मरने पर उनका शव इंग्लैण्ड पहुँचाया गया पर हृदय अफ्रीकावासियों को मिला जिसके वे ही अधिकारी थे।

कोढ़ियों में ईश्वर देखने वाले— फादर दामियेन

“कोढ़ियों को अलग बसाकर सरकार ने जन-सुरक्षा की दृष्टि से ठीक ही किया है, किन्तु उन्हें हम भी उपेक्षा की दृष्टि से देखें तो अनीति होगी। उन बेचारों को शरीर का कुष्ठ रोग हो गया है, तो क्या उनकी आत्मा की दिव्यता जाग्रत होने का अवसर भी नहीं दिया जाना चाहिए? वे भी तो प्रभु के प्यारे बच्चे हैं। उन्हें हम शारीरिक सुविधायें न दे सकें तो क्या हृदय का प्यार भी न दें?”

फादर ‘दामियेन’ अपने मित्रों को समझा रहे थे। मित्र उनके लिए चिंतित थे। ‘हवाई द्वीप’ राष्ट्र की अनोखी घटना— वहाँ की सरकार ने मोलोकई नामक एक छोटे टापू को कोढ़ियों का द्वीप बना दिया था। कोढ़ के रोगियों को समाज से प्रथक उत्तर द्वीप में निर्वासित कर दिया जाता था। वहाँ पहुँचे व्यक्ति का अन्य संसार से सम्पर्क टूट जाता था। कभी किसी स्वस्थ व्यक्ति के वहाँ जाकर रहने की किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। जब फादर दामियेन ने उन्हीं निर्वासित कोढ़ियों के बीच जाकर रहने की अपनी योजना बतलाई तो उनके मित्र स्तब्ध रह गये।

सेवा के लिए धार्मिक नेताओं को तत्पर रहना चाहिये यह बात उनके मित्रों को उचित लगती थी। उपेक्षितों के प्रति करुणा होना भी अच्छी बात है। दुःखियों के लिए प्राण की बाजी लगा देना भी किसी

अवसर पर उपयुक्त हो सकता है। किन्तु जान-बूझकर, सारे जीवन तिल-तिल कर जलने की तैयारी ?... मित्र सिहर उठे। क्रोध जैसा भयानक रोग। एक बार भी किसी कुष्ठ रोगी के निकट जाने में व्यक्ति हजार बार सोचता है। अपनी सुरक्षा के साथ उनके लिए कुछ कर देना और बात है। किन्तु जहाँ कोढ़ी ही हों— अपनी सुरक्षा की कोई व्यवस्था न हो, शेष संसार से जहाँ सम्पर्क टूट-सा जाता हो— वहाँ जाकर रहना— कल्पना तक भयावह थी। किन्तु फ़रदर दामियेन उसी के लिये कृत निश्चय थे।

हर प्रश्न का संतुलित उत्तर उनके पास था। हर भय की कल्पना करने वाले को उनकी दिव्य मुस्कान शान्त कर देती थी। उनका मत था कि “भय किस बात का किया जावे ? जब अपना जीवन उस कुशल शिल्पी के हाथ में औजार के रूप में दे दिया तो भला-बुरा सब उसी के हिस्से में चला गया— हम क्यों चिन्ता अपने सिर लें ?”

भक्त की कितनी उत्कृष्ट भावना है। हमारे यहाँ धर्म के सर्वेसर्वा कहलाने वाले— ईश्वर भक्ति में आँसू बहाने वाले, उसी नाम पर अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज से कराने वाले कम नहीं हैं। भगवान् को दीनदयाल, करुणानिधान कहकर उनकी उपासना का दम भरने वाले ढेरों हैं। किन्तु उन्हें न दीन दीखते हैं और न हृदय में दया अथवा करुणा आती है। “सियाराम मय सब जग जानी” तथा “यो मां पश्यति सर्वत्र”— का जाप श्वास प्रश्वास के साथ करने वालों के दर्शन भी ऐसे ‘पापियों’ को होना कठिन है जिनकी सेवा का संकल्प फ़रदर दामियेन ने लिया था। यहाँ तो भक्त बना जाता है सेवा करने के लिए, न कि सेवा कराने का सार्वभौमिक अधिकार पाने के लिए। सम्भवतः भगवान् को यदि परहेज होगा तो ऐसे ही भक्तों से हो सकता है।

किन्तु फ़रदर दामियेन ईश्वर भक्त थे, सही अर्थों में धर्म के प्रतिनिधि थे। उन्हें ईसा के शब्द स्पष्ट सुनाई देते थे “इन छोटों में से छोटों के लिए भी तुम जो कुछ करोगे, वह मेरे लिये करोगे।” और वह चल पड़े मोलोकई टापू की ओर। मित्रों और सुहृदों की आँखों में आँसू थे, हृदय भारी था— किन्तु आशीर्वादों से लबालब भरा हुआ। युवा दामियेन सिर्फ तेतीस वर्ष की आयु में चले जा रहे थे— अपने जीवन से खेलने कोढ़ियों के संसार में ? नहीं, अपनी जीवन साधना को सफल करने अपने प्रभु के उन प्यारों के पास जिनके शारीरिक तथा आध्यात्मिक दुर्भाग्य पर उनका हृदय रक्त के आँसू बहाया करता था। मन में अपूर्व उत्साह था कि उनके लिये कुछ किया जा सकेगा।

मोलोकई द्वीप। एक ओर ऊँचे पर्वत तथा दूसरी ओर अथाह समुद्र, बीच में रहते हुए ८०० चलते-फिरते निर्जीव शरीर। निर्जीव ही कहा जावेगा उन्हें— जिनमें न आशा की चमक, न उत्साह की लहर। समय काटना और मृत्यु की प्रतीक्षा, यही दो कार्य उनकी दृष्टि में थे। फ़रदर दामियेन वहाँ पहुँचे १६०० भावहीन आँखें उस ओर उठीं ‘...’ फिर उनमें आश्चर्य का भाव आ गया। आगन्तुक के शरीर पर कोढ़ के चिह्न नहीं— फिर क्यों आया यहाँ ?

उन्हें शब्दों से कुछ भी कहकर समझाया जाता तो उन्हें कभी भरोसा न होता कि कोई उनके हित की दृष्टि से उनके बीच पहुँचा है। किन्तु फ़रदर दामियेन ने अपने व्यवहार तथा कार्यों द्वारा शीघ्र ही उनके मनों में यह बात बिठा दी। उन्हें भरोसा हो गया कि आने वाला व्यक्ति सचमुच उनके जीवन में दुःख बंटाने तथा सुखों का संचार करने आया है। हर तरह से उपेक्षित उन दीन रोगियों के लिए यह विचार ही अनुपम निधि था कि उन्हें भी कोई हृदय से प्यार करने वाला है। प्यार ! इससे मधुर कल्पना और क्या हो सकती है ? फ़रदर के प्यार ने उन चलती-फिरती लाशों में प्राण डाल दिए। उदास चेहरे मुस्काने लगे, मन में उमंगें उठने लगीं।

फ़रदर ने उन्हें स्वयं ही प्यार नहीं किया, ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति भी करा दी। वह अपने आपको सर्वथा उपेक्षित मानते थे, ईश्वर द्वारा दण्डित पापी, जिनके हिस्से में केवल यातनाएँ तथा पीड़ाएँ ही हैं। किन्तु उन्हें बतलाया गया कि ईश्वर उन्हें भी प्यार करता है, वह भी जन-सम्भारण से अधिक। पिता जो ठहरा, शरीर से रोगी बच्चों का उसे विशेष ध्यान रहना ही चाहिए और अपने को दुर्भाग्य का पिटारा समझने वाले अपने सौभाग्य पर झूम उठे। जब उनका भाई कहलाने वाला मनुष्य उन्हें इतना प्यार करता है तो वह परम कृपालु परमपिता कितना प्यार करता होगा ? कोढ़ियों का मन स्वर्गीय सुख से सरबोर हो उठा। ईश्वर के सच्चे भक्त के प्रेम का चमत्कार संसार के सारे चमत्कारों से ऊपर है।

फ़रदर दामियेन की सेवावृत्ति तथा व्यवस्था बुद्धि ने कार्य करना प्रारम्भ किया। उनके हठ-पुष्ट शरीर की चेतना जैसे सारे द्वीपवासियों में संचारित हो उठी। स्वयं उनकी श्रमशीलता अद्वितीय थी। प्रातः से सायं तक कठोर श्रम— किसी छोटे या बड़े कार्य की भावना से मुक्त वह करते रहते। भारी शहतीर ढोना हो या नालियाँ खोदना, रोगी परिचर्या हो या प्रार्थना-सारे कार्य एकरस होकर वह किया करते थे। उन्होंने कोढ़ियों के लिये अच्छे मकान बनाये, गिरजे बनाये, नालियाँ आदि एवं सफ़ाई की अन्य व्यवस्थाएँ कीं। स्वच्छ पानी की व्यवस्था की। अनाथ बच्चों के लिये अनाथालय एवं स्कूल की भी व्यवस्था की। मोलोकई की काया पलट गयी।

इतना सब फ़रदर दामियेन ने निस्पृह भाव से बिना किसी लौकिक कामना के किया। उन्हें सांसारिक एषणाओं की नहीं सच्ची प्रभु भक्ति की कामना थी। संसार की बड़ी से बड़ी विभूति उनके लिये कोई अर्थ नहीं रखती थी। उनकी निर्लिप्त एवं अनासक्ति की झलक निम्न घटना से मिल सकती है—

सन् १८८१ में ‘हवाई द्वीप’ राष्ट्र की महारानी मोलोकई टापू गयीं। वहाँ फ़रदर दामियेन के कार्य से वह अत्यधिक प्रभावित हुईं। जिन मानवीय कर्तव्यों का निर्वाह राज्य न कर सका था उनकी पूर्ति फ़रदर दामियेन द्वारा होती देख उनको आन्तरिक सन्तोष एवं प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनका अभिनन्दन किया तथा बहुत सम्माननीय खिताब से विभूषित किया। उसके प्रतीक रूप उन्हें सोने का मैडल भी भेजा गया।

उक्त घटना के कुछ माह बाद फ़ादर के एक मित्र उनसे मिलने गये। उन्होंने उनके कमरे के एक कोने में किसी डिब्बे में रखा वह मैडिल पाया। इतने बड़े सम्मान के लिये लोग न जाने क्या-क्या करते हैं ... और यहाँ उसकी यह कीमत ...? मित्र ने दामियेन से पूछा तो उनका सामान्य उत्तर मिला “भला इसका मैं करूँ भी तो क्या?”

बारह वर्षों तक वह कोढ़ियों की सेवा तन्मय होकर करते रहे। वह यथा-शक्ति कोढ़ियों को यह अनुभव नहीं होने देना चाहते थे कि उनमें कोई अन्तर है। अन्तर चाह भी कैसे सकते थे जब वह अपने इष्ट का दर्शन इन्हीं में किया करते थे। उनका साधनामय जीवन चलता रहा। कभी उन्हें होनोलूलू (राजधानी) जाना पड़ता था तो वहाँ शाही मेहमान के रूप में उनका स्वागत होता था। किन्तु वह नर्म बिस्तरों के स्थान पर फर्श पर अपना कम्बल ओढ़कर सोना पसन्द करते थे। सच्चे इन्द्रियजयी की तरह उन्होंने सांसारिक सुखों के प्रति रसानुभूति को भी जीत लिया था।

संयमशील जीवन के बारह वर्ष बाद वह दिन भी आया जिसकी कल्पना से उनके स्नेहियों के हृदय बैठ जाते थे। उन्हें पैर पर गर्म जल के स्पर्श का अनुभव न हुआ। उन पर भी कुष्ठ का प्रभाव हो गया था। सामान्य व्यक्ति के लिये यह भयंकर दुर्भाग्य एवं कष्ट की बात थी। किन्तु फ़ादर दामियेन किसी अन्य धातु के बने थे। वह मुस्करा उठे, उन्होंने अनुभव किया कि परमात्मा ने अब उनकी साधना का पारितोषिक भेज दिया है। उन्हें ‘इष्ट’ के साथ एकरूपता प्राप्ति का सुख हुआ। अपने साथियों को जैसे खुशखबरी सुनाते हुए बोले— “भाइयो, अब मैं सही अर्थों में तुम्हारा साथी बन गया। ईश्वर के प्रेम का आप जैसा ही अधिकारी हो गया।”

फ़ादर दामियेन ने समझ लिया कि अब शरीर अधिक दिनों सेवा न कर सकेगा। अतः उन्होंने अपनी गति और भी तीव्र कर दी। अगले पाँच वर्ष उन्होंने अविरल सेवा की। उनकी भावना यथावत् थी। मोलोकई के लिये रवाना होते समय उनमें जो उत्साह था इसमें वृद्धि ही हुई थी— कमी का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने कार्य अकेले किया था किन्तु कभी अकेलापन अनुभव नहीं किया। उन्हें अपना प्रिय— अपना प्रभु सदा अपने साथ दिखता था। जीवन भर उसी के साथ उन्होंने कार्य किया था और मृत्यु रूप में भी वहीं उन्हें निकट आता दिखता था।

अन्त में १५ अप्रैल सन् १८९९ को वह देवदूत चला गया पार्थिव शरीर छोड़कर। कोढ़ियों को लगा कि वे अनाथ हो गये— किन्तु फ़ादर दामियेन की आत्मा जैसे बोल रही थी— “उस प्रभु की छाया के नीचे कोई अनाथ नहीं है। शरीर से कोढ़ी होने के कारण अपने आपको उसकी दृष्टि में छोटा मत गिनो। उसकी दृष्टि में कोढ़ी वे हैं जिनके मन में दुष्टता एवं क्रूरता के, स्वार्थ एवं ईर्ष्या के धाव हैं। शरीर तो तुम्हारा भी इसी प्रकार छूटने वाला है जैसे मेरा छूट गया। ईश्वरीय दिव्य प्यार से अन्तःकरण को पवित्र रखना प्रभु में तुम्हारा मूल्य असामान्य रहेगा।”

फ़ादर दामियेन ने मानवता एवं ईश्वर भक्ति का सही रूप समझा— सही साधना की तथा संसार के लिये एक मूर्तिमान आदर्श छोड़ गये। जब तक मानवता तथा ईश्वर भक्ति के प्रति लोगों के मन में श्रेष्ठता की भावना है तब तक ऐसे मानव रत्नों के आगे सबके मस्तक झुकते रहेंगे।

लोकनिर्माण के नैष्ठिक पथिक— संत पायर

एक प्रेम में मग्ना हुआ एने फ्रैंक का वाक्य— “प्रकृति बदलेगी और मनुष्य पुनः अच्छा बनेगा। बुरा दिन समाप्त हो जायेगा और संसार एक बार फिर देख सकेगा— शांति व्यवस्था और सुख” आफिस की उस दीवाल पर टंगा था जहाँ पायर एक सैनिक अफसर की हैसियत से काम करते थे।

पायर का जन्म बेल्जियम में हुआ था। रोम के डोमिसियम कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे बेल्जियम में प्रोफेसर हो गये थे। इसी बीच द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ और वे सेना में भर्ती हो गये।

हम आये दिन महापुरुषों के सूक्त, वेद-वाक्य और सुभाषित पढ़ते और सुनते रहते हैं पर हमारे जीवन में उनकी प्रेरणाएँ और प्रभाव कहाँ उतर पाते हैं? जबकि पायर को इन शब्दों ने ही सोचने के लिये एक नई दिशा और जीवन का कार्यक्षेत्र चुनने की नई सूझ दे दी।

वे इन वाक्यों पर विचार करने लगे— क्या सचमुच युग बदल सकता है? युद्ध और आतंक की वर्तमान विभीषिकाएँ, मनुष्य का मनुष्य के प्रति द्वेष, दुर्भाव, स्वार्थपरता, अनुशासनहीनता, सामाजिक और पारिवारिक जीवन के कष्ट-कलह भी, क्या कहीं शान्ति, सदाचार, व्यवस्था और सुख में बदल सकते हैं? क्या कोई ऐसी सत्ता है जो स्वयं यह कर दे? उन्होंने इतिहास के पृष्ठ उलट कर देखे तो उन्हें एक ही बात सूझ पड़ी— जिस तरह अपनी भूल, पाप और व्यक्तिगत दोषों के कारण मनुष्य पतित होता है और कालचक्र को कलंकित करता है उसी प्रकार यदि संसार के सब आदमी अच्छे बन जायें तो युग स्वर्गीय परिस्थितियों में क्यों नहीं बदल सकता? बदला है पर उसके लिये अनेक संत और समाज सुधारकों ने लोकमंगल के लिये त्याग और संघर्ष किये हैं तब वह परिस्थितियाँ बन पाई हैं अपने आप युग क्या एक दिन की परिचर्या तक नहीं बदल सकती?

फिर करे कौन? इस प्रश्न का सबसे अच्छा उत्तर यही था— “हमारे पास जो भी शक्ति और योग्यता है उसे इस प्रयोजन में जुटाने के लिए हमें तो लग पड़ना ही चाहिये शेष की बात शेष जानें”— यह विचार आते ही भरी आजीविका को ठोकर मारकर, बड़े सम्मान को हाथ जोड़कर पायर पादरी हो गये और सामाजिक जीवन का अच्छा व सुव्यवस्थित बनाने के कार्य में जुट गये।

बीमारों की सेवा, जहाँ स्कूल न थे वहाँ स्कूलों की स्थापना और रूस से आये हुए शरणार्थियों की सेवा में उन्होंने अपना तन, मन, धन सब कुछ जुटा दिया। शरणार्थियों की समस्या उन दिनों बेल्जियम

पर भार थी। १,५०,००० तो केवल बूढ़े, बीमार व बच्चे थे। २०,००० टी. वी. के मरीज, ३५,००० बच्चे और ९,५७,००० वृद्ध। उनके निवास, औषधि तथा शिक्षण के लिये दिन-रात काम करते उन्होंने यह दिखा दिया कि असहायों की सेवा और दलितों के उत्थान कार्य से बढ़कर पुण्य नहीं। इससे मनुष्य को सच्ची शान्ति मिलती है।

पायर पादरी थे पर उनमें धार्मिक—असहिष्णुता का किंचित मात्र भाव न था। वे मानवता के सेवक और सन्त थे। जिस कार्यालय में बैठकर वे काम करते थे उसकी चार दीवारों में एक में (१) महात्मा गांधी, (२) अल्बर्ट स्वीत्जर, (३) फ्रायड जाक नैन्सेन और (४) जर्मनी के एने फ्रैंक के चित्र टँगे थे और उनसे सत्याग्रह, संघर्ष, समभाव और प्राणिमात्र के प्रति प्रेम की प्रेरणा ग्रहण करते थे। एक दिन वह था—जब उन्हें अपने लक्ष्य का चुनाव करना पड़ा था तब उन्होंने यह अनुभव किया था कि कोई मूल्यांकन करे या न करे शहीद, सुधारक और सन्त से बड़ा सम्मान कुछ नहीं है और जब वे उस पर निष्ठापूर्वक चल पड़े तो उनका विश्वास सत्य में बदलता दिखाई दिया।

पायर कमरे में बैठे थे। टेलीफोन की घण्टी बजी। चोंगा उठाकर कमरे में लगाया—उधर से किसी ने बधाई भेजी थी—“आपको यह जानकर हर्ष होगा कि आपको इस वर्ष का शान्ति के लिये नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया है।”

किन्तु पायर को इससे कोई ऐसी प्रसन्नता न थी कि उछलते फिरते। कर्तव्य-निष्ठ के लिए तो कर्तव्य ही सुख है। मान-अपमान यश-अपयश की उसे क्या चिन्ता। अपनी सम्पत्ति वे पहले ही जनता जनार्दन की सेवा में सौंप चुके थे। नोबेल पुरस्कार में प्राप्त धनराशि उन्होंने शरणार्थियों के हित के लिये दान कर दी।

फीजी द्वीपवासियों के सच्चे बन्धु— पादरी बर्टन

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व जब भारत में अंग्रेजों का एकछत्र राज्य था तो शासक जाति इस देश का दोहन कर अधिक से अधिक लाभ उठाने की किसी भी सम्भावना से नहीं चूकती थी। अंग्रेजों का शासन और भी कई देशों में था—द्वीपों और महाद्वीपों में। उनमें कई ऐसे देश भी थे जहाँ प्रचुर प्राकृतिक संपदा थी और उस संपदा को प्राप्त करने के लिए आवश्यक था, मानवीय श्रम। यह मानवीय श्रम ही दुर्लभ था सो अंग्रेज अपने अधीन देशों के निवासियों को उन स्थानों पर रोटी-कपड़े के मूल्य पर श्रम करने के लिए ले जाते थे। किसमें साहस था जो इतने सस्ते मूल्य पर अपने परिवार से हजारों मील दूर जाने से इन्कार करना तैयार रहा उस स्थिति में अपनी कठिनाइयाँ भी कह सकें।

इस तरह हजारों की संख्या में भारतीय मजदूरों को जबरन घसीट कर उन देशों में ले जाया गया जहाँ अंग्रेजों ने उसकी आवश्यकता अनुभव की। ऐसा ही एक देश है—फीजी, जहाँ हजारों मजदूर ले जाये गये और उनसे १२ से १६ घण्टे तक काम लिया जाता। वहाँ

उन्हें किन-किन यन्त्रणाओं से गुजरना पड़ता था इसका विवरण कई लेखकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने किया है, निस्संदेह ही उनके साथ जो व्यवहार किया जाता था वह किसी भी स्तर से मानवीय नहीं था और उन पर किये जाने वाले अत्याचारों, उन पर ढाये जाने वाले अन्याय को कई बुद्धिजीवियों ने अमानवीय और अनुचित ठहराया किन्तु ऐसे क्रान्तिकारी व्यक्ति बहुत थोड़े ही हुए हैं जिन्होंने इस अमानवीय प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई हो। ऐसे ही तपे हुए, मानवीय आदर्शों की स्थापना के लिए कटिबद्ध व्यक्ति थे—पादरी जे. डब्ल्यू. बर्टन। उन्होंने कई ऐसी घटनाओं और स्थितियों से साक्षात् किया था जिसे देखकर उनकी आत्मा चीत्कार उठी थी।

एक बार की घटना है। बर्टन साहब खेतों में घूम रहे थे। खेत की मेड़ पर उन्होंने नवजात एक शिशु देखा जो भूख से तड़प रहा था और रह रहकर रो उठता था बर्टन उस शिशु के पास गये और उसे प्यार से सहलाने लगे। उस बच्चे के पास ही कुछ और बच्चे भी लेटे हुए थे किन्तु वे उस शिशु से बड़े थे। उसे देखकर तो यही लगता था कि उसे इस धरती पर आये एक सप्ताह से अधिक समय नहीं हुआ। सोचने लगे थे कि कितना अभाग है यह बच्चा, जिसे अपने जन्म के बाद, इतनी आयु देखने पर ही भूख और व्याकुलता व्याप रही है।

जब वे उसे सहला रहे थे, उसे चुप कराने की कोशिश कर रहे थे तो एक स्त्री दौड़ी आई और उसने चट से उठाकर उस बच्चे को अपनी छाती से लगा लिया। उसकी आँखों से सन्देह के साथ-साथ याचना का भाव भी था। संदेह तो इसलिए कि बर्टन भी गोरे आदमी थे और इन गोरों के व्यवहार का उसे बहुत ही कटु अनुभव था ये लोग किस प्रकार जानवरों का सा व्यवहार इन कुलियों-मजदूरों से करते थे और याचना इसलिए कि काम छोड़कर बच्चे को सम्हालने के लिए आने पर कहीं गोरे मालिक उसे दण्ड न देने लगे। बर्टन ने पूछा कि “बच्चा कितने दिन का है ? तो उस स्त्री का सन्देह कुछ कम हुआ कि साहब नाराज नहीं हैं।” उसने कहा—‘अभी चार दिन का ही है।’

बर्टन ने पूछा—‘तो अभी इतनी जल्दी खेत पर आने की क्या जरूरत थी।’

बर्टन नये-नये थे, इसलिए उन्हें मालूम नहीं था कि अपने सजातीय अंग्रेजों में इन काले जानवरों के लिए आराम या स्वास्थ्य की क्या जरूरत है। यह प्रश्न सुनकर स्त्री को भी आश्चर्य हुआ और वह कुछ नहीं बोल सकी। बर्टन साहब ने फिर कहा—‘अभी तो चार दिन ही हुए हैं प्रसव को। इस बीच तुम्हारी हालत भी ऐसी नहीं हो सकती कि तुम खेत में काम कर सको। बच्चे को हवा लग जायेगी, प्रसव के बाद इतनी जल्दी ही मेहनत में लग जाने पर तुम बीमार भी हो सकती हो। अभी तुम्हें आराम करना चाहिए था, अपनी सेहत ठीक बनानी चाहिए थी।’

अपनी ओर से तो बर्टन उस स्त्री को समझा रहे थे और वह स्त्री चुपचाप सुने जा रही थी। साथ ही उसकी आँखों में विवशता के आँसू

भी तैरने लगे थे, पीड़ा के भाव चेहरे पर उतरने लगे थे। प्रतीत होता था कि बर्टन से सहानुभूति पाकर वह स्त्री भी फूट-फूट कर रोने लगी थी। किन्तु बर्टन की कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था.....।

इतने में ही एक गोरा साहब उधर आया और उस स्त्री को डाँटने लगा— 'पिल्ले से लाड़ लड़ा रही है। चल भाग और काम कर अपना।' देखते रह गये बर्टन और वह स्त्री अपने बच्चे को चुपचाप लिटाकर खेत में चली गयी। बच्चा फिर रोने लगा किन्तु उस माँ ने पीछे मुड़कर भी न देखा।

अब बर्टन की समझ में आया कि वह स्त्री चार दिन का बच्चा लेकर ही खेत पर काम करने के लिए क्यों आ गयी थी। इस तरह की कई और स्थितियाँ थीं जिनका साक्षात् बर्टन साहब ने अपनी पत्नी के साथ-साथ किया था। किन्तु वे केवल देखकर ही चुप न रहे गये वरन् उन्होंने अपने समान ही कुछ और सहृदय व्यक्तियों को लेकर एक आंदोलन चलाया जिसके परिणामस्वरूप प्लाण्टर न केवल प्रसूता स्त्रियों को छुड़ी देने लगे वरन् उनके लिए दाई का प्रबन्ध करने को भी राजी हो गये। इससे पूर्व मजदूर स्त्रियाँ अपने बच्चों को खेत की मेड़ पर टाट बिछाकर लिटा देती थीं और काम में लग जाती थीं। बर्टन दम्पति द्वारा चलाये गये आंदोलन के परिणामस्वरूप उन बच्चों की देखभाल एक दाई करने लगी।

फ़ीजी में कुली मजदूरों की स्थिति सुधारना बर्टन साहब का काम नहीं था। वे तो मुख्यतः फ़िजियनों तथा भारतीयों में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए आये थे। किन्तु वहाँ आकर जब उन्होंने मजदूरों की कष्टपूर्ण स्थिति देखी तो उस स्थिति को उनका हृदय सह नहीं सका और वे मुख्यतः उनकी स्थिति सुधारने के लिए ही प्रयत्नशील रहने लगे। उन्होंने मजदूरों की समस्याओं, उनके कष्टों को निकट से देखा और वहाँ के प्रभुत्व सम्पन्न लोगों को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया। वह वर्ग जिम्मेदार था भी, क्योंकि वही लोग उन कुलियों को फ़ीजी लाये थे और उनकी व्यवस्था, मजदूरी का भुगतान, उन्हीं के द्वारा होता था। बर्टन साहब ने पहले तो इस वर्ग को हृदय परिवर्तन कराकर मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया। किन्तु इन प्रयत्नों का जब कोई परिणाम होता नहीं दिखाई दिया तो उन्होंने विश्व के प्रबुद्ध व्यक्तियों तक इनकी जानकारी पहुँचा कर जनमत को प्रभावित करने का निश्चय किया। ताकि जनमत का दबाव वहाँ के गोरे स्वामियों पर पड़े और मजदूरों की स्थिति में सुधार हो सके।

इसके लिए मजदूरों की स्थिति का चित्रण उन्होंने अपने कई लेखों और पुस्तकों में किया। ज्यों-ज्यों वे कुली-मजदूरों की समस्याओं का निकट से अध्ययन करते जाते थे त्यों-त्यों इस निष्कर्ष पर पहुँचते गये कि समूची कुली प्रथा ही जड़मूल से नष्ट कर देनी चाहिए। उन्होंने अपनी पुस्तक 'फ़ीजी ऑफ टुडे' में लिखा था— 'कुली प्रथा बड़ी निष्ठुरतापूर्ण है और उसकी अच्छी से अच्छी देखभाल भी उसकी निर्दयता और अन्याय को दूर नहीं कर सकती। पूँजी लगाकर व्यवसाय करने के लिए मजदूर रखने की यह पद्धति भले ही आवश्यक हो

पर यह सम्पूर्ण प्रथा भ्रष्ट, अपकृष्ट और मनुष्यत्व को नष्ट करने वाली है। कुली लोगों के लिए तो यह बुरी है ही अंग्रेजों के लिए भी यह अच्छी नहीं है।'

बर्टन साहब आये तो ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए किन्तु वे लग गये विवश मानवों के कष्टों का निवारण करने में। उनके यह प्रयास गोरों की सहनशीलता से बाहर थे। वे अपने स्वार्थ पर आघात क्यों सहन करते। 'फ़ीजी ऑफ टुडे'— पुस्तक जब प्रकाशित हुई प्रबुद्ध व्यक्ति इस प्रथा को नष्ट करने के लिए भाग उठते दिखाई दिये। प्रबुद्ध जनमत को अपने विरुद्ध जाते देख गोरों ने बर्टन की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने का विचार किया और उसके लिए एक आन्दोलन ही चला दिया। फ़ीजी सरकार ने बर्टन के खिलाफ एक विरोधी पत्र लिखकर मैथोडिस्ट मिशन के अधिकारियों को भी भेजा पर मिशन वालों ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया और उत्तर में लिख दिया कि— 'बर्टन साहब के विचारों के लिए हम जिम्मेदार नहीं हैं।'

उस समय हैनरी ग्रे फ़ीजी के गवर्नर थे। उन्होंने बर्टन साहब के खिलाफ एक मुहीम भी चला दी और जगह-जगह उनके व्यक्तित्व पर आक्रमण होने लगे। हमेशा यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता कि ग्रन्थकार एकदम लापरवाह, दुराग्रही और अविश्वसनीय आलोचक है। किन्तु बर्टन ने इसकी जरा भी परवाह नहीं की। जब कभी कोई उनसे इस बारे में पूछता तो वे यही कहते— 'मैंने ईमानदारी के साथ जो कुछ सोचा तथा देखा है उसे ही ईमानदारी के साथ व्यक्त करने का प्रयास किया है।'

पादरी बर्टन साहब का जन्म सन् १८२५ ई. में यार्कशायर के लेज नदी नामक स्थान पर हुआ था। बचपन से ही वे अपने माता-पिता के साथ कई स्थानों पर भ्रमण करने गये और २२ वर्ष की आयु में मिशनरी बन गये। मिशनरी बनकर धर्म प्रचार करते समय उनका दृष्टिकोण ईसाई मतावलम्बियों की संख्या बढ़ाना मात्र नहीं होता था, बल्कि वे मनुष्य में सोये हुए मानव को जगाने के लिए ही अधिक प्रयत्नशील रहते। इसके साथ ही वे दुःखियों और कष्ट पीड़ितों की सेवा के लिए भी हर घड़ी प्रस्तुत रहते। ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के साथ-साथ वे सेवा-साधना द्वारा महात्मा ईसा के आदर्शों को जीवन में उतारने के लिए भी प्रस्तुत रहते।

सन् १९०३ में जब वे फ़ीजी आ गये तो सेवा धर्म, पीड़ा और कष्ट का निवारण ही उनका मिशन बन गया। उनकी पत्नी भी उनके समान ही सहृदय और सेवाभावी थी। पण्डित तोताराम ने उनके सम्बन्ध में लिखा है 'एक बार पादरी बर्टन साहब और उनकी धर्मपत्नी मुझे साथ लेकर मजदूरों की हालत देखने के लिए एक कोठी में गये। उस कोठी की प्रवासी भारतीय बहिनें गन्ने के खेत में काम कर रही थीं। उनके वस्त्र बहुत फटे हुये तार-तार हो रहे थे, कपड़ा दुर्बल थी और चेहरे से लगता था कि उन्हें शायद ही कभी भरपेट खाना मिलता हो। बर्टन साहब ने उनसे उनकी स्थिति के बारे में कई प्रश्न किये। बहुत-सी बातें सुन कर तो बर्टन साहब तथा उनकी धर्म-पत्नी हिलकी बाँधकर रोने लगे और बोले— हमारा यदि कोई वंश होता तो इस शर्तबन्दी गुलामी को जड़मूल से नष्ट कर देते।

बर्टन साहब के साथ, उनकी धर्मपत्नी भी उनकी सेवाप्रवृत्तियों में योगदान देतीं। उन्होंने फ़ीजी में रहकर कुली प्रथा, शर्तबन्दी की प्रथा को नष्ट करने के लिए ही अपना सारा जीवन लगा दिया। स्थानीय कार्यक्रमों का संचालन और आन्दोलन चलाने के साथ ही उन्होंने संसार को कुलियों की दुर्दशा से अवगत कराने के लिए कई पुस्तकें भी लिखीं और विचारशील व्यक्तियों को आह्वान किया कि वे इस प्रथा को समूल नष्ट करने के लिए प्रबल प्रयत्न करें। उनका अपेक्षित परिणाम प्रभावी भी रहा। अपने सेवा प्रयासों के साथ विश्व जनता के कष्टों का भी पूरा-पूरा ध्यान रखते थे और ९६ वर्ष की आयु तक अपने ढंग से समूची मानवता की सेवा करते रहे। सन् १९२१ में उनका देहान्त हुआ। फ़ीजीवासी उन्हें अपने पिता की तरह सम्मान देते थे क्योंकि वे जानते थे एक जन्म पिता ने दिया है और मानवों द्वारा ही बाँधी गयी शर्तबन्दी, कुली प्रथा की बेड़ियों को काट कर उन्हें दूसरा जन्म पादरी बर्टन साहब ने दिया है।'

सच्चा धर्मनिष्ठ जुलाहे का बेटा पोप-पायस

उन्नीसवीं शताब्दी में रोम पर ईसाई धर्म के विश्व गुरु पोप का शासन था। जनता भी उनके इशारों पर नाचती थी स्वेच्छया भी और विवश होकर भी। अनुशासन की दृष्टि से योग्य प्रशासनिक नियमों का अनुगामी होना बहुत अच्छी बात है। बिना कारण सत्ता के खिलाफ कभी विद्रोह नहीं होता। भले ही वे कारण कृत्रिम हों परन्तु षडयन्त्रकारियों द्वारा उन कारणों तथा दोषों को प्रचारित करना ही पड़ता है। फिर पोप का शासन तो उस समय एकदम स्वेच्छाचारी था। लोग सभी प्रकार से तंग आ गये थे।

धर्म के क्षेत्र में पाखण्ड का बोलबाला था। स्वर्ग के सर्टिफिकेट और धनपतियों को अपना मन्तव्य पूरा करने की खुली छूट, जनता का निरीह शोषण इस युग में धर्मसम्मत ही बन गया था। राजनीति में भी नित नये कुचक्र चलते। अवसरवादिता, भाई-भतीजावाद और चापलूसी का पूरा साम्राज्य था। पाप का घड़ा भर जाने पर फूटता ही है। अनाचारी आरम्भ में तो बहुत ऊँचाई पर चढ़ता है और बाद में इतनी वीभत्स स्थिति से गिरता है कि चकनाचूर हो जाता है। यही हालत तत्कालीन सत्ताधीशों की हुई। जनता परेशान हो गयी और तभी इटली की सेना ने रोम पर हमला कर दिया।

शासन तन्त्र हलके-से झटके में ही लड़खड़ा गया। दम्भ और अहंकार के कारण तत्कालीन शासक पूरी सुरक्षात्मक व्यवस्था भी नहीं कर पाये थे। वे तो समझते थे कि दुनिया के तमाम ईसाई उनकी इच्छाओं के दास हैं, कठपुतली मात्र हैं उन्हें चाहे जिस समय मनचाही दिशा में मोड़ दिया जायेगा। परन्तु यह विचार, विचार मात्र ही सिद्ध हुआ पोप ने अपने अनुयायियों को धर्म और ईश्वर का भय दिखाया परन्तु किसी ने भी एक न सुनी। उनकी समझ में धर्म का यथार्थ स्वरूप तो अब आया था कि अनीति का विरोध किया ही जाना चाहिए भले

ही कितने ही आराध्य और वन्दनीय व्यक्ति द्वारा क्यों न चलाई जा रही हो। आखिर सत्ता पोप के हाथों से छीन ली गयी। उसके शासन तन्त्र के अंग पादरी लोग जान बचाकर भागने लगे। कितने ही पादरियों ने तो सरकार से प्रार्थना कर जेल में पहुँचे।

यह स्थिति देखकर इटली के एक छोटे-से गाँव में जन्मा जुलाहे बाप का बेटा ऐंचिले बड़ा दुःखी हुआ। पादरियों के प्रति उसके मन में बड़ी द्वन्द्व थी। उनकी बाहरी कलेवर और कृत्रिम पावन जीवन से प्रभावित होकर वह स्वयं भी पादरी बनने का स्वप्न संजोये हुआ था। परन्तु उस समय पादरियों की यह दुर्गति देखकर वह बड़ा दुःखी हुआ। उसे लगा कि मेरा लक्ष्य झूठा है। मेरी भी यही दुर्दशा होगी। अपमान और क्षोभ मिलेगा। मेरे अन्दर भी वे सभी बुराइयाँ होंगी जो इन पादरियों में हैं। उस समय जो पादरी पकड़े गये थे, सार्वजनिक रूप से उनके कुकर्मों का भण्डा-फोड़ किया जाता और उन्हें दण्ड दिया जाता। ऐंचिले के मन में बैठी आदर्श की मूर्ति टूटने-सी लगी। पवित्र, धर्मात्मा और ईश्वर भक्त दीखने वाले लोग भी शेर की खाल में गीदड़ हैं यह जानकर उसका हृदय टूट गया और वह उदास रहने लगा।

पहले ऐंचिले कई बार अपनी माँ से कह चुका था कि मैं भी पादरी बनकर प्रभु की सेवा करूँगा। इटली और रोम में जो कुछ चल रहा था उसे तथा अपने पुत्र की मनोदशा ताड़कर माता सारी बात समझ गयी और बोली— बेटा निराश होने की जरूरत नहीं है। सच्चे धर्म प्रचारकों की सदैव आवश्यकता रही है और रहेगी। इस समय जिन साधुओं की दुर्दशा देखकर तुम खिन्न हो वे सच्चे साधु नहीं थे बल्कि साधु का वेष धारण किये विलासी और नरपशु थे। वास्तव में यदि कोई सच्चा साधु बने तो उसमें उसका भी कल्याण है और जनता का भी।

ऐंचिले ने पूछा— 'तो सच्चा धर्म प्रचारक बनने के लिए क्या करना पड़ेगा।'

माता ने बताया कि— 'धर्म प्रचारक बनने के लिए ज्ञान और चरित्र की आवश्यकता होती है। ज्ञानार्जन के लिए शिक्षा प्राप्त करो और स्वयं के सदगुणों का विकास करो।

उत्साही ऐंचिले तुरन्त अपने पिता के पास पहुँचा और शिक्षा का प्रबन्ध करने का आग्रह करने लगा। उसके पिता दस-बारह घण्टे प्रतिदिन कठोर पश्चिम कर अपने परिवार के गुजर-बसर जितना कमाते थे। बेटे की शिक्षा के लिए अलग से व्यवस्था कैसे हो यह वह सोचने लगे। पति-पत्नी दोनों ने विचार-विमर्श किया और मार्ग भी दिखाई पड़ा।

ऐंचिले के चाचा पास के ही एक गाँव में पादरी थे। ग्रामवासियों को उनके चरित्र में कहीं भी कोई बुराई नहीं दिखाई दी। इस कारण उन पर कोई आँच नहीं आई। कुछ समय बाद ऐंचिले को उनके पास पढ़ने के लिए भेज दिया गया। अस्सो— जहाँ पर उसके चाचा पादरी थे, पर्वतों की घाटियों में बसा एक सुन्दर गाँव था। प्राकृतिक सुषमा भरे इस उपवन से गाँव में ऐंचिले की प्रारम्भिक शिक्षा पूरी हुई और चाचा ने आगे के अध्ययन हेतु शहर के स्कूल में भर्ती करवाया।

वे कई पाठशालाओं में पढ़े। लगन और निष्ठा के बल पर उन्होंने तीन विषयों में डॉक्टरेट किया। शिक्षा पूरी कर लेने के बाद वे जनसेवा के क्षेत्र में उतरे। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने नौकरी कर ली। आरम्भ में वे इटली ही एक कॉलेज में दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए और आगे चलकर अब्रोशियन लाइब्रेरी के प्रधान-संचालक नियुक्त हुए इसे उन्होंने अपना बहुत सौभाग्य माना। देश-विदेश के ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आने का यह अलभ्य अवसर था जिसका लाभ उठाने से वे नहीं चूके, अब्रोशियन लाइब्रेरी उस समय दुनिया का सबसे बड़ा पुस्तकालय था।

ज्ञान जो सच्चे धर्म प्रचारक की सर्वोपरि अनिवार्य आवश्यकता है, अर्जित करने के साथ-साथ ऐचिले ने व्यक्तिगत जीवन में चरित्र और सामाजिक जीवन में सेवा पर भी बराबर ध्यान दिया। ज्ञान-चरित्र और सेवा ही किसी मनुष्य को महामानव के पद पर बिठाने में सक्षम होती है। ऐचिले ने नर से नारायण की साधना में इन तीनों गुणों का समावेश किया।

उसका चरित्र तो प्रामाणिक था ही। जन-सेवा के क्षेत्र में उनका कृतित्व भी उल्लेखनीय रहा। कई शिक्षा संस्थाओं को उन्होंने सहयोग दिया। बचपन में माँ से मिला हुआ यह उपदेश कि जीवन लक्ष्य प्राप्त करने के लिए शिक्षा या ज्ञान की सम्पदा जरूरी है। धर्म प्रचारक एक प्रकार का युग निर्माता होता है। सच्चे मनुष्यों, आस्तिकजनों और अध्यात्मवादियों का निर्माण धर्म प्रचारक का कर्तव्य है। इसी कर्तव्य बोध से समाज निर्माण की पहली शर्त पूरी करने के लिए ऐचिले ने शिक्षा प्रसार में सहयोग दिया।

बाइबिल में पढ़ा था— वे धन्य हैं जो दया करते हैं और पीड़ितों और दुःखियों की सेवा में लगे रहते हैं। स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। इस शिक्षा को उन्होंने आत्मसात किया और मजदूरों, स्त्रियों, बच्चों के सुधार के हेतु कई महत्वपूर्ण कार्य किये। बीमार तथा दुःखियों की सेवा सुश्रूषा से लेकर बेरोजगार व्यक्तियों के लिये काम की व्यवस्था के अनेकों उदाहरण उनके दैनन्दिन जीवन में दिखाई दिये।

उनकी इसी सेवा निष्ठा ने उन्हें जन-जन का प्रिय पात्र बना दिया। १८७० में पादरियों के अन्दरूनी कुत्सित जीवन को देखकर लोगों का यह विश्वास उठ चला था कि इस धरती पर कोई सच्चा धर्म प्रचारक है। परन्तु ऐचिले को उन्होंने जब हर तरह से ठोक-बजा कर देखा तो लोकसेवी की कसौटी पर उन्हें सौ टन्व खरा पाया।

ऐसे आदर्श महामानव की हर क्षेत्र में आवश्यकता होती है। तत्कालीन सरकार ने उन्हें राजनीति में भाग लेने तथा प्रशासनिक व्यवस्था का मार्गदर्शन करने का आग्रह किया। उन्होंने तो हर क्षेत्र में 'सुधार' और 'सृजन' को ही अपना लक्ष्य चुना था। राजनीति का क्षेत्र कितना ही गन्दा क्यों न माना जाता हो। पावन चरित्र के लोगों की मान्यता अलग ही होती है। उनकी दृष्टि में मलीनता बाहर नहीं अन्तर में रहती है। उन्होंने सरकार का आग्रह स्वीकार कर लिया। पोलैण्ड में उन्हें अपोस्टालिक विजिटेटर बनाकर भेजा गया। तीन साल तक उन्होंने इस पद पर कुशलतापूर्वक कार्य किया और फिर अपने देश लौट आये।

स्वदेश लौटने पर वे आर्क विशप बनाये गये। पहले ही कहा जा चुका है १८७० की राजनैतिक और धार्मिक क्रान्ति ने जनता के श्रद्धा पात्रों और धर्म गुरुओं के सम्बन्ध में उनके विश्वासों को तोड़ दिया था। देश में पादरियों का कोई सम्मान नहीं था परन्तु ऐचिले अपनी योग्यता और सेवा भावना के बल पर लोगों का प्यार जीतने में सफल हो गये। ज्ञान, चरित्र और सेवा से समन्वित उनका व्यक्तित्व एक चुम्बक बन गया था। जिसके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति उनका ही होकर रह जाता था। इसी कारण जनता की श्रद्धा बदल गयी।

पोप का शासन समाप्त होने के बाद कोई योग्य और अनुभवी व्यक्ति का चुनाव किया जाना था। सभी लोगों की राय ऐचिले के पक्ष में गयी और वे आर्क विशप ऐचिले से ईसाई धर्म के विश्व गुरु पोप पायस बन गये। सरकार ने उन्हें 'नाइट ऑफ़ ब्रॉस' की उपाधि से सम्मानित किया। उस समय लोक-सेवी प्रतिभाओं का यह सर्वोच्च सम्मान था।

ऐचिले को जब पोप पायस चुना गया। उस पद का उत्तरदायित्व ग्रहण करने के बाद वे बाहर विशाल मन्च पर आये। हजारों लोगों का समूह उस समय वहाँ उपस्थित था। पोप पायस के मन्च पर आते ही सबने घुटने टेक कर नये पोप का सम्मान किया। शासकीय सेना ने उनके अभिवादन स्वरूप अपने शस्त्रास्त्र भेंट किये। तत्कालीन प्रत्यक्षदर्शियों ने लिखा है कि ऐसा सम्मान पिछले पचास वर्षों से उनके अपने जीवन-काल में कभी नहीं देखा गया।

पोप पायस भारतीय संस्कृति की उस व्यवस्था के प्रतीक थे जिसके अनुसार राजनीतिक पर धर्म तन्त्र का नियन्त्रण रहना चाहिए। सरकार ने अनेक अवसरों पर आपसी और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों पर उनकी सहमति और निर्देशन में कई सफलतायें प्राप्त कीं। उन्होंने संसार भर में सद्भावनाओं का विकास करने और विश्व शान्ति के लिए कई प्रयास किये। इटली और रोम के परस्पर विवाद से फ्रांस की श्रमिक व्यवस्था तक को सुलझाने में अपूर्व सहयोग दिया। फ्रांस में कपड़े के मिल-मालिकों और श्रमिकों में मतभेद हो जाने के कारण एक बार सभी कारखाने बन्द हो गये। पोप पायस ने श्रमिकों की न्यायिक मांग का पूर्ण समर्थन किया।

साम्यवादी नास्तिकता की निन्दा करते हुए पूँजीवादी शोषण को भी उन्होंने नहीं बख्शा। उस समय ईसाई मतावलम्बी यहूदियों के प्रति घृणा का प्रचार कर रहे थे, पोप पायस ने इसे अधार्मिक और मूर्खतापूर्ण कहा। इतना सब कुछ होते हुए भी वे अतिविनम्र बने रहे। उन्होंने अपना सारा जीवन विश्व शान्ति और मानव मात्र की सुख अभिवृद्धि के लिए समर्पित कर दिया।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे कुछ दिनों तक बीमार रहे। इस लोक से परलोक में प्रयाण करते समय मानव मात्र के लिए उनका अन्तिम सन्देश था— "विश्वशान्ति के लिए मानव मात्र को प्रयत्न करना चाहिए और स्वयं के लिए तो केवल सच्चा मानव बनना ही पर्याप्त है। ऐचिले पोप पायस का स्थूल शरीर संसार में नहीं है। परन्तु उनके प्रतिष्ठापित आदर्श और जीवन मूल्य धर्म गुरुओं का ही नहीं मानव मात्र का मार्गदर्शन करते हैं।"

नोवास्कोटिया के मसीह— फादर जेम्स थापकिन्स

सन् १९२३ की एक उजली संस्था में एक ईसाई धर्म प्रचारक ने कान्सो के मनोरम सागर तट के नैसर्गिक सौन्दर्य को अपनी आँखों में भर लेना चाहा। वह आज सबेरे ही यहाँ आया था। थोड़ा घूमने के लिए सागर तट तक चला आया था। किन्तु यह क्या? इस उजली संध्या व नीली लहराती फेनिल जलराशी से उचटकर उसकी दृष्टि अन्यत्र ही जा ठहरी। भूख से जर्जर अस्थि-पंजर हुई मछुओं और सिकिया पहलवान से उनके बच्चों को देख उसे विस्मय हुआ। ढेर से मछुओं में एक भी उसे हृष्ट-पुष्ट दिखाई नहीं दिया।

अभावों ने यौवन पर वृद्धावस्था की अकाल छाया डाल दी थी। कैशोर्य और अघेड़ के बीच की कड़ी—जीवन का स्वर्ण काल इस दैत्य ने लील ही लिया था। पराजय के स्मृति चिह्न प्रत्येक पर अपनी रेखाएँ छोड़ गये थे। इस लहराते सागर के तट पर उसने एक और सागर फुफ्फुकारता देखा था—गरीबी, अज्ञान और अस्वस्थता का सागर। ये वही मत्स्य व्यवसायी थे जो प्रतिदिन शताधिक मनुष्यों के लिए भोजन सामग्री जुटाते हुए भी स्वयं भूखे थे। उनके परिवार भूखे थे।

वह इन्हीं लोगों को उपदेश देने—धर्म मार्ग बताने आया था। किन्तु जिनके पेट में भी पाँव नहीं वे किस बल पर आदर्शों के—धर्म के कठिन मार्ग पर चल पायेंगे। इन्हें चाहिये रोटी और उसके पास थे उपदेश। वह जानता था कि उपदेशों से पेट नहीं भरा जा सकता। अतः उसने पहले उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने की योजना बनाना आरम्भ किया।

अब वह धर्मोपदेशों की बातें नहीं करता वरन् सहकारी संस्थान खोलने, सहकारी ऋणदात्री समितियाँ गठित करने की बातें करता। पाप और पुण्य के भेद-विभेदों की व्याख्या करने के स्थान पर वह मत्स्य सम्पदा का मूल्य बढ़ाने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करता। उसके साथी उपदेशक उसके इन क्रिया-कलापों को देखकर कन्धे उचकाते—एक दूसरे से फुसफुसाकर कहते “यह अध्यात्मवादी कहाँ भौतिक माया-जाल में फँसा जा रहा है।” कोई तो उसके सामने ही आलोचना—सर्गों का पारायण करने लगता तो वह खीझ कर कह उठता—“यदि मेरे स्थान पर स्वयं महात्मा यीशु भी होते तो भी वे इन लोगों को कदापि धर्मोपदेश नहीं देते। वे वही करते जो मैं कर रहा हूँ।”

यह विवेकी तथा दृढ़ निश्चयी धर्मोपदेशक थे डा. जेम्स थापकिन्स। वे अपने इस ‘एन्टीगोनिश’ आन्दोलन के कारण विश्व-विख्यात हुए। उन्होंने कनाडा के नोवास्कोटिया प्रदेश के मछुओं, कोयला-खान-श्रमिकों तथा कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए अथक श्रम किया और अपने उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त की। अपनी सहायता आप करने की यह हिम्मत इन शोषित, पीड़ित, निर्धन वर्गों में जगाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। इनके इसी आन्दोलन का परिणाम

था कि विश्वव्यापी मन्दी की लहर नोवास्कोटिया तक पहुँच ही नहीं पायी थी। सर्वत्र मूल्य गिरे थे, बेकारी बढ़ी थी। इसके विपरीत उस क्षेत्र में मूल्य बढ़े थे, बेकारी मिटी थी।

डा. थापकिन्स का जन्म १८७१ में क्रेपा ब्रिटेन द्वीप के एक कृषक परिवार में हुआ था। छह फुट से भी अधिक ऊँचाई के लोगों के परिवार में वे ही सबसे कम ऊँचे सदस्य थे। किन्तु व्यक्तित्व एवं कृतित्व के गज से नापने पर वे सबसे लम्बे ठहरते हैं। बचपन में अपने गाँव के एक कमरे वाले स्कूल में अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर वे पादरी बनने के उद्देश्य से रोम पहुँचे। इकतीस वर्ष की आयु में उन्होंने नोवास्कोटिया के एन्टीगोनिश नगर स्थित एक छोटे-से कॉलेज में प्राध्यापक के स्थान पर नियुक्ति पाकर पद भार सम्हाला। यह कॉलेज सेंट फ्रांसिस जेवियर विश्वविद्यालय, सेंट फ्रांसिस जेवियर के अन्तर्गत चलता था। यहाँ थोड़े दिन अध्यापन कार्य करने के बाद उन्हें मिशन का उपाध्यक्ष बना दिया। उन्होंने इस परमार्थ परायण कार्य को अपनी पूरी सामर्थ्य से किया। नये-नये स्कूल कॉलेज खोलने, धर्म गृहों की स्थापना करने के लिए वे पूरे क्षेत्र में घूम-घूम कर धन संग्रह करते थे। इस भ्रमण के दौरान उन्हें लोगों की वास्तविक स्थिति जानने का पूरा-पूरा अवसर मिला।

नोवास्कोटिया प्रदेश के नागरिकों की आर्थिक स्थिति बड़ी ही दयनीय थी। किसानों को कृषि कर्म करने का कोई लाभ नहीं मिलने से वे लोग खेती की ओर से मुँह मोड़ते जा रहे थे। मछुओं तथा खान श्रमिकों के साथ शोषण का ऐसा चक्र चल रहा था कि वे गरीबी के व्यूह को भेद नहीं पा रहे थे। थोड़े से सम्पन्न लोगों को छोड़कर शेष की स्थिति निराशाजनक थी। उन्हें अपना वर्तमान अभावों से जर्जर तथा भविष्य अन्धकार से परिपूर्ण लग रहा था। ऐसी उलझन भरी नैराश्य की मनःस्थिति में धर्म और आदर्शों की पौध नहीं लगायी जा सकती थी। पहली आवश्यकता उनके जीवन में उत्साह, उमंग और आशाओं को पुनर्जीवित करना था।

इन समस्याओं के पीछे बड़ा कारण शिक्षा का अभाव था। उनका मिशन जो शिक्षण संस्थाएँ खोलता था उससे बालक, किशोर तथा युवक ही लाभान्वित हो सकते थे। प्रौढ़ वर्ग तो उनका लाभ नहीं उठा पाते थे। उन्हें शिक्षित बनाने के लिए उन्होंने प्रौढ़ शिक्षण का एक व्यापक अभियान चलाया जिसके लिए उन्होंने अपने मिशन द्वारा चलाये जाने वाले कॉलेजों के विद्यार्थियों तथा प्राध्यापकों से पूरी सहायता मिली। आधुनिकतम वैज्ञानिक उपलब्धियों को सामान्य कृषक तक पहुँचाने, खान श्रमिकों को संगठन एवं संघर्ष का मार्ग बताने तथा मछुओं को सहकारिता का पाठ पढ़ाने में यह वर्ग बहुत सक्रिय रहा।

१९२३ में कान्सो जाने पर तो वे दीन-हीन मछुओं की दुर्दशा देखकर लगभग रो ही पड़े थे। सच ही तो है धर्म, व्यक्ति को एकान्त सेवी तथा पलायनवादी नहीं बनाता। गिरि कन्दराओं में बैठा हुआ संन्यासी उतना धार्मिक तथा अध्यात्मवादी नहीं माना जा सकता जितना वह व्यक्ति जो जन-जन की पीड़ा को अपने सागर जैसे विशाल हृदय में स्थान देता है। डा. जेम्स थापकिन्स जिन्हें लोग श्रद्धा व

आदर से फादर जिम्मी कहा करते थे, उन्हें इस पीड़ा से मुक्ति दिलाने का संकल्प लिया।

प्रथम तो उन्होंने इन सागर के बेटों की इस दीनता के कारणों को खोजने का प्रयास किया। पर्याप्त पूछताछ के बाद उनके इस दारिद्र्य का जो कारण उन्हें मिला वह था मनुष्य का स्वार्थ उनकी संकीर्णता। माँसाहारी पशु एक-दूसरे को खा जाते हैं। उन्हें प्रकृति ने ऐसे ही क्रूर तथा बुद्धिहीन बनाया है। उन्हें साधन-सुविधाएँ देने में भी प्रकृति ने कम कृपणता नहीं की। किन्तु मनुष्य को सब प्राणियों से अधिक समर्थ, बुद्धिमान तथा सुख-सुविधाओं से युक्त किया है, भावनाओं की पुष्करिणियों के अमृत से उसके हृदय को सींचा है। वह भी अपने ही जैसे मनुष्यों को खा—उनका शोषण कर अपना पेट भरे तो उसे पशु से भी गया-गुजरा माना जायेगा। इन मछुओं को मत्स्य व्यापारी नौका, मकान, जाल, रस्सियाँ तथा थोड़ी-सी धन राशि देकर अपना कर्जदार बना लेते हैं तथा फिर उनका मनमाना शोषण करते हैं। कर्ज भार से दबे होने के कारण उन्हें अपनी पकड़ी हुई मछलियाँ, व्यापारी को उसके मनमाने भाव पर देनी पड़ती थीं जो बहुत कम होता था। ये व्यापारी कनाडा व अमेरिका की बड़ी-बड़ी फर्मों के एजेन्ट थे जो गरीबों को आर्थिक चक्रव्यूह में फँसाए हुए थे। इसी शोषण के अन्ध कूप में उन्हें व्यापारियों ने कैद कर रखा था।

नोवास्कॉटिया समस्याओं का केन्द्र बना हुआ था। दो वर्ष में ही मत्स्य केन्द्रों का मूल्य १५० डालर से घट कर ९० लाख हो गयी थी। केप ब्रिटेन जैसे कोयला उत्पादक नगर में बेकारी महामारी की तरह फैल रही थी। किसान अपनी खेती छोड़ रहे थे। इस कारण लोग इस प्रदेश को छोड़कर अन्यत्र जाने लगे थे। अमेरिका के एक अकेले नगर में एक लाख नोवास्कॉटिया वासी गिने गये थे।

अपनी मातृभूमि तथा उसके निवासियों की इस दशा से वे बहुत दुःखी हुए। वे इन समस्याओं का निदान करना चाहते थे। किन्तु वे अकेले क्या कर सकते थे। इसलिए चुप थे। एक दिन उन्हें एक ऐसा अस्त्र मिल गया जो उन्हें अपने उद्देश्य में सफल बना सकता था। जिस प्रकार परमाणु बम एक व्यक्ति को अपार शक्ति प्रदान कर देता है और वह लाखों-करोड़ों पर भारी पड़ता है, वैसा ही अस्त्र उन्हें मिला था। वह अस्त्र था 'विचारों' का अस्त्र। उन्हें पूरा विश्वास था कि इसके बल पर वे लोगों के खोये हुए सुख को पुनः ला सकते हैं।

उन्होंने लोगों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए उठ खड़े होने तथा सहकारिता के आधार पर धनपतियों का जाल छिन्न-भिन्न कर देने के लिये उद्बोधन देना आरम्भ कर दिया। वे कहा करते थे—“विचारों के हाथ-पांव होते हैं वे तुम्हारे लिए वह काम कर सकते हैं जो तुम चाहते हो।” उन्होंने अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये प्रभावशाली व तथ्यपूर्ण शब्दों में छोटी-छोटी विज्ञप्तियाँ तैयार कीं जिनमें मछुओं, किसानों व खनिकों की समस्याओं का समाधान था। वे इन विज्ञप्तियों को अपने झोले में रखे रहते तथा जिससे भी भेंट होती उसके हाथ में एक विज्ञप्ति धमा कर कहते—इसे पढ़ें इसमें आपकी समस्या का समाधान है।

केवल विज्ञप्तियाँ बाँटकर ही वे सन्तुष्ट नहीं हो जाते वे लोगों को समझाते, उनसे तर्क करते—अपनी बात को उसके गले उतारते भी थे। यही नहीं वे लोगों को रोकते भी थे। जब कोई मछुवा अपने माल को कम मूल्य पर बेच देता तो उससे पूछते—‘तुमने उस काँड को केवल डेढ़ सेंट में क्यों बेच दिया जब कि हेलीफेक्स में उसका मूल्य ३० सेंट है। तुम अमुक को इतने में ही क्यों दे देते हो जब कि होटल पर उसका मूल्य एक डालर से कम नहीं होता।’

वे जानते थे कि छोटे-छोटे आदमी मिलकर संगठन बना लें तो वे राक्षस को भी हरा सकते हैं। पतले-पतले सूत के धागों से बड़ी हुई रस्सियाँ मनो भार उठा लेती हैं। संगठन की जनशक्ति ही इन सब समस्याओं का समाधान कर सकती है। मछुओं को, खनिज श्रमिकों को व किसानों को संगठित करने के लिए उन्होंने दिन-रात एक कर दिया। उसका परिणाम भी आशातीत ही हुआ।

छोटे-छोटे लोगों को जगाने के साथ-साथ उनकी आवाज को समर्थ व्यक्तियों तक पहुँचाने का काम भी फादर जिम्मी ने किया। उन्होंने जजों, इन्जीनियरों तथा राजनीतिज्ञों से भी इनकी प्रगति में सहयोग देने के लिए अनुरोध किया। उन लोगों ने यह जाना कि वह ऋण ही इन गरीबों के पाँवों की जंजीर बनकर उन्हें शोषण के नरक में भटकने को बाध्य कर रहा है।

जब मनुष्य अपनी छिपी सामर्थ्य को जन-समुदाय में छिपी शक्ति को पहचान लेता है तो फिर उसे कोई दीन-हीन दशा में पड़ा रहने को बाध्य नहीं करता। धड़ाधड़ सहकारी संस्थाएँ खुलने लगीं। उन्होंने अपनी ऋणदात्री समितियाँ स्थापित कीं। वस्तुओं को उचित मूल्य पर ही बेचने की कसम खा ली। व्यापारियों तथा बड़ी फर्मों को अपना व्यूह टूटता दिखा तो उन्होंने अपने हथकण्डे अपनाये। सरकार ने भी उनका पक्ष लिया। मछुओं व मजदूरों ने प्रतिवाद किया। थोड़े समय कड़ा संघर्ष हुआ। अन्तः में विजय जनता की हुई। नोवा स्कॉटिया में समृद्धि का सूर्य चमकने लगा जिसे मन्दी के बादल भी छिपा नहीं सके। इसका श्रेय फादर जिम्मी को ही जाता है।

उन्होंने जीवन-भर लोगों को धर्म का—सच्चाई का—आदर्शों का जीवन जीने का उपदेश दिया। स्वयं भी वे इन सिद्धान्तों का कठोरता से पालन करते रहे। इन सबसे अधिक उन्होंने अपने आन्दोलन के माध्यम से नोवास्कॉटियावासियों के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। यह आन्दोलन इनकी १९५३ में मृत्यु हो जाने के बाद अमेरिका में ही नहीं अन्यान्य देशों में भी चल पड़ा बर्क में स्वर्ग के सुन्दर प्रभात लाने वाले इस महामानव की कीर्ति भला किसे उनके चरण चिह्नों पर चलने को बाध्य न करेगी?

उपेक्षित किशोरों के मार्गदर्शक— फादर जिम्मी

किशोर जेम्स बटरवर्थ को समय की ठोकरी ने समय से पूर्व ही वयस्क और विवेकी बना दिया था। अतः उसने अपना जीवन लक्ष्य

भी अपनी उस ज्ञान-प्रौढ़ता के अनुरूप ही चुना— संसार में सदज्ञान और सत्प्रवृत्तियों का प्रसार करना। वह जानता था कि जिसने अपनी सहायता स्वयं करना सीख लिया, जिसने आत्म देवता को मना लिया उसके लिये ईश्वर की कृपा पा लेना बहुत सहज होता है। उसके लिये किसी भी क्षेत्र में कैसी भी उपलब्धि पा लेना असम्भव नहीं होता। पर यह जानते हुए भी उसने अन्य लोगों की तरह धनवान, विद्वान, कलावान या सामर्थ्यवान बनने की अपेक्षा एक सामान्य पादरी बनना चाहा ताकि वह ऐसे वर्ग को ज्ञान दान दे सके, जिन्हें उसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी। उसका यह संकल्प पूरा हुआ और वह सामान्य-सा किशोर अपने इस उच्च दृष्टिकोण और परोपकारी वृत्ति के कारण लाखों लोगों का श्रद्धाभाजन फ़रदर जिम्मी बन गया।

जेम्स बारह वर्ष का ही था उसके पिता ने आत्महत्या कर ली। गरीबी तो पहले ही उसके परिवार के पल्ले बँधी हुई थी ही कि अब वह अनाथ भी हो गया। परिवार में वही एक ऐसा सदस्य था जो पिता के रिक्त स्थान की पूर्ति कर सकता था। विधवा माँ और चार छोटे-छोटे भाई-बहनों के भरण-पोषण के दुर्बल दायित्व को उसने अपने दुर्बल कंधों पर उठाने का दृढ़ निश्चय करके लंकाशायर के सूती कपड़े के एक मिल में मजदूरी की। सबरे की कड़कड़ाती शीत में उसे काम पर जाना पड़ता था। रविवार की छुट्टी को छोड़कर सप्ताह में पूरे छः दिन उसे नमी और कास्टिक के घोल युक्त फर्श पर खड़े रह कर काम करना पड़ता था। जिससे उसके हाथ-पाँव व अँगुलियों के पोरों से रक्त रिसने लगता था। इतना कठोर श्रम करने पर उसे सप्ताह भर में तीन शिलिंग नौ पेंस ही मजदूरी मिलती थी, जिससे छह सदस्यों वाले उसके परिवार की गाड़ी बड़ी मुश्किल से चलती थी। इस अपर्याप्त वेतन की कमी की पूर्ति वह अतिरिक्त समय में समाचार पत्र बेचकर किया करता था। इस प्रकार वह अपनी पारिवारिक नौका का नन्हा मॉडी बन गया और उसे डूबने से बचा लिया।

छुट्टी का दिन रविवार का दिन उसने धर्म कार्य के लिये नियुक्त कर रखा था। इस दिन वह चर्च जाता था। उसे चर्च जाना बहुत भाता था। वहाँ उसे जो आत्मिक शान्ति मिलती थी वह उसकी जीवनी शक्ति थी, जो बचपन में ही उसे इतना दृढ़ बना सकी थी। अपनी इस धार्मिक अभिरुचि के अनुरूप ही उसने अपना जीवन लक्ष्य निर्धारित किया था।

जेम्स जब मनुष्य की तुलना अन्य प्राणियों से करता था तो उसे मनुष्यों पर ईश्वर की विशेष कृपा का सहज परिचय मिल जाता था। वह सोचा करता था जिस तरह कमाना और खाना तथा बच्चे-बच्ची पैदा करने का काम मनुष्य करते हैं वह तो अन्य प्राणियों जैसा ही है। उसे तो अपने विशिष्ट स्वरूप तथा सामर्थ्य के अनुरूप ही कार्य करना चाहिए। वह कार्य कैसा हो इस सम्बन्ध में धर्म ही दिशा निर्देश दे सकता है। मनुष्य को अपनी गौरव गरिमा युक्त जीवन जीने सम्बन्धी मार्गदर्शन वही दे सकता है। अतः उसने भी धर्म प्रचार को ही अपना लक्ष्य बनाया।

वह जानता था कि धर्म प्रचार के लिये जीवन समर्पित करने वाले अधिकांश पादरी-गण भी गरीब और पिछड़े वर्ग के लोगों की ओर ध्यान नहीं देते जबकि उन्हें इस दिशा-निर्देशन की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। महात्मा ईसा भी तो स्वयं दीन-दुखियों तथा पापियों से घिरे रहते थे क्योंकि ऐसे ही लोगों को उनके उपदेशों की सबसे अधिक आवश्यकता होती थी। सम्पन्न और समृद्ध लोगों को धर्म शिक्षण हर कोई देता है पर ऐसे विरले ही होते हैं जो दीन-दुःखियों और पथ भ्रमियों की ओर ध्यान देते हैं। ऐसे धर्मसेवियों की कमी मैं पूरी करूँगा यह संकल्प उसके बाल मन में दृढ़ हो गया।

एक दिन उस मिल के मालिक ने जिसमें जिम्मी बटरवर्थ कार्य करता था, मजदूरों को उपदेश देने के लिये मेथोडिस्ट चर्च के पादरी को आमंत्रित किया। पादरी के उपदेश मन को छू लेने वाले थे। उन्हें सुनकर उसके भीतर का संकल्प दृढ़तर हो गया। वह भाषण समाप्ति पर सकुचाते हुए बड़े पादरी के पास पहुँचा और सकुचाते हुए बोला “मैं भी आपकी तरह पादरी बनकर इस प्रकार धर्मोपदेश देना चाहता हूँ। क्या मेरी यह कामना कभी पूर्ण हो सकेगी।”

बड़े पादरी ने इस नाटे-दुबले किशोर की ओर देखा। उसकी आँखों में संकल्पजन्य दृढ़ता विद्यमान थी। उसे आश्वासन प्रोत्साहन मिला— “अवश्य ! यदि तुम प्रयत्नशील रहोगे तो यह कामना पूरी होकर रहेगी। प्रयत्न करने से तो हर कामना पूरी हो सकती है। फिर तुमने तो कामना ही ऐसी की है जिसमें लोक-हित की दृष्टि है तो वह क्यों पूरी न होगी।”

सचमुच एक दिन जिम्मी बटरवर्थ की यह कामना पूरी हो गयी। एक दिन स्थानीय मेथोडिस्ट चर्च के उस बड़े पादरी जिसने उसके मिल में प्रवचन दिया था और वह इस किशोर की धर्म भावना से बहुत प्रभावित हुआ था, ने उसे पादरी बनने के लिये आमंत्रित किया। १९ वर्ष की आयु में वह लंदन स्थित एक चर्च में पादरी बन गया।

जब उसे अपने स्वप्नों को साकार करने का अवसर मिला। वह ऐसे लोगों में कार्य करना चाहता था जो सब ओर से उपेक्षित थे। वह गरीब वर्ग के किशोरों की दयनीय स्थिति से बहुत दुःखी रहता था। वह जानता था कि यह वय बहुत विषम होती है। इस वय संधिकाल में यदि उन्हें उचित मार्गदर्शन तथा यथोचित व्यवहार न मिले तो वे भटक जाते हैं। इससे उनके भविष्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उन लोगों के बच्चों का भविष्य तो प्रायः अनिश्चित ही रहता है जो गरीब अथवा निम्न मध्यम वर्ग से हैं। ऐसे किशोरों के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लेने की योजना उसके मस्तिष्क में चक्कर काट रही थी। वह ऐसे किशोरों के कल्याण के लिए एक संस्थान खोलना चाह रहा था।

एक दिन वह कहीं जा रहा था तो उसका ध्यान एक वीरान से मकान की ओर गया। मकान का फर्श उखड़ गया था, खिड़कियों के पल्ले टूट गये थे। वर्षों से इसकी पुताई नहीं हुई थी। इसमें कोई रहता ही नहीं था। तो पुताई कौन करवाता। यदि इस मकान की मरम्मत की जाये तो यह उसकी कल्पना के संस्थान का प्रारम्भिक आधार बन सकता है। उसने मकान मालिक से बातचीत की। उसे

अपनी सारी योजना समझायी। मकान मालिक सहृदय व्यक्ति था। जिम्मी मकान अपने व्यक्तिगत हित साधन के लिये तो माँग नहीं रहा था सो उसने पादरी की माँग को सहज स्वीकार कर लिया। यही नहीं उस सहृदय व्यक्ति ने उसकी योजना पूर्ति के लिये और भी सहायता दी।

जिम्मी बटरवर्थ ने यह मकान ही क्यों चुना था इसके पीछे कई कारण थे। एक तो यह ऐसे स्थान पर था जिसके आस-पास बसने वाले लोग वैसे ही थे जिनकी उसे आवश्यकता थी और उन्हें ऐसे संस्थान की। इस मकान के आस-पास वे गरीब लोग बसते थे जिन्हें अपने बच्चों के सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं थी और न इतने योग्य ही थे कि उनका निर्माण कर सकें।

युवा पादरी जिम्मी बटरवर्थ ने आस-पास के इन लोगों से अपनी योजना सम्बन्धी बातचीत की पर एक-दो को छोड़कर शेष किसी ने उसकी इस योजना में कोई रुचि नहीं ली। उन्हें अपने मोहल्ले में ऐसे संस्थान की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती थी। आज तक किसी पादरी ने उन गरीबों के पास आकर ऐसी बातें की नहीं थीं अतः वे इस युवा पादरी की बातों को कौतूहलपूर्वक ही सुन रहे थे। उसका साथ नहीं दे रहे थे।

इन लोगों की इस उदासीनता ने जिम्मी को निराश नहीं किया। उसके स्थान पर कोई दूसरा होता तो वह यही सोचना, किस के लिये किया जाय यह सब मैं क्यों मरूँ-खपूँ जिनके लिये कुछ करना चाहते हैं वे तो खड़े ही नहीं होते। पर वह इस प्रकार के पलायनवादी विचारों को अपने पास फटकने ही नहीं देता था। अपने थोड़े-से सहयोगियों के साथ उसने इस वीरान पड़े मकान की मरम्मत करना आरम्भ कर दिया। दूसरे लोग कुछ देर तक तो तमाशा देखते रहे पर जब उन्होंने देखा कि ये लोग वास्तव में कुछ करना चाहते हैं तो वे भी सहयोग देने लगे। फिर तो जन-सहयोग से जिम्मी बटरवर्थ ने इस मकान का कच्चा-कल्प ही कर दिया।

यहाँ उसने किशोरों के 'क्लब लैण्ड' की स्थापना की। यह गरीब और निम्न मध्यम वर्ग के बालकों-किशोरों का निर्माणस्थली था। यहाँ उनके फ़ादर जिम्मी उन्हें उपासना कराते थे, खेल खिलाते थे तथा मानवोचित जीवन जीने की राह बताते थे। आरम्भ में उसे बड़ी मुश्किल से छह लड़के मिल सके थे जो 'क्लब लैण्ड' में नियमित प्रशिक्षण पाने को बड़ी मुश्किल से तैयार हुए थे। इस मुहल्ले के दूसरे बच्चों को तो अपने हुड़दंग से ही फुर्सत नहीं थी। इन सब बच्चों का सम्मिलित अनुदान सिर्फ पाँच पौण्ड धनराशि से आरम्भ हुआ यह क्लब लैण्ड आगे चलकर अपनी गतिविधियों के कारण सारे इंग्लैण्ड में विख्यात हुआ तथा हजारों साधनहीन किशोरों के उज्ज्वल भविष्य का भाग्य विधायक बना।

क्लब लैण्ड की अपनी योजना को साकार करने के लिये फ़ादर जिम्मी को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। मार्ग में कई बाधाएँ भी आयीं। उसने क्लब लैण्ड की किशोर निर्माण की गतिविधियाँ आरम्भ की ही थीं कि उसे पादरी के प्रशिक्षण के लिये मेनचेस्टर के मेथोडिस्ट कॉलेज जाना पड़ा। प्रशिक्षण के दौरान क्लब

लैण्ड का कार्य रुका रहा। वापस लौटकर उसने पुनः अपना 'क्लब लैण्ड' चलाया तो उसे यह अनुभव हुआ कि यह कार्य इतना समय लेने वाला है कि वह चर्च की अन्य गतिविधियों को ठीक से सम्पादित नहीं कर सकेगा। अतः उसने मेथोडिस्ट चर्च के प्रबन्धकों को अपना मन्तव्य बताते हुए स्तीफ़ा पेश कर दिया। प्रबन्धकगण उसकी इस निष्ठा व ईमानदारी से बहुत प्रभावित हुए। यह जानकर कि फ़ादर जिम्मी जो कार्य कर रहा है वह चर्च की पारम्परिक गतिविधियों से कई गुना अधिक महत्त्वपूर्ण है सो उन्हें पूरी तरह 'क्लब लैण्ड' के कार्यों में लगे रहने की स्वीकृति दे दी। इसके लिये पादरी पद त्याग देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

यह फ़ादर जिम्मी की लगन, निष्ठा व उनके उद्योग का परिणाम था कि उन्नीस वर्षों में क्लब लैण्ड इतनी प्रगति कर गया कि उसके चर्च सारे देश में होने लगे। १९४५ तक इसमें सभागृह, ब्रीडिंगण कर्मशाला तथा क्लब लैण्ड संसद सभी कुछ बन चुके थे। यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों साधनाओं की संतुलित शिक्षणशाला बन चुकी थी। किन्तु उनकी इन दो दशाब्दियों की तपस्या से लहलहाते इस उद्यान को बीस सेकंड की जर्मन बमबारी ने भूसात कर दिया।

स्वप्न दृष्टा जिम्मी बटरवर्थ ने क्लब लैण्ड के स्वप्न को साकार किया था। उसे सजाया-सँवारा और समृद्ध किया था। जिस क्लब लैण्ड का आरम्भ छह बालकों और पाँच पौण्ड धनराशि से हुआ था वह बीस वर्ष बाद अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था पर युद्ध की भयंकर विभीषिका ने उनके सृजन को नष्ट करके रख दिया था। युद्ध मानवीय बर्बरता का कटु उदाहरण होता है जिसमें मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिक ही नहीं वरन् नागरिकों को भी इस बर्बरता का शिकार होना पड़ता है।

रात्रि में बम वर्षा हुई। प्रातःकाल फ़ादर जिम्मी ने अपने क्लब लैण्ड की दुर्दशा देखी तो वे रो पड़े। इन आँसुओं में जहाँ शोक था, युद्ध के बर्बर विनाश पर जहाँ दुःख था वहीं नव-सृजन का शुभ संकल्प भी था। किसी की छत गिर गयी थी तो किसी की दीवारें धसक गयी थीं। किसी का फर्श उखड़ चुका था तो कोई मलवे का ढेर बन चुकी थी। कल तक जहाँ सब कुछ रमणीक था वहीं आज खण्डहर खड़े विनाश की दुःखद कहानी कह रहे थे।

फ़ादर को उन सैकड़ों किशोरों ने घेर लिया, क्लब लैण्ड जिनकी आशाओं का केन्द्र था। वे यहाँ उपासना, उपाजन, मनोरंजन तथा प्रशिक्षण मार्गदर्शन पाते थे। उन्होंने अपने मार्गदर्शक को रोते देखा तो उनकी भी आँखों से आँसू बह निकले। एक किशोर ने पूछा "फ़ादर हमारे स्वप्नों का क्लब-लैण्ड धराशायी हो गया। अब हम क्या करेंगे?"

"प्यारे बच्चो! हमारे क्लब लैण्ड का भवन ही तो धराशायी हुआ है हमारे संकल्प तो नहीं टूटे हैं, हमारे सपनों का क्लब लैण्ड तो हमारी आँखों में सपना बनकर ज्यों का त्यों विद्यमान है। कल यहाँ भव्य भवन थे, आज यहाँ खण्डहर हैं तो कल फिर यहाँ भव्य भवन बन सकते हैं। यह सब असम्भव नहीं है। हमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिए।" फ़ादर बटरवर्थ ने स्नेहसिक्त स्वर में संकल्पजन्य

दृढ़ता घोलते हुए कहा। उनके ये आशा भरे वचन सुनकर निराशा के बादल छूट गये। वहाँ पर आशा का सूर्य चमकने लगा। अपने छतविहीन चर्च में दैनिक उपासना करके वे अपने-अपने घरों को चले गये। उन्हें आशा बँध गयी थी कि क्लब लैण्ड के संस्थापक तथा संचालक फ़ादर जिम्मी वटरवर्थ उसका पुनर्निर्माण कर सकेंगे।

सौ-सौ पौण्ड के व्यक्तिगत चन्दे से क्लब लैण्ड का पुनर्निर्माण आरम्भ हो गया। रानी मेरी की ओर से भी पर्याप्त सहायता मिली। उसने आधार के पाँच पत्थर अपने पाँच पुत्रों की स्मृति में लगवाये। सहायता तो मिल रही थी पर वह जिस गति से मिल रही थी उसे देखते हुए तो वर्षों बाद यह कार्य पूरा हो सकेगा तब तक जो किशोर क्लब लैण्ड से अपने जीवन निर्माण की आशाएँ लगाए बैठे थे वे तो उस आयु को ही पार कर चुके होंगे। यह व्यथा उन्हें शांतिपूर्वक सोने भी नहीं देती थी।

फ़ादर जिम्मी ने अमेरिका जाकर धन संग्रह करने की सोची। वे अमेरिका गये। जन-सेवा का लक्ष्य रखकर भीख भी माँगी जाय तो वह पुण्य कार्य ही होता है। यह सोचकर उन्होंने अमेरिका में क्लब लैण्ड के पुनर्निर्माण के लिए झोली फैलायी। वहाँ एक ही दाता ऐसा मिला कि उसने उनको इतना देने का वादा किया कि उन्हें और अधिक झोली फैलानी नहीं पड़ी। यह दाता था हालीवुड का प्रसिद्ध हास्य अभिनेता बॉव होप। उसने दो सप्ताह तक प्रिंस आफ वेल्स थियेटर में अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करके ११,५०० पौण्ड की जो धनराशि प्राप्त की वह सारी की सारी क्लब लैण्ड को दे दी। यही नहीं उसने प्रति वर्ष दो सप्ताह तक लन्दन में कार्यक्रम प्रस्तुत करके उपार्जित राशि क्लब लैण्ड को देने की परम्परा ही चला दी और उसे तब तक निभाया जब तक उसकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हुई।

फ़ादर जिम्मी ने अपने ध्येय समर्पित जीवन द्वारा एक आदर्श प्रस्तुत किया है कि जन-कल्याण की योजनाएँ एक अकेला व्यक्ति भी चला सकता है जन-सहयोग के माध्यम से।

निराशा में आशा के सन्देश वाहक— बेन्ने

मेरा बेटा एक दिन बहुत बड़ा आदमी बनेगा बहन ! तुम नहीं जानती, उसके अध्यापक कहते हैं इसमें कोई दैवी प्रतिभा है। अभी वह पाँचवीं कक्षा में है पर उसे संस्कृत में धारा-प्रवाह बोलने का अभ्यास है, उसने शेक्सपियर का मर्चेण्ट ऑफ बेनिस अभी से कंठस्थ कर लिया है, वह बात-बात में पं. जगन्नाथ के भामिनी विलास के श्लोकों के उदाहरण देता है। क्या यह उसके बड़े बनने के लक्षण नहीं हैं ?

इससे पूर्व की आगन्तुका कुछ अपनी राय व्यक्त करे बालक बेन्ने वहाँ आ गया। समस्या का समाधान उसने स्वयं कर दिया— माँ तुम ठीक कहती हो, मैं एक दिन राम-कृष्ण मिशन का संन्यासी बनूँगा और दुनिया के तमाम पीड़ित मनुष्यों की सेवा करूँगा।

माँ स्तब्ध रह गई क्योंकि उसके मस्तिष्क में बड़प्पन की कल्पना कुछ और ही थी। उसने अपने बेटे के बड़े होने की कल्पना— समृद्धि,

सम्पन्नता, उच्च पद और यश से की थी, मनुष्य सेवा और परोपकार से भी बड़ा बनता है ऐसा उसने सोचा भी न था। इसमें उस बेचारी का दोष ही क्या था। हमारे जीवन की संकीर्णता, हमारे समाज का छिछलापन जब लोगों को ऐसा अनुभव करने का अवसर प्रदान करे तब न। जब तक ऐसे स्वस्थ समाज की स्थापना नहीं होती जिसमें मानवता की सेवा को शीर्ष प्रतिष्ठ मिला तब तक बेचारी स्त्रियाँ ही क्यों पढ़े-लिखे लोगों में भी यदि बड़प्पन का यही मापदण्ड हो तो उसमें आश्चर्य क्या ?

अल्पायु से ही जीवन जैसी बहुमूल्य वस्तु को सेवा जैसी महान् साधना से जोड़ने का स्वप्न देखने वाला यह विद्यार्थी एक दिन कन्नड़ भाषियों की जिज्ञा पर उसी तरह छा गया जिस तरह उत्तर भारतवर्ष में लोग तुलसीदास को जानते हैं। जानवर चराने वालों से लेकर आचार्यों तक को आशा और सन्तोष-सेवा और सदाचार की प्रेरणा देने वाले इस कवि का अपना जीवन तो एक तपस्या ही रहा है इसलिये उसे लोग अभी भी उतने ही प्यार से स्मरण करते हैं जैसे कोई माँ अपने छोटे शिशु को करती है।

बेन्ने का पूरा नाम द. रा. बेन्ने था पर साहित्यिक क्षेत्र में उनको 'अम्बिका तनय दत्त' के नाम से जाना जाता है। उनका जन्म पाखाड़ नगर के एक साधारण परिवार में हुआ था। नगुंद (गुलबर्गा) और फर्ग्युसन कॉलेज पूना से उन्होंने बी.ए. तक का शिक्षण पूरा किया। पिता यद्यपि आर्थिक दृष्टि से कमजोर थे तथापि उनकी यह मान्यता थी कि बच्चे के लिये धन न छोड़े पर उसे शिक्षित और संस्कारित करने में कोई भी कसर नहीं छोड़नी चाहिये। शिक्षा और संस्कारों के अभाव में बड़े होने वाले बच्चे पाई हुई कमाई को अपने पतन का ही कारण बनाते हैं और समाज के लिये भी सिरदर्द बनते हैं, अपनी इस आदर्शवादिता से प्रेरित होकर उन्होंने बच्चे को उच्च शिक्षा दिलाई किन्तु बेन्ने अभी ग्यारह वर्ष के ही थे कि उनका निधन हो गया और इसीलिये बी.ए. पास करने के तुरन्त बाद बेन्ने को यह सोचना आवश्यक हो गया कि अब आगे जीवन किस प्रकार बिताना चाहिए।

संसार के मनुष्यों को दो श्रेणियों में विभक्त करें तो एक वह होते हैं जो काल के प्रवाह में जैसा कुछ सामने आया उसी में बहते चले गये, एक वह जो जीवन निर्धारित तरीके से समझ-बूझकर जीते हैं। दूसरी प्रकार के मनुष्य भले ही अपनी सांसारिक स्थिति मजबूत न बना पाते हों पर संसार को विचार, ज्ञान, प्रकाश और मार्गदर्शन ऐसे लोगों ने ही दिया है। जो अपने जीवन का आकार-प्रकार भी निश्चित नहीं कर सकते वे परिस्थितियों के थपेड़ों से अपनी ही सुरक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते, समाज को कुछ देना तो उनसे हो भी कैसे सकता है।

बेन्ने की कल्पना संन्यासी बनकर धार्मिक सेवा करने की थी। वे संसार को ज्ञान का, मानवता का सन्देश देना चाहते थे पर जब उन्होंने अपने परिवार को पिता के निधन के कारण असहाय पाया तो उन्होंने अपना दृष्टिकोण बदला और विचार करने लगे क्या मनुष्य अपने सीमित क्षेत्र से ही सेवा का तथ्य पूरा नहीं कर सकता, क्या अपने आपको पीड़ाओं से अलग रखकर ही पीड़ितों की सेवा की जाती

है ? दोनों प्रश्नों का जो उत्तर उन्होंने खोजा वह यह था कि मनुष्य उन परिस्थितियों में स्वयं भी बना रहे जिससे पीड़ितों की सेवा को जाग्रत प्रेरणा मिलती है। बस इस निष्कर्ष पर पहुँचते ही उन्होंने वर्षों से संचित अभिलाषा का परित्याग कर दिया और एक स्कूल में अध्यापक हो गये।

अध्यापक होकर उन्होंने जाना— समाज की सबसे अच्छी सेवा तो उसे अच्छे विचार देकर ही की जा सकती है। इसलिए अपने व्यवसाय के प्रति उन्हें सहज ही प्रेम हो गया पर उन्हें इस बात का दुःख हुआ कि वर्तमान शिक्षा पद्धति से अक्षर ज्ञान का उद्देश्य तो पूरा होता है पर मनुष्य शरीर ही नहीं दर्शन भी है, मनुष्य, कर्म ही नहीं धर्म भी है, मनुष्य की आयु ६० और १०० वर्ष ही नहीं, वह उस गहराई से निकला है जिसकी आयु सीमा कभी निर्धारित नहीं की जा सकती। जीवन की उन गहराइयों को पाठ्यक्रम में प्रवेश किये बिना शिक्षा अधूरी है इसलिये अध्यापन में पूर्ण रुचि रखते हुये भी उससे उनका मन न भरता था। उनकी इच्छा ऐसे शिक्षण के विकास की थी जो मनुष्य को बुद्धिवादी ही नहीं हृदय और आत्मदर्शी भी बना सकती हो पर दुर्भाग्य कि न तो तब ऐसी परिस्थितियाँ थीं और न ही उनके पास साधन। भारतवर्ष ब्रिटानिया दासता के चंगुल में था और वे जिस स्कूल में पढ़ाते थे वह भी उसी का अंग था।

इस बीच उन्होंने मानवीय स्वच्छन्दता के नाम पर शासक और प्रजा के बीच की खाई को देखा, इस बीच उन्होंने समृद्धि और निर्धनता के बीच खड़ी हुई दम्भ की दीवार देखी, इस बीच उन्होंने धार्मिकता के अभाव में पाप पंक में जलते हुए सामाजिक जीवन को देखा। वह स्वयं भी एक मनुष्य थे और उस नाते उन्होंने वह सांसारिक कष्ट भी देखे जो संसार में आकर प्रत्येक प्राणी को देखने पड़ते हैं। दो बेटे और दो बेटियों का निधन उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। माता और पिता के शव तभी फूँक चुके थे जब वह छोटे ही थे। छोटा भाई आनन्द भी उन्हीं के हाथों श्मशान घाट तक गया था, १९४४ का वह दिन जब वह कक्षा में पढ़ रहे थे एक सम्बन्धी आये और उनके हाथ में एक पर्चा दिया। पर्चा पढ़कर भी उस मूर्तिवत तपस्वी की मुख-मुद्रा और वाणी में कोई कम्पन न था। जब कक्षा समाप्त हुई तब लोगों को पता चला कि आज बेन्ट्रे के २० वर्षीय युवक पुत्र का देहावसान हो गया है उसे क्या बेन्ट्रे भूल सके होंगे, पर उन्होंने एक सहज मुस्कराने के साथ कहा— यह तो जीवन के स्वाभाविक नियम हैं, हमें उनसे विचलित न होकर निरन्तर समाज की सेवा में जुटे रहना चाहिये। जिससे आने वाली पीढ़ी यथार्थ मुक्ति और स्वाधीनता, जीवन और सक्रियता का आनन्द उपभोग कर सके। इस प्रकार के चिन्तन और इस तरह की परिस्थितियों से उनका हृदय समाज और पीड़ित मानवता के लिये द्रवित हो होता गया और वह वेदना एक दिन उनकी लेखनी से प्रवाहित हो ही उठी। वाणी से सेवा का कार्य उन्हें व्यावसायिक रूप में ही मिल गया था अब अपने ज्ञान, अपनी साधना और जीवन सम्बन्धी अनुभवों का लाभ वे काव्य रूप में जन-जन तक पहुँचाने लगे।

सत्य की आत्मा बड़ी सुन्दर है। उसे व्यक्त करने और लोक-प्रतिष्ठा दिलाने के लिये बनावट की आवश्यकता नहीं होती। बेन्ट्रे की आत्मा से सत्य फूट रहा था इसलिये उसका स्वाद हर एक को मधुर लगा। उनके गीतों में भाषायी जटिलता नहीं, सीधे-सादे जीवन का प्रवाह था। कविता तो क्या कहेँ जन-गायन लिखते थे वे, उनमें वह प्रवाह और मधुरता होती थी कि चरवाहे ढोर चराते समय भी वही आनन्द पाते उन गीतों को गाकर जो विद्वान् अध्यापक कक्षाओं में गाते हुये पाते।

भलाई के रास्ते को भगवान् ने, कहते हैं, कंटों से सजाया है। यह भी कहते हैं कि यदि ऐसा न करता तो उसे अपने जन को पहचानने में कठिनाता होती है। भगवान् उन्हें प्यार करता है जो कंटकवर्षीय पथ पर चलकर भी मानवीय आदर्शों को पीठ नहीं दिखाता। अपनी इस परीक्षा से तो उसने हरिश्चन्द्र और नारद को भी नहीं छोड़ा, बेन्ट्रे तो उनके बहुत बाद में हुये थे। अभी उनका कविता संग्रह 'गरि' प्रकाशित ही हुआ था कि अंग्रेज कलक्टर के हाथ एक प्रति पड़ गई। उसमें उसे बगावत की गन्ध आती दिखाई दी फलस्वरूप वह पुस्तक भी जब्त हो गई, नौकरी भी छूट गई और उन्हें करावास भी भुगतना पड़ा। तो भी वे अपने पथ से विचलित नहीं हुये। उन्होंने निराश भारतीय जनता को संघर्ष और पौराणिक भविष्य की उज्ज्वल आशा का संदेश देना बंद नहीं किया। उनके गीतों में जहाँ जीवन की नश्वरता और मुक्ति की गाथाएँ गुंजती थीं वहीं उनकी प्राप्ति के लिये पौरुष की ध्वनि भी प्रस्फुटित होती थी। मोहित अर्जुन को वीरोचित कर्म करने की जैसी आज्ञा भगवान् कृष्ण ने दी थी बेन्ट्रे ने भी वैसी तपश्चर्या, धैर्य, सहिष्णुता, साहस और जीवन मुक्ति का पाठ भारतीयों को पढ़ाया। 'मेरा गीत' (नन्न हाडु) में उन्होंने अपने पाठक को बताया— रस ही जीवन है और उससे विमुखता ही मृत्यु। इन दोनों के बीच रहकर भी जो दुःखी नहीं होता वही जीवन सच्चा है। इन पंक्तियों में उन्होंने सम्पूर्ण कर्मयोग को निचोड़कर रख दिया।

बेन्ट्रे ने अपना जीवन अपने आदर्शों की सीमा में ही बिताया। भारतीयों की यही तो विशेषता रही है कि वे सत्य-सिद्धान्तों का समर्थन कठिन परीक्षाओं में भी उसी तरह करते रहे हैं जिस तरह सुख की घड़ियों में। जब तक सुख मिले या सम्मान मिले तब तक भगवान् और समाज को प्यार करने की पद्धति पारश्चात्य है, भारतीय जीवन का आदर्श तो वह शिवत्व है जो विष पीकर भी भगवान् को गले से लगाये रहता है। बेन्ट्रे जेल से छूटे तब उन्हें कमीज सिलवाने के लिये अपने मित्र मास्ति वेंकटेश अय्यंगर से एक रुपया उधार लेना पड़ा पर इतने पर भी उन्होंने समाज से घृणा नहीं की। यह तो परिस्थितियाँ हैं चलती ही रहती हैं बच्चा दूध पीते-पीते माँ के स्तनों को काट भी खाता है क्या उतने से माँ अपने बालक से विद्रोह कर देती है। अपने इसी भारतीय आदर्श के कारण बेन्ट्रे की आत्मा महानता के लक्ष्य पर उठती ही गई। सम्भवतः रामकृष्ण मिशन का संन्यासी हो जाने पर उन्हें यह शान्ति, वह प्रसन्नता, वर्चस्व और यश भी— न मिलता जो उन्होंने अपने कर्मयोग की साधना द्वारा अर्जित किया। उन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी, कन्नड़ और मराठी भाषा के माध्यम से विश्व

को जो ज्ञान प्रेरणाएँ और प्रकाश दिया उसे देखकर आज भी कन्नड भाषी विद्वान् कहा करते हैं बेन्ने जी तो संन्यासी थे। वेश से भले ही वे गृहस्थ रहे हों पर उनकी जीवन साधना संन्यासियों जैसी ही थी।

धर्म पर आस्था रखने वाले, दया न छोड़ने वाले—महात्मा रिचे

नावेल्ड (अलवानिया) का एक छोटा देहाती गाँव है जहाँ अधिकांश कृषक रहते हैं। वहाँ की परम्परा और स्थिति ऐसी है जिससे वहाँ अधिकांश व्यक्ति माँसाहार को स्वाभाविक भोजन मानते और प्रयोग करते हैं।

ऐसे ही एक कृषक परिवार का छोटा बालक न्यूनरिचे पास के मिशन स्कूल में भर्ती हुआ। स्कूल में सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त एक घंटा धर्म-शिक्षा का भी होता था। ठर्रा मुद्दतों से चल रहा था। पादरी बाइबिल पढ़ाते और लड़के उसे पढ़ते। ऊँचे आदर्शों की चर्चा होती, ईसाई धर्म का गौरव बताया जाता, पर था वह सब धर्म-शिक्षण—जानकारी की आवश्यकता पूरी करने तक ही सीमित।

एक दिन धर्म-शिक्षा के घण्टे में पादरी प्रभु यीशु की सहृदयता और शिक्षा की विवेचना कर रहे थे। वे बता रहे थे—“यीशु ने दया और करुणा की सरिता बहाई और अपने अनुयायियों को हर प्राणी के साथ दया का सहृदय व्यवहार करने का उपदेश दिया। सच्चे ईसाई को ऐसा ही दयावान होना चाहिये।”

यह सब पढ़ा-पढ़ाया एक लकीर पीटने के लिये पढ़ाया जाता था। पर बालक रिचे ने उसे गम्भीर रूप से लिया। वह कई दिन तक लगातार यह सोचता रहा—क्या हम सच्चे ईसाई नहीं हैं? क्या हम प्रभु यीशु के उपदेशों को कहते-सुनते भर ही हैं? उन्हें अपनाते क्यों नहीं? उन पर चलते क्यों नहीं?

बालक ने कई दिन तक अपने घर में माँस के लिये छोटे जानवरों और पक्षियों का वध होते देखा था। उनके कष्ट और उत्पीड़न को भी आँखों में आँसू भरकर देखा था। कोमल भावना वाले बालक ने एक दिन इस दृश्य को देखकर तड़पते हुए प्राणी के साथ अपनी आत्मीयता जोड़ी तो उसे लगा जैसे उसी को काटा—उधेड़ा जा रहा है। बेचारा घर से बाहर चला गया और सुबक-सुबक कर घण्टों रोता रहा।

तब वह इतना छोटा था कि अपने मनोभाव घर के लोगों पर ठीक तरह प्रकट नहीं कर सकता था, पर आज वह बड़ा हो चला था, लगभग दस साल का। अपनी संवेदनाओं को प्रकट करने लायक शब्द उसके हाथ आ गये थे। अपनी वेदना उसने दूसरे दिन शिक्षक पादरी के सामने रखी—और पूछा, क्या माँस के लिये पशु-पक्षियों की हत्या करना ईसाई धर्म के और प्रभु यीशु की शिक्षाओं के अनुरूप है?

पादरी स्वयं माँस खाते थे। वहाँ घर-घर में, माँस खाया जाता था। इसलिये वे कुछ स्पष्ट बात न कह सके। अगर-मगर के साथ

दया के प्रतिपादन और माँसाहार के समर्थन की बात कहने लगे। आत्म-शिक्षित बालक के गले सुशिक्षित पादरी की लम्बी-चौड़ी व्याख्या तनिक भी न उतरी। उसे लगा वह बहक़या जा रहा है। यदि दया, धर्म का अंग है, तो उसे धर्मात्मा लोग हर प्राणी के लिये प्रयोग क्यों न करें? धर्म यदि वास्तविक है तो उसे व्यवहार में क्यों न उतारें?

बालक रिचे ने निश्चय किया कि वह सच्चा ईसाई बनेगा, प्रभु यीशु का सच्चा अनुयायी। उसने माँस न खाने का निश्चय कर लिया। सामने भोजन आया तो उसने माँस की कटोरी दूर हटा दी। कारण पूछा गया तो उसने यही कहा—“यदि हम धर्म पर आस्था रखते हैं तो हमें उसकी शिक्षाओं को व्यवहार में भी लाना चाहिये। हत्यारे और रक्त-पिपासु लोग धर्मात्मा नहीं हो सकते।” घर के लोगों ने माँस न खाने से शरीर कमजोर हो जाने की दलील दी तो उसने पूछा—क्या शारीरिक कमजोरी आत्मिक पतन से अधिक घृणित है? घर-वालों का समझाना-बुझाना बेकार चला गया, उसने माँस खाना छोड़ा सो छोड़ ही दिया।

ईसाई धर्म और यीशु की दया, शिक्षा का प्रसंग जहाँ भी चलता तब रिचे रूठे कण्ठ और डबडबाई आँखों से यही पूछता—क्या पेट को बूचड़खाना बनाये रहने वालों को धर्म और परमेश्वर की चर्चा करने का अधिकार है? लोगों के तर्क कुण्ठित हो जाते और सच्चाई के आगे सिर नीचा हो जाता।

बालक रिचे जब भी माँस की प्राप्ति के लिये होने वाले उत्पीड़न पर विचार करता तभी उसकी आत्मा रो पड़ती, उसकी इस मनोदशा से उसकी माँ प्रभावित हुई, फिर दोनों बड़ी बहिनें। तीनों ने माँस छोड़ा। भावनाओं का मोड़ अशुभ या शुभ की दिशा में जिधर भी मुड़ चले उधर बढ़ता ही जाता है। उस सारे परिवार ने माँस खाना छोड़ दिया। यह हवा आगे बढ़ी। पड़ोस और परिचय क्षेत्रों में यह विचार जड़ जमाने लगा कि सच्चे धर्मात्मा को दयालु ही होना चाहिये? जो दयालु होगा वह माँसाहार कर कैसे सकेगा?

रिचे बड़े होकर पादरी बने। उन्होंने घर-घर घूमकर सच्ची धार्मिकता का प्रचार किया और माँसाहार से विरति उत्पन्न कराई। “दयालु धर्म-प्रेमियों की संस्था” नामक संगठन ने अलवानिया में अनेकों धर्म-प्रचारकों तथा प्रचार सामग्री के माध्यम से जो लोकशिक्षण किया उससे प्रभावित होकर लाखों व्यक्तियों ने माँसाहार छोड़ा और धार्मिकता अपनाई। कट्टर कम्युनिस्टों के हाथ में जाने से रिचे के सत्प्रयत्नों को धार्मिक क्षेत्रों में सच्चे मन से सराहा जाता रहा है।

धर्मशिक्षा को व्यावहारिक रूप देने वाले—श्री राबर्ट

१७८० की एक धुंध भरी सन्ध्या। ग्लाउसटर नगर की एक गन्दी बस्ती में एक सम्पन्न व्यक्ति जा रहा था। उसका नौकर उसके

आगे-आगे अपने स्वामी का पथ-प्रदर्शन करने के लिए लालटेन हाथ में लिये हुए चल रहा था।

इस गन्दी कीचड़ भरी बस्ती के बालक अपने इस क्षेत्र में एक सम्पन्न व्यक्ति को जाते देखकर उस पर व्यंग्य कस रहे थे। एक ने तो उस पर कीचड़ ही उछाल दिया जो उसके कपड़ों पर आ लगा था। वह इन उच्छृंखल लड़कों के मुँह लगना नहीं चाहता था, किन्तु उनका यह व्यवहार उसे बहुत अभद्र लगा था।

उसे इस प्रकार शान्त देखकर लड़कों ने उसको और भी परेशान करना आरम्भ कर दिया। विवश होकर उसे एक टूटे-फूटे मकान के दरवाजे में घुसकर शरण लेनी पड़ी।

इस जीर्ण-शीर्ण घर की मालकिन एक रोगिणी वृद्धा थी जो अपने जीवन के दिन किसी तरह कट रही थी। इस सम्पन्न व्यक्ति ने उस वृद्धा से इन बच्चों के इस व्यवहार का कारण पूछा— “क्या इन बालकों के माता-पिता इन्हें शिष्टाचार नहीं सिखाते। वे अपने बच्चों की ये गन्दी हरकतें किस तरह सहते होंगे ?”

वृद्धा ने उसके प्रश्न का उत्तर दिया — “यह लोग इस प्रकार का हुड़दंग न करें तो क्या करें। इनके माता-पिता न तो इतने समझदार ही हैं कि वे इन्हें कुछ समझा सकें न इतने चरित्रवान ही हैं कि वे इन्हें उपदेश देने की क्षमता उत्पन्न कर सकें। वे सब अपने शराब, जुये तथा अन्य अशोभनीय कामों में लगे होंगे। इन बच्चों का भी क्या दोष इन्हें छह वर्ष की आयु में ही बारह-बारह घण्टे काम करना पड़ता है। इसके पश्चात् इस खाली समय में उनके लिये न तो कोई पढ़ने का इन्तजाम है, न खेलने का ही, न मनोरंजन का। इसलिये इस समय ये लोग इसी प्रकार हुड़दंग किया करते हैं। हर किसी राह चलते को गाली दे देना ही इनके लिए मनोरंजन।”

यह धनीमानी व्यक्ति जिसका नाम रॉबर्ट रेक्स था इन बालकों के विषय में चिन्तन करने लगा। ग्लाउसस्टर के एक प्रमुख पत्र के सम्पादक तथा मुद्रक के नाते वह इस प्रकार के लाखों बालकों की समस्या से अनभिज्ञ नहीं था। आज उसको अपनी आँखों से देख भी चुका था तथा उस वृद्धा के मुँह से उसका कारण भी सुन चुका था।

उसने अपने आप से पूछा— समाज के सदस्य के नाते मेरा इन लोगों के प्रति कोई दायित्व है या नहीं। उत्तर सकारात्मक ही मिला। तो मुझे इस दिशा में — इन भावी नागरिकों के लिये कुछ न कुछ करना चाहिये। वह जानता था कि मनुष्य बुरा नहीं होता। वह इस प्रकार की परिस्थितियों में पड़कर बुरा बन जाता है। ये किशोर वर्तमान में जैसा दिशाहीन जीवन जी रहे हैं। उसका परिणाम यह होगा कि ये समाज में अनैतिकता तथा अव्यवस्था फैलाने के माध्यम बनेंगे। इन्हें अभी सही दिशा दी जाय तो ये अपना जीवन तो सुधारेंगे ही साथ-साथ समाज की समृद्धि तथा सुव्यवस्था में योगदान भी देंगे।

राबर्ट ने निश्चय कर लिया कि वह जितना उससे बन पड़ेगा उतना इन बच्चों को सुधारने का प्रयास करेगा। आरम्भ में लोग उसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं किन्तु यदि वह अपने ध्येय पर डटा रहा तो

उसे जन-सहयोग की कमी नहीं रहेगी। यदि जन-सहयोग न मिला तो भी वह इस पुण्य पथ पर चलकर स्वयं तो कृत-कृत्य हो ही जायगा।

इस दृढ़ निश्चय का शुभ परिणाम यह हुआ कि दूसरे ही रविवार को वह उस गन्दी बस्ती में जा पहुँचा जहाँ के बच्चों ने उसका कीचड़ तथा गालियों से स्वागत किया था।

रविवार के दिन सभी फैक्ट्रियों तथा कारखानों में साप्ताहिक अवकाश रहता था। इस कारण बच्चे दिन भर घर पर ही रहते थे। आज तो उनकी शैतानियाँ चरम सीमा पर थीं। कुछ ने मिल कर एक मकान की खिड़की तोड़ दी थी तथा मकान मालिक से उलझ रहे थे।

राबर्ट ने उन्हें अपने ही जैसा मनुष्य मानकर उन्हें आत्मीयता पूर्वक समझाया कि रविवार को वे लोग उसके साथ गिरजाघर चला करें या यहाँ किसी गिरजाघर के पादरी या स्कूल के अध्यापक का प्रवचन रखा जाये तो कितना अच्छा रहे। यह खिड़की तोड़ने जैसे खेल जो आप लोग खेलते हैं उसमें किसी की हानि होती है। इससे अच्छे खेलों का भी इन्तजाम हो सकता है।

लड़के इस भद्र पुरुष की बात को एक मजाक ही मान रहे थे। आज तक वे अपने को इस प्रकार के लोगों से भिन्न ही समझते आये थे। उनके जीवन का इनके जीवन से कोई तालमेल नहीं था। इनके बच्चे स्कूल तथा कॉलेजों में पढ़ते रहते हैं तब तक तो इन गन्दी बस्तियों में उपजने वाले ये बच्चे कई बार जेलों की सैर कर आये होते हैं। कई तो खतरनाक अपराधी तथा उठाईगीर बन चुके होते हैं।

इनमें से अधिकांश ने तो राबर्ट के कथन के अनुसार काम करने से मना कर दिया फिर भी बीस लड़के दूसरे रविवार को उसके साथ चर्च चलने को तैयार हो गये।

चर्च के उपदेशों की सहायता प्राप्त किये बिना राबर्ट का प्रयोजन पूरा होने वाला नहीं था। वह इन लड़कों से निपट कर चर्च के उपदेशकों से मिला। उसकी भावनाओं की प्रशंसा तो सभी ने की किन्तु पूर्वाग्रहों से ग्रस्त ये पादरी उसको सहयोग देने के लिए तत्पर नहीं हुए। बहुत प्रयास करने पर एक सहृदय उपदेशिका श्रीमती किंग इस शुभ कार्य में राबर्ट का सहयोग देने के लिए तत्पर हो सकीं।

दूसरे रविवार को ये दोनों व्यक्ति लड़के ही उस बस्ती में जा पहुँचे। ये लोग अपने साथ साबुन, तेल, कंधी आदि लेते गये थे। इन मैले कुचैले बालकों को उन्होंने स्नान कराया, उनके कपड़े धोकर पहनाये तथा उन्हें सभ्य व्यक्ति जैसा बनाकर गिरजाघर ले गये। वहाँ उन्हें शिक्षाप्रद कहानियाँ कही गईं, खेल खिलाये गये, मिठाइयाँ बाँटी गईं साथ ही एक-एक पेनी भेंट में दी गई। इस दिन बारह बच्चों ने इस प्रशिक्षण में भाग लिया।

मनुष्य में सभ्य तरीके से रहने की लालसा जन्म-जात होती है। यह रविवार का प्रशिक्षण इन बच्चों के लिये अपर्याप्त नहीं था।

प्रथम दिन बारह बालक आये थे। वे जब चर्च से लौटे तो उन्हें देखकर दूसरों को अपनी भूल का ज्ञान हुआ तथा वे भी अगले रविवार के दिन इस कार्यक्रम में भाग लेने के लिए तैयार हो गये।

बालकों की संख्या बढ़ने लगी। रविवार के दिन राबर्ट अत्यधिक व्यस्त रहता था। उसकी यह व्यस्तता इन बालकों को लेकर ही थी। उसे इन बालकों को उत्तम नागरिक बनाने के प्रयास में जो आनन्द मिलता था वैसा अन्य किसी काम में नहीं मिलता था।

रविवार के दिन चर्च जाने से आरम्भ होकर यह कार्यक्रम रविवार के स्कूल के रूप में परिणित हो गया। सेंट केथेरिन स्ट्रीट चर्च रविवार के दिन नियमित स्कूल लगाने लगा था। बालकों की देखा-देखी अब बालिकाएँ भी जाने लगी थीं।

धार्मिक, नैतिक शिक्षण तथा स्वस्थ मनोरंजन के कारण इन बालकों की कार्य-क्षमता में भी वृद्धि होने लगी। जिन कारखानों में रेक्स की पाठशाला के बालक काम करते थे, उनके व्यवस्थापक इन बच्चों के आचरण तथा कार्य-कुशलता से बहुत प्रभावित हुए।

चर्च के कई मुख्य पादरी इस प्रकार के बच्चों को चर्च में पढ़ाने के विरोधी थे। उन्होंने रेक्स की योजना का जमकर विरोध किया किन्तु वह रेक्स तथा उसके साथियों के सदुद्देश्य तथा कर्म निष्ठा के आगे ठहर नहीं सके।

कई औद्योगिक संस्थानों के संचालकों से भी राबर्ट रेक्स ने इस प्रकार की रविवासीय पाठशालाएँ चलाने का अनुरोध किया। अपना तथा इन बालकों दोनों का हित देखते हुए इन उद्योगपतियों ने रविवासीय पाठशालाएँ चलानी आरम्भ कर दीं।

राबर्ट रेक्स के साथियों तथा सहायकों की संख्या बढ़ने लगी तथा पाठशालाओं की संख्या में भी उसी अनुपात में वृद्धि होने लगी। १७८५ तक केवल पाँच वर्षों में इन पाठशालाओं में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षण पाने के लिए ढाई लाख बालक-बालिकाएँ नियमित रूप से आने लगे थे।

यह सब राबर्ट तथा उसके साथियों की सेवा-साधना तथा लगन के कारण ही सम्भव हो सका था। ऐसे बालक जिनके माता-पिता या तो जेल में थे या वे अनैतिक कामों में लगे हुए थे अथवा गरीबी के शिकंजे में जकड़े हुए कराह रहे थे। उन्हें ढंग के वस्त्र देना, नहलाना, कंभी करना, तेल लगाने के तरीके बताने जैसे सामान्य कार्य के लिए इन्हें रविवार को ही नहीं अन्य दिनों भी घर जा-जाकर सिखाना पड़ता था।

आगे चलकर उसकी यह योजना पूरा तरह सफल ही नहीं हुई वरन् उसे यथेष्ट सम्मान भी मिला। महारानी चारलोट उसके इस मिशन की संरक्षिका बनीं तथा सारे इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड तथा आयरलैण्ड में उसके द्वारा चलायी गयी रविवासीय पाठशालाओं की धूम मच गयी।

इन पाठशालाओं ने बाल श्रम बन्द करने में समुचित योगदान दिया। राबर्ट की मृत्यु सन् १८११ में हुई तब तक ये पाठशालाएँ सप्ताह में छह दिन चलने लगी थीं तथा बच्चों को बारह के स्थान पर चार घण्टे ही फैक्ट्रियों में काम करना पड़ता था शेष समय में वे इन पाठशालाओं में पढ़ते थे।

राबर्ट की यह योजना महान् उद्देश्य का छोट-सा शुभारम्भ कही जाती है। ऐसा सत्साहस सदा ही स्मरणीय तथा अनुकरणीय रहेगा।

सार्त्र की जीवन दर्शन पाठशाला

ज्यां पाल सार्त्र (फ्रांस) संसार के माने हुए दार्शनिक थे। उन्होंने सारा जीवन परमार्थ प्रयोजनों में लगाया। साथ ही जीवन को आनन्द से भरा-पूरा बनाने के लिए उन्होंने अपने अनुभवों का सार संक्षेप भी अनेक लेखों में लिखा है। उनके सामने कठिनाइयाँ भी कम नहीं रहीं। पर एक दिन के लिए भी कभी किसी ने उन्हें खिन्न, उद्विग्न या उदास नहीं देखा। वे परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाते थे और दूसरों को भी वैसी ही शिक्षा देते थे। उनकी शिक्षाओं ने अनेकों के मुरझाये जीवनो में उल्लास भरी किरणें उत्पन्न करने में सफलता पाई।

सार्त्र की एक आँख आरम्भ से ही खराब थी। दूसरी पर अत्यधिक दबाव न डालने के लिए डॉक्टरों ने सलाह दी तो भी वे शिक्षा से वंचित नहीं रहे। पढ़कर सुना देने हेतु उन्होंने अपने घर के लोगों को सहमत कर लिया। इसके उपलक्ष में कृतज्ञता व्यक्त करने और दूसरों के सामने प्रशंसा करने में कभी उन्होंने कोताही न की। कर्कश और रूखा स्वभाव होने पर जो लाभ उठाना उनके लिए कठिन पड़ता वह उन्हें सरलतापूर्वक उपलब्ध होता रहा और उन्होंने अपनी स्मरण शक्ति पर पूरा जोर देकर स्नातकोत्तर परीक्षा अच्छे डिवीजन में पास कर ली एवं अपने काम में जुट गये। लेखन कार्य में भी वे दूसरों की सहायता लेते रहे। साथ ही जीवन दर्शन पर अति महत्वपूर्ण पुस्तकों का सृजन करते रहे। आँखों के अभाव में जो कठिनाई किसी को हो सकती है वे सभी उनके सामने थीं। पर इसके कारण न तो कभी उन्होंने चेहरे पर उदासी आने दी, न निराशा व्यक्त की और न अपना काम रोक। बुढ़ापे में दूसरी आँख ने भी जवाब दे दिया था पर वे इस पर भी सदा यही कहते रहे कि संसार में करोड़ों आँखें मेरी हैं। सहायता करने को इच्छुक और उत्सुक लोगों की कमी नहीं। मात्र हम अपनी कर्कशता के कारण ही उस सहयोग का लाभ नहीं उठा पाते।

सार्त्र सदैव मित्रों से घिरे रहते थे। उपयोगी ज्ञान का आदान-प्रदान क्रम वे सदा ही चलाते रहते। उनके मित्रों में वृद्ध कम थे और युवक अधिक। इसका कारण वे बताते, मैं युवक जो हूँ। फिर अपने साथियों की संख्या अपनी आयु वालों के साथ ही क्यों न बढ़ाऊँ। उन्हें बूढ़ों (मानसिक दृष्टि से) के प्रति चिढ़ थी। कारण कि वे सदा अपने अच्छे भूतकाल का बखान करते रहते हैं और भविष्य को आशंकाओं से भरा अनुभव करते रहते हैं। जबकि बुढ़ापे में मनुष्य का आयुष्य और अनुभव परिपक्व होने के कारण वह अधिक उपयोगी होना चाहिए एवं जो उपयोगी है उसका मस्तिष्क उज्ज्वल होना चाहिए। सार्त्र ने परामर्श के लिए कई घण्टों का समय निर्धारित कर रखा था। उसमें वे उन्हीं प्रसंगों को छेड़ते थे जिसमें कठिनाइयों के बीच प्रसन्नता से रह सकना और सफलता के मार्ग पर चल सकना सम्भव हुआ हो। ऐसे घटनाक्रमों के लिए उनकी स्मृति एक विश्व-कोष मानी जाती थी। जो भी परामर्श वे देते थे उनकी पीछे सिद्धान्त की विवेचना थोड़ी और घटना-क्रमों की लड़ी बहुत लम्बी होती थी।

उदाहरणों के माध्यम से वे यह गले उतारते थे कि साधन सम्पन्न व्यक्ति किस प्रकार अपनी क्षमताओं को सत्रयोजनों में लगाकर अपने क्षेत्र में प्रशंसा के पात्र बनें। साथ ही उन्हें ऐसी घटनाओं की स्मृति भी कम नहीं थी जिनमें कठिनाइयों से घिरे हुए लोगों ने अपने धैर्य, साहस और अनवरत प्रयत्न के आधार पर इतना कुछ कर दिखाया जितना कि साधन-सम्पन्न लोगों के लिए भी सम्भव नहीं थे। मनुष्य का पराक्रम कितना सामर्थ्यवान है और किसी को भी किस प्रकार आगे बढ़ाने तथा ऊँचा उठाने में कारगर हो सकता है, इसके रहस्य वे इतने अच्छे ढंग से समझते थे कि किसी को उस परामर्श प्रतिपादन में सन्देह न रह जाता था। उनकी मित्र मण्डली में से एक भी ऐसा नहीं था जो अपने को अनेकों के लिए अनुकरणीय न बना सका हो। एक मित्र दूसरे अनेक मित्रों को साथ लेकर आता था। इस प्रकार उनकी नियत समय पर चलने वाली वार्ता एक प्रकार से जीवन दर्शन की पाठशाला बन गई थी। सुकरात भी ऐसी ही शिक्षा विधि के लिए विख्यात थे। सार्त्र को सुकरात का बीसवीं सदी संस्करण माना जा सकता है।

यशस्वी गुलाम—ईसप महान

संसार की लगभग सभी सभ्य भाषाओं में ईसप की कहानियाँ पाई जाती हैं और उनका उपयोग बच्चों को शिक्षा देने में किया जाता है।

ईसप कोई व्यवसायी लेखक नहीं था और न वह प्रचार, धन अथवा यश के लिये कथायें लिखता। वह ऐसा कर भी कैसे सकता था। वह बेचारा तो एक गुलाम था। ऐसा गुलाम जो जानवरों की तरह बेचा और खरीदा जा सकता था। यह यूनान में ही किसी परम्परागत गुलाम के घर पैदा हुआ था, उसी स्थिति में बढ़ा और काम करने लायक होते ही उसके माँ-बाप के स्वामी ने उसके दाम खड़े कर लिये थे। वह बाजार में बेच दिया गया और तब से न जाने कितनी बार बाजारों में उसकी बोली लगाई जा चुकी थी। ईसप बहुत ही कुरूप और दुबला-पतला भी था। इसलिये कोई स्वामी उसे ज्यादा दिन अपने पास न रखता था। कुछ दिन काम लेकर बेच दिया करता था। ऐसी दशा में पढ़ना-लिखना उसके भाग्य में कहाँ से हो सकता था।

ईसप ने अपनी इस शीघ्र-शीघ्र तब्दीली का लाभ अनुभव के रूप में उठाया। उन्हीं अनुभवों को उसने कहानियों के रूप में बदल दिया था। अनुभवजन्य होने के कारण ईसप की कहानियाँ बड़ी मार्मिक, यथार्थ तथा शिक्षाप्रद होती थीं। वह उनमें पशु-पक्षियों का समन्वय करके बड़ी ही रोचक तथा मनोरंजन भी बना लेता था। वह अपनी कहानियाँ अधिकतर बच्चों को ही सुनाया करता था और जब-तब स्वामियों के बच्चे उसे कहानी सुनने के लोभ से घेरे ही रहते थे।

ईसप ने सैकड़ों कहानियाँ गढ़ीं, बच्चों को सुनाई जो कि बच्चों द्वारा बड़ों के पास और बड़ों के मुख से समाज में पहुँच कर यूनान भर में फैल गईं। फिर उसके बाद तो ईसप की कहानियाँ अपनी शिक्षण विशेषता के कारण सारे संसार में ही जा पहुँचीं, जिन्होंने ईसप को

बड़ा ही लोकप्रिय तथा जन-परिचित बना दिया। दूर-दूर से चल कर जन-साधारण, शिक्षित तथा विद्वान् उसके पास आने और कहानियाँ ले जाने लगे। ईसप की प्रतिभा और उसके उचित प्रयोग ने उसे न केवल एक प्रतिष्ठित गुलाम ही बना दिया बल्कि मुक्त करा कर ऊँचे पद पर पहुँचा दिया।

यूनान के राज-दरबार में एक बार एक जटिल प्रश्न आ पड़ा। कोई भी दरबारी उसका उत्तर न दे सका। राजा ने ईसप की बुद्धिमत्ता के विषय में सुन रखा था। उसने उसकी परख करने का यह अच्छा अवसर समझा। दूत भेजकर ईसप को दरबार में बुलाया गया। दरबारी लोग उसका फटा-पुराना वेश और कुरूपता देखकर हँस पड़े और उसका उपहास उड़ाने पर आ गये। लेकिन राजा ने सबको शान्त कर ईसप के सम्मुख प्रश्न रखा और उत्तर माँगा। ईसप ने कुछ देर विचार किया और उसके बाद ऐसा उपयुक्त उत्तर दिया कि दरबारियों को अपनी पूर्व भूल पर लज्जित होना पड़ा। राजा बेहद प्रसन्न हुआ। उसने ईसप को दासता से मुक्त करा कर अपना सभासद बना लिया। किन्तु ईसप का यही सम्मान अन्य सभासदों की ईर्ष्या के कारण उसके प्राणों का ग्राहक बन गया।

ईसप अन्य गुलामों की तरह अपनी स्थिति पर रोते रहने वाला गुलाम नहीं था। उसने अपने को बड़ा ही सामंजस्यपूर्ण तथा शिष्ट बना लिया था। वह गुलाम होकर भी स्वामियों को अपनी सभ्यता और शालीनता का परिचय देता रहता था। जो भी काम करता था पूरी दक्षता, मनोयोग के साथ अपना समझ कर करता था। उसने किसी प्रकार भी अपनी स्थिति पर असंतोष प्रकट नहीं किया। वह सदैव संतुष्ट तथा प्रसन्न ही रहा करता था। प्रतिकूलतायें कब तक गुणी को छिपायें रख सकती हैं या कब तक उसका मार्ग रोक सकती हैं? गुणों ने ईसप की गरिमा बढ़ाई और समय की संस्था में उसका मूल्यांकन हुआ। उसे एक मालिक मिला जिसके पास रह कर वह और अधिक प्रगति एवं विकास कर सका।

एक स्वामी दो अन्य दासों के साथ ईसप को बाजार में बेचने के लिये लाया। ईसप तो कुरूप और क्षीणकाय था ही, दूसरे दोनों दास भी बड़े ढीठ और क्रमचोर मालूम होते थे। बाजार के सारे दास बिक गये लेकिन इन तीनों को किसी ने नहीं पूछा। मालिक बड़ा परेशान था। वह उन्हें बेचना ही चाहता था। उसने उनका मूल्य भी घटा दिया। एक वृद्ध दार्शनिक सस्ते माल की खोज में आया और उसने भाव-ताव करके दासों की योग्यता परखने के लिये प्रश्न किया—“तुम लोग क्या काम कर सकते हो?”

दो दासों में से एक ने तो रटा उत्तर कि “मैं कुछ भी कर सकता हूँ।” दूसरे ने कहा—“मैं सब कुछ कर सकता हूँ।” अब ईसप का नम्बर आया तो उसने बड़े ढंग से उत्तर दिया—“मालिक! हमारे साथियों में से जब एक कुछ भी कर सकता है और दूसरा सब कुछ कर सकता है तो मेरे करने को रह ही क्या जाता है?”

वह दार्शनिक ग्राहक ईसप का उत्तर सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उसकी प्रतिभा पहचानी और केवल उसी को खरीद कर घर ले आया। मालिक ने ईसप के साथ अभी घर में प्रवेश भी नहीं किया

था कि मालकिन दूर से ही देखकर बरस पड़ी— “क्या बाजार भर से सब दास मर गये थे, जो इस काले कुरूप जानवर को खरीद लाये हो। ले जाकर वापस करो मैं इसे अपने घर में नहीं रखूंगी।”

मालिक ईसप को अलग ले जाकर बोला— “ईसप ! अब इस घर में तुम्हारा रह सकना तुम्हारी इस योग्यता पर निर्भर है कि मालकिन को प्रसन्न कर लो। मैं तुम्हें अपने पास से अलग नहीं करना चाहता।” ईसप ने बड़े आत्मविश्वास से कहा— “मालिक चिन्ता न करें, मेरी सेवाएँ मालकिन को इतना प्रसन्न कर लेगीं कि यदि आप मुझे बेचना भी चाहें तो वे बेचने न देंगीं।”

और हुआ भी यही। मालिक से अधिक मालकिन प्रसन्न रहने लगी। ईसप को बड़ी सुविधायें मिल गईं। यहीं उसने पढ़ना सीखा और यहीं पर अधिकांश कहानियाँ गढ़ीं। यहीं से उसने अपना विकास किया और यहीं से राजसभा में पहुँचा।

राज-दरबार में ईसप की प्रतिष्ठा से सभासद जलने लगे और उन्होंने उसे नीचा दिखलाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। तभी लीडिया के राजा क्रूसस ने यूनान पर चढ़ाई कर दी। आक्रमण की शक्ति अधिक थी। यूनान कमजोर पड़ गया। सन्धि के सिवाय और कोई उपाय न था। प्रस्ताव रखा गया और लीडिया का राजा सन्धि करने को तैयार हो गया, पर यूनान की तरफ से उस विजेता के दरबार में वार्ता करने जाय कौन ? सभी को क्रूसस की ओर से मनमानी शर्तों का डर था। ऐसी दशा में या तो वार्तिक को असफल होना था या फिर राज्य की हानि पर अपने राजा का कोपभाजन बनना था। सभासदों ने ईसप को नीचा दिखलाने का यह अच्छा मौका देखा और राजा को समझाकर ईसप को सन्धि-वार्ता करने के लिये भिजवाया।

ईसप क्रूसस के दरबार में पहुँचा। लेकिन उसने उसका कुरूप चेहरा देखकर घृणा से मुख फेर लिया और बात करने से इन्कार कर दिया। ईसप निराश न हुआ। उसने विनम्रतापूर्वक कहा— “श्रीमान मेरा कुरूप मुख न देखें। लेकिन यों ही मुख फेरे-फेरे मेरी एक कहानी अवश्य सुन लें।” क्रूसस ने जिज्ञासावश स्वीकृति दे दी। ईसप ने एक चिड़िया की बड़ी ही मार्मिक तथा करुणापूर्ण कहानी सुनाई। क्रूसस का हृदय द्रवित हो गया और वह यूनान को स्वतन्त्र करके चला गया।

ईसप की इस सफलता ने उसके सम्मान में चार चाँद लगा दिये। किन्तु ईर्ष्या ने दरबारियों को पिशाच बना दिया था। उन्होंने एक बार ईसप की अनुपस्थिति में राजा की एक बहुमूल्य सुराही उसके बिस्तर में रखवाकर चोरी का अभियोग लगवा दिया और न्यायकर्त्ताओं पर प्रभाव प्रयोग कर उसे मृत्यु-दण्ड दिला दिया।

ईसप को एक पहाड़ की चोटी से गिराकर मार डाला गया। वे नर-पिशाच दरबारी आज संसार में नहीं रहे किन्तु ईसप की महान् कहानियाँ, कीर्ति और सदाशयता के आधार पर अब भी जीवित हैं।

हँसती हँसाती जिन्दगी

महान कहानी लेखक ईसप छोटे बच्चों के साथ खेल रहे थे और उन्हीं की तरह हँसने-चिल्लाने और कुछ बनाने-बिगाड़ने में व्यस्त थे। नगर के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों ने ईसप की इन बालक्रीड़ाओं को देखा

और उनकी महानता का स्मरण दिलाते हुए अपना समय नष्ट करने का कारण पूछा।

ईसप ने उत्तर में खूँटी पर से खुली प्रत्यंचा का धनुष उठाकर दिखाया और कहा यदि इसकी डोरी सदा खिंची रखी जायेगी तो यह समय पर काम देने योग्य न रहेगा। इसी प्रकार यदि मनुष्य सदा गम्भीर और तनावग्रस्त रहे तो वह अपनी विशिष्टताएँ जल्दी ही गँवा बैठेगा। मनुष्य के लिए हँसना-हँसाना भी आवश्यक है।

ईसप की नीति शिक्षा

(१)

पिता के मरने के बाद उसके भोले किन्तु उदार लड़के को खेती का सारा कारोबार सँभालना पड़ा। लड़के ने देखा कि अंगूरों के हरे भरे खेतों के किनारे नागफनी के कँटीले पौधे लगे हुए हैं। लड़के को यह उचित मालूम न हुआ कि अंगूरों के साथ कँटीले पौधे भी रहें, उसने तुरन्त ही सब नागफनी उखड़वाकर फेंक दी। दूसरे दिन से ही जंगली पशु उस खेत में निधड़क आने लगे और एक पखवारा भी न होने पाया था कि सारे खेतों का उजाड़ कर गये। तब लड़के की समझ में आया कि अंगूरों की हिफाजत के लिए नागफनी की भी जरूरत है।

दण्ड की व्यवस्था हुए बिना दुष्टों से रक्षा नहीं हो सकती।

(२)

एक बच्चे ने बिच्छू को जरा-सा छू दिया, इस पर बिच्छू ने उसे डंक मार दिया। बालक रोता हुआ अपनी माता के पास पहुँचा और कहने लगा— देखो माँ, मैंने उस बिच्छू को कुछ भी नुकसान न पहुँचाया था, सिर्फ छू भर दिया था, इस पर ही उसने मुझे डंक मार दिया। माता ने कहा— तुमने उसे छूकर छोड़ दिया, इसीलिए तो उसने काट ही खाया अगर देखते ही उसे मार डालते तो उसे काटने का मौका न मिलता।

दुष्ट को देखते ही उसका मुँह जला देना चाहिए।

(३)

प्यास के मारे घबराया हुआ एक कबूतर इधर-उधर उड़ रहा था। उसने बाजार में एक दुकान पर ठण्डे मीठे शरबत का साइनबोर्ड लगा देखा। उसे विश्वास हो गया कि यहाँ मुझे पानी मिल जायेगा। इसलिए वह उस दुकान पर उतरा। अभी वह तख्ते पर बैठने भी न पाया कि दुकान वाले ने उसे पकड़ लिया और बावर्ची के सुपुर्द कर दिया। निर्बल की कोई सहायता नहीं करता।

(४)

सृष्टि से आदि में जब सब जीव अपना-अपना काम करने लगे तो मधुमक्खियों ने अपने छत्ते में मधु जमा करना आरम्भ किया।

उस मधु को देवता लोग बहुत पसंद करते और नित्य छत्ते को निचोड़ ले जाते। मक्खियों के कार्य से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उनसे कहा— वर माँगो। मधुमक्खियों ने कहा— भगवन् हमें ऐसा डंक दीजिए जिससे मुफ्तखोरों को मजा चखा सकें और अपनी कमाई की रक्षा कर सकें। ब्रह्मा जी ने उन्हें डंक दे दिया।

सीधे आदमी को हर कोई अनुचित रीति से सताता है।

(५)

एक आदमी को कुत्ते ने काट खाया। एक आदमी ने उसे सलाह दी कि अपने घाव के लोहू में भीगी हुई रोटी कुत्तों को खिलाओ तो तुम्हारा घाव अच्छा हो जायेगा। यह उपाय सुनकर वह आदमी हँस पड़ा और बोला— इस उपाय को करने का मतलब है कि काटने वालों की संख्या और बढ़ाऊँ ?

जालिम को रिश्वत देकर अपना छुटकारा करने का अर्थ है कि अपने तथा दूसरों के ऊपर अधिक जुल्म कराने का निमन्त्रण देना।

(६)

जाड़ों के दिनों में एक किसान अपने घर लौट रहा था, रास्ते में उसने देखा कि एक साँप ठण्ड से अकड़ा पड़ा है। किसान को उस पर दया आई वह उसे उठाकर घर ले आया और आग के पास तपाने के लिये रख दिया। जब साँप की ठण्ड छूटी और शरीर में गर्मी आई तो वह किसान के बच्चों को काटने लपका।

किसान ने यह कहते हुए उस साँप का मुँह कुचल डाला कि— दुष्ट के साथ भलमनसाहत करना बेकार है।

दक्षिण के विनोबा कुट्टी जी

स्नायु रोग के तेज आघात से उनके दोनों हाथ खराब हो गए। जिसने सुना वही पीड़ा से कराह उठा। हरेक के मुँह से निकल पड़ा अरे ! अब क्या होगा ? जो हमेशा दूसरों की सेवा के लिए तत्पर रहा करता हो उसे अब स्वयं के भोजन के लिए दूसरों का सहारा तकना पड़ेगा। मित्रों ने पूछा “अब क्या होगा आपकी सेवा का ?” “क्यों ? वह तो चलती रहेगी” उनका जवाब था।

“कैसे ?” सुनने वाले आश्चर्यचकित थे।

“अरे भाई ! हाथ ही तो खराब और बेकार हुए हैं। अभी मेरे पास भावनाओं से लबालव हृदय, सक्रिय, सतेज मस्तिष्क और सुदृढ़ पैर हैं।”

“भला इनसे कैसे करेंगे सेवा ?” “ओह ! शायद आप नहीं जानते आज मनुष्य को दूसरों की शारीरिक सहायता की उतनी जरूरत नहीं जितनी मानसिक सहायता की। शारीरिक सेवा तो सिर्फ बीमारों को चाहिए। ऐसे कितने हैं ? बहुत थोड़े। अधिकांश जनसंख्या जो शरीर से स्वस्थ रहते हुए मानसिक रूप से बेतरह परेशान है। उसकी सहायता तो विचारों से ही हो सकना सम्भव है।”

सुनने वालों को उनकी बात कितनी समझ में आयी पता नहीं। पर उनकी पदयात्रा शुरू हो गई। घर-घर, दरवाजे-दरवाजे पहुँचने लगे। हरेक से मिलते बड़े प्रेम से उसके घर का हाल-चाल पूछते उनकी हैरानी परेशानी मालूम करते और उपयुक्त समाधान सुझाते।

कभी-कभी उनके इस तरह पूछने पर लोगों को अत्यधिक विस्मय होता जिसके स्वयं हाथ नहीं हैं वह हमारी तकलीफें पूछ रहा है। कभी कभार इसे प्रकट भी कर देते। सुनकर वह कहते “मेरे तो हाथ रोग से बरबाद हो गए। पर ऐसे न जाने कितने जो सब कुछ सही सलामत रहते हुए भटक रहे हैं, उन्हें राह नहीं सूझ रही क्या करें ? कैसे करें ? मेरा काम उन्हीं भटकों को राह दिखाना है। उन्हें जीवन का मर्म सुझाना है। यह बात उनके गले उतारनी है कि अभावों का रोना मत रो अभी भी तुम्हारे पास ऐसा कुछ है जिसका उपयोग कर स्वयं निहाल हो सकते हो औरों को निहाल कर सकते हो।”

कर्नाटक के मेलुकीटे नामक स्थान में जन्मे इस अलौकिक लोक-सेवी ने अपने समूचे प्रान्त की तीन बार पदयात्रा की। लोग उन्हें सन्त-समर्थ मानने लगे। उनके बारे में यह बात फैल गई कि वह तमाम तरह की समस्याओं को हँसते-मुस्कराते सुलझा देते हैं। किसी ने पूछा कौन से तप द्वारा आपको यह शक्ति मिली ? सत्साहित्य के अध्ययन से। यही मेरा वह तप है जिसके द्वारा स्वयं शक्ति पाता और औरों को बाँटता हूँ।

उनकी ख्याति को सुनकर तमिलनाडु निवासियों ने अपने यहाँ आने का आग्रह किया। सारा भारत मेरा घर “नीति के मानने वाले वे वहाँ भी पहुँच गए। थोड़े ही प्रयास से तमिल भाषा सीखकर तमिलनाडु से अपनी पदयात्रा शुरू कर दी।”

उनका समूचा जीवन मुखर होकर प्रेरणा देने लगा। वाणी के द्वारा इसे वह मर्मस्पर्शी व सौ गुना अधिक प्रभावशाली बनाने लगे। एक बार तंजौर जिले के एक गाँव में सभा हो रही थी। उन्होंने कहा यदि हम सब एक-दूसरे के दुःख-दर्द में हिस्सा बँटाना सीख जाएँ तो परेशानियों का हौआ खुद ही गायब हो जाए। गाँव में विद्यालय की समस्या थी। इसके निदान के लिए धन इकट्ठा करने की बात आयी। सभा में स्तब्धता छा गई। थोड़ी देर बाद एक अंधा भिखारी तानपुरे को ठीक करते उठा। मंच के पास आया और गाँठ खोलकर पैसे गिनने लगा। कुल एक रुपए के पैसे उसके पास निकले। सबके सब उसने दान में दे दिये। कई दिन की बची हुई कमाई का सारा भाग समर्पित करने वाले भिखारी को देखकर औरों की थैलियाँ खुलीं, समस्या सुलझ गई।

चलते-फिरते समस्याओं का निदान प्रस्तुत करने वाले इस व्यक्ति से विनोबा जी अपनी भूदान यात्रा के समय मिले। नाटे कद के दोनों हाथों से रहित इस व्यक्ति को देखकर उन्होंने कहा वह वामन नहीं विराट हैं जिन्होंने अपने पैरों से पूरे दो प्रान्तों को नाप लिया। विनोबा ने उन्हें चलते-फिरते विश्वविद्यालय का नाम दिया जो हरेक का दरवाजा खटाखटाकर उन्हें जीवन विद्या की सीख देता है। सीख

देने वाले ये व्यक्ति थे पेरुगोर्डे जो अपने नाटे कद के कारण जनजन में कुट्टी जी के नाम से विख्यात हुए। सचमुच वे चलते-फिरते विश्व-विद्यालय थे।

अविनीत: धर्मो रक्षति रक्षितः

‘अविनीत-सुनने वाले की भौंहों पर बल पड़ गए। माथे की रेखाएँ कुछ गहरी हुई। स्वर में कसैलापन झलकता पर अन्य कोई उपाय भी तो नहीं। कुछ बुदबुदाते हुए उसने एक ओर कदम बढ़ाए। शब्द अस्फुट और अस्पष्ट भले हों किन्तु उसके चेहरे से यही लग रहा था जैसे वह कह रहा हो धार्मिकों के इस महानगर में यह अधार्मिक कहाँ से आ गया? पर विवशता थी। उसके बिना किसी का क्रम भी तो नहीं चलता।

उसका यह महानगर अब तो गहरे शोध प्रयत्नों का विषय बन चुका है। लेकिन इस सत्य को भौतिक विज्ञान के भूतत्त्व विशेषज्ञ तथा प्राणिशास्त्र के विशारद एकमत से स्वीकार कर चुके हैं कि पृथ्वी की केन्द्र च्युति से पहले उत्तर दक्षिण दोनों ध्रुव प्रदेशों में मनुष्य सुख पूर्वक रहते थे। इसी दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में एक महाद्वीप था अन्तःकारिक जिसे अब अण्टार्क्टिका कहते हैं। इसी के एक महानगर की बात है यह, जिसे अन्तःसालिक नाम से जाना जाता था।

यों अभी भी इस क्षेत्र में अनेक रहस्य हैं। इनमें से कुछ को आधुनिक अन्वेषकों ने भी स्वीकारा है। जैसे वहाँ प्रत्येक वस्तु में दाहिने घूमने की विचित्र प्रवृत्ति है। आँधियाँ दक्षिणावर्त चलती हैं। वहाँ के पक्षी बायें से दाहिने मण्डलाकार चलते हैं। प्रकृति की यह शक्ति मन पर भी अनेक प्रभाव डालती है। मन बहुत कम बाहरी दृश्यों और कार्यों में रस ले पाता है। स्वभाव से चुपचाप बैठने और अन्तर्मुख होने का जी करता है यहाँ।

जहाँ प्रकृति स्वयं अन्तर्मुख होने में सहायक है, मनुष्य एकग्रता प्राप्त करने के अनेक साधनों को जीवन में उतार ले इसमें आश्चर्य की बात क्या? महाद्वीप के प्रत्येक नगर में बहुत कम कोलाहल था। राहों पर बहुत जरूरी होने पर ही कोई निकलता था। जीवन बहुत सादा और परिग्रह रहित।

कोई कान बन्द किए दोनों कानों में गुटिका लगाए बैठा है। अनहद के माधुर्य के समान जगत के सारे रस उसे फीके लग रहे हैं। कोई जिह्वा का दोहन-छेदन कर उसे कण्ठ छिद्र में दबाए गगन गुफा से झरते रस के आस्वादन में मग्न है। इस स्वभाव का विचित्र परिणाम यह हुआ कि लोगों में बोलने की प्रवृत्ति नहीं रह गई, सुनने के लिए तो जैसे किसी को अवकाश ही न था।

बस पूरे अन्तःसालिक नगर में अगर कोई अपवाद था तो बस अविनीत। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अन्तर्मुखता के प्रयत्नों, उपलब्धियों और अपने धार्मिक होने पर गर्व था। वहीं रहकर उसने कभी अन्तर्मुख होने की कोई चेष्टा नहीं की। किसी के टोकने पर वह हँसकर बोल पड़ता। क्या परमात्मा तुम्हारे इसी हाड़-माँस के पिटारे में कैद है? बाहर की दुनिया में उसका अभाव है क्या? सुनने

वाले का चिढ़ना सहज था। लेकिन सबको उचित सम्मान देता था वह, शायद उनके धार्मिक होने के नाते।

‘मेरा पशु क्रीचड़ में फँस गया है। मैं अकेले उसे नहीं निकाल पाऊँगा। यदि आप चलते।’

वह शायद विनय के कुछ और शब्द कहता तभी कानों में यह नाम पड़ा ‘अविनीत’। मन ही मन झुंझलाकर रह गया लेकिन कहने वाला सहज ढंग से कह रहा था— मेरे सन्ध्याकालीन कृत्य का समय है। नियम को भंग करना असम्भव है। आप उसी को ढूँढ़ लें। अब विवशतावश इस अधार्मिक व्यक्ति से आश्रय लेना ही था।

मैं बीमार हूँ, बच्चा बहुत कष्ट में है। चिकित्सक को बुला देने की कृपा करेंगे आप। एक रोगी पड़ोसी से प्रार्थना करने के अलावा और कर भी क्या सकता है?

‘मैं अर्चन में बैठने जा रहा हूँ। आराधना में व्यतिक्रम अभीष्ट नहीं। आप राह पर नजर रखें अविनीत आता होगा इधर से।’ उत्तर अप्रिय अवश्य है किन्तु प्रार्थना करने वाले को मालूम है कि इस परिस्थिति में उसका उत्तर भी यही होता।

‘अविनीत’ इस शब्द के उच्चारण के साथ हरेक के मन में उपेक्षा, तिरस्कार, फटकार के भाव घुल जाते हैं, आखिर वह अधार्मिक जो है। पर वही एक आश्रय भी है इन विपत्ति में पड़े लोगों का। वह किसी के लिए औषधि लाने दौड़ रहा है और किसी के लिए चिकित्सक बुलाने। किसी का खोया पशु उसे ढूँढ़ना है अथवा किसी के प्रियजन तक संदेश पहुँचा देना है। बनावट, कृत्रिमता तथा संकोच उसमें नाम का नहीं।

सबके कार्य करके, सबकी सहायता करके, सबसे भिन्न रीति से रहने वाला यह अविनीत है बड़ा विचित्र। सभी कहते हैं सांसारिक है यह। कोई अन्तर्मुख होने का साधन उसने नहीं अपनाया। उससे सेवा चाहे जितनी लोग लें, समाज में तिरस्कृत, उपेक्षणीय ही है वह।

अचानक एक रात वह चौंक कर उठा। काफ़ी कोशिश के बाद अपने गोल भवन का दरवाजा खोलने में समर्थ हुआ। बाहर उसने जो कुछ देखा उसे देख कर फूट-फूट कर रोया।

उसे अपने आप-पास कुछ नहीं दिख रहा था। कोई भवन, कोई मार्ग, कोई जीवन चिह्न शेष नहीं थे पृथ्वी की केन्द्र च्युति हुई है यह कौन बतलाता। सम्पूर्ण सृष्टि पर श्वेत अंधकार छाया दिख रहा था। काले अंधकार से कहीं अधिक भयानक था यह सफेद अंधेरा।

एक रात में समूचा अन्तःकारिक द्वीप आज के अण्टार्क्टिका में बदल गया था। पूरी रात में कितना हिमपात हुआ, जानने का कोई साधन नहीं था, कदम बढ़ाते ही अविनीत कमर तक कोमल बर्फ में धँस गया। कठिनाई से निकला लेकिन अब तक भवन का द्वार भी हिम के गर्भ में अदृश्य हो चुका था, जिसमें से वह अभी बाहर आया था।

वह सिर पकड़ कर बैठ गया और रोता रहा। उसकी आँखों के सामने धुँधलका गहरता गया। लगा उसका शरीर ही नहीं मन, विचार शक्ति, समूची चेतना एक गहरे अँधेरे में विलीन होती जा रही है।

उठो वत्स ! पता नहीं कितनी देर के बाद एक कोमल स्पर्श का उसे आभास हुआ। आभास या सत्य ? उसने बड़ी कठिनाई से आँखें खोलीं— सारा शरीर अभी भी थकान से चूर था। उसे अनुभव हुआ कि उसका सिर किसी की गोद में है, किसकी ? यह सोच पाए इसके पहले एक बेहोशी पुनः उसे दबाने लगी।

सिर पर स्नेह भरी थपकी देने वाले महापुरुष के प्रयत्न उसे होश में लाए। अब वह चैतन्य था। काफ़ी देर बाद वह विश्वास कर सका— वह मरा नहीं बल्कि जीवित है और यह हिमाच्छादित भ्रान्त अन्तःकारिक द्वीप नहीं— बल्कि हिमालय है— और ये महापुरुष अध्यात्म के इस ध्रुव केन्द्र में रहने वाली सिद्ध मण्डली के सदस्य परम सिद्ध कहैया हैं।

लेकिन स्वस्थ होते ही उसका मन पुनः चिन्ता से घिर गया। सामने बैठे महापुरुष ने कारण पूछा— उनके स्वर में पर्याप्त वात्सल्य था।

“वह पूरा महादेश धार्मिक था। धर्म को जो धारण करता है, धर्म उसे धारण करता है।” किसी समय माता से सुने वचनों को स्मरण कर वह कह रहा था “धर्म ने वहाँ के धार्मिक लोगों का धारण रक्षण क्यों नहीं किया ?”

“किया तो अवश्य पर धार्मिक का, उनका नहीं जिन्हें अपनी धार्मिकता का दम्भ था।” महासिद्ध के होंठों पर रहस्यपूर्ण मुस्कान थिरक रही थी।

“मैं और धार्मिक ?” उसे इस विकट परिस्थिति में भी हँसी आ गई। हँसी थमने पर उसने उन कृपा पुरुष की ओर देखा।

“उन परम सिद्ध की आँखों से अभी भी स्नेह झर रहा है। अविनीत को सम्बोधित कर वे बोले वे सभी दया के पात्र थे वत्स। उनके साधनों की भीड़ में साध्य कहीं खो गया था। काश वे जान सके होते अपनी छलनामयी झूठी तपस्या के बारे में। साधना धार्मिकता की ओर बढ़ चलने के प्रचण्ड पुरुषार्थ का नाम है पुत्र। महासिद्ध एक क्षण के लिए रुके दूसरे ही क्षण उनकी-वाणी का प्रवाह-हिमसरिता के समान बह चला और धार्मिकता है संवेदनशीलता का चरमोत्कर्ष। इसकी प्राप्ति के लिए एक ही साधना है दूसरों की शान्ति के लिए अशान्त होना, अपने आप को दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़ कर महाअज्ञात के चरणों में उड़ेल देना। तुम इस साधना में सिद्ध हुए हो। तुम्हारी धार्मिकता के कारण उस महाअज्ञात की प्रेरणा मुझे तुम्हारे पास ले गई और आज तुम यहाँ सिद्धों की मण्डली के सदस्य हो।”

अविनीत आश्चर्य से सब कुछ सुन रहा था, धर्म और साधना के गूढ़ तत्त्व उसे प्रत्यक्ष हो रहे थे। तभी हिमालय के श्वेत धुँधलके से कुछ छायाएँ उभरीं जो पास आकर प्रत्यक्ष हो गईं, सभी दिव्य ऋषि सत्ताएँ थीं जिनका सान्निध्य प्राप्त हो रहा था। सामने योजनों तक रुई की तरह बर्फ का साम्राज्य था।

अविनीत अभी भी अपनी सिद्ध देह से हिमालय के अदृश्य परिकर में रहने वाले कारक पुरुषों के साथ रहते हैं। सिद्ध समाज में उनका नाम अब अविनीतप्पा लिया जाता है। मादाम ब्लावात्स्की

जैसे अधिकारियों ने उनके दर्शन किए हैं। यह सुलभता उनके लिए भी होना सम्भव है जिन्होंने उन्हीं की भाँति धर्म-साधना को समझा हो।

योग-विद्या के अन्वेषक— स्वामी कुवलयानन्द

जिन्होंने योग-शिक्षा द्वारा समाज का आध्यात्मिक पुनर्निर्माण करने के लिये सारा जीवन अर्पित कर दिया था, ऐसे असामान्य योगी स्वामी कुवलयानन्द जी के देहावसान से भारत एक महान् अध्यात्मवादी विद्वान् से वंचित हो गया है। स्वामी का कुछ वर्ष पहले ही स्वर्गवास हुआ है।

स्वामी कुवलयानन्द का दृढ़ विश्वास था कि भारत का पुनरुत्थान, आधुनिक विज्ञान और योग के समन्वय एवं नित्य जीवन में उसका सम्बन्ध स्थापित करने से ही हो सकेगा। उन्होंने योग द्वारा अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा की अन्वेषण एवं आविष्कार कर उसे जन-साधारण तक पहुँचाने का सतत प्रयास किया था। योग-विद्या, जो अब तक केवल विशिष्ट योगियों तक सीमित गढ़ ज्ञान माना जाता था, उसे सामान्य साधक की पहुँच तक लाने का अधिकार श्रेय ‘केवल्य धाम’ के संस्थापक स्वामी कुवलयानन्द जी को ही है।

स्वामी जी का जन्म सन् १८८३ में एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनका पूर्वजन्म का नाम जगन्नाथा गुणे था। उन्हें अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिये सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत सहायता पर ही निर्भर रहना पड़ा था। स्वामी जी ने बालपन में ही आजन्म ब्रह्मचारी रहने तथा सरकारी नौकरी न करने की प्रतिज्ञा कर ली थी, जिसका उन्होंने अन्त तक पालन किया।

स्वामी जी ने अपने जीवन के तीन उद्देश्य निर्धारित किये थे— (१) धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक शिक्षा द्वारा राष्ट्र-निष्ठ तेजस्वी तरुण पीढ़ी का निर्माण। (२) शारीरिक बल-संवर्धन की भारतीय पद्धतियों का आधुनिकीकरण कर उनका शिक्षा-योजना में समावेश और (३) शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से योग का आधुनिक विज्ञान से समन्वय कर अध्यात्म और विज्ञान में अद्वैत सिद्ध करना।

प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं भाषाओं की जननी संस्कृत का गहन अध्ययन कर उसका शिक्षा-संस्थाओं में प्रचार किया। सन् १९२३ तक खानदेश शिक्षण-संस्थान द्वारा संचालित ‘नेशनल कॉलेज’ में प्राचार्य एवं रेक्टर के पद पर रहकर उन्होंने इस दिशा में असाधारण प्रगति की थी।

दूसरे उद्देश्य की सिद्धि के लिये स्वामी जी ने बड़ौदा के सुविख्यात शारीरिक शिक्षा-विशेषज्ञ प्रोफेसर मानिकराव से मार्गदर्शन प्राप्त किया तथा उनके सक्रिय सहयोग से सन् १९०७ से १९१० तक की तीन वर्ष की कालावधि में बड़ौदा राज्य में अनेक व्यायामशालायें तथा खेल-कूद संस्थायें स्थापित कीं। उनका अटल-विश्वास था कि सुदृढ़ राष्ट्र-

निर्माण एवं विश्वबन्धुत्व के लिये पुस्तकीय पढ़ाई के साथ-साथ शरीर-संवर्धन एवं क्रीड़ांगण के खिलाड़ी जीवन की भी अत्यन्त आवश्यकता है, परन्तु शारीरिक शिक्षा की अपनी कल्पनाओं को मूर्तरूप प्रदान करने में उन्हें सन् १९३७ तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। सन् १९३७ में बम्बई सरकार द्वारा शारीरिक शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए एक समिति गठित की गई और उक्त समिति के अध्यक्ष पद पर स्वामी जी की नियुक्ति हुई। स्वामी जी बम्बई राज्य शारीरिक शिक्षा मण्डल के अध्यक्ष के नाते बारह वर्ष तक इस कार्य में संलग्न रहे और अपने निदिध्यास और सतत परिश्रम से बम्बई राज्य में शारीरिक शिक्षा की ठोस बुनियाद कायम की।

अपने तीसरे उद्देश्य में अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय को प्रत्यक्ष प्रमाणित करने के लिये स्वामी जी ने सन् १९१७ में गुजरात में मालसर स्थित परमहंस स्वामी माधवदास जी महाराज से योग की दीक्षा ली। स्वामी जी ने सन् १९२४ में पूना के समीप लोनावला में 'कैवल्य-धाम' नामक एक योगाश्रम की स्थापना की। यह संस्था भारत में ही नहीं, सारे संसार में अपने ढंग की अनोखी संस्था है। जहाँ प्रयोगों द्वारा योग व आधुनिक विज्ञान की सुसूत्रता सिद्ध की गई है और योग को व्यावहारिक एवं वास्तविक स्वरूप देकर उसके द्वारा आत्मोन्नति के साथ ही रोग-चिकित्सा किस तरह की जा सकती है, इसकी प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा शिक्षा दी जाती है। प्रति वर्ष भारत के कोने-कोने से सैकड़ों जिज्ञासु मुमुक्षु एवं रोग-ग्रस्त व्यक्ति वहाँ जाकर आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करते हैं। कई विदेशी सज्जन भी इस संस्थान में रहकर योग पर आविष्कार का कार्य कर रहे हैं।

प्रथम आश्रम का कार्य एक मामूली किराये के मकान में आरम्भ किया गया था पर आज 'कैवल्य-धाम' की खुद की लगभग १०० एकड़ भूमि है, जिसमें विविध प्रकार की आनुषांगिक संस्थाएँ स्थापित हैं। संस्था की तीन शाखाएँ हैं — बम्बई, राजकोट (गुजरात) व कनकेश्वर महाराष्ट्र में।

स्वामी जी के मार्गदर्शन में उपलब्ध संशोधन कार्य को सारे संसार में मान्यता प्राप्त हुई है। वहाँ विभिन्न प्रकार के आसन, बन्ध और मुद्रा आदि के अतिरिक्त भाव-समाधि व भूगर्भ-समाधि इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ आदि का भी शास्त्रीय परीक्षण किया जाता है। संस्था की प्रयोगशाला में लगभग दो लाख के आधुनिक शास्त्रीय उपकरण हैं। जिनके द्वारा मस्तिष्क, हृदय तथा शरीर के विविध मज्जातंतुओं की क्रियाओं का प्रत्यक्ष अवलोकन किया जा सकता है। तत्त्व-ज्ञान युक्त साहित्य की दृष्टि से योगशास्त्र पर एक वृहत् कोश तैयार करने का कार्य जारी है। साथ ही १९५० से उपाधि प्राप्त स्नातक विद्यार्थियों के लिए स्वामी जी ने एक 'योग-विद्या महाविद्यालय' भी स्थापित किया। सेठ माखन लाल सक्सेरिया की उदार आर्थिक सहायता से यह सब सम्भव हुआ। यशस्वी छात्रों को योगशास्त्र की उपाधि प्रदान की जाती है। गत कुछ वर्षों से एम. एस.सी. उत्तीर्ण छात्र भी उक्त महाविद्यालय में प्रविष्ट हो रहे हैं। पाठ्यक्रम में योग, भारतीय तत्त्व-ज्ञान, शरीर-विज्ञान, मानव-शास्त्र तथा आसन, क्रिया, बन्ध, मुद्रा,

प्राणायाम आदि की शिक्षा दी जाती है। कॉलेज से संलग्न एक सुसज्ज पुस्तकालय भी है।

'कैवल्य-धाम' की स्थापना के समय ही स्वामी जी के पास योग सम्बन्धी संशोधनात्मक साहित्य पर्याप्त मात्रा में संग्रहित था। अतएव उन्होंने उसके आधार पर 'योगमीमांसा' नामक त्रैमासिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 'योग-मीमांसा' द्वारा स्वामी जी का भारत तथा विदेशों में अच्छा प्रचार हुआ और उनकी लोकप्रियता में पर्याप्त वृद्धि हुई। महात्मा गाँधी, महामना मालवीय, पं. मोतीलाल नेहरू आदि नेताओं ने भी उनके कार्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

'आसन और प्राणायाम' सम्बन्धी स्वामी जी का साहित्य न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। इन पुस्तकों में स्वामी जी ने अपने दीर्घ व्यक्तिगत अनुभव मूलगामी शास्त्रीय विचार एवं पारम्परिक शिक्षा के आधार पर योग-शास्त्र का सरल भाषा में सुसम्बद्ध प्रतिपादन किया है।

स्वामी जी का साधु-संन्यासी एवं योगियों के लिये निर्धारित गेरू वस्त्र आदि परिधान पर विश्वास नहीं था। अतः उन्होंने सर्वसाधारण वेश-भूषा में ही अपना जीवन बिताया। वे नियमित रूप से कुछ समय तक गायत्री मन्त्र के जप तथा आत्म-चिंतन में लीन रहा करते थे पर उन्होंने कभी सिद्धि प्राप्त करने, चमत्कार कर दिखाने आदि भौतिक प्रवृत्तियों में अपनी आध्यात्मिक शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया। मनुष्य मात्र की शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों का निराकरण कर उसे आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करना, यही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था, जिस पर वे अन्त तक आरूढ़ रहे। हृदय-व्यथा और वृद्धावस्था के बावजूद वे 'कैवल्य-धाम' के नित्य कार्य में अन्त समय तक जुटे रहे।

स्वामी जी का यह विश्वास था कि जब तक मनुष्य स्वार्थ, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, भय आदि विषयों से अलिप्त नहीं हो पाता, तब तक स्थायी विश्व-शांति की आशा नहीं है। उनकी मान्यता के अनुसार योग इस ध्येय प्राप्ति के लिये एक परिणामकारी साधन हो सकता है।

जिसके द्वारा राजकीय, आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक मूल्य आध्यात्मिक मूल्यों पर अधिष्ठित हों, ऐसे योगनिष्ठ समाज का पुनः निर्माण ही स्वामी जी का जीवन स्वप्न था, जिसे प्रत्यक्ष करना भारत की प्रबुद्ध पीढ़ी का कर्तव्य है। प्रभु, सबको इस दिशा में कार्य करने की प्रेरणा दे, यही प्रार्थना है।

कर्मयोग का सन्देश देने वाले— केदारनाथ कुलकर्णी

परतन्त्र भारत की दयनीय स्थिति देखकर युवक केदारनाथ कुलकर्णी की चेतना जाग उठी। वह सोचने लगे शायद ईश्वर की जब कृपा होगी तब देश का उद्धार अपने आप हो जायेगा। ईश्वर-

दर्शन की लगन तो उन्हें पहले से ही लगी थी। उपासना, जप, तप, अनुष्ठान आदि धार्मिक कर्मकाण्ड जिसने जो बताये वह करने लगे। घर-गृहस्थी को व्यर्थ का झमेला समझ एकान्तवास के लिए हिमालय की ओर चल पड़े। जमुनोत्री, गंगोत्री, बद्रीनारायण और केदारनाथ आदि तीर्थों की यात्रा भी कर ली। इस बीच हजारों साधु और संन्यासियों को धर्म और राम के नाम पर रोटी तोड़ते और समाज पर बोझ बने देखा तो एक बार परमार्थ का ठेका लेने वाले इन साधुओं के प्रति आस्थाएँ हिलने लगीं।

योग-साधना के प्रति जिज्ञासा हुई तो उसमें भी काफ़ी सिद्धि प्राप्त कर ली, पर एक दिन समाज की बुरी स्थिति देखकर योग-साधना के मार्गदर्शक से वह पूछ ही बैठे— “महाराज ! यह जो विभिन्न प्रकार की साधनाएँ की जा रही हैं और लोग चमत्कार दिखाने में अपना मूल्यवान समय नष्ट कर रहे हैं। कृपया यह तो बताइये कि देश को उन्नति और लोक-कल्याण की दृष्टि से उनका क्या महत्त्व है ?”

उन्हें यह स्वप्न में भी ध्यान न था कि उन्हीं का शिष्य उनसे ही ऐसा बेदंग प्रश्न पूछ बैठेगा। कुछ जानते होते तो बताते आखिर झेंप मिटाते हुए यही कह दिया— “बेटा ! यह तो राम की दुनिया है, राम ही जाने।” इतना सुनते ही कुलकर्णी जी के विचार ही बदल गये और मन में एक नई हलचल उत्पन्न हो गई। बार-बार यह सोचने लगे कि जिस साधना से कोई समष्टिगत लाभ नहीं उसे करने से लाभ ही क्या है ? अब चमत्कारी दुनिया के प्रति उनका आकर्षण समाप्त हो गया और फिर अपने परिवार में आकर रहने लगे। जिस समाज से सम्बन्ध तोड़ दिया था अब पुनः जोड़ लिया।

वयोवृद्ध आत्म-साधक कुलकर्णी जी अपने कार्यक्षेत्र में नाथ जी महाराज के नाम से विख्यात हैं। इनका जन्म १८८३ में हुआ था। पिता के शासक्रीय सेवा में होने के कारण नाथ जी का बचपन थाना, खानदेश और रत्नगिरि आदि कई जिलों में बीता। जब यह कक्षा ५ में पढ़ते थे, उस समय के पाठ्यक्रम और शिक्षा के ढंग को देखकर उनके मन में भारतीय शिक्षा प्रणाली के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। उनके मन में आया कि जो शिक्षा देश को स्वतन्त्र नहीं करा सकती, वह किसी काम की नहीं। अतः पढ़ाई-लिखाई छोड़कर अपने साथियों में स्वस्थ शरीर और व्यायाम के प्रति उत्साह पैदा करने लगे। उन्होंने नव-युवक साथियों को नियमित रूप से व्यायाम करने और अखाड़े में जाने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने लोगों को बताया कि कमजोर व्यक्ति अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता फिर राष्ट्रीय कार्यों की उससे क्या आशा की जाय। उनका स्वयं का शरीर इतना सुगठित और सुदृढ़ था कि लोग देखते ही रहते थे। उन्होंने एक बार कहा भी था कि व्यक्तियों के शरीर इतने मजबूत और फ़ैलादी होने चाहिए कि यदि उसे पत्थर पर गिरने का भी अवसर आ जाये तो एक बार पत्थर को भी उसका डर लगने लगे।

ऐसे बलिष्ठ व्यक्ति का मन चमत्कार की दुनिया में लग भी कैसे सकता था सन् १९०८ से १९१८ तक १० वर्ष का समय जो बिना परिश्रम के बीता था उस पर उन्हें आत्मग्लानि होने लगी और

हिमालय की एकान्त दुनिया को छोड़कर अन्य लाखों व्यक्तियों की तरह समाज में रहकर उसी के लाभ के लिए कार्य करने लगे। पिछले दस वर्षों में प्राप्त अनेक अनुभवों से नाथ जी का न तो समाधान हुआ और न कर्तव्य का निर्धारण ही कर सके। विवेक दृष्टि से आँकने पर जीवन के उत्साह भरे दस वर्षों की गतिविधियाँ बेकार साबित होने लगीं। पर चिन्तन की यह दिशा भीतर छिपे उग्र विचारों को समाज के सामने प्रकट करने लगी। उपासना के नाम पर चलने वाले ढोंग व गुरुडम के प्रति उन्होंने लोगों को सचेत किया और पुरानी परम्पराओं के स्थान पर अपने विवेक को ही गुरु मानकर आगे बढ़ने का निश्चय किया और लोगों को भी इसी प्रकार का शिक्षण दिया।

वह स्वदेशी का व्रत लेकर बढ़ईगिरी, बुनाई और सिलाई जैसे अनेक कार्य सीखने लगे और लोगों को वाणी द्वारा नहीं वरन् करनी से यह बताने लगे कि संसार में शारीरिक पश्चिम का कोई कार्य बुरा नहीं है। नाथ जी गाँधी जी के निकट सम्पर्क में अन्त तक रहे। आध्यात्मिक चिन्तन और साधना का जीवन जीने के साथ-साथ परिश्रमशील बनने पर उन्होंने विशेष जोर दिया।

प्रसिद्धि से कोसें दूर रहने वाले नाथजी का पश्चिमी भारत में विशेष प्रभाव है फिर भी किसी सम्प्रदाय की स्थापना न कर सामान्य ढंग से जीवन जीते हैं। किसी का मार्गदर्शक बनकर नाम कमाने की भावना तो उनमें कभी आई ही नहीं। बाल-ब्रह्मचारी होने पर भी अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह उन्होंने बड़ी ईमानदारी से किया है। वह अपनी विधवा भानजी चन्दा की व्यवस्था आज भी कर रहे हैं। वे सदैव प्रवृत्तियों को छोड़ने के स्थान पर उन्हें शुद्ध करने के लिए जोर देते रहे हैं। गृहस्थाश्रम छोड़कर त्याग का ढोंग करने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि परिवार का पालन करते हुए अपने गृहस्थ जीवन को पवित्रता से जिया जाय। संसार में रहते हुए भी जो अपने सगे-सम्बन्धियों की चिन्ता नहीं करता, उन्हें दयनीय स्थिति में रहने को विवश करता है उसका राष्ट्र कार्य में लगना अथवा संन्यासी बनना व्यर्थ है। नाथ जी तो यह मानते हैं कि स्थान या वेष बदल जाने से मनुष्य की प्रवृत्तियाँ नहीं बदल जातीं। उसे तो अपने में मानवीय गुणों को विकसित करने के लिए सभी का ध्यान रखना चाहिए।

दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानकर सेवा सहायता करने वाले नाथ जी के प्रति उन्हीं के एक मित्र ने कहा था कि यदि नाथ जी की सेवा उपलब्ध हो सके तो पुनः बीमार पड़ने की इच्छा होती है। रोगियों की सेवा करना और जीवन के प्रति आशावान बनाना तो उनके दैनिक जीवन का एक अंग रहा है। गाँधीवादी विचारक स्वर्गीय किशोरीलाल नशरूवाला को जब अपने निकट सम्बन्धियों में ही स्वार्थ की गंध आने लगी तो सबको मिथ्या तथा नाशवान मानकर घर छोड़ने की तैयारी कर दी तो गाँधी जी के कहने पर नाथ जी ने ही उन्हें रोक था और समझाया-बुझाया था। जीवन की सार्थकता पर विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था— “मनुष्य को पूर्णता तक ले जाने की सामर्थ्य सिर्फ कर्मयोग में है। अतः हमारे छोटे-बड़े सभी कार्य

सावधानीपूर्वक और निर्दोष भाव से सम्पन्न होने चाहिए। इसी में हमारे जीवन की सार्थकता है।

आज भी ८५ वर्ष की आयु में अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण नवयुवकों के प्रेरणा केन्द्र बने हैं क्योंकि कर्म में, उनकी आस्था में प्रत्येक व्यक्ति को पुरुषार्थी बनने की ही प्रेरणा देते रहते हैं।

संन्यास जीवन के सार्थक प्रयोक्ता—स्वामी केशवानन्द

पन्द्रह-सोलह वर्ष के एक अनाथ किशोर ने अपने हम उम्र बच्चों को पढ़ते-लिखते देखा तो स्वयं भी पढ़ने की इच्छा हुई। उस समय किशोर गायें चराने का काम किया करता था। पिता पहले ही चल बसे थे—छह वर्ष की आयु में माँ भी उसी गृह पर चल दी। घर में अकेला रह गया किशोर पेट पालने के लिए गाँव वालों के गाय, भैंस, बछड़े, बछड़ियाँ चराने लगा।

विद्याध्ययन की इच्छा के बलवती होने पर किशोर ने अपना जन्म स्थान छोड़ दिया और इधर-उधर भटकने लगा। देश में तो स्कूलों की ही भरमार थी। ऐसी शिक्षण संस्था कहाँ मिलती जो विद्यार्थी के भरण-पोषण का भी दायित्व निवाहे। विद्या की प्यास लेकर किशोर यत्र-तत्र भटकता रहा और पंजाब के फजिल्का क्षेत्र में जा पहुँचा।

यहीं संयोग से महन्त कुशलदास जी के सम्पर्क में आया और शिक्षा प्राप्ति के लिए साधु बन गया। महन्त कुशलदास ने उन्हें नाम दिया—केशवानन्द। साधु बनने का प्रस्ताव उनके गले तो नहीं उतरता था परन्तु विद्या के प्रति प्रेम इस दीक्षा को स्वीकार करने के लिए विवश कर रहा था।

शिक्षा प्राप्ति करने के लिए साधु वेष ग्रहण कर केशवानन्द जी पढ़ने लगे। कई महीने तक परिश्रम करने के बाद भी वे थोड़ा-सा ही ज्ञान प्राप्त कर सके। इसका कारण उनमें लगन और अध्ययन शीलता का अभाव नहीं था, वरन् योग्य शिक्षक की कमी थी। फजिल्का के आश्रम में कोई खास शैक्षणिक प्रगति नहीं कर सके इसलिए वे १९०५ में इलाहाबाद चले आये।

उस वर्ष प्रयाग में कुम्भ का मेला लगा था। केशवानन्द जी ने साथी साधु-महात्माओं के सामने अपना विचार और इच्छा व्यक्त की। सन्त-महात्माओं ने उन्हें हरिद्वार के गुरुकुलों में जाने की सलाह दी। सबकी सलाह से वे कुछ दिनों के लिए हरिद्वार रहकर पढ़ते रहे और बाद में अमृतसर चले आये। वहाँ एक आश्रम में रहकर उन्होंने संस्कृत का साधारण ज्ञान प्राप्त किया। अब उन्हें स्वयं ही अध्ययन करने की योग्यता पर विश्वास हो गया था।

सन् १९०८ में उनके गुरु स्वामी कुशलदास जी का देहान्त हो गया। स्वामी जी के सभी शिष्य साधुओं में केशवानन्द जी अधिक पढ़े-लिखे थे इसलिए उन्हें ही आश्रम के अधिपति पद पर बिठाया गया। अभी तक तो स्वामी केशवानन्द अपने ही विकास की बात सोचते थे। उन्हें जब महन्त बनाया गया तो इस पद की गौरव गरिमा को समझ कर उसे सार्थक बनाने का विचार भी स्वाभाविक ही जन्मा।

स्वामी जी ने साधु पद के महान् उत्तरदायित्व को समझा। यह जीवन अकर्मण्य बनकर, समाज पर भाररूप बनकर पूजा पाठ करने के लिए ही नहीं अपनाया जाता है। वरन् इसकी एक महान् जिम्मेदारी है, जो सामान्य व्यक्ति से कहीं अधिक सेवा करने के लिए उत्तरदायित्व का बोध कराती है। साधु और संन्यासी जीवन की यही आदि परम्परा है। जिसे आज का साधु समाज अपनाना तो दूर उसे समझना भी नहीं चाहता। उन्हें तो केवल आश्रम में रहकर आराम से खाना-पीना और मौज-मजे करना ही अच्छा लगता है, केशवानन्द जी ने इस लीक से हटकर कुछ करने का निश्चय किया।

और लोग साधु की महान् परम्परा निभायें या न निभायें, मुझे तो उस कर्तव्य का पालन करना ही है। इस निश्चय के साथ उन्होंने सेवा क्षेत्र तलाश किया। उन्होंने स्वयं के जीवन में अशिक्षा और अज्ञान का दुष्परिणाम भोगा था। आज भी भारत की अधिकांश जनता निरक्षर ही है। शिक्षा और ज्ञान का लाभ सामान्य से सामान्य व्यक्ति को भी मिलना चाहिए, इस विचार से उन्होंने अपने आश्रम में एक पुस्तकालय खोला, अन्य साथी साधु-महात्माओं को ज्ञानार्जन कर समाज सेवा की दिशा में प्रेरणा दी। कुछ दिनों बाद उन्होंने आश्रम में ही संस्कृत पाठशाला भी खोली।

दो वर्ष तक सफलतापूर्वक स्थानीय प्रयास चलाकर स्वामी केशवानन्द देश यात्रा के लिए निकल पड़े। इस यात्रा का उद्देश्य था देशवासियों की स्थिति का निरीक्षण और सेवा करने योग्य क्षेत्र की तलाश। उन्होंने पाँच-सात वर्ष तक देश भर का भ्रमण किया और देखा कि सर्व-साधारण जन अभाव, गरीबी, अशिक्षा, दासता तथा अन्य कई प्रकार की समस्याओं का शिकार बने हुए हैं। इन समस्याओं के निराकरण के उन्होंने दो ठोस और अचूक उपाय ढूँढ़ निकाले—स्वतन्त्रता आन्दोलन और शिक्षा का प्रचार।

अबोध—सामाजिक विकास और राष्ट्रोत्थान में सबसे बड़ी बाधा थी विदेशी-दासता। संसार के कई देशों का इतिहास पलट कर उन्होंने पाया कि पराधीन राष्ट्रों ने किसी क्षेत्र में प्रगति नहीं की है। स्वराज्य और स्वतन्त्रता राष्ट्रीय प्रगति की मूलभूत आवश्यकता है। इसलिए केशवानन्द जी स्वाधीनता संग्राम में भी कूद पड़े।

इसके पूर्व सन् १९२० में उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के नाम से उत्साही युवकों का एक दल तैयार किया था। जो मात्र साक्षरता ही नहीं अध्ययन और ज्ञानवर्द्धन की प्रवृत्तियों को भी प्रोत्साहित करता था। इस दल का एक पुस्तकालय भी था, जहाँ चुनी हुई विचारोत्तेजक देश विदेश की मूल और अनुवादित कृतियाँ रखी हुई थीं। स्वामी जी इस दल की गतिविधियों के साथ-साथ असहयोग आन्दोलन में भी भाग लेने लगे थे। इस कारण उन्हें जेल भी जाना पड़ा। लम्बे समय तक कारावास में रहने के कारण नागरी प्रचारिणी सभा की व्यवस्था विमृखलित हो गयी।

जेल से छूटने पर उन्होंने अपनी संस्था की यह दशा देखी तो बड़ी निराशा हुई। युवकों द्वारा सभा के पुस्तकालय की सभी पुस्तकें आश्रम में जमा करवा दी गयी थीं। स्वामी जी ने इन नयी परिस्थितियों

की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुई निराशा पर तुरन्त काबू पा लिया और एक नये पुस्तकालय की स्थापना की। अब की बार वाचनालय अपने निजी मकान में बनवाया गया था। स्थायी रूप से यह लाइब्रेरी चलती रहे इसके लिए उन्होंने वाचनालय भवन और जमीन आदि सब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नाम कर दी। इसका आशय यह नहीं कि वे वाचनालय के सभी उत्तरदायित्वों से मुक्त होना चाहते थे। बल्कि वे तो अब अगला कदम उठाने का विचार कर रहे थे।

सन् १९२६ में स्वामी केशवानन्द द्वारा संस्थापित अवोहर, साहित्य सदन कार्यशील हो गया। अच्छी पुस्तकें और साहित्यिक कृतियों की आवश्यकता हर काल में रहती है। महापुरुषों के विचार, व्यक्तित्व का सान्निध्य लाभ हर कोई आसानी से उठा सके इसके लिए पुस्तकालय ही अत्यन्त उपयोगी होते हैं। मात्र शिक्षित होना ही पर्याप्त नहीं है। प्राप्त शिक्षा के प्रकाश में अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का निर्धारण कर उनका निष्ठापूर्वक पालन करना ही शिक्षा की सार्थकता है। पुस्तकालय इस दिशा में भारी सहायक सिद्ध होते हैं। शिक्षितों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति के साथ-साथ अशिक्षितों में शिक्षा की भी एक अप्रत्यक्ष प्रेरणा जागती है।

स्वामी जी का अगला कदम था शिक्षा का प्रचार। बिना पढ़े लिखे लोगों का सदृशान और अपने अस्तित्व, महत्त्व तथा मूल्य से परिचित कराने का एकमात्र उपाय शिक्षा ही तो है। मनुष्य और पशु के अन्तर को स्पष्ट करने वाली बौद्धिक चेतना शिक्षा के माध्यम से ही तो विकसित होकर उसके गौरव के अनुरूप जीवन की प्रेरणा देती है। इसके लिए उन्होंने अपना प्रथम प्रयास राजस्थान के एक ऐसे गाँव में किया, जहाँ मीलों के क्षेत्र में एक भी विद्यालय नहीं था।

सन् १९१६ में स्वामी जी ने राजस्थान के सर्वाधिक पिछड़े क्षेत्र संगरिया में एक छोटा-सा स्कूल खोलने का निश्चय किया। उस समय उनके पास न तो सहयोगियों की कोई सेना थी और न ही अर्थ शक्ति। साधनों के नाम पर उनके पास केवल संकल्प बल था जो कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी मनुष्य को अजेय और सफल बनाता है। इस शक्ति के बल पर ही वे अत्यल्प सामर्थ्य और साधनों से अपना लक्ष्य प्राप्त करने की दिशा में बढ़े।

कोई व्यक्ति एककी ही परामर्श प्रयोजनों के लिए जुटता है तो अन्य कई और भी उत्साही लोग उसके सहयोगी और अनुयायी बन कर आगे आते हैं। स्वामी केशवानन्द जी ने एक टूटे मकान में जैसे ही अपनी छोटी-सी पाठशाला खोली तो गाँव के लोगों ने पर्याप्त सुविधा-साधन जुटाने का उत्साह दिखाया। गाँव के ही एक स्थानीय व्यक्ति ने चौदह बीघा जमीन विद्यालय भवन के लिए दान कर दी। वहाँ के निवासियों ने दौड़-धूप कर इमारत बनवाने के लिए चन्दा एकत्रित किया और स्कूल खुलने के एक वर्ष बाद ही विद्यालय का निजी भवन तैयार हो गया।

तत्कालीन सामाजिक कुरीतियाँ भी उनके मार्ग में बाधा बनकर आयीं। स्वामी जी सभी जाति के बच्चों को अपने विद्यालय में प्रवेश देते थे। यह बात ऊँच-नीच का भेदभाव मानने वाले पण्डितों और

रूढ़िवादी ग्रामवासियों को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने अपने बच्चों को स्कूल भेजना बन्द कर दिया और इस विद्यालय को ढेड़ियों (चमारों) का स्कूल कह कर बहिष्कृत करने लगे। स्वामी जी इस विरोध और असहयोग से अप्रभावित रहकर लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए यत्नशील रहे। जनमानस में सही दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास कभी निष्फल नहीं जाता। स्वामी जी को भी अन्ततः सफलता मिली ही। शीघ्र ही ग्रामीण कठमुल्ला पण्डितों के अनुचित तर्कों और आदेशों को अमान्य करने के लिए तैयार हो गए।

सेवा कार्यों के सत्परिणाम की प्रतीक्षा धैर्यपूर्वक ही करनी पड़ती है। उतावली और तत्काल प्रगति की बात लोकसेवा के क्षेत्र में तो नहीं ही बनती। ग्रामवासियों का विरोध शान्त हो जाने के बाद संगरिया स्कूल का कार्यक्षेत्र बढ़ने लगा। यह प्रतिकूल परिस्थिति मानो स्वामी जी तथा उनके सहयोगियों की परीक्षा लेने आयी थी। धैर्य और लगन, निष्ठा के बल पर वे इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और इसके पुरस्कार में संस्था विकास की दिशा में अग्रसर होने लगी।

१९२५ तक विद्यालय में १२० छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे थे तथा संगरिया क्षेत्र में संस्थान की १२ शालायें कार्यरत हो गयी थीं। कार्यक्षेत्र बढ़ जाने पर आर्थिक साधनों की भी आवश्यकता हुई। संस्था के पास आय का कोई स्रोत तो था नहीं। सारा कार्य गाँववासियों के सहयोग से चलता था। एक बार अर्थाभाव के कारण विद्यापीठ बन्द हो जाने की नौबत आयी। बड़ी मुश्किल से स्थिति को टाला जा सका। गाँव के प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न लोगों ने अवसर पर अगाध सहयोगी भाव का परिचय दिया और घर-घर से चन्दा एकत्रित कर स्कूल चलाया।

सर्वसाधारण को इतना गहरा प्रभावित करने की शक्ति स्वामी जी के उस व्यक्तित्व में थी, जो व्यर्थ के बाह्य आडम्बर और शान-शौकत से कोसों दूर था। सादगी और सज्जनता ही मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावोत्पादक बनाते हैं, न कि लच्छेदार भाषण और स्वयं को विशिष्ट बनाने की झूठी महत्वाकांक्षा, अपने लिए—साधारण-सी आवश्यकताओं के लिए ही धन का प्रयोग तथा सेवा कार्यों में सही स्थान पर समुचित व्यय। इस नीति ने स्वामी जी को लोकसंग्राम का पात्र बना दिया। बीमार रहने पर भी, वे मूल्यवान पथ्य और अनाप-शनाप औषधियाँ नहीं लेते थे। कोई आगन्तुक व्यक्ति जबरन इसलिए कुछ भी दे जाता तो उसे भी दीन-हीन छात्रों के लिए खर्च कर देते।

शिक्षा प्रसार के साथ शिक्षा पद्धति में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का श्रेय उन्हें प्राप्त है। मात्र किताबी ज्ञान को महत्त्व देने वाली संस्थाएँ ही उन्होंने खड़ी नहीं कीं वरन् जीविक-उपार्जन और उद्योग शिल्पों का प्रशिक्षण देने की संस्थाएँ भी उन्होंने खोलीं। सन् १९४४ से उनके विद्यापीठ में शिल्प और उद्योग-धन्धों को भी पाठ्यक्रम में समाविष्ट किया गया। ज्ञान, व्यवहार और निर्वाह की सर्वांग शिक्षा पद्धति के कारण कई युवक इस विद्यापीठ में भर्ती हुए। अगले चार वर्षों में दो हजार से भी अधिक छात्रों ने वहाँ शिक्षा प्राप्त की और सीधे जीवन क्षेत्र में तैयारी के साथ प्रवेश किया। अब तो इस विद्यालय में कई रचनात्मक कार्य बिना किसी बाहरी सहायता के सम्पन्न होने लगे हैं।

संसद में पहुँच कर स्वामी जी देशभक्ति एवं जनसेवा के सिद्धान्तों के लिए अन्तिम समय तक संघर्ष करते रहे। शिक्षा जगत में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाले स्वामी केशवानन्द का देहान्त १३ सितम्बर १९७२ को हुआ। स्वामी जी केशवानन्द साधु की महान् और गौरवशाली परम्परा मर्यादा के आदर्श प्रतीक थे।

अनपढ़ साधु की शिक्षण सामर्थ्य

घटना सन् १९३२ की है। राजस्थान के गंगानगर जिले में एक स्थान है, संगरिया। वहाँ के निवासियों में शिक्षा के प्रति न कोई रुचि थी और न ही ग्रामवासी शिक्षा की कोई आवश्यकता ही अनुभव करते थे। परिणामस्वरूप उनके बच्चे या तो अपने माता-पिता के साथ खेत-खलिहानों में हाड़-तोड़ मेहनत करते अथवा आवारागर्दी करते रहते। शिक्षा के कोई संस्कार तो उन्हें मिले ही नहीं थे, जिससे कि अपना, अपने परिवार का तथा अपने गाँव का कोई विकास कर सकें। पीढ़ियों से चली आ रही हालत ज्यों की त्यों बनी रहती और उन्हें हर कोई बहला-फुसलाकर आसानी से अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेता, दूसरे शब्दों में उग लेता। बेचारे भोले-भाले ग्रामीण किसी की भी बातों में आ जाते और खुशी-खुशी अपने को लुटवा देते।

क्षेत्र के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए एक भूतपूर्व सैनिक ने वहाँ एक स्कूल खुलवाया और गाँव वालों में शिक्षा के प्रति रुचि जगाने का मोर्चा समूहला कुछ और सेवाभावी व्यक्ति भी इस कार्य में आ लगे और संगरिया के आस-पास के गाँवों से भी बच्चे उस स्कूल में पढ़ने के लिए आने लगे। किन्तु लोगों में शिक्षा रुचि का विकास संतोषजनक रूप से न हो सका। परिवर्तन इतना भर हुआ कि जिन दिनों खेतों में कोई काम नहीं होता था, उन दिनों ही ग्रामीण लोग अपने बच्चों को स्कूल भेजते और जब खेती होने लगती थी तब फिर स्कूल वीरान हो जाता। गाँव वालों का कोई सहयोग भी स्कूल को नहीं मिलता था परिणामस्वरूप स्कूल की व्यवस्था धीरे-धीरे लड़खड़ाने लगी। संचालकों ने कुछ समय तक तो विद्यालय को जैसे तैसे चलाया पर सन् ३२ में ऐसी स्थिति आ गयी कि विद्यालय को बन्द करने की बात सोची जाने लगी।

काम्री प्रयत्न किये गये कि विद्यालय चलाने की व्यवस्था किसी प्रकार बन जाय और जैसे-तैसे भी विद्यालय चलता रहे। लेकिन संचालकों को कोई रास्ता ही नहीं सूझता था अन्त में इस समस्या पर विचार करने के लिए क्षेत्र के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की एक मीटिंग बुलाई गई और बताया गया कि अर्थाभाव के कारण विद्यालय बन्द करना पड़ रहा है। उपस्थित सभी व्यक्तियों ने समस्या के ऊपरी समाधान बताये। कोई ठोस रास्ता नहीं निकल रहा था, जिसे अपना कर विद्यालय को सुव्यवस्थित रीति से चलाया जा सके।

उस सम्मेलन में इलाके के एक अनपढ़ साधु भी थे। साधु अनपढ़ तो जरूर थे परन्तु उनका व्यक्तित्व इतना तेजस्वी था कि उन्हें लोग ऋषि महर्षि की तरह पूजते थे। उनके पास साधन भी कुछ नहीं थे, रहने को एक कुटिया भर थी, जहाँ ग्रामवासी उनके खाने-पीने को पहुँचा देते थे। उन स्वामी जी ने जब देखा कि मीटिंग इस निर्णय

पर पहुँच रही है कि विद्यालय बन्द कर दिया जाय तो उन्होंने उठकर कहा विद्यालय इसलिए नहीं खोले जाते कि उन्हें बन्द करना पड़े। प्रश्न उठा कि फिर किया भी क्या जा सकता है। तो साधु ने कहा, करने की जिम्मेदारी मेरी रही।

और विद्यालय की जिम्मेदारी उक्त साधु ने ग्रहण की। उन्होंने दिन-रात परिश्रम किया, लोकश्रद्धा को सहयोग की दिशा दी और विद्यालय जन-सहयोग तथा स्वामी जी के परिश्रम से फिर चल पड़ा। न केवल विद्यालय चल पड़ा बल्कि पहले से कहीं अच्छे रूप में चलने लगा। लोगों में भी शिक्षा के प्रति इतना प्रेम जगा कि वह मिडिल स्कूल कुछ ही वर्षों में महाविद्यालय हो गया। इतना ही नहीं उस क्षेत्र में चार महाविद्यालय, दो उच्च माध्यमिक विद्यालय, एक बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय खुल गया। जन-सहयोग से उन स्वामी जी ने रियासत भर में लगभग तीन सौ प्राथमिक शालायें भी खुलवायीं। आज संगरिया में उस मिडिल स्कूल के स्थान पर 'ग्रामोत्थान विद्यापीठ' स्थापित है, जो क्षेत्र में इन शिक्षण प्रवृत्तियों का संचालन करता है एक लड़खड़ाते हुए मिडिल स्कूल को समूचे क्षेत्र में शिक्षण प्रवृत्तियों के प्रसार का केन्द्र बनाने वाले साधु थे— स्वामी केशवानन्द, जो अनपढ़ थे, किन्तु जिन्होंने कितने ही व्यक्तियों को प्रकाश दिया।

संन्यासी का आदर्श

स्वामी केशवानन्द जिन्होंने शिक्षा का व्यापक प्रचार किया, राज्य सभा के सदस्य थे। तब-की बात है कि उनके एक सहकारी ने देखा कि वे हाथ पर दो-तीन रूखी रोटियाँ रखे दाल से खा रहे हैं। रोटियाँ सूखी व ठण्डी थीं उन्हें वे जल्दी-जल्दी चबाकर गले के नीचे उतार रहे थे। सहकारी ने इसका कारण पूछा तो बोले— "मुझे कई जगह जाना है और शाम को गाड़ी पकड़नी है इसलिये तंदूर से यहीं दो रोटियाँ मँगवाली हैं।"

"इस आयु में आपको ऐसा भोजन नहीं करना चाहिए। कुछ, नहीं तो घी, मक्खन व फल तो लिया करें।" सहकारी बोला। इस पर वे मुस्कराते हुए बोले— "ठीक तो है पर जब इन्हीं बातों की चिन्ता करनी थी तो संन्यासी बनकर कुछ सेवा करने का व्रत ही क्यों लेता।"

व्यक्तिगत सुखों की चिन्ता न करना सेवा-व्रती का आदर्श है।

जे. कृष्णमूर्ति—भगवान् जो इंसान बन गये

जे. कृष्णमूर्ति कभी भगवान् थे, पर अब इंसान हो गये। यह एक अचम्भे की बात है। इंसानों में से अपने को भगवान् घोषित करते अनेक देखे और सुने गये हैं, पर ऐसा कदाचित् ही कहीं हुआ हो कि भगवान् ने अपना ईश्वरीय चोला उतार फेंका हो और मात्र इंसान रह गये हों।

यह कथा जे. कृष्णमूर्ति की है। इन्हें थियोसोफिकल सोसायटी ने नया मसीहा घोषित किया था। बाइबिल के एक प्रसंग में ईसा मसीह का दुबारा प्रकट होने का जिक्र है। समय का वर्णन भी ऐसा ही है,

जिसकी संगति इस शताब्दी से मेल खाती है। उसमें जो चिह्न होने चाहिए, उसका तुक भी थियोसोफिकल सोसायटी की कर्ता-धर्ता श्रीमती एनीबेसेन्ट एवं श्री लेडबीटर ने कृष्णमूर्ति के साथ मिला दिया था।

एक अवकाश प्राप्त ब्राह्मण अफसर के घर कृष्णमूर्ति का जन्म हुआ। यूरोप में ख्याति प्राप्त अध्यात्म नेता लेडबीटर ने अपने दिव्य ज्ञान के सहारे घोषणा की कि इस बालक में ईसा मसीह की दिव्य आत्मा है। इस घोषणा पर विश्वास किया गया और बालक को अधिक योग्य बनाने के लिए उनकी शिक्षा-दीक्षा की गई, उन्हें इंग्लैण्ड ले जाया गया, उन्हें कुलीनों के लिए विनिर्मित विद्यालयों में पढ़ाया गया। वयस्क होने पर उन्हें फ्रांस की सोरबीन यूनिवर्सिटी में पढ़ने भेजा गया। चुपके-चुपके उनकी ख्याति फैलायी गयी, फलतः उनके भक्तों की कमी न रही।

सन् १९२९ में कैम्ब्रिज नगर के एर्डे किले के मैदान में एक सम्पन्न भक्त ने अपनी पांच हजार एकड़ भूमि इस नये मसीहा को भेंट की, ताकि भक्तजनों के लिए एक साधन-सम्पन्न नगर उस पर बसाया जा सके।

पर यह सिलसिला बहुत दिन न चल सका। कृष्णमूर्ति के कितने ही स्वागत समारोह हो चुके थे, उनमें वे नपी-तुली बातें कहते थे और बताये हुए तौर-तरीके से बैठते थे, पर हेम्पशायर के बुक्स बुड पार्क में एक नया धमाका हुआ। उस समारोह में उन्होंने अपनी पोल स्वयं खोल दी और कहा कि “न तो मैं मसीहा हूँ, न कोई विचित्र व्यक्ति। दूसरों की तरह मैं साधारण आदमी हूँ। मुझे किसी चमत्कार की आशाएँ कोई न करे। आप लोग अपने ही जैसा एक सामान्य व्यक्ति मुझे समझें। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, अन्य व्यक्ति भी मेरे ही जैसे हैं। मसीहा या उद्धारकर्ता अपने सिवाय अपने लिए और कोई हो नहीं सकता। यदि कोई व्यक्ति ऊँचा उठा, तो वह अपने प्रयास-पुरुषार्थ से स्वयं ही ऊँचा उठा है। आप में से जो ऊँचे उठना चाहते हों या उद्धार के इच्छुक हों अपने ही प्रयास-पुरुषार्थ की ओर देखें, अन्य किसी की आशा न करें, मेरे सम्बन्ध में अब तक की मान्यताओं को बदल दें, किसी भ्रम में न रहें। मैं भगवान् नहीं, मात्र इंसान हूँ।”

इनका यह भाषण धमाके जैसा था। जो उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाये बैठे थे, उन पर एक प्रकार से तुषारापात हो गया। भगवान् के ईसा के नये अवतार के सम्बन्ध में जिन्होंने बड़े-बड़े सपने देखे थे, उनकी आँखें खुल गईं।

साथ ही सत्य के अन्वेषकों को एक बड़ा सहारा मिला जो उठा है अपने ही कर्मों या पुरुषार्थ से उठा है। जो गिरा है, उसे अपने कर्मों ने ही गिराया है। दूसरे किसी को सलाह भर दे सकता है, पर ऐसा नहीं हो सकता कि अपने बलबूते किसी का उद्धार करें।

जे. कृष्णमूर्ति के इस भाषण से धर्मक्षेत्र में व्यापक हलचल मच गई। अवतार की आशा पर बहुत कुछ पाने की जो आशा लगाये बैठे, उनके सपनों का बालू का महल ढह गया। जिन्होंने उन्हें भगवान् बनाया था और उनके सहारे बहुत खेल खड़ा करने की आशा कर

रहे थे, उनके पैरों के नीचे से भी जमीन खिसक गयी। इसके बाद जे. कृष्णमूर्ति ने साधक वेष-भूषा से सत्य का उद्घाटन करते हुए अपना प्रचार आरम्भ किया कि हर मनुष्य आत्मनिर्भर है, अपने विचारों और कार्यों से ही वह उठ या गिर सकता है। अभी भी वे यही कर रहे हैं।

सन्त परम्परा सार्थक करने वाले— स्वामी कृष्णानंद

सन्त जीवन के आदर्श उद्देश्य को यों एक प्रकार से इस देश में भुला ही दिया गया है फिर भी यह नहीं समझना चाहिए कि वह ऋषिप्रणीत महान् प्रक्रिया सर्वथा लुप्त हो गई। उसके ध्वंसावशेष अभी भी बाकी हैं। वे जहाँ कहीं अपने यथार्थ रूप में कहीं भी दीख पड़ते हैं वहाँ उज्ज्वल भविष्य की आशा से आँखें चमकने लगती हैं।

सन्त परम्परा के यथार्थ उद्देश्य, स्वरूप की एक झाँकी कराने वाले संन्यासियों में एक हैं—स्वामी कृष्णानंद जी ! वे इन दिनों भारतीय मूल के नागरिकों के बहुमत वाले देश मौरीशस द्वीप में जन-जागरण के लिये सतत प्रयत्नरत हैं। व्यक्तिगत ईश्वर उपासना द्वारा अपने मल आवरण पर साबुन लगाने की प्रक्रिया वे थोड़े ही समय में पूर्ण कर लेते हैं और फिर अहिंनिश लोकमंगल के क्रियाकलापों में ही जुटे रहते हैं। उनकी साधना तपस्या का यही स्वरूप है जिसने नर-नारायण की गरिमा बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

स्वामी जी का जन्म यों तो उत्तरप्रदेश के किसी गाँव में हुआ पर वे पीछे विश्व नागरिक के रूप में ही विकसित हो गये। संन्यास की प्रेरणा और दिशा भी यही है। कुछ समय तप साधना करके अपनी अन्तरात्मा को पवित्र के उपरान्त उन्हें यही उपयुक्त प्रतीत हुआ कि अपने अस्तित्व को लोकमंगल के लिए—विश्व मानव के लिए समर्पित किया जाय और मानवी गरिमा को ऊँचा उठाने में अपनी क्षमता को सर्वतोभावेन समर्पित किया जाय।

सेवा साधना के आरम्भिक दिनों में उन्होंने गुजरात प्रान्त को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। शहरों के सुविधाजनक क्षेत्र में तथाकथित लोकसेवियों की भीड़ बरसाती मेंढकों की तरह सर्वत्र दीखती है पर देहातों के कष्टसाध्य क्षेत्र में जाने और फोटो, समाचार, जलूस, माला, स्वागत-सत्कार आदि का लोभ छोड़कर ईसाई पादरियों की तरह जंगलों में भटकने की प्रवृत्ति अपने देश में कहा है ? स्वामी जी ने इसी अभाव की पूर्ति आवश्यक समझी और देहातों को अपना कार्य क्षेत्र बनाया।

“सेवा के साथ शिक्षा” की पद्धति ईसाई मिशनरियों ने अपनाई है और उन्होंने अपना लक्ष्य आश्चर्यजनक रीति से पूरा किया है। कुछ ही शताब्दियों में ईसाई धर्म संसार का सबसे बड़ा—विश्व की एक तिहाई जन-संख्या का धर्म बन गया है, इसका कारण उसके दर्शन को उत्कृष्टता नहीं वरन् सेवा सम्मिश्रित धर्म शिक्षा ही प्रधान है

ईसाई प्रचारकों तथा पादरियों से इस दिशा में हमें बहुत कुछ सीखना है। स्वामी कृष्णानंद जी ने वही मार्ग अपनाया था। हिमालय साधना से लौटकर वे अपने सेवा प्रयोजनों में लग गये।

भड़ोच (गुजरात) के जम्बूसर क्षेत्र में गजेरा ग्राम से उन्होंने सेवा सहित शिक्षा कार्य आरम्भ किया। उस क्षेत्र में उन दिनों नेत्र रोग बहुत फैले हुए थे। उन्होंने हर घर से एक-एक रुपया एकत्रित करके नेत्र दान यज्ञों की व्यवस्था की और हर रोगी का आपरेशन निशुल्क ही नहीं वरन् आपरेशन कराने वाले के लिये बिना मूल्य आवास की भी व्यवस्था की। प्रथम शिविर में मात्र ६०० नेत्र आपरेशन हुए जिनमें रोगियों तथा उनके साथ वालों को मिलाकर लगभग १००० व्यक्तियों का भोजन प्रतिदिन होता था। प्रथम शिविर में ही २५ हजार रुपया खर्च हुआ। पर-सेवा की सच्ची लगन, सद्व्यवहार और कुशल सेवा वृद्धि के कारण उसकी पूर्ति सहज ही हो गई। ऐसे कई शिविरों की व्यवस्था की और सेवाभावी डॉक्टरों, अस्पतालों को प्रभावित करके उस क्षेत्र के ऐसे ही रोग पीड़ितों की सेवा करने का कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न किया। क्षय पीड़ितों के लिए भी ऐसी ही चिकित्सा व्यवस्था करके अगणित मृत्यु के मुख में झूलते हुए लोगों को जीवन दान दिया।

स्वास्थ्य ही नहीं शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने काम किया। मादण नामक ग्राम में जन-सहयोग से एक कॉलेज खड़ा किया। कितने ही छोटे-बड़े अन्य शिक्षा संस्थान खड़े किये। इन सब सृजनात्मक कार्यों में २५ लाख रुपया लग गया पर जन-श्रद्धा जो उनकी सेवा साधना के फलस्वरूप उभरी थी उसके कारण उन साधनों को जुटाना कुछ भी कठिन न रह गया।

इस कार्य में दूसरे लोग भी साथ देने लगे और उन सेवा सहित शिक्षा वाले कार्य को चलाने के लिए उन्होंने बड़ौदा में विश्वामित्री स्टेशन के पास 'विश्व ज्योति आश्रम' बना दिया। और स्वयं प्रवासी भारतीयों में भारतीय धर्म-संस्कृति की जड़ें मजबूत करने के लिए निकल पड़े।

स्वामी जी ने प्रवासी भारतीयों में संगठन, सदाचरण और सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के लिये विश्वव्यापी भ्रमण किया। इस सन्दर्भ में उन्हें अप्रिक, सोमालिया, युगांडा, टंगानिया, केनिया, रुआण्डा, कांगों, बरुण्डी, अडम, जाम्बिया, रोडेशिया, नेपाल, भूटान, हांग-कांग, फिलीपाइन, जापान, इण्डोनेशिया, कम्बोडिया, सिंगापुर आदि में भ्रमण किया और प्रवासी भारतीयों में नवजीवन संचार किया।

लोकसेवा यों तो कोई भी किसी भी प्रकार कर सकता है पर आज की परिस्थितियों, आवश्यकताओं और उपलब्धियों का समन्वय करके किस तरह अधिक लोगों को अधिक महत्वपूर्ण लाभ पहुँचाया जा सकता है। इसके लिए सुव्यवस्थित रीति से कैसे काम किया जा सकता है यह जानने के लिए उन्हें सेवा संस्थाओं की कार्य पद्धति देखना और वहाँ से कुछ महत्वपूर्ण प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक प्रतीत हुआ। अस्तु, इन देशों में जाना पड़ा जहाँ इस दिशा में कुछ अधिक खोजबीन की गई है। इस संदर्भ में इंग्लैण्ड, अमेरिका और जापान की यात्रा पर चले गये।

वहाँ से लौटने के उपरान्त उनका प्रधान कार्य-क्षेत्र अप्रिक का मौरीशस द्वीप बन गया। यह भारतीय मूल के बहुमत प्रधान व्यक्तियों का एक छोटा-सा द्वीप है जिसमें लम्बाई-चौड़ाई केवल ३० x २८ मील है। यहाँ केवल ४०० गाँव हैं। इनमें घूम-घूम कर उन्होंने घर-घर जन-सम्पर्क बनाया और सेवा शिविर संगठन संस्था के अन्तर्गत हजारों युवकों को मानवीय उत्कर्ष की विविध-विविध प्रवृत्तियों में लगा दिया। भारतीय संस्कृति के मूल उद्देश्यों से उस क्षेत्र के सर्वसाधारण को परिचित कराने के लिए उन्होंने एक लाख रामायण की पुस्तकें भारत से ले जाकर वहाँ के हर घर में पहुँचाई। हिन्दी को लोग भूल न जायें, इसके लिए प्रयाग महिला विद्यापीठ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्र भाषा प्रचार समिति के परीक्षा केन्द्र खुलवाये और उनमें पढ़ने के लिए सभी भारतीयों में उत्साह की नई उमंग पैदा की। उस सेवा संगठन के संचालन का कार्य उन्होंने प्रोफेसर कुमारी सीता को सौंप दिया और वे अथक पश्चिम के साथ सेवा शिविर का कार्य संचालन कर रही हैं।

आस्तिकता— प्रार्थना की नियमितता के प्रशिक्षण से स्वामी जी का सेवा कार्य अधिक होता है। वे अपने मधुर स्वभाव और सेवा कृत्यों में अथक उत्साह के साथ जन-साधारण का मन सहज ही जीत लेते हैं और सम्पर्क में आने वालों को—आस्तिक, उपासना परायण ही नहीं बनाते वरन् उन्हें लोकसेवा की दिशा में कुछ न कुछ करने को मानव जीवन का लक्ष्य समझाते हुए उसमें प्रवृत्त करते हैं। यही कारण है कि भारत में और प्रवासी भारतीयों में उन्होंने कहने योग्य सेवा कार्य सम्पन्न किया है।

विविध भाषा-भाषी लोगों के साथ सम्पर्क के लिए उन्होंने प्रायः उन सब भाषाओं को अपने प्रवास काल में सीखने का प्रयत्न किया है जिनकी आवश्यकता अनुभव होती है। वे गुजराती, पंजाबी, नेपाली, मराठी आदि कितनी ही भारतीय भाषाएँ जानते हैं यह शिक्षण उन्होंने सेवा साधना के साथ-साथ ही पूरा किया है।

स्वामी कृष्णानंद भारत की सनातन सन्त परम्परा के मूर्तिमान प्रतीक हैं। वे अपने आचरण से उस युग की झाँकी कराते हैं जब सेवा-भाषी साधु-संन्यासी अपनी अन्तरात्मा को पवित्रतम बनाकर परमात्मा स्तर तक पहुँचा करते थे और जन-सेवा द्वारा संसार की शारीरिक और मानसिक आधि-व्याधियों के निवारण में अपने आप को अथक और अनवरत रूप से जुटाये रहते थे।

कश, भारत माता ऐसे सन्त परम्परा की उपयोगिता सिद्ध कर सकने वाले अन्य साधु भी उत्पन्न कर सकी होती।

श्रम के साथक बाबा गरीबदास

बाबा गरीबदास को भाण्डेर क्षेत्र में सर्व-साधारण बड़ी आदर की दृष्टि से देखता है। साधारण कर्मचारी से लेकर उच्च अधिकारी तक तथा श्रमिक से लेकर बड़े व्यापारी तक, क्या डॉक्टर क्या वकील, क्या स्त्री क्या पुरुष सभी उनका नाम आदरपूर्वक लेते हैं।

उन्हें यह सर्व-साधारण का सम्मान कैसे प्राप्त हुआ ? उनके पास चमत्कार नाम की कोई चीज नहीं है । कोई बड़ा यज्ञ अथवा भंडारा उन्होंने कराया हो ऐसी भी बात नहीं । बड़े भारी विद्वान, ज्ञानी, चमत्कारी होने की बात तो दूर, साधारण पढ़े-लिखे भी यह शायद ही हों । प्रचलित उपासना या तप की कोई बड़ी साधना भी उन्होंने नहीं की । फिर भी आबाल वृद्ध नर-नारी उनके प्रति सहज ब्रद्धा रखने लगे इसका एकमात्र कारण है उनकी ‘‘श्रम की साधना’’ ।

बाबा जी भगवान् का नाम हाथ में सुमिरनी लेकर नहीं, खुरपी, फावड़ा या (कुदाली) गेंती लेकर जपते हैं । इसे ही वह अपनी माला या सुमिरनी कहते हैं । भगवान् के नाम के साथ-साथ वह भगवान् का काम भी अपने तरीके से करते जाते हैं । किसी साधु ने सुमिरनी फेरकर कुछ तप शक्ति अर्जित करके किसी का कुछ भला किया हो इस पर शंका या तर्क-वितर्क के लिए स्थान हो सकता है किन्तु उनकी सुमिरनी से एक के बाद एक खुदने वाले कुएँ तथा उनके आस-पास लगे हुए छोटे-छोटे बगीचों के प्रति कोई क्या शंका करेगा ?

किसी नई जगह पहुँचने पर बाबाजी कोई ऐसा स्थान चुन लेते हैं । जहाँ आस-पास थोड़ा खुला स्थान हो तथा सर्व-साधारण के लिए दूर भी न हो । विशेषकर पानी की आवश्यकता जहाँ हो । ऐसे स्थान पर उनकी धूनी जम जाती है । स्थानीय व्यक्तियों से ही, जिनके पास उपलब्ध हो, फावड़ा, कुदाली आदि माँग लेते हैं । शुरू में लोग उन पर शक करते थे । एक व्यक्ति अकेले कुआँ खोदेगा, इस बात पर आज के पुरुषार्थहीन वातावरण में सहज विश्वास नहीं होता । फिर कुआँ बनने के बाद उसको बँधवाने आदि की भी व्यवस्था साधारण नहीं है । ईंटों व चूने आदि से लेकर करीगर व मजदूरों तक की व्यवस्था का प्रश्न सामने आ जाता है ।

लेकिन साधनसम्पन्न व्यक्तियों को भी जो व्यवस्था समस्या रूप लगती है वह श्रम के साधक बाबा के लिए मानो कुछ चीज ही नहीं । उनकी माला खिसकना शुरू हुई कि धरती माता ने रास्ता देना प्रारम्भ किया । किसी से कोई शिक्रयत नहीं, कोई सहायता की अपील नहीं । साधक की साधना चलती रहती है । कोई सहज प्रेरणा से आ गया तो साथ ले लिया— चला गया तो ‘सीताराम’ बोल कर विदा दे दी । हाथ न निरुत्साह से धीमा पड़ा न उतावली में तेज हुआ ।

और अपने इस सपूत के प्रति स्नेह के कारण धरती माता अपने अन्दर का स्रोत अधिक देर रोक नहीं पाती । अन्दर से मधुर जल की धार के रूप में वह फूट पड़ता है । अब तक बाबा द्वारा खोदे गये कुओं का जल मीठा ही निकला है ।

अब बाबा की माला थोड़ा रुख बदलती है तथा भगवत् नाम के साथ निकलने लगती है । ईंटों की कतार । आवश्यकता भर की ईंटें भी देखते-देखते तैयार हो जाती हैं । एक व्यक्ति के पुरुषार्थ का यह कार्य लोगों के अन्दर की चेतना को बैठा नहीं रहने देता । बात की बात में ईंटें पकाने, चिनाई के साधन आदि एकत्रित हो जाते हैं । जन-सहयोग से कार्य पूरा होते देर नहीं लगती । समाज में साधनों की कमी नहीं है उनका ठीक-ठीक उपयोग कर सकने वाला चाहिए ।

कुँए का कार्य पूरा होने पर आस-पास छोटी-सी रमणीक बगीची लगा दी जाती है । अधिकंश स्थानों पर कोई देवस्थान या तो पहले से ही होता है— या बना दिया जाता है । बैठने के लिये चबूतरा, कुँए पर स्थाई रूप से रस्सी-बाल्टी आदि की व्यवस्था भी हो जाती है ।

महायोगी गोरखनाथ और उनका योग-मार्ग

महात्मा गोरखनाथ अपने समय के एक बहुत प्रसिद्ध योगी हो गये हैं । वैसे योगाभ्यास करने वालों की भारतवर्ष में कभी कमी नहीं रही, अब भी हजारों योगविद्या के जानकार और अभ्यासी इस देश में मिल सकते हैं, पर गोरखनाथ योगविद्या के बहुत बड़े आचार्य और सिद्ध थे और अपनी शक्ति द्वारा बड़े-बड़े असंभव समझे जाने वाले कामों को भी कर सकते थे ।

गोरखनाथ का समय खोज करने वाले विद्वानों ने विक्रम संवत् ११०० के लगभग माना है । कहा जाता है कि एक बार उनके भावी गुरु मत्स्येन्द्रनाथ फिरते-फिरते अयोध्या के पास ‘जयश्री’ नाम के नगर में पहुँचे । वहाँ एक ब्राह्मणी के घर जाकर भिक्षा माँगी और उसने बड़े आदर सम्मान से उनको भिक्षा दी । ब्राह्मणी का भक्तिभाव देखकर मत्स्येन्द्रनाथ बड़े प्रसन्न हुये और उसके चेहरे पर उदासीनता का चिह्न देखकर कारण पूछने लगे । ब्राह्मणी ने बतलाया कि उसके कोई सन्तान नहीं है, इसी से वह उदासीन रहती है । यह सुन योगीराज ने अपनी झोली से जरा-सी भभूत निकाली और उसे देकर कहा कि ‘‘इसको खा लेना, तेरे पुत्र हो जायेगा ।’’ उनके चले जाने पर उसने इस बात की चर्चा एक पड़ोसिन से की । पड़ोसिन ने कहा ‘‘कहीं इसके खाने से कोई नुकसान न हो जाय ?’’ इस बात से डरकर भभूत नहीं खाई और गौओं के बाँधने के स्थान के निकट एक गोबर के गड्ढे में उसे फेंक दिया ।

इस बात को बारह वर्ष बीत गए और एक दिन फिर मत्स्येन्द्रनाथ फेरी लगाते उस ब्राह्मणी के यहाँ जा पहुँचे । उन्होंने उसके द्वार पर ‘अलख’ जगाया । जब ब्राह्मणी बाहर आई तो उन्होंने पूछा— ‘‘अब तो तेरा पुत्र १२ वर्ष का हो गया होगा, देखूँ तो वह कहाँ है ?’’ यह सुनकर स्त्री घबड़ा गई और डरकर उसने समस्त घटना उनको सुना दी । मत्स्येन्द्रनाथ ने भभूत को फेंकने का स्थान पूछा और वहाँ जाकर ‘अलख’ की ध्वनि की । उसे सुनते ही एक बारह वर्ष का तेजपुत्र बालक बाहर निकल आया और उसने योगीराज के चरणों में मस्तक नवाया । यही बालक आगे चलकर ‘गोरखनाथ’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ । मत्स्येन्द्रनाथ ने उसे शिष्य बनाकर योग की पूरी शिक्षा दी । गोरखनाथ ने गुरु की शिक्षा से और स्वानुभाव से जो योग-मार्ग में बहुत अधिक उन्नति की और उसमें हर प्रकार से पारंगत हो गए । लोगों की तो धारणा है कि योग की सिद्धि के प्रभाव से उन्होंने ‘अमर स्थिति’ प्राप्त की थी और आज भी वे कभी किसी भाग्यशाली

३.५० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

को दर्शन दे जाते हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि गोरखनाथ ने भारतीय संस्कृति के संरक्षण में बहुत अधिक सहयोग दिया है और शंकराचार्य और तुलसीदास के मध्यकाल में इतना प्रभावशाली और महिमान्वित व्यक्ति भारतवर्ष में कोई नहीं हुआ था। उनके विषय में 'गोरक्षविजय' ग्रन्थ में लिखा है—

ए बलिया जतिनाथ आसन करिल ।
लंग महालंग दुई संहति लड़ल ॥
आसन करिया नाथ शून्ये कैल भरा ।
साचन उड़ो जेन गगन ऊपर ॥
आडे-आडे चाहे नाथ शून्य भर करि ॥

“गोरखनाथ योगासन लगाकर आकाश मार्ग में पहुँच गए और बाज की तरह उड़ते हुए एक देश से दूसरे देश को जाने लगे।”

बंगाल के राजा गोपीचन्द की माता मयनावती गोरखनाथ की शिष्या थी और योग साधना तथा तपस्या द्वारा महान् ज्ञान की अधिकारिणी बन गई थी। उसने अपनी विद्या के बल से देखा कि उसके पुत्र के भाग्य में थोड़ी ही अवस्था लिखी है और वह बीस वर्ष की अवस्था में मर जायेगा। इससे बचने का एकमात्र उपाय है कि वह किसी महान् योगी से दीक्षा लेकर योग साधना करके मृत्यु पर विजय प्राप्त करे। इसलिये उसने जालंधरनाथ से गोपीचन्द की योग-मार्ग की शिक्षा दिलाकर उसे उच्च कोटि का योगी बनाया।

गोरखनाथ योग-विद्या के आचार्य थे। वर्तमान समय में जो हठ योग विशेष रूप से प्रचलित है उसका उन्होंने अपने अनुयायियों में बहुत प्रचार किया और उनके लिए गुप्त शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का मार्ग खोल दिया। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'गोरख-संहिता,' 'गोरख विजय,' 'अमरौध शासन,' 'कया बोध' आदि बहुत-से ग्रंथ रचे थे जिनमें से कुछ अब भी प्राप्त हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अगर तुम शरीर और मन पर अधिकार प्राप्त करना चाहते हो तो इसका एकमात्र यही मार्ग है। यदि मनुष्य सोचे कि वह धन-सम्पत्ति द्वारा समस्त अभिलाषाओं को पूरा कर लेगा अथवा जड़ी-बूटी से रसायनों की सहायता से शरीर को सुरक्षित रख सकेगा तो यह उसका भ्रम है—

सोने रूपे सोझी काल । तौ कत राजा छोड़े राज ॥
जड़ी-बूटी भूले मत कोई । पहली रॉड वैद की होई ॥

अमर होने का उपाय तो योग का पंथ ही है जिसमें अमृत प्राप्त करने का मार्ग बतलाया गया है—

गगन मंडल में औंठा कुंवा, तहाँ अमृत का वासा ।
सगुरा होइ सु भर-भर पीया, निगुरा जाय पियासा ॥

शून्य गगन अथवा मनुष्य के ब्रह्म रंध में औंधे मुँह का अमृत कूप है, जिसमें से बराबर अमृत निकलता रहता है। जो व्यक्ति सतगुरु के उपदेश से इस अमृत का उपयोग करना जान लेता है वह अजरामर हो जाता है और जो बिना गुरु से विधि सीखे केवल मन के लड्डू खाया करता है, उसका अमृत सूर्य तत्त्व द्वारा सोख लिया जाता है

और वह साधारण मनुष्य की तरह आधि-व्याधि का ही शिकार बना रहता है। योग द्वारा इस अमृत को प्राप्त करने का सर्वप्रथम उपाय ब्रह्मचर्य-साधन या वीर्यरक्षा (बिन्दु की साधना) है—

व्यंदहि जोग, व्यंद ही भोग ।
व्यंदहि हरि जे चौंसठि रोग ॥
या व्यंद का कोई जाणे भेव ।
सो आपै करता आपै देव ॥

बिन्दु (वीर्य) का रहस्य समझकर उसकी पूर्ण रूप से रक्षा करने पर मनुष्य सर्व-शक्तिशाली और देवस्वरूप बन जाता है। इस प्रकार का साधन कर लेने से मनुष्य स्वयं शक्ति और शिव स्वरूप हो जाता है और उसे तीनों लोक का ज्ञान प्राप्त हो जाता है—

यहु मन सकती यहु मन सीव ।
यहु मन पंच तत्त्व का जीव ॥
यहु मन लै जो उन्मन रहै ।
तौ तीनों लोक की बाथैं कहै ॥

गोरखनाथ का मत समन्वयवादी है। वे स्वयं बाल-योगी थे और यह भी कहते थे जो वास्तव में योग में सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, उसे युवावस्था में ही कामदेव को वश में करना चाहिये। पर वह अन्य कितने साधना-मार्गों की तरह शरीर को अनावश्यक कष्ट देने, दिखावटी तपस्या करने के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था—

देव-कला ते संजम रहिया । भूत-कला आहारं ॥
मन पवन ले उनमन धरिया । ते जोगी ततसारं ॥

“साधक को देव-कला (आध्यात्मिक मार्ग) पर चलकर आत्म शक्ति प्राप्त करनी चाहिये और भूत-कला (पार्थिव-विधि) से आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। ऐसा करने पर ही वह योगाभ्यास में सफलता प्राप्त कर सकेगा।” इस प्रकार साधना मार्ग में अग्रसर होते रहने पर अंत में साधक 'निष्पत्ति' अवस्था में पहुँच जाता है, जिससे उसकी समदृष्टि हो जाती है, राग-द्वेष का अन्त हो जाता है, सांसारिक माया-मोह सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और वह काल के भय से भी छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

उनका कहना है कि “सतगुरु कहते हैं कि गोरखनाथ जब माया रूपिणी नारी के सम्पर्क में आया तब वह जीवित थी, पर उसने माया को वशीभूत करके उसे मृत (नष्ट) कर दिया ॥ १ ॥ पहले तो माया रूपी भैस संसारी सुख रूप दूध देती थी, जिससे उसका मान होता था। पर जब साधना द्वारा उसका आवरण अलग कर दिया तो उल्टी स्थिति हो गई। तब भैस को बाँध रखने वाला खोला (खूँटा) तो अपार्थिव आनन्द रूपी दूध देने लगा और माया रूपी भैस ज्ञान की दासी बनकर उस दूध को खिलाने लगी जिसके द्वारा ब्रह्मानन्द रूपी मक्खन प्राप्त हुआ। माया सास है और मानवीय इच्छा बहू है। यह इच्छा माया का पालन करती है (अर्थात् उसे पालने में झुलाती है) ॥ २ ॥ मनुष्य के कया रूपी खेत में साधन रूपी खेती की जाती

है और परिपक्व हो जाती है तब वह अहंकार को खा जाती है (नष्ट कर देती है)। इसी प्रकार काम-क्रोध रूपी पारिधी (शिकारी) पहले मन का शिकार करता रहता है अर्थात् उससे इच्छानुसार अनुचित कार्य कराता है। पर जब मन जाग्रत हो जाता है, साधना में सफलता प्राप्त कर लेता है तो वह उलटा इस शिकारी को ही बाँध लेता है ॥ ३ ॥ पहले कुंडलिनी शक्ति रूप हाँडी नीचे (नाभिकमल) में सुप्त अवस्था में पड़ी थी, पर जब वह जाग्रत होकर चैतन्य हो गई तो ऊपर चढ़ती गई। पहले मन रूपी मछली को माया रूपी बगुला खाता रहता था, जब मन अपने स्वरूप को समझ कर सावधान हो गया तो वह उलटा माया को ही निगलने लग गया ॥ ४ ॥ आरम्भ में मिथ्या जगत रूपी आकाश क्षणिक आनंद की वर्षा करता था, पर जब (परब्रह्म का) ज्ञान हृदय रूपी धरती पर जागृत हुआ तो भूमि तो वर्षा करने लगी और आत्मा स्पर्श करने लगा, इस प्रकार वह जल ऊपर की तरफ चढ़ने लगा। इसका आशय यह कि पहले माया का प्रभाव अधोगामी था, पर कुंडलिनी शक्ति के जागृत होने से साधना ऊर्ध्वगामी होने लग गई ॥ ५ ॥ मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ कहता है कि “अब मैं ममता माया-मोह को त्याग कर अवधूत हो गया हूँ ॥ ६ ॥”

इस प्रकार गोरखनाथ जी ने एक ‘अगम-अगोचर’ परमात्मा की अनुभूति का मार्ग दिखलाकर लोगों में फैले अनेक भ्रान्त मतों का निराकरण किया और साधना की एक ऐसी स्पष्ट विधि बतलाई जिससे साधारण-जन भी आत्मोन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकते हैं।

प्रेम धर्म के उपदेष्टा— महात्मा चरणदास

भारतीय इतिहास के मध्यकाल को आपदाओं का युग कहा जाता है। उस समय यहाँ की बहुसंख्यक जनता शासक वर्ग के अत्याचारों से बुरी तरह पीड़ित हो रही थी। शासक वर्ग भी अपने अधिकार मद में मानवता को भुलाकर जनता का आर्थिक ही नहीं नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक शोषण में प्रमत्त होकर लगा हुआ था। ऐसे समय यहाँ की निवासी जाति तथा विदेशी आक्रमणकारी जातियों में अपने व्यक्तित्व, प्रभाव और वर्चस्व के बल पर सेतु का काम किया महात्मा चरणदास ने। अनाचार, अनीति और अराजकता के युग में वे शासक और प्रजा दोनों के नैतिक उत्थान में प्राणपण से जुट गये।

१८वीं शताब्दी के आरम्भिक समय में जब हिन्दू मन्दिर और देवालय औरंगजेब के इशारों पर ध्वस्त हो रहे थे। कहीं कोई रक्षक बनकर सामने नहीं आ रहा था। उसी जमाने में अलवर के एक गाँव के एक ब्राह्मण परिवार में महात्मा चरणदास का जन्म हुआ। बचपन से ही उन्हें हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के शिकार लोगों के सम्पर्क में रहने का मौका मिला। उस समय औरंगजेब दिल्ली के सिंहासन पर आसीन था। आगे चलकर चरणदास ने अनुभव किया कि जब तक हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य को समाप्त नहीं किया जाता लोग सुख-शांति का

जीवन नहीं जी सकेंगे। इसी केन्द्र के परिधिगत चिन्तन में उन्होंने इस समस्या का निदान ढूँढ़ा और पाया कि इन दोनों जातियों में प्रेम और सद्भाव की स्थापना करना ही एकमात्र समाधान हो सकता है।

औरंगजेब के बाद चरणदास जी ने युवावस्था में प्रवेश किया तो नादिरशाह और मुहम्मदशाह जैसे बादशाहों ने भी उसी परम्परा को जारी रखा और उधर चरणदास जी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न करने लगे। उस समय मुसलमानों में भी शासन की नीति के अनौचित्य को स्वीकार करने वाले कई विचारशील लोग थे। महात्मा चरणदास जी ने ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया और दोनों जातियों में एकता-अभिवर्द्धन के लिए कार्यक्रम बनाये।

कुछ दिनों बाद कई मुस्लिम-हिन्दुओं के त्यौहार और उत्सवों में सम्मिलित होने लगे तथा बहुत-से हिन्दू भी मुस्लिम पर्वों में उसी प्रकार भाग लेने लगे। हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्य का अन्त करने तथा आत्मीयता एकता की भावना बढ़ाने के लिए यह एक व्यावहारिक सफल प्रयोग था। देखा-देखी तो बाद में यह एक परम्परा ही बन गयी और हिन्दू-मुसलमान एक साथ बड़े प्रेम से रहने लगे। इन गतिविधियों के समाचार नादिरशाह को लगा तो वह बड़ा आग-बबूला हुआ। महात्मा चरणदास जी को अपने दरबार में बुलाया और पूछा—“आप यह सब किस उद्देश्य से कर रहे हैं। आप नहीं जानते इस प्रकार इस्लाम को फैलाने में आप कितनी रुकावट पैदा कर रहे हैं। यह कभी माफ नहीं किया जा सकता।”

चरणदास जी ने बादशाह को शांत और निर्भय शब्दों में स्पष्ट उत्तर दिया—“नादिरशाह तुम ख्वाबे गफलत में रहकर इस्लाम के असली अर्थ को भूल रहे हो। कोई भी मजहब इन्सान में ऊँच-नीच का भेद नहीं करता। सभी धर्म एक ईश्वर तक ही पहुँचाने वाले अलग-अलग मार्ग हैं। महात्मा जी ने और कई तर्क, उदाहरण देकर प्रेमधर्म का आधार प्रतिपादित किया। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व और ओजस्वी वाणी से बादशाह बड़ा प्रभावित हुआ। इसी प्रकार की घटनायें अन्य कई राज-दरबारों में भी घटीं। मुहम्मद शाह ने भी आरम्भ में तो उनका विरोध किया परन्तु बाद में उनके प्रशंसक बन गये।”

मुस्लिम शासकों द्वारा चरणदास जी की प्रशंसा किये जाने पर हिन्दू राजाओं को शक हुआ। उस समय कुछ हिन्दू राज्य अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए शक्ति भर प्रयत्न कर रहे थे। जयपुर नरेश सवाई ईश्वरसिंह तथा प्रतापसिंह जैसे राजपूत राजाओं को मुगल बादशाहों द्वारा महात्मा जी की शिष्यता स्वीकार करने की घटना में किसी षडयन्त्र की गन्ध आयी। उन्हें लगा कि चरणदास जी मुगलों से मिल गये हैं। अपनी इस आशंका को परखने के लिए वे महात्मा जी के पास गये। परन्तु उन्हें भी चरणदास जी के विचारों और उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के सम्मुख नत-मस्तक हो जाना पड़ा। जो राजपूत मुसलमानों के कट्टर दुश्मन थे वे ही उन लोगों को गले से लगाने के लिए तैयार हो गये।

चरणदास जी की इस सफलता ने उन्हें भारत भर में विख्यात बना दिया। समस्त उत्तरी भारत की आध्यात्मिक चेतना उनके इर्दगिर्द

धूमने लगी। मूर्ति भन्जक औरंगजेब के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता स्वयं को असहाय और निर्बल अनुभव कर रही थी। ऐसे समय में उन्होंने शक्तिपुञ्ज निर्बलों के बल और प्रेरणा स्रोत ईश्वर पर विश्वास रखकर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। ईश्वर हमारी सहायता करेगा। इस विश्वास ने चरणदास जी के अनुयायी हिन्दुओं में आत्मविश्वास को जायगा।

धीरे-धीरे उनके आस्तिकता, आत्मविश्वास, ईश्वर भक्ति और कर्मनिष्ठा के विचार फैलने लगे। कविता के माध्यम से उन्होंने अपने सिद्धान्तों को पद्यबद्ध किया और उनके शिष्यों ने कण्ठस्थ कर गा-गाकर सुदूर प्रान्तों तथा देश में विशुद्ध अध्यात्मवादी जीवन दर्शन का प्रचार-प्रसार किया। इस प्रकार के प्रचार द्वारा उनकी विचारधारा उत्तरप्रदेश, राजस्थान, पंजाब और पश्चिमोत्तर भारत से लेकर अफगानिस्तान तक फैल गयी।

इन विचारों की सार्वजनीन ख्याति का एकमात्र कारण है तत्कालीन कठिन परिस्थितियों का समाधानकारक प्रतिपादन। हिन्दू जाति को शक्ति स्रोत परमेश्वर का उपदेश देने के साथ-साथ उन्होंने मानव मात्र को उसी एक परमात्मा का पुत्र भी निरूपित किया। निस्सन्देह इसका एकमात्र उद्देश्य तत्कालीन भेदभावपरक समाज व्यवस्था को संशोधित करना था।

उस समय हिन्दू जाति में व्याप्त निराशा में एक अस्पृश्यता और छुआछूत की मान्यता भी थी। चरणदास जी ने इनका निराकरण करते हुए मानव मात्र को भगवान् की प्रिय सन्तान घोषित किया और उन्हें भजन का अधिकार दिया। उनके पदों और छन्दों में सर्वत्र समानता का स्वर मुखरित हुआ है। एक बार किसी गाँव में अछूतों द्वारा भजन गवाने पर चरणदास जी को ठाकुरों तथा उच्च जाति के लोगों का विरोध भी सहना पड़ा था। कुछ लोग तो मारने पर भी उतारू हो गये थे। ऐसे समय में महात्मा जी ने अपनी मोहक वाणी तथा प्रभावपूर्ण वक्तृत्व शैली द्वारा स्थिति पर कबू पाया। इस प्रकार की सफलताओं के कारण लोग उन्हें सिद्ध योगी कहने लगे। कई निष्ठावान शिष्यों तथा गृहस्थ अनुयायियों ने इस सिद्धि का राज भी पूछा तो चरणदास जी ने बिना किसी दुराव-छिपाव के बता दिया— ‘‘प्रेम ही सबसे बड़ी सिद्धि है। आत्मीयता और सद् व्यवहार से किसी भी मनुष्य का हृदय जीता जा सकता है।’’

एक बार सिद्ध योगी के रूप में जानकर कोई स्त्री उससे वशीकरण का उपाय पूछने आयी तो चरणदास जी ने एक कागज पर मन्त्र लिखते हुए उसे घर में रखने के लिए कहा और उसका साधना विधान बताया— ‘‘घर के जिस सदस्य को वशीभूत करना हो उसकी खूब सेवा किया करो।’’

कुछ समय बाद ही उस स्त्री के पारिवारिक जीवन में आवश्यक सुधार हुआ। वह अपने पति के साथ महात्मा जी के पास कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए आयी। चरणदास जी ने कहा— ‘‘यह मन्त्र का नहीं तुम्हारी साधना का प्रभाव है और ताबीज में लिपटा हुआ कागज का पुरजा खोलकर बताया जिसमें लिखा था— ‘प्रेम ही प्रभु है और सेवा ही भक्ति।’’

प्रेम के उपदेष्टा इस महान् सन्त का एक ही जीवन सूत्र था जिसके माध्यम से द्वेष, क्लेश, अशांति और फूट की असह्य वेदनामूलक

समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है और वह है निष्काम सेवा तथा आत्मीय भावना। योग और सिद्धि के इस सरल किन्तु श्रमसाध्य होने के कारण दूसर भी विधि-विधान का दिग्दर्शन करने वाले सन्त के रूप में महात्मा चरणदास जी सदैव याद किये जाते रहेंगे। राजा महाराजाओं की गगनचुम्बी अड्डालिकाओं से लेकर दीन-दरिद्र की झोंपड़ी तक उनका समान रूप से आदर होता था। यही नहीं आज भी वे अध्यात्म और धर्म के क्षेत्र में उसी सम्मान के साथ याद किये जाते हैं।

समाज व संस्कृति के सेवक— शंकर देव

घटना अब से लगभग ४०० वर्ष पुरानी है। तब भारत में जाति-पाँति और ऊँच-नीच का बड़ा प्रचलन था। समझा जाता है कि उस समय मन्दिरों के परकोटे से पड़ने वाली जमीन पर छाया तक में शूद्रों को पाँव नहीं रखने दिया जाता था। उस समय अलिपुखुरी नामक एक गाँव में बहुत बड़े जागीरदार थे। लोग उन्हें जागीरदार शिरोमणि कहा करते थे और अपनी कष्ट-कठिनाइयों का हल तथा समस्याओं का समाधान खोजने के लिए उनके पास आया करते थे।

उस क्षेत्र में जागीरदारों और ब्राह्मणों को ऊँची जाति का तथा शेष सब को नीची जाति का समझा जाता है। अब से पचास वर्ष पहले भी शहरों-कस्बों तक में यह स्थिति थी कि तथाकथित उच्च कुल के लोग गरीबों और निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को अपने सामने जूते पहन कर निकलते नहीं देखना चाहते थे। कैसी भी धूप हो और कितनी ही धरती तप रही हो तो क्या उनके लिए नंगे पैरों निकलना अनिवार्य था। कई गाँवों में तो अभी तक यह प्रथा रही है। पचास वर्ष पहले की यह स्थिति है तो सहजता से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चार सौ वर्ष पूर्व तो इससे भी अधिक भयावह स्थिति रही होगी।

एक वर्ष की बात है उस इलाके में पर्याप्त बारिश नहीं हुई। सर्दियों में होने वाली फसलें सूखने लगीं तो ब्राह्मणों और उच्चवर्ग के लोगों ने मिलकर जागीरदार से कहा कि— पास ही एक नाला (बाँध) बना लिया जाय ताकि गर्मियों में पानी की परेशानी न हो।

सहृदय जागीरदार ने प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया और मुहूर्त निकलवा कर सारी तैयारियों की जाने लगीं। निश्चित किया गया कि पहला पत्थर जागीरदार की उपस्थिति में रखा जाय और अब मुहूर्त पर पूजन वगैरह हो गया तो लोग सोचने लगे कि अब जागीरदार साहब पत्थर रखकर बाँध की आधारशिला रखेंगे। सारे गाँव के व आस-पास के सारे गाँवों के लोग वहाँ जमा हुए थे और जागीरदार को पितृ तुल्य श्रद्धा की दृष्टि से देख रहे थे।

जागीरदार ने अपने आसपास खड़े प्रतिष्ठितजनों से पूछा— ‘‘पहला पत्थर कौन रखेगा।’’

‘‘हुजूर जिसे आज्ञा दें।’’

जागीरदार की दृष्टि सब और दौड़ गई और जाकर दूर खड़े मल्लाहों के समूह पर जा टिकी। उसमें से उन्होंने एक महिला को पुकारा— ‘‘उस झुण्ड में से कोई भी बहिन आगे आ जाय।’’

सार्धक नाम की एक केवट युवती आगे आई और जागीरदार ने कहा— 'यह बहिन पहला पत्थर रखेगी ।'

सब लोग देखते से रह गये । किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर ही नहीं बरन् हर समय पददलित लोगों का पारिवारिक आत्मीयता के भाव से ध्यान रखने वाले इस जागीरदार का नाम था शंकरदेव जो आगे चलकर एक सच्चे भगवत्भक्त के रूप से प्रसिद्ध हुए । शंकरदेव का जन्म आलिपुरखुरी के जागीरदार परिवार में सन् १४४९ ई. में विजयादशमी के दिन हुआ । उनके पिता का नाम कुसुंबर और माता का नाम सत्यसंधा देवी था । लेकिन शंकरदेव के जन्म के कुछ समय बाद ही थोड़े बहुत अन्तर से माता-पिता दोनों चल बसे । पितामह ने— जिन्होंने अपनी जागीरदारी अपने पुत्र पर छोड़ दी थी और भगवत्भजन में लगे रहते थे पुनः लौकिक जीवन में प्रवेश किया और पोते के पालन-पोषण के साथ-साथ जागीरदारी का कामकाज भी सम्हालने लगे । उनके मातृवत प्रेम दिया दादी खेरसुती ने ।

माता-पिता के अभाव में बच्चा अपने आपको अकेला अनुभव न करे दादा-दादी इस बात का बड़ा ध्यान रखते थे । इसी कारण वे बचपन में पढ़ने-लिखने की ओर ध्यान नहीं दे पाये । लगभग बारह वर्ष तक वे अपने संगी-साथियों के बीच खेलते कूदते रहे । बाल-संगियों को साथ लेकर वे जंगल में निकल जाया करते । साथ में तीर-कमान भी होता कभी चिड़ियाएँ पकड़ते, कभी तीर कमान से शिकार करते और कभी ब्रह्मपुत्र में इस किनारे पर उतर कर तैरते हुए उस पार पहुँच जाते ।

१२ वर्ष की आयु तक उन्होंने पढ़ाई-लिखाई में कोई ध्यान नहीं दिया । खेलकूद और बालसंगियों के सहवास में इतने अधिक व्यस्त कि उन्हें खाने-पीने तक की फुर्सत नहीं रहती थी । अपने पोते को खेल में इस प्रकार मशगूल रहते देखकर आरम्भ से दादा-दादी पहले तो बहुत खुश हुए । उन्होंने सोचा कि इस प्रकार शंकरदेव अपने माता-पिता के अभाव को भूल रहा है । पर अधिक दिन तक वे पोते की इन गतिविधियों को सह नहीं सके ।

एक दिन दादी को इस कदर चिन्ता सवार हुई कि वे व्यथित हो उठीं । उन्होंने शंकर को अपनी गोदी में बिठाया । कुछ कहने ही जा रही थीं कि आँखों से टपाटप आँसू गिरने लगे और वे बोलीं— बता बेटे तू पढ़ता क्यों नहीं ?

न जाने आत्मीयता और व्यथा से भरे इस प्रश्न ने शंकर के अन्तरंग के किस तार को छू लिया । वे बोले रो मत दादी । अब मैं सारे शास्त्र पढ़ लूँगा ।

हृदय के जिस कोने ने यह प्रश्न पूछा उत्तर भी ठीक वहीं जाकर सुनाई पड़ा और खेरसुती ने अपने पति से शंकर को चारसाल (पाठशाला) में भर्ती करा देने के लिए कहा । दादा उन्हें महेन्द्र कन्दली की पाठशाला में भर्ती करा आये ।

इसके बाद तो शंकर जैसे सभी खेलकूद और संगी-साथियों के साथ घूमना-फिरना भूल गये और तन्मयतापूर्वक विद्याभ्यास में जुट गये । कुछ ही वर्षों में शंकरदेव व्याकरण, काव्यशास्त्र और धर्मशास्त्रों में गहरा प्रवेश करने लगे ।

गुरु महेन्द्र कन्दली अपने समय के जाने पहचाने विद्वान् तो थे ही । अध्यात्म और योग साधना में भी वे अधिकार रखते थे । शंकर में आत्मिक विकास की सम्भावनाओं को देखकर उन्होंने अपने इस प्रिय शिष्य को योग सिखाना तथा भागवत् पढ़ाना आरम्भ कर दिया । भागवत् में शंकर को इतना रस मिला कि अब सोते-जागते उन्हें इसी भागवत्‌रस की प्यास रहने लगी । हर घड़ी वे भागवत् का रसास्वादन करते ही दिखाई देते । अब स्वयं तो भागवत् का स्वाध्याय करते ही दूसरों को भी भागवत् पढ़ कर सुनाते तथा उसके तथ्यों को समझाया करते ।

अब घर-परिवार के लोगों को नई चिन्ता सवार हुई । शंकर कहीं भक्तिरस में डूबकर हमारे हाथ से ही न खो जाय । एक दिन चिढ़ कर परिवार के किसी वृद्ध सदस्य ने उनसे कहा— शंकर बेटा ! अब हम से तो कुछ होना जाना है नहीं । हम सबके लिए बैकुण्ठ तू ही बना दे ।

बड़ी सहजता से शंकर ने इस कटाक्ष को लिया । महेन्द्र कन्दली की पाठशाला में उन्होंने कुछ चित्रकारी तो सीखी थी ही । अतः तूलिका उठाई और पर्दे तानकर बैकुण्ठ का चित्र बनाने लगे । इंगुर, हरताल आदि रंगों से उन्होंने सात पर्दों पर सात स्वर्ग के दृश्य खींचे और जहाँ तहाँ झीलें तथा फुलवारियाँ भी बनायीं । शंकर की इस कलात्मक प्रतिभा को देखकर सभी लोग दंग रह गये । कहा जाता है कि अलिखपुरी का शायद ही कोई नागरिक उस समय रहा हो जिसने इन चित्रों को देखकर वाह न कहा हो ।

चित्रकारिता के बाद व्यक्त हुई शंकर की काव्य प्रतिभा । गाँव की भाषा में ही उन्होंने 'चिह्न यात्रा' नामक एक नाटक लिखा । कुछ अभिनेताओं को तैयार किया और गाँव की चौपाल पर यह नाटक खेला जाने लगा । भक्तिभाव से भरे इस नाटक को देखकर सभी ग्रामवासी भावाविभूत हो गये । इन्हीं दिनों उन्होंने एक खण्ड काव्य भी लिखा ।

शंकरदेव जैसे-जैसे बड़े होते गये— समाज को समझने लगे । वे अनुभव करने लगे कि समाज में आदमी और आदमी के बीच विषमता तथा ऊँच-नीच की दीवारें खींची हुई हैं । ऊँचे लोगों का झूठा अहं सता रहा है तो नीचे लोगों को विषमता की हीनता । इन विषमताओं को और विडम्बनाओं को देखकर शंकरदेव का युवा हृदय बड़ा पसीज उठा ।

उस समय आसाम में योगमार्ग का बड़ा जोर था । शंकर ने भक्तिमार्ग का अवलम्बन लेकर लोगों को नयी दिशा देने का संकल्प लिया । भक्तिमार्ग के द्वारा वे लोगों में यह विश्वास उत्पन्न करने लगे कि दुनिया में सभी धर्म बराबर हैं, सभी लोग बराबर हैं और सभी जातियाँ बराबर हैं क्योंकि सभी भगवान् के हैं ।

इन भावनाओं से भरे कीर्तन उन्होंने विपुल संख्या में लिखे और आसाम में स्थान-स्थान पर नामधरों (कीर्तन-मन्दिरो) की स्थापना का निश्चय किया । २१ वर्ष की आयु में ही वे इतना ऊँचा और आदर्श स्वप्न देखने लगे थे । घर वालों ने जब यह देखा कि वे रात-दिन धर्मकर्म में ही व्यस्त रहते हैं तो उनका विवाह सूर्यवती से कर दिया । भक्तिमार्ग की प्रवृत्तिधारा के उपासक होने के नाते उन्हें घर-परिवार

भी अपने लक्ष्य में सहायक ही लगा और बिना किसी ना नुकर के विवाह कर लिया ।

इसके साथ ही उन्हें जागीरदारी की देखभाल का दायित्व भी सौंप दिया गया । शंकरदेव ने यह दायित्व भी कुशलतापूर्वक सम्हाला । पर अपनी गतिविधियों का आधारभूत सिद्धान्त वही रखा जिसके कि वह प्रचारक थे । यानि कि ऊँच-नीच के भेदभाव से रहित समतापूर्ण व्यवहार ।

सन् १४७८ ई. में उनकी पत्नी ने एक कन्या रत्न को जन्म दिया और खुद उसे नौ महीने का छोड़कर चल बसीं । जीते जी शंकरदेव बाहरी दायित्वों के साथ-साथ अपनी पत्नी का भी बराबर ध्यान रखते थे । सूर्यवती देवी ने कभी यह महसूस नहीं किया कि वह एक विरागी की पत्नी है । पर जब पत्नी का देहान्त हो गया तो इस घटना को उन्होंने प्रभु की इच्छा मानकर निर्विकार भाव से स्वीकार किया ।

नौ वर्ष तक पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए सन् १४८७ में वे तीर्थयात्रा पर निकल पड़े ताकि अपनी विचारधारा का प्रचार कर सकें और टूटे दिलों को जोड़ सकें । बारह वर्ष तक उन्होंने देश के कई क्षेत्रों का भ्रमण किया और पूर्व निर्धारित लक्ष्य— नामधरों की स्थापना— की पूर्ति के लिए अनथक प्रयत्न करते रहे । इन नामधरों की विशेषता यह थी की इनमें सभी वर्ग और जातियों के लोग साथ-साथ भगवद्भजन करते । पुराणखण्डी पण्डितों को छोड़ कर उनकी मोहक वाणी ने सभी को प्रभावित किया और सभी स्थानों पर उन्हें सहयोग मिलने लगा ।

यात्रा में ही उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे 'कीर्तन धोषा', 'भक्ति प्रदीप', 'रुक्मणी हरण', 'काव्य बङ्गी', 'गुणमाला' आदि कई कृतियाँ उन्होंने लिखीं जिसमे कीर्तन शैली में अपने विचार और भक्त हृदय को खोल कर रख दिया है ।

तीर्थयात्रा से लौटने के बाद सत्तानवे वर्ष की आयु में भी आसाम में कीर्तनों की धूम मचा दी । उनके विरोधी भी प्रबल हुए और विरोधियों के प्रभाव में आकर कोचराज ने उन्हें गिरफ्तार कर दण्डित करने की सोची । पर शंकरदेव को सामने पाकर उनकी प्रतिभा से परिचित होते ही कोच राजा उनका शिष्य हो गया । सन् १५६८ ई. में उनका देहान्त हुआ पर उन्होंने अपने भक्त हृदय से समाज, साहित्य और संस्कृति की जो सेवा की उसने उन्हें अमर बना दिया ।

धर्म व राष्ट्र के महान् सेवक— साधू वास्वानी

लाहौर कॉलेज के प्राचार्य अपनी माता का अन्तिम संस्कार करके आए तो उनके मन में बड़ी उथल-पुथल मचने लगी । उन्हें माँ की वह बात याद आ गई । जब ये एम. ए. कर चुके थे तब कहीं थी— “बेटा अब तू इतना पढ़ गया है जितना मैं चाहती थी । अब चाहे जो कर बस एक बात याद रखना कि इसका समुचित सदुपयोग हो ।”

टी. एल. वास्वानी को इस पद को पाने के लिये बड़ी मेहनत करनी पड़ी थी । बचपन में पिता चल बसे । घर की स्थिति ठीक थी नहीं कि वे पढ़ सकते । इनकी माता इन्हें पढ़ाना चाहती थीं । कम से कम एम. ए. कराना चाहती थीं ।

इन्होंने सीमित साधनों, विपरीत परिस्थितियों की चिन्ता नहीं की और अपने उद्देश्य में डटे रहे । जिनके पास साधन-सुविधाएँ थीं, सदा उनसे आगे रहे । इस प्रकार उन्होंने एम. ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया ।

इस प्रकार की तप साधना से अर्जित ज्ञान का उपयोग केवल स्वयं के हित में किया जाय इतना हीन दृष्टिकोण इनका न था । वे तो इसका कण-कण सदुपयोग में लाना चाहते थे । शारीरिक आवश्यकताएँ तो इतनी न्यून होती हैं कि वे सहज पूरी हो जाती हैं फिर सम्पदा का मोह इस प्रकार के ज्ञानी को क्यों होता ?

माता की सेवा तथा सुख-सुविधा को ध्यान में रखते हुए उन्होंने प्राचार्य पद स्वीकार कर लिया था । अपने वेतन का अधिकांश वे साधनहीन विद्यार्थियों को बाँट देते थे । अब उन्हें इस पद पर रहने की आवश्यकता न रही । मातृ-ऋण चुका दिया । अब वे समाज व देश के लिये ही जीना चाहते थे ।

उन्होंने प्राचार्य पद से त्याग-पत्र दे दिया । मित्रों, परिचितों को यह अजीब लगा । इतने सम्मानित पद को छोड़ना कौन-सी विवेकशीलता है ? यह उनके समझ में नहीं आया । पूछने पर जब उन्हें उनके महान् उद्देश्य का परिचय मिला तो वे इनकी महानता के सामने नतमस्तक हो गए । उसी समय प्राचार्य वास्वानी साधु वास्वानी कहलाने लगे ।

ये भारतीय प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने दिनों बर्लिन में होने वाले विश्व धर्म सम्मेलन में सम्मिलित हुए । अंग्रेजी पर इनका बड़ा अच्छा अधिकार था । वहाँ भारतीय धर्म व संस्कृति पर इन्होंने अंग्रेजी में जो भाषण दिया तो लोग इनकी प्रतिभा व भारतीय संस्कृति के उदात्त रूप से बहुत प्रभावित हुए । भारत के लिये उन देशों के लोगों में सम्मान की भावना पैदा हुई । जिससे स्वतन्त्रता संग्राम में बहुत सहायता मिली ।

वे सच्चे अर्थों में साधू थे धर्म व्यवसायी साधु बाबा नहीं । भारत आकर वे भारत माता को अंग्रेजी दासता से मुक्त कराने के आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने लगे । सिंध क्षेत्र जो इस लपट से अछूता था वहाँ इन्होंने देश प्रेम की अग्नि प्रज्ज्वलित की । पुस्तकों, लेखों व परिपत्रों के माध्यम से सोये भारतीयों को जगाने का सराहनीय प्रयास किया । साधु वास्वानी के इस कृत्य से अंग्रेज सरकार बड़ी कुपित हुई । इन्हें बन्दी बना लिया गया । उन्होंने उस समय कहा था— “मेरे कार्यों में कुछ सार है तभी सरकार ने जेल दी है ।”

साधु वास्वानी का शरीर भले ही बन्दी था किन्तु उनका मन, मस्तिष्क और आत्मा तो मुक्त थे । इस समय में उन्होंने नव-जागरण के लिये भावी रूपरेखा बनाई । गहन चिन्तन और मनन किया । उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि धर्म और संस्कृति की एक व्यापक परम्परा इस देश में चली आ रही है । अंग्रेज इस धर्म और संस्कृति को ही अपनी शिक्षा के द्वारा मिटा देना चाहते हैं । अंग्रेजी शिक्षा के विरोध में ऐसी शिक्षा संस्थाएँ चलाकर ही भारत को इस मानसिक पराभव से बचाया जा सकता है ।

करावास से मुक्त होते ही उन्होंने अपनी योजना क्रियान्वित करनी आरम्भ कर दी। उन्होंने देहरादून, मंसूरी मार्ग पर स्थित राजपुर ग्राम में एक आश्रम की स्थापना की, उसका नाम रखा शान्ति आश्रम। इस केन्द्र का कार्य ऐसे प्रशिक्षित लोकसेवियों की सेना तैयार करना था, जो समाज में नई चेतना उत्पन्न करने में सहायक हों। यहाँ भारतीय धर्म, संस्कृति की शिक्षा दी जाती थी तथा उसे सारे भारत में फैलाने को प्रवृत्तियाँ चलाई जाती थीं।

अब तक ये इतने विख्यात हो चुके थे कि इन्हें सर्वत्र आमन्त्रित करने के लिये जनता लालायित हो उठी। इन्होंने देखा कि सिन्धु इस जाग्रति में बहुत पीछे रह गया है। वे सिन्धु चले गये। वहीं 'शान्ति आश्रम' तथा 'मीरा शिक्षण' की स्थापना इन्होंने की। इनके द्वारा लोक-शिक्षण चलने लगा। साथ ही साथ भजन मण्डलियों द्वारा उस क्षेत्र में धार्मिक चेतना फैलाने का प्रयास साधु वास्वानी ने किया।

देश को आजादी मिली साथ ही बँटवारा भी हुआ। साधु वास्वानी भी अन्य हिन्दुओं की तरह भारत आ गये। उन्होंने पूना में 'शान्ति आश्रम' तथा 'मीरा शिक्षण' की पुनः स्थापना की। अब इनका एक लक्ष्य राष्ट्र को स्वतन्त्रता दिलाने का तो समाप्त हो चुका था। अब केवल एक ही लक्ष्य रह गया था। उसी में उन्होंने अपना पूरा मनोयोग जुटा दिया। उन्होंने वहाँ आकर 'मीरा' नाम की एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया।

पूना अब देश-विदेश में धर्म प्रचार करने का केन्द्र बनाया गया। भारतीय जनता धर्म के आडम्बरों से इतनी भ्रमित हो चुकी थी कि उन्हें पुराणादि ग्रन्थों से अपने जीवन उत्थान की कोई प्रेरणा नहीं मिल पाती थी। इसके लिए इन्होंने महापुरुषों के जीवन चरित्र लिखे जिससे कि जनमानस उनके जीवन में धारण किये आदर्शों को अपने जीवन में उतारकर स्वयं सुखी हो सके तथा समाज में सुख की वृद्धि कर सके। 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' नामक एक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत उन्होंने देश-विदेश के प्रबुद्ध वर्ग को भारतीय संस्कृति का अनुगामी बनाने के लिये अँग्रेजी तथा सिन्धी भाषा में लगभग १५० पुस्तकें लिखीं।

इनके सामने काम इतने अधिक और समय इतना कम था कि इन्होंने विवाह तक नहीं किया। ये अपनी सम्पूर्ण योग्यता, प्रतिभा तथा श्रम समाज तथा राष्ट्र के हित में ही नियोजित करना चाहते थे। शादी करते तो जाने कितने झंझट इनके मार्ग में आ खड़े होते। वे कहते थे "साधु का सारा जीवन समाज के लिये ही तो नियोजित होना चाहिये।"

इनकी अन्तिम इच्छा एक गीता मन्दिर स्थापित करने की थी इसके लिये इन्होंने जनता से कहा। एक विदेशी गीता भक्त महिला के सहयोग से इनकी यह इच्छा भी पूरी हो गई।

१६ जनवरी १९६५ को इस महान् देशभक्त तथा भारतीय संस्कृति के लिये सर्वस्व बलिदान करने वाले साधु का शरीरान्त हुआ। साधु केवल समाज पर भार बनकर जीने वाला नहीं कहला सकता। साधु की जिम्मेदारी बहुत बड़ी है यह उन्होंने मुँह से कहकर नहीं जीवन जीकर बताया। काश ! इस चरित्र का आजकल के तथाकथित साधु अनुकरण करते।

मुक्तिदायिनी गुफा में स्थिर प्रवेश

साधु टी. एल. वास्वानी ने एक स्थान पर लिखा है— मैं स्वर्ग का राज्य पाना चाहता हूँ। पर इस दुनिया का निवास छोड़ना नहीं चाहता। क्या मुक्ति प्राप्ति में गुफा का निवास कुछ सहायक होगा ? ऐसी मुझे कुछ आशा नहीं है। क्योंकि सारा खेल मन का है। वह गुफा में बैठे-बैठे महल बना सकता है और यह भी हो सकता कि महलों में रहते हुए राजा जनक की तरह उसी में अपने लिए गुफा की संरचना कर ली जाय।

मैंने अपनी गुफा बना ली है और जहाँ चाहूँ वहाँ अपने साथ लिये-लिये फिरता हूँ। इसे मन के अतिरिक्त और कोई मुझे से कभी छीन नहीं सकता। अपने मन के अन्तराल की गहराई में बैठकर मैं जिस मुक्ति का सपना देखता हूँ वह जन-सेवा पर आधारित है। वह जन-सेवा आन्तरिक पवित्रता का वातावरण बन जाने के उपरान्त ही बन पड़ती है।

मन की गुफा में लालसाएँ भरी पड़ी हैं, तो उस गन्दगी के रहते जो कुछ भी सोचा जायेगा, मात्र कल्पना-लोक होगा। ऐसा कल्पना लोक जिसका यथार्थता से कोई सीधा सम्बन्ध न होगा। यह ठीक है कि आरम्भ कल्पना से होता है पर उसके साथ-साथ वे होनी ऊँची स्तर की चाहिए। ऊँचे स्तर से तात्पर्य है— मनुष्य मात्र की सच्ची सेवा और उस सेवा की सम्भावना को सार्थक करने के लिए लक्ष्य और चरित्र की पवित्रता अभीष्ट है।

साध्य ऊँचा हो तो भी साधनों के भ्रष्ट होने पर वह नहीं पड़ता। मकड़ी का जाला भर बनकर रह जाता है। जिन सपनों में सच्चाई और सम्भावना है उन्हीं का कोई मूल्य है। जहाँ इन दोनों का अस्तित्व न हो वहाँ जो कुछ रचा जा रहा होगा, वह कल्पना का महल मात्र होगा। ऐसी मुक्ति के प्रति भी मुझे अरुचि है जो रंगीन सपने बना सामने खड़ी हो किन्तु यथार्थता के साथ उसका सीधा सम्बन्ध न हो तो समझना चाहिए कि एक काल्पनिक मुक्ति अपनी टोकरी में जमा कर ली है।

लोकसेवा की कार्यपद्धति अपनाते ही मुझे अपने लक्ष्य की समीपता और यथार्थता दीखती है। अन्तरात्मा में तत्क्षण सन्तोष होता है कि अपने से कुछ भलाई बन पड़ी वह भलाई काल्पनिक तो नहीं थी, इसकी यह कसौटी रखी है कि चिन्तन और चरित्र में पवित्रता का संचार करती है या नहीं।

बड़ों ने कहा है कि मुक्ति के लिए गुफा का निवास आवश्यक है। उनके कथन को मैंने झुठलाया नहीं है। गुफा का शब्द और स्वरूप दोनों ही मुझे भले लगे हैं। किन्तु उस भलाई को, सेवा धर्म को अपनाने पर ही कसौटी पर खरा पाया है। जब तक मुक्ति की बात सोचता रहा और उसके लिए कल्पना की गुफा बनाता रहा तब तक समाधान हुआ नहीं और प्रतीत होता रहा कि कोई कल्पना लोक गढ़ लिया है और उसमें विचरण करते हुए मन के मोदक खाये जा रहे हैं।

अब मुझे विश्वास हो गया है कि सच्चाई के साथ अपनाई गई सेवा की रीति-नीति मुक्ति के लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। इसलिए भटकने की अपेक्षा इसी गुफा में प्रवेश करना और सदा सर्वथा के लिए उसी में रहना मुझे भला लगा है।

गुजरात के गौरव— रविशंकर महाराज

“खबरदार ! एक भी कदम आगे बढ़ा तो गोली छूटेगी ।”

चारों ओर छाया हुआ घना अंधकार । दोनों ओर खड़ी टेकड़ियों के बीच बहता छोटा-सा झरना । वातावरण को भयानक बनाने वाली रात, कीड़ों की आवाज और उस भयानकता को बढ़ाने वाली किसी महाकाय व्यक्ति की भयंकर आवाज सुनकर मुसाफिर रुक गया, चारों ओर से बन्दूकधारी डाकुओं ने उसे घेर लिया । उनको देखकर मुसाफिर का हास्य फूट रहा था— हा S S S हा S S हा S S ।

“कौन हो तुम ?” बन्दूकों के पीछे से आवाज गरज उठी ।

“लुटेरा हूँ ।” शांति से उत्तर मिला ।

“यहाँ क्यों आये हो ?”

“आप सबसे मिलने आया हूँ ।”

“किस टोली के हो ?”

“गांधी महात्मा की । तुम लोगों को लूटने की सही रीति सिखाने आया हूँ । उस महात्मा ने अंग्रेज सरकार के सामने बगावत आरम्भ की है । आप लोग भी चलिये हमारे साथ । उसमें शामिल होइये ।”

आत्मविश्वास के साथ ये शब्द कहने वाला मुसाफिर था, गुजरात का गौरव— रविशंकर महाराज ! इस नारद ने अनेक डाकुओं के दिल में घुसकर उनका जीवन-परिवर्तन किया है । हृदय-परिवर्तन की एकएक घटना उनकी जीवन फुलवारी में खिले हुए सुन्दर, सुगन्धित फूल के समान है । जनसेवा का व्रत धारण किये हुये इस महातपस्वी को जनता ने अपने हृदय-सिंहासन पर बिठा कर ‘महाराज’ की उपाधि दे दी ।

गुजरात के खेड़ा जिले में सरसवणी नामक गाँव में शिवराम मास्टर के घर सन् १८८४ में महाराज का जन्म हुआ । माता नाथीबा बचपन से ही बच्चे को रामायण, महाभारत की कथायें सुनाया करती । भोर होते ही काम में लगी रहती । हाथ में काम और ओठों पर भगवान् का नाम— यही मातृ-स्वरूप बालक देखता आया । ऐसी संस्कारी मातृ-छाया में महाराज के जीवन का निर्माण हुआ । बचपन में ‘राणा प्रताप’ नाटक का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा । वचन के लिये सर्वस्व त्याग करने का बल उनको उस नाटक से मिला ।

पिता की मृत्यु के पश्चात् घर-गृहस्थी की सारी जिम्मेदारी उन पर आई, जो उन्होंने बहुत कुशलता से निभाई । इतने में भारत में गांधी जी की आंधी आई और परिणामस्वरूप महाराज के जीवन को बन्दी करने वाली दीवारें गिर गई ।

एक दिन महाराज ने अपनी पत्नी सूरज बा से कहा— “आज से हमारे बच्चे सरकारी स्कूल में पढ़ने के लिये नहीं जायेंगे ।” कुछ दिन बाद आदेश हुआ— “तुम्हारी सूती रेशमी सब साड़ियाँ निकालो ।” “क्यों ?” सूरज बा ने पूछा । “बापू की आज्ञा है मिल के कपड़े जेला दो ।” महाराज ने कहा ।

“तो क्या आप सब कपड़े जला देंगे ?” पत्नी बोली ।

‘तुमको क्या चाहिये— कपड़ा, पैसा या मैं ?’

महाराज ने शांतिपूर्वक पूछा । पत्नी ने तुरन्त उस होली में अपना पूरा योगदान दे दिया । वे समझ गई कि यह तो अनोखी राह का यात्री है । तब उन्होंने विरोध करने की अपेक्षा सहयोग का रास्ता अपनाया और पति के लोकमंगल कार्यों में पूरा-पूरा योगदान देने लगीं ।

महाराज कर्मयोग में जुट गये । बड़ौदा राज्य में बारैया और पाठणबाड़ियाओं की बस्ती में उनका प्रचार-कार्य चला । वहाँ के लोग चोरी में सिद्धहस्त थे । महाराज गाँव-गाँव घूमते थे । एक गाँव में एक दिन रुकते थे और दाल चावल माँग का खुद खिचड़ी पका लेते थे । सालों तक महाराज ने खिचड़ी के सिवा अन्य भोजन नहीं किया, साथ में कुएँ से पानी निकालने के लिए एक रस्सी रखते थे । यह क्रम दस वर्ष तक चला । आखिर बारडौली सत्याग्रह के समय सरदार बल्लभ भाई ने उनका यह रवैया बदलवाकर सबके साथ भोजन करने का क्रम आरम्भ करवाया ।

महाराज ने एक दिन अपनी सारी सम्पत्ति को विसर्जन करने के लिये सूरज बा से कहा । लेकिन बा इसके लिये तैयार नहीं हुई । तब से महाराज ने एक ही भोजन पर रहने का निश्चय किया । आखिर बा को अपना निश्चय बदलना पड़ा ।

महाराज का अपरिग्रह व्रत भी आदर्श है । एक बार पद-यात्रा में बारिश आरम्भ हुई । साथ में दो कार्यकर्त्ता थे । बारिश की बूँदें आने लगीं तो उन भाइयों ने अपने झोलों में से प्लास्टिक की टोपी निकाली और सिर पर चढ़ा ली । महाराज ने अपनी सफेद टोपी उतार कर जेब में रख ली । बारिश का जोर बढ़ने लगा तो उन भाइयों ने झोले में से रेनकोट निकाला और बदन पर चढ़ाया । महाराज ने अपने बदन पर से कुर्ता उतारा और झोले में रख लिया । भाई पूछने लगे— “महाराज ! यह क्या ?” महाराज ने कहा— “आप लोगों ने बारिश से बचने के लिये वाटरप्रूफ रेनकोट पहना, वैसे मैंने भी मेरे पास जो वाटरप्रूफ था, वह बारिश के सामने खोलकर रख दिया ।”

डाकुओं का हृदय-परिवर्तन करवाने वाले जैसे महाराज के लोक-सेवा के अनेक कार्य विश्रुत हैं । इसके अलावा महाराज आदर्श शांति सैनिक भी हैं । जहाँ कहीं झगड़े की गंध आती हो, महाराज वहाँ बेखौफ पहुँच जाते हैं । अहमदाबाद में जब हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ, तब महाराज मुस्लिम क्षेत्र में अकेले घूम रहे थे । एक बार दो बहिनें उनके साथ थीं । वे मस्जिद में गये । वहाँ एक फकीर कपड़ा लपेटकर बैठा हुआ था । महाराज उसके पास गये और तुरन्त लौट आये । लड़कियाँ पूछने लगीं— “महाराज, क्या हुआ ?”

महाराज ने कहा— “उस फकीर के कपड़े के अन्दर हथियार थे । तुम दोनों साथ थीं, इसलिये बाहर आ गया ।” रास्ते पर शव पड़े हुये थे । उन शवों को उठाकर अग्नि-संस्कार करने की जिम्मेदारी महाराज ने उठाई । हिन्दू-मुस्लिम दोनों बस्तियों में महाराज निःशंक हो घर-घर पहुँच जाते और सबकी कुशल पूछते ।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद जनता का यह प्रतिनिधि किसी सत्ता-स्थान पर नहीं बैठा— जनता के साथ ही रहा । सत्य और अहिंसा के लिये, जहाँ आवश्यकता महसूस हुई । हमारी सरकार का भी उन्होंने विरोध किया ।

सुनते हैं कि प्रत्येक युग का एक-एक पुरुषार्थ होता है। अपने युग के पुरुषार्थ में जिसकी शक्ति खर्च हो जाती है, उसकी शक्ति दूसरे युग के पुरुषार्थ के लिये नहीं बचती। परन्तु महाराज ने नित्य युवा बन कर, स्वराज्य प्राप्ति के बाद आर्थिक और सामाजिक क्रांति का जो नया पैगाम आया, उसको भी स्वीकार कर लिया और भूदान माँगते हुये गाँव-गाँव पैदल घूमे। दो वर्ष तक सतत पद यात्रा का व्रत ही रहा। विनोबा जी के साथ गुजरात से अजमेर तक पैदल यात्रा की और वहाँ से गुजरात वापस आये भी पैदल।

८० वर्ष की आयु में भी वे उत्तराखण्ड की पैदल यात्रा कर आये। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ चढ़े। लोगों की बातें सुनीं और अपनी लोगों को सुनाई।

लोकसेवा कार्य में इतने व्यस्त होते हुए भी महाराज का सूत्र-यज्ञ सतत चलता रहता। साल भर में वर्षा के दो महीने शरीर शुद्धि के लिये एक स्थान पर निवास कर वे सात दिन का उपवास करते थे। उपवास के बाद पहले कुछ दिन मूँग का पानी फिर थोड़ा अनाज। यों करते-करते महीने भर में पूरे आहार पर आते। अपने निजी कार्य के अलावा बाकी सारे समय में अध्ययन-अध्यापन चलता रहता। कताई भी साथ-साथ चलती। कहा करते हैं— “चरखा चलाना यही मेरा आराम है।”

वस्तुतः गुजरात निवासी रविशंकर महाराज का नाम सामने आते ही एक साधारणतम व्यक्ति की तस्वीर मानस पटल पर उभर आती है। वह तस्वीर इस प्रकार की होती है। एक मोटे-गाढ़े की आधे बाँह वाली फतोई और घुटनों तक की मारकीन की मोटी धोती। साथ ही “पाँव उपानह की नहीं सामा”— अर्थात् पैरों में न जूते और न चप्पल। सिर पर हो सका तो छोटी-मोटी पगड़ी है, नहीं तो वह भी नहीं।

‘यह तो रहा उस तस्वीर का बाह्य दृश्य’ अब उसके अन्तर का दृश्य देखिये। निष्क्राम और निःस्वार्थ से भरी भावना, सेवा और सदाचार के प्रशिक्षण का उत्साह, शिक्षा और सुधार की लगन उनके मनोमन्दिर के शृंगार उपकरण थे। रहन-सहन और आहार-विहार के विषय में— एक छोटी-सी कुटिया, पलंग और बिस्तर के नाम पर एक तख्त और साधारण साधरी। भोजन और व्यंजन के नाम पर किसी भी तरह की बिना नमक की खिचड़ी। आनन्द-उत्सव के रूप में संयम-नियम और भगवान् का भजन। बस, श्री रविशंकर महाराज का यही सब जीवन था। जिसको वे आदि से अन्त तक हर्षपूर्वक चलाते हुए गुजरात के महान् समाज-सेवियों की सूची में उल्लिखित हुए।

श्री रविशंकर महाराज एक पुरोहित थे और इस पद पर उनकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि उनके यजमान पाठनवाणियाँ जब कभी भी उनके दर्शन पा जाते थे, तो न केवल नमस्कार ही करते थे बल्कि अपनी पगड़ी उतार कर उनके पैरों के नीचे बिछा देते थे और पद-रज लेकर शीश पर चढ़ाते थे।

अन्य पेट प्रधान पुरोहितों की भाँति यदि रविशंकर महाराज अपनी इस प्रतिष्ठा का आर्थिक लाभ उठाना चाहते तो अपने जीवन में सुख-

सुविधाओं की बहुतायत कर लेते। घर-मकान बनवा लेते और बैंकों के खातों में स्थान पा लेते। किन्तु लालची पुरोहितों की भाँति उन्होंने उसका न तो दुरुपयोग किया और न उसे बदनाम। उन्होंने लोभ, लिप्सा और लाभ से अलग रहकर एक सच्चे पुरोहित के रूप में जन-सेवा में अपना जीवन लगाकर धन्यता की पात्रता प्राप्त की।

गुजरात की पाठनवाणियाँ जाति अपने दुर्व्यसनों और अपराध वृत्ति के कारण बदनाम थी। चोरी, ठगी और बेईमानी का जीवन जीना वे लोग अपना उत्तराधिकार समझते थे। शिक्षा और सामाजिकता का उनमें सर्वथा अभाव ही था। रविशंकर महाराज इसी अपराधी जगत के पुरोहित थे। रविशंकर महाराज के इन यजमानों का मुख्य पेशा चोरी करना था। जो पाठनवाणियाँ जितनी अधिक चोरी कर लेता था, वह अपने समाज में उतना ही अधिक आदर का पात्र माना जाता था। जो पाठनवाणियाँ एक हफ्ते तक चोरी करने नहीं जाता था, उसकी स्त्री उससे रूठ जाती थी और उसे निठल्ला, निकम्मा और डरपोक कहकर तिरस्कृत किया करती थी। ऐसी अपराधी जाति में रविशंकर महाराज ने सद्गुणियों का संचार कर पुरोहित के सच्चे कर्तव्य और उसके महत्त्व की स्थापना की।

पुरोहित होने के नाते वे इन पाठनवाणियों के परिवारों में जाया करते थे। उन्हें अच्छी-अच्छी सदाचारपूर्ण कथा वार्ताएँ सुनाते थे। बस्ती के लोगों को एकत्र कर सदाचार का उपदेश किया करते थे। जब कभी उन्हें कहीं रात में देर हो जाती थी, तो वे उन्हीं के घर रह जाया करते थे। वे न तो उन संस्कारहीन मनुष्यों से घृणा करते थे और न उनके साथ छुआ-छूत का आडम्बर ही बरतते थे। वे सबके साथ अपने भाइयों, बच्चों और बहू-बेटियों जैसा व्यवहार किया करते थे। रविशंकर महाराज का अधिकांश समय उन पिछड़े लोगों के बीच ही व्यतीत होता था।

अपने आदरणीय पुरोहित के इस सम्पर्क एवं व्यवहार से प्रभावित होकर पाठनवाणियों ने सबसे पहले शरीरों और घरों की सफाई रखनी शुरू कर दी। सत्संग का प्रभाव पड़ता ही है। पाठनवाणियाँ महिलाओं ने रविशंकर महाराज के लिहाज के कारण आपस में लड़ना-झगड़ना और गाली-गलौज करना बन्द कर दिया। उनकी वाणी और व्यवहार में शील संकोच का संचार होने लगा।

श्री रविशंकर महाराज को अपने अपराधी यजमानों के साथ आत्मीयतापूर्ण सहानुभूति थी। वे उनके सुधार का स्वयं तो प्रयत्न करते ही थे, अपनी उपासना में परमात्मा से उनको सद्बुद्धि देने के लिए भी प्रार्थना किया करते थे। तन-मन से ही नहीं आत्मा तक से पाठनवाणियों का कल्याण चाहने वाले रविशंकर महाराज जब अपनी मार्मिक पीड़ा के साथ चोरी, जुआ, शराब आदि बुराइयाँ छोड़ने के लिए कहते थे, तो उन पर प्रभाव पड़े बिना न रहता था। वे बुराइयाँ छोड़ने की प्रतिज्ञा करते और उसे निभाने का प्रयत्न करते थे। एक बार अनेक व्यक्तियों ने उनसे कहा— ‘महाराज ! हम शराब छोड़ना तो चाहते हैं, किन्तु यह पिशाचिनी हमें खुद नहीं छोड़ती है। बुरी तरह पकड़े हुए है। महाराज ने उन्हें सायंकाल अपने घर मिलने के लिए बुलाया। जब वे लोग उनके घर पहुँचे तब रविशंकर महाराज

एक खम्भे से लिपटे खड़े थे। आगन्तुकों को देखकर बोले— “भाइयो ! मैं तुम्हारे पास आकर तुम्हारा स्वागत करना चाहता हूँ। पर क्या करूँ, यह दुष्ट खम्भा मुझे छोड़ता नहीं।” सारे आगन्तुक खिल-खिला कर हँस पड़े और बोले— “महाराज आप भी क्या कहते हैं ? भला बेजान खम्भा आपको पकड़ कर रख सकता है। आप तो स्वयं उसे पकड़े हैं छोड़ दीजिये और बरी हो जाइये।”

रविशंकर महाराज ने तुरन्त कहा— “जब बेजान शराब आप लोगों को पकड़े रह सकती है, तब यह बेजान खम्भा मुझे क्यों नहीं पकड़े रह सकता है।” उन पाटणवाणियों ने उनके कथन का मर्म और अपनी मानसिक दुर्बलता समझी और उसी दिन से शराब ही नहीं और सारे व्यसन सदा के लिए त्याग दिए। रविशंकर महाराज इस प्रकार अपने यजमानों का सुधार किया करते थे।

रविशंकर महाराज अपने यजमानों के कर्मों का पूरा लेखा-जोखा रखते थे। जब कोई पाटणवाणियाँ कहीं से चोरी कर लाता था, तो वे तुरन्त उसके पास जाते थे और उसे समझा-बुझा और धिक्कर कर अपने किए के प्रति ग्लानि उत्पन्न करते और माल वापस कर दिया करते थे। बहुत बार वे अपराध करने वालों को पुलिस में ले जाकर अपराध स्वीकार करने को कहते और राज-दण्ड भोग कर प्रायश्चित्त की प्रेरणा देते। इस प्रकार वे अनेक उपायों, उक्तियों और प्रयत्नों द्वारा जीवन भर अपने यजमानों की अपराध वृत्ति दूर करते रहे।

उन्होंने अपने प्रयत्नों और सरकार की मदद से अपराधियों के बच्चों के लिए पाठशालायें चलाई और अनेक आजीविक-जनक घरेलू उद्योग-धन्धों की व्यवस्था की। उन्होंने प्रौढ़ों के लिए एक सायं पाठशाला भी प्रारम्भ की और उसमें स्वयं अध्यापन कर लोगों में सद्वृत्तियों का जागरण किया। इस प्रकार जब तक वे जिये निरन्तर अपने पिछड़े हुए यजमानों की सुधार सेवा ही करते रहे।

उनके इस सराहनीय सत्कर्म ने उनका प्रभाव गुजरात की पिछड़ी जातियों में ही नहीं बल्कि अन्य लोगों में भी बढ़ा दिया। सरदार पटेल जैसे नेताओं ने उनका प्रभाव राजनीति में उपयोग करने का प्रयत्न किया और चाहा कि वे उस छोटे से क्षेत्र से निकलकर राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में चले आयें। धनीमानी व्यक्तियों ने चाहा कि रविशंकर महाराज अपराधी लोगों की पुरोहिती छोड़ कर उनकी पुरोहिती स्वीकार कर लें और सम्मान और सुख-सुविधापूर्ण जीवन बितायें। पर निर्लोभ महात्मा ने इनमें से एक बात भी स्वीकार न की। उनसे जो कुछ हो सका दूसरे क्षेत्रों में भी सेवा करते रहे। किन्तु पाटणवाणियाँ जाति के सुधार का अपना जीवनोद्देश्य नहीं छोड़ा और इस प्रकार व्रत, सद्भावना और सेवा कार्यों द्वारा सदा के लिये अमर हो गये।

मैं गुड़ नहीं लूँगी

गुजरात के रविशंकर महाराज एक गाँव में सवा सौ मन गुड़ बाँट रहे थे। सैकड़ों लोग गुड़ लेने के लिये दौड़े आ रहे थे। पर एक लड़की चुपचाप घर की ओर चली जा रही थी। दूसरों को गुड़ पाते हुए देखकर भी उसके मन में गुड़ के लिये कोई इच्छा नहीं हुई वह अपने घर की ओर ही बढ़ती रही।

रविशंकर महाराज ने उसे रोककर कहा— लो बेटी गुड़ लो। कन्या ने कहा— नहीं मुझे गुड़ नहीं चाहिए। मेरी माँ ने सिखाया कि बिना पश्चिम किये मुफ्त में कोई चीज नहीं लेनी चाहिए। भगवान् ने हमें हाथ-पाँव दिये हैं उनका ही भरोसा करना चाहिए।

रविशंकर महाराज लड़की के साथ उसके घर गये और उस ईमानदार और पश्चिमशील स्त्री के दर्शन कर धन्य हुए। इस स्त्री ने अपनी सारी सम्पत्ति बालिका विद्यालय को दान दे दी थी स्वयं लकड़ियाँ बेचकर अपना और बच्ची का गुजारा करती थी।

दान उपकार नहीं

भूदान आन्दोलन का प्रचार करते हुए स्वामी रविशंकर महाराज सांवरकाठा के एक गाँव में ठहरे हुए थे। उनकी मर्मस्पर्शी वाणी और हृदय को छू देने वाले प्रतिपादनों से प्रभावित होकर कई व्यक्तियों ने अपनी जमीनें दान में दीं। एक दिन गाँव की एक वृद्धा उनके पास आयी और कहने लगी— “महाराज ! मेरे पास जमीन जायदाद तो कुछ नहीं। मेरे पास कुल दस बकरियाँ हैं, मैं चाहती हूँ कि जो व्यक्ति मुझसे गरीब हो उसे मैं अपनी आधी बकरियाँ दान में दे दूँ। क्या आप मुझे इसकी अनुमति देंगे।”

महाराज जी ने कहा— “क्यों नहीं ? परन्तु यह देखना भी तुम्हारा काम है कि इस गाँव में सबसे गरीब कौन है ?”

वृद्धा कुछ देर तक विचारमग्न रही फिर किसी निश्चय पर पहुँच कर बोली— “महाराज इस गाँव में एक लड़का है, जिसके घर में केवल उसकी बुढ़ी माँ है किसी तरह मेहनत-मजदूरी कर वह अपना और अपनी माँ का पेट पालता है। यह बकरियाँ उसे ही दे दी जानी चाहिए।”

वे बकरियाँ वृद्धा द्वारा बताये गये लड़के को दे दी गयीं। दूसरे दिन वृद्धा ने आकर रविशंकर जी से कहा— “महाराज कल मुझे बहुत मीठी नींद आयी। मेरा मन कहता है कि मेरा काम एक मकान से ही चल सकता है जबकि मेरे पास दो मकान हैं। मेरी आत्मा गवाही देती है कि एक मकान किसी बेघर आदमी को दे देना चाहिए।”

‘जरूर देना चाहिए’— रविशंकर जी ने प्रोत्साहित किया। यही वृद्धा कल आकर अपनी आधी बकरियाँ दान दे जा चुकी थी और आज अपना एक मकान भी किसी बेघर गरीब को देने आयी है। वृद्धा की परमार्थ भावना से रविशंकर जी बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने फिर पूछा— “अच्छा तुम्ही बताओ गाँव में सबसे ज्यादा गरीब कौन है ?”

वृद्धा ने कुछ देर तक विचार किया और फिर बोली— “महाराज एक रैबारी है। वही सबसे ज्यादा गरीब है। उसके तीन बच्चे भी हैं पर वह एक टूटी-सी झोपड़ी में रहता है। ऐसी झोपड़ी जो बारिश में टपकती है और गर्मी में उसकी छत से धूप के इतने तरवरे टपकने लगते हैं कि सारी जमीन गरम हो उठती है।”

“तो ठीक है”— रविशंकर जी ने कहा है— “मकान की उसे बड़ी जरूरत है। उसे बुला लाओ।”

रविशंकर जी की बात सुनकर एक व्यक्ति दौड़ा-दौड़ा गया उस रैबारी के पास और उसे बुला लाया। रैबारी को उस व्यक्ति ने रास्ते

में ही बता दिया था कि अमुक माँ ने रविशंकर जी महाराज की शिक्षाओं से प्रेरित होकर अपना आधा मकान किसी ऐसे व्यक्ति को देने का निश्चय किया है जो नितान्त ही गरीब हो और उसके लिए तुम सर्वथा उपयुक्त समझे गये हो।

रैबारी को स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि वह इस टूटी-फूटी झोंपड़ी को छोड़कर जीवन में कभी ढंग की छत वाले मकान में रह सकेगा और अपने बच्चों को बारिश तथा धूप से बचा सकेगा। उस वृद्धा के प्रति कृतज्ञता किस प्रकार व्यक्त करे और किन भावनाओं से रविशंकर जी को अपने हृदयासन पर आसीन करे जिनकी कृपा से उसे वह स्वप्न साकार होता दिखाई दिया। वहाँ पहुँच कर उसने रविशंकर जी को प्रणाम किया। रविशंकर जी ने उसे देखकर कहा— ‘तुम्हारे पास घर नहीं है।’

‘नहीं’ है महाराज.....उसे सारी बात तो रस्ते में ही पता चल गयी थी सो वह अपनी भावनाओं का उपान रोक न सका और रविशंकर जी के चरणों में गिर पड़ा। रविशंकर जी ने कहा— ‘पगले मुझे नहीं उस माँ को प्रणाम कर और सुन।’

‘जी हुजूर’— रैबारी ने पूछा ‘ये माँ जी तुझे मकान तो दे रही हैं लेकिन मैं इसमें एक शर्त लगाता हूँ कि जब तक ये जीती रहेंगी तब तक तुम्हें इनकी सेवा करनी पड़ेगी।’

रैबारी कुछ कहे इसके पीछे ही वृद्धा बीच में टोक उठी— ‘‘नहीं नहीं महाराज ! मैं सेवा करने के लिए मकान थोड़े ही दे रही हूँ। मेरे पास तो आवश्यकता से अधिक जगह है, उसे ही दे रही हूँ और उसके बदले जो आत्मसंतोष मुझे मिल रहा है वह मकान के मूल्य से कहीं अधिक है। फिर इस भाई की सेवा का कर्ज मैं अपने ऊपर क्यों चढ़ाऊँ।’’

वृद्धा की परमार्थ भावना देखकर रविशंकर महाराज गदगद हो उठे। उन्होंने कई स्थानों पर अपने प्रवचनों में इस घटना का उल्लेख किया।

एक वीर हुतात्मा—स्वामी श्रद्धानन्द

मुन्शीराम तथा स्वामी श्रद्धानन्द ! एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। किन्तु दोनों में अन्तर उतना ही है, जितना एक तख्ते के दोनों तरफ के पाटों में, जिन्हें एक ओर काला तथा एक ओर सफेद पोत दिया गया हो।

स्वामी जी का नाम पहले मुन्शीराम था। वे अपने प्रारम्भिक जीवन में बड़े ही कुमार्गगामी थे। सुरापान से लेकर वेश्यागमन तक सारे ही दुर्गुण इनमें थे। पिता क्रोतवाल थे। किसी प्रकार की रोक-टोक अथवा आर्थिक समस्या का कोई प्रश्न ही न था।

कहते हैं कालिदास को विद्वान् कवि तथा मनीषी बनाने का श्रेय उनकी पत्नी विद्योत्तमा को है।

सन्त तुलसीदास भी पत्नी की प्रतारणा अथवा सदुद्बोधन के फलस्वरूप ही ‘राम बोला’ से सन्त तुलसीदास बनकर मानस जैसे महाकाव्य का प्रणयन करने योग्य बन सके।

स्वामी श्रद्धानन्द की पत्नी भी इसी श्रेणी की देवी थीं, नाम था शिवदेवी ! सेवा, त्याग, नम्रता, उदारता, सहिष्णुता तथा क्षमता शीलता की साकार प्रतिमा। भारतीय नारीत्व की जीती जागती मूर्ति।

उनका यह नियम था कि कभी भी स्वामी जी घर लौटें भोजन गरम बनाकर ही खिलातीं और उनके खा लेने के पश्चात् ही खातीं। एक दिन की बात है। यही दिन स्वामी जी के जीवन का वह दिन है जब उनकी सोई हुई आत्मा जागी और उन्होंने यह विचार किया कि मैं कहाँ हूँ और मुझे कहाँ होना चाहिए।

स्वामी जी लौटे थे— रात के दो या तीन बजे। नृत्य-संगीत की सभा से। गाड़ी से उतर कर अन्दर आते ही जोर की कै हुई। दो कोमल हाथ सहारा दिये अन्दर ले आये। वस्त्र बदलवाकर लिटा दिया। वे सो गये परन्तु शिवदेवी पैर दबाती रहीं— सिर दबाती रहीं। काफी देर बाद आँख खुली। यह उनके चर्मचक्षु ही नहीं, ज्ञानचक्षु भी खुले थे। देखा सिगड़ी जल रही है। आटा गुंथा रखा है। पत्नी की ओर दृष्टि गई। पैर दबाते-दबाते बैठी ही बैठी सो गई थीं।

आँखों में आँसू आ गये हृदय चीत्कार कर उठा। मन पश्चाताप की अग्नि में जलने लगा। मस्तिष्क ने गिरे हुए जीवन से बगावत कर दी।

सोचा, ‘मेरे कारण न जाने कितनी रातें इसे यों ही भूखे सो जाना पड़ा होगा। और मैं ? ओह ईश्वर ! तेरी आचार संहिता में जो भी दण्ड विधान हो— कड़े से कड़ा दण्ड देना मुझे।’

उसी दिन से वे अपनी समस्त दुर्बलताओं को तिलांजलि दे बैठे और जीवन की दिशा मुड़ी तो ऐसी मुड़ी कि फिर पीछे की ओर मुड़कर भी न देखा। विवेक का दिनमान उगा तो फिर ऐसा— कि तमिस्रा को चोरता हुआ गगन की छाती पर चढ़ता ही गया।

अब उनका एक ही पथ था— समाज-सेवा। एक ही लक्ष्य था लोक-कल्याण। उस समय का सबसे बड़ा युग धर्म था, भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करना। सो एक वीर सैनानी की भाँति स्वतन्त्रता आन्दोलन में कूद पड़े। अच्छी-खासी चलती हुई वकालत को छोड़ा। जज के पद के आकर्षण को कच्चे धागे की भाँति तोड़ दिया।

वर्षों कार्य किया अपनी भारत माँ की बेड़ियाँ काटने के लिये। इसके लिए उनकी लेखनी ने भी वह काम किया कि लोग लेख पढ़ते और अपनी जीवन दिशा बदलने की प्रेरणा ग्रहण करते। ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाये गये ‘रोलेट एक्ट’ के विरुद्ध दैनिक विजय में आपके पाँच लेख ‘छाती पर पिस्तौल’ शीर्षक से निकले थे। उन्होंने तहलका मचा दिया था।

उन दिनों आप ‘आर्य संन्यासी’ के नाम से विख्यात थे। दिल्ली शहर में तब स्वामी जी का इतना प्रामुख्य था कि आपकी एक आवाज पर लाखों स्वयंसेवक अपनी जान हथेली पर लिये तैयार रहते थे। सब उन्हें दिल्ली का बेताज का बादशाह कहते थे।

तीस दिसम्बर सन् १९२९ का दिन दिल्ली तथा स्वातन्त्र्य संग्राम— दोनों के इतिहास में अविस्मरणीय है। स्वामी जी के नेतृत्व में सफल हड़ताल रखी गई और जब मालूम पड़ा कि पुलिस की गोलियों ने अगणित युवकों का रक्त पी लिया है तो सम्पूर्ण दिल्ली ने खून के आँसू बहाये। स्वामी जी का तो जैसे हृदय ही किसी ने छेद दिया हो।

परेड के मैदान में सभा आयोजित हुई। डिप्टी कमिश्नर ने धारा १४४ घोषित कर दी। स्वामी जी से कहा गया— ‘‘सभा भंग कर दें।’’

किन्तु सभा भंग करने का अर्थ था लहराते जन-समुदाय की भावनाओं को उत्तेजित कर देना। कमिश्नर स्वामी जी के प्रभाव को जानता था। सभा भंग न करने की बात सुनकर बोला— “और यदि इससे शान्ति भंग हुई तो कौन जिम्मेदार होगा ?”

और तभी सिंहा की गर्जना करते हुए श्रद्धानन्द बोले— “यदि आप पुलिस तथा फौज हटा लें तब मैं जिम्मेदारी लेता हूँ।” सभा शान्तिपूर्ण ढंग से होकर विसर्जित हो गई। ऐसा अजेय साहस था उनमें।

और जब उनके पीछे-पीछे जन-समूह चाँदनी चौक पहुँचा तो फिर पुलिस की कतारों और संगीनों की चमकती नोकें का सामना हुआ। तब भीड़ में से आगे निकलकर सामने आये स्वामी जी और अपनी छाती आगे करके उच्च स्वर में बोले— “चलाओ गोली” मौत को गेंद के समान हाथ में लेकर खेलने का साहस— केवल आत्म-बल सम्पन्न, ध्येय के प्रति निष्ठावान तथा लगन के पक्के विरले ही व्यक्तियों में पाया जाता है। उसके समक्ष भौतिक शक्तियाँ स्वयमेव ही झुक जाती हैं।

स्वामी जी के इतना कहते ही फौजी अधिकारी सामने आया और उसने कहा— “इन्हें रास्ता दे दो।”

संगीनें झुक गईं। रास्ता दे दिया गया और महर्षि विश्वामित्र की वह दिव्य वाणी एक बार फिर चरितार्थ हो उठी “**बिष्क बलम् क्षत्रिब बलम्। ब्रह्म तेजो बलम् बलम्।**”

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन त्याग तथा सेवा की कहानी है। परमार्थ के लिए किये गये कार्यों की एक लम्बी श्रृंखला है। समाज का जो भी पक्ष उन्हें दुर्बल दिखाई दिया उसे ही उन्होंने मजबूत बनाया।

उन दिनों अंग्रेजी का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा था। हिन्दी मृतप्राय हो रही थी। राष्ट्र को जीवित रखना है तो राष्ट्र की एक जीवित भाषा भी होनी चाहिए यह सोचकर उन्होंने हिन्दी भाषा का जो प्रचार तथा प्रसार किया वह एक ऐतिहासिक प्रयत्न है।

हिमालय की तलहटी में तब उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र यह सोचकर चुना कि वेदवाणी भी यही कहती है—

“**उग्र गङ्गा गिरीणां, संगमे च नदीनां, चिया विप्रो अजायत।**”

फलतः गंगा के पार चण्डी पर्वत की उपत्यका में ‘गुरुकुल काँगड़ी’ की स्थापना की। यहाँ निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की। यह हिन्दी को ऊँचा उठाने में एक क्रियात्मक सफल प्रयोग था।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री (मजदूर दल के नेता) मिस्टर रेम्जे मैकडोनल्ड ने महात्मा श्रद्धानन्द में ईसा की आत्मा के दर्शन किये थे और इस गुरुकुल की स्थापना को ब्रिटिश सरकार तथा मैकाले शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध प्रथम सफल अभियान कहा गया था। सेंडलर कमीशन ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा देने का यह सफल प्रयोग है।

उनका जीवन बहुमुखी प्रतिभा का प्रतीक है। गिरे हुए समाज को ऊँचा उठाने के लिये उन्होंने अपना जीवन तिल-तिलकर जलाया। जितना ही ऐश तथा आराम प्रारम्भिक जीवन में किया था उसका बदला ब्याज समेत चुका दिया।

अपने ओजस्वी लेखों तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व शक्ति द्वारा भूली-भटकी जनता को जो आध्यात्मिक मार्गदर्शन आपने दिया वह

एक बहुत बड़ा काम है। वे स्वयं सच्चे अध्यात्मवादी थे। गुरुकुल के बच्चों तथा वयस्कों को सदा वे यही उपदेश देते थे कि अच्छे बने, उत्कृष्ट जीवन जियो और ऐसा कुछ करते रहो जो स्वार्थ की सीमाओं से परे हो, लोकमंगल के लिये हो।

विधवा विवाह को भी उन्होंने शास्त्रसम्मत सिद्ध किया और कई विवाह करवाये भी। इसके अतिरिक्त अनाथ बच्चों तथा महिलाओं के लिये कई आश्रम भी खोले। स्वामी श्रद्धानन्द ने उन परिस्थितियों को समाप्त किया जो हिन्दू धर्म की परिधि को संकीर्ण बना रही थीं तथा उन व्यक्तियों की शुद्धि करके पुनः हिन्दू धर्म में मिलाया जो ईसाई अथवा मुसलमान हो चुके थे।

उनका यह कार्य सबसे महान् कार्य है जो उन्होंने हिन्दू धर्म के लिए किया। उनकी सेवाओं तथा सक्रिय चेष्टाओं ने एक बार फिर जगद्गुरु शंकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट की स्मृति को जाग्रत कर दिया था। हिन्दूधर्म, वैदिक मान्यताओं तथा शास्त्रोक्त पुण्य-परम्पराओं के प्रचार तथा प्रसार के लिये उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही लगा दिया।

एक दिन उनकी भेंट आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द से हुई। कई दिन तक उनका वाद-विवाद चलता रहा। उनकी युक्ति संगत बातों से वह बहुत प्रभावित हुए और उनका परमेश्वर पर अदृष्ट विश्वास जमने लगा।

आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द ने की पर उसे पुष्पित और पल्लवित करने का बहुत कुछ श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द को है। उन्होंने मिशनरी भावना से कार्य कर अपना तन, मन, धन, लोकमंगल के लिए उत्सर्ग कर दिया था। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति स्वामी दयानन्द का स्वप्न था और उसे साकार किया श्रद्धानन्द ने। इन्होंने प्रतिज्ञा की— “जब तक गुरुकुल की स्थापना हेतु तीस हजार रुपये एकत्र न कर लूँगा तब तक घर में प्रवेश नहीं करूँगा।”

स्वामी जी का यह संकल्प कोई साधारण संकल्प न था। इसके लिए उन्होंने घर-घर जाकर चन्दा वसूल किया और सड़क पर खड़े होकर लोगों को इस शिक्षा पद्धति का उद्देश्य समझाया। स्वामी जी जिस कार्य को अपने हाथ में लेते थे उसे पूर्ण करके ही मानते थे। आखिर वह दिन आ ही गया जब काँगड़ी के भयानक जंगलों में स्वामी जी के अथक प्रयत्नों और आत्मत्याग के बल से नये तीर्थ की स्थापना हुई। भारत के वाइसराय ही नहीं वरन् ब्रिटेन के प्रधानमंत्री राम्जे मैकडोनल्ड तक शिक्षा क्षेत्र में किये गये इस अनूठे प्रयोग को देखने के लिए आतुर हो उठे।

मातृभाषा हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने वाले वह प्रथम व्यक्ति थे। उन्होंने बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्रियों के दिल से इस बात को निकाल दिया कि हिन्दी के माध्यम से विज्ञान की उच्च शिक्षा नहीं हो सकती। गुरुकुल के अनेक स्नातकों द्वारा विज्ञान, दर्शन तथा इतिहास विषय के मौलिक ग्रन्थों की रचना की गई, साथ ही पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया गया।

स्वामी जी शिक्षा को केवल पुरुषों तक ही सीमित करने के पक्षपाती नहीं थे। वे चाहते थे कि भारतीय जनसंख्या का अर्द्ध अंग

भी विकसित हो जाये। इसलिए उन्होंने आर्य कन्या पाठशालाओं की स्थापना हेतु भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। जल्दी ही गुरुकुलों और महाविद्यालयों का जाल पूरे देश में फैल गया और उनके ही प्रयास से हिन्दी को राष्ट्रभाषा का महत्वपूर्ण पद मिला।

स्वामी जी १८ वर्षों तक गुरुकुल के आचार्य पद पर कार्य करते रहे। कितने ही अभिभावकों ने अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति से प्रभावित होकर गुरुकुल में भेजा और कितने ही व्यक्ति तो यह देखने आते थे कि यहाँ विदेशी शासन को उखाड़ने के लिए कौन-सी योजनायें तैयार की जा रही हैं।

स्वामी जी के विशाल शरीर में विशाल आत्मा निवास करती थी। अनेक क्षेत्रों में उनके महत्वपूर्ण योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। आदर्शवादी सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार हेतु उन्होंने सन् १८८९ में 'सद्धर्म प्रचारक' तथा १९१८ में 'ब्रद्धा' नामक साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन किया। स्वतन्त्रता संग्राम के समय १९१९ में 'विजय' और १९१८ में 'दैनिक अर्जुन' का प्रकाशन आरम्भ कर उन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को जन-जन तक पहुँचाया।

गुरुकुल के विद्यार्थियों को केवल पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं कराया जाता था। समय मिलने पर अनेक विद्यार्थी दक्षिण में हिन्दी का प्रचार करने जाते थे। उनकी इन्हीं सेवाओं को देखकर सन् १९१३ में भागलपुर में जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन का चौथा वार्षिक अधिवेशन हुआ तो स्वामी जी को उसका अध्यक्ष चुना गया।

स्वामी जी सच्चे देशभक्त थे। विदेशी शासन उनकी आँखों में कंटे की तरह खटकता रहता था। गाँधी जी ने जब असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात किया तो स्वामी जी ने अपना पूरा-पूरा सहयोग दिया।

स्वामी जी को अमृतसर कांग्रेस-अधिवेशन का स्वागताध्यक्ष बनाया गया तो उन्होंने कांग्रेस मंच से प्रथम बार हिन्दी में भाषण दिया था और राजनेताओं का ध्यान अछूत उद्धार की ओर आकर्षित किया।

स्वामी जी ने दलितोद्धार सभा की स्थापना कर अस्पृश्यता निवारण का कार्य शुरू कर दिया। वे चाहते थे कि हिन्दुओं के बीच से छुआछूत की भावना को निकाल फेंका जाय। मन्दिर और कुँए समानता के अधिकारों के साथ अछूतों के लिए खोल दिये जायें। स्वामीजी निर्भीक थे। वह इससे होने वाले प्रत्येक परिणाम को भुगतने के लिए तैयार थे।

स्वामी जी सभी धर्मों के प्रति समान आस्था रखने पर उनका यह विश्वास था कि यदि मुसलमान और ईसाई प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्मानुयायी बना सकते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति को आर्य भी बनाया जा सकता है। स्वामी ब्रह्मानन्द अपने इसी विश्वास को क्रियान्वित कर रहे थे। एक बार उन्हें जनता के आग्रह पर दिल्ली की जामा मस्जिद में भाषण देने हेतु आमन्त्रित किया गया। इस्लाम के इतिहास में वह प्रथम अवसर था जब मुसलमान के अतिरिक्त अन्य किसी

धर्मानुयायी को मस्जिद की धर्मवेदी पर भाषण करने का सुअवसर प्रदान किया गया हो। स्वामीजी ने ऋग्वेद के मन्त्रों के सस्वर पाठ से अपना व्याख्यान शुरू किया और शान्ति पाठ से समाप्त।

स्वामी जी स्पष्टवादी और अति साहसी थे। वे जिस कार्य को अपने हाथ में लेते पूर्ण करके ही मानते थे। अपने दोषों को दूसरे के सम्मुख रखने में उन्हें तनिक भी संकोच न होता था। अत्याचार का विरोध करना उनकी प्रमुख विशेषता थी। सिद्धान्त का प्रश्न जब भी सामने आया वह कभी झुके नहीं। भरे यौवन में पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। इस युग में जबकि छोटी-छोटी बातों पर लोगों को जाति से अलग कर दिया जाता था। स्वामी जी ने अपनी संतान का विवाह जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़कर किया। गुरुकुल हो या बाहरी क्षेत्र उन्हें प्रतिक्रियावादी शक्तियों से सदैव संघर्ष करना पड़ा।

स्वामी जी उन समाज सुधारकों से बिल्कुल अलग थे जिनकी कथनी और करनी में वैषम्य होता है। उन्होंने आर्य समाज मन्त्र से अपने प्रथम भाषण में ही स्पष्ट कह दिया था—“जो वैदिक धर्म के अनुकूल अपने जीवन को नहीं ढाल रहे हैं, उन्हें उपदेशक बनने का कोई अधिकार नहीं है।”

भारत के नव निर्माण में उनके योगदान को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन्होंने प्रत्येक कार्य क्षेत्र में अपनी अमिट छाप छोड़ी थी और एक दिन अपने सिद्धान्तों के लिए बलिदान हो गये।

२४ दिसम्बर, १९२६ को उन्हें एक धर्मोन्मादी अब्दुल रशीद नामक मुसलमान ने गोली से मार डाला फिर भी वे भारतीय महापुरुषों के आकाश में उज्ज्वल नक्षत्र की तरह सदा अजर अमर बनकर प्रकाशवान् बने ही रहेंगे।

विचार स्वातंत्र्य का सम्मान

एक बार एक अंग्रेज पादरी ने स्वामी ब्रह्मानन्द जी को लिखा कि मैं भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये आया हूँ। किन्तु हिन्दी का ज्ञान न होने से मुझे अपने कर्त्तव्य में कठिनाई हो रही है। मैं आपके गुरुकुल कांगड़ी में रहकर हिन्दी सीखना चाहता हूँ। मैं वचन देता हूँ कि जब तक गुरुकुल में रहूँगा, ईसाई धर्म का प्रचार विद्यार्थियों के बीच नहीं करूँगा।”

हिन्दू धर्म के अखण्ड भक्त एवं विद्वान् स्वामी ब्रह्मानन्द ने पादरी को उत्तर में लिख भेजा कि आप अंधश्रद्धा आकर गुरुकुल में रहें और हिन्दी पढ़ें किन्तु इस बात का वचन दें कि यहाँ आकर आप अपने धर्म का प्रचार पूरी तरह करेंगे। इससे मुझे प्रसन्नता होगी— क्योंकि इससे मेरे विद्यार्थी ईसामसीह तथा उनके प्रचारित धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे।

पादरी स्वामी जी की यह धर्मनिष्ठा एवं उदारता देखकर इतना प्रभावित हुआ कि जीवन भर के लिये उनका मित्र बन गया।

आधुनिक बोधिसत्व— डॉ. अल्वर्ट श्वाइत्जर

डॉ. अल्वर्ट श्वाइत्जर का जन्म जर्मनी के आल्सीसी प्रान्त में सन् १८७५ में हुआ था किन्तु उन्होंने अपना सारा जीवन अफ्रीका के फ्रान्सीसी कांगो में लाम्बार्ने नामक स्थान पर हबिश्यों की सेवा में लगा दिया। उनकी करुणा, दया और सेवा-भावना की गहराई को समझने वाले श्रद्धावश उन्हें बोधिसत्व की संज्ञा देते हैं और ध्यानपूर्वक उनके जीवन-दर्शन और जीव के प्रति दया भाव को निष्पक्ष रूप से देखा जाये तो वे बोधिसत्व के ही रूप प्रतीत होंगे।

भगवान बोधिसत्व ने अपने एक प्रवचन में कहा था— “जब तक संसार के दूसरे प्राणी कष्ट से पीड़ित हो रहे हैं, तब तक हमें सुखोपभोग का अधिकार नहीं है।” और श्री अल्वर्ट श्वाइत्जर का कथन है— “मरणान्तक पीड़ा से तड़पता हुआ रोगी जब मेरे सामने आता है उस समय मेरी भावनायें करुणा की शत-सहस्र धाराओं में बह उठती हैं। मैं सोचने लगता हूँ कि यह पीड़ित मनुष्य यह आशा करता है कि इस असहाय प्रदेश में मैं ही एक अकेला ऐसा व्यक्ति हूँ जो उसकी कुछ सहायता कर सकता हूँ। इसका आशय यह नहीं कि मैं उसके जीवन की रक्षा कर सकता हूँ। हम सभी को एक न एक दिन मृत्यु की गोद में जाना है। विशेष बात तो यह है कि वह यह आशा लेकर आता है कि मैं उसकी पीड़ा हर सकता हूँ, कम कर सकता हूँ। यही मेरा महान् और चिरनूतन अधिकार बन गया है। मृत्यु की अपेक्षा पीड़ा मनुष्य को कहीं अधिक दुःखी करती है।”

डॉ. अल्वर्ट श्वाइत्जर एक जर्मन वंशज थे किन्तु उनका पालन पोषण फ्रांस में हुआ था। उनकी इच्छा धर्माचार्य और महान् संगीतज्ञ बनने की थी और इसीलिये उन्होंने धर्म-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र तथा संगीत-शास्त्र पर अध्ययन कर पारंगति प्राप्त की थी। किन्तु एक छोटी-सी घटना ने उनकी जीवन धारा बदल दी, जिससे वे धर्माचार्य तथा संगीतज्ञ के रूप में ख्याति प्राप्ति की जिज्ञासा छोड़कर चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करके एक डॉक्टर बने।

एक बार एक मित्र से मिलने के लिये वे पेरिस गये। वहाँ उनकी दृष्टि मेज पर पड़ी एक ‘जर्नल दे मिशन्स एवेन्जेलीक्स’ नामक पत्रिका पर पड़ी। उन्होंने उसको हाथ में लेकर पन्ना उल्टा ही था कि उनकी नजर उसमें छपी इस अपील पर पड़ गई— “अफ्रीका में प्रशिक्षित चिकित्सकों का बहुत अभाव है। वहाँ के असहाय लोग भयानक रोगों से पीड़ित होकर नारकीय मृत्यु पर रहे हैं। जिन्हें अपनी आत्मा में यह अनुभव हो कि परमात्मा ने उन्हें उन असहाय मानवों की सेवा करने के लिये पहले से चुन लिया है, वे इस ओर ध्यान दें।”

डॉ. श्वाइत्जर को लगा जैसे ईश्वर ने उन्हें ही इस काम के लिये चुना है। बस फिर क्या था उस आत्मनिष्ठ महामानव ने अपने जीवन का चरम उद्देश्य निश्चित कर लिया। उन्होंने जीवन में व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को विदा कर दिया और चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने लगे। सात वर्ष तक चिकित्सा-शास्त्र का अखण्ड अध्ययन

करने के बाद उन्होंने पत्नी, परिवार तथा इष्ट मित्रों के मना करने और समझाने पर भी अफ्रीका में असहाय मानवों की सेवा करने के लिये १९१३ में प्रस्थान कर दिया। उनकी पत्नी ने जब समझ लिया कि उनके महान् पति ने मानव हित के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया है तो वे भी पति के महान् कार्य में सहयोग देने के लिये नर्स के रूप में प्रशिक्षित होकर तैयार हो गईं।

महान मानव दम्पति अफ्रीका में लाम्बार्ने नामक स्थान पर पहुँचे और अपना चिकित्सालय एक टूटे-फूटे मकान के खण्डहर में खोल दिया। वह स्थान क्या था एक प्रकार से दो-तीन तरफ टूटी-फूटी दीवारों से घिरा एक छोटा-सा मैदान ही था। न उस पर छत थी और न कोई खिड़की अथवा रोशनदान। डॉ. श्वाइत्जर को स्थानाभाव से कुछ परेशानी हुई। किन्तु उनकी पत्नी ने उत्साहित करते हुये कहा— “परमात्मा ने हम लोगों को मानवता की सेवा करने के लिये चुना है। उसने जो कम-ज्यादा साधन दिये हैं हम उन्हीं के द्वारा अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।” पत्नी के पवित्र शब्द सुनकर डॉ. श्वाइत्जर का रोम-रोम आनन्द विभोर हो उठा और वे समय तन-मन से पीड़ितों की सेवा में संलग्न हो गये। उन दोनों पति-पत्नी ने घास-फूस का छप्पर डालकर अपने चिकित्सालय पर छाया कर ली।

अभी उनका चिकित्सालय खुला ही था कि सौ-सौ मील के इर्द-गिर्द से रोग पीड़ित नीग्रो उन परमात्मा के भेजे हुये देवदूत के पास आने लगे और डॉक्टर श्वाइत्जर ने उनकी चिकित्सा करनी शुरू कर दी। उन्होंने आठ-नौ माह की अवधि में ही लगभग दो-ढाई सौ असाध्य रोगियों को नया जीवन दे दिया। डॉ. श्वाइत्जर के इस पुण्य कार्य ने उनको न केवल ख्यातिनामा बना दिया बल्कि वे देवता की तरह हबिश्यों के श्रद्धा-भाजन बन गये।

तन्मयता से पीड़ितों की चिकित्सा करते-करते डॉ. श्वाइत्जर का सेवा कार्य आध्यात्मिक साधना के रूप में बदल गया। अभी तक वे अपने विचार से पीड़ितों की सेवा कर अपने मानवीय कर्तव्य का पालन करते थे, किन्तु अब उनका विश्वास हो गया कि मानस-सेवा के माध्यम से साक्षात् परमात्मा की ही भक्ति कर रहे हैं। उन्होंने अपनी इस आध्यात्मिक अनुभूति को व्यक्त करते हुये कहा—

“अभी तक मैं एक धर्म-शिक्षक के रूप में शब्दों द्वारा आत्म-दान करता रहा था। प्रेम-योग की शाब्दिक चर्चा करते हुये आनन्द पाता रहा था। परन्तु अब मैं अपने इस सेवा कार्य को प्रेम-योग की चर्चा करके पूरा नहीं कर सकता। यह प्रेम के व्यावहारिक प्रयोग का क्षेत्र है। मैं धर्माचार्य न बनकर चिकित्सक इसलिये बना कि बिना बोले सेवा कर सकूँ। अपनी इस मौन प्रधान सेवा को मैं आध्यात्मिक साधना ही मानता हूँ।”

इस प्रकार डॉक्टर श्वाइत्जर आध्यात्मिक विश्वास के साथ सेवा करते-करते मानापमान और हानि-लाभ से परे होकर सच्चे योगी बन गए और उनका चिकित्सालय सेवाआश्रम। डॉ. श्वाइत्जर साढ़े छह बजे बिस्तर छोड़ देते और अपने दिन भर के कार्यक्रम की योजना

बनाते। वे पहले से ही कोई योजना तैयार न रखते थे। आवश्यकतानुसार तत्काल बनाया करते थे। क्योंकि वे जानते थे कि उनका कार्य ही कुछ इस प्रकार का है कि न जाने किस समय उन्हें क्या करना या कहाँ जाना पड़ जाये। ऐसी दशा में निश्चित कार्यक्रम में विघ्न अथवा अनियमितता आ जाने से उन्हें परेशानी होगी। उनकी दिनचर्या का मूल उद्देश्य सेवा करना था उसके वे नियमित रूप से बिना पूर्व कार्यक्रम के किया करते थे। साढ़े छः बजे से साढ़े सात तक नित्य-नैमित्तिक से निवृत्त होते। आठ बजे तक नाश्ता करके सहयोगियों को दिन भर का काम बताते, डिस्पेन्सरी और औजार ठीक करते। दस बजे तक बागवानी, सड़क की मरम्मत, भवन निर्माण और वृक्षारोपण के काम करते और फिर अपने चिकित्सालय में आकर रोगियों की सेवा में संलग्न हो जाते। सवा बारह बजे तक चिकित्सालय का काम निबटा कर दो बजे तक भोजन और आराम से निवृत्त होकर पुनः चिकित्सालय में आ जाते और साढ़े छह बजे तक काम में लगे रहते। उसके बाद भोजन आदि से निवृत्त होकर रोगियों की देखभाल करने निकल जाते और इस प्रकार उनका यह कार्यक्रम साढ़े ग्यारह बजे रात तक चलता रहता। डॉ. श्वाइत्जर ने अपने इस व्यस्त कार्यक्रम को पूरे नब्बे वर्षों तक चलाया। उन्होंने अपने कार्य के घंटों में से न तो एक मिनट कभी कम दिया और न आराम के समय को बढ़ाया। अपनी इस एकत्रित कार्यनिष्ठ के कारण डॉ. श्वाइत्जर नब्बे वर्ष की आयु तक पूर्ण स्वस्थ बने रहे। वे अपने जीवन में बहुत कम बीमार पड़े और यदि कभी ऐसा संयोग हुआ भी तो भी उन्होंने पड़कर आराम कभी न किया। उनकी इस अखण्ड कार्यव्यस्तता को देखकर एक दिन उनकी पत्नी ने पूछा “आप कब तक इस प्रकार अविश्रान्त काम करते रहेंगे।” डॉ. श्वाइत्जर ने बड़े सरल भाव से उत्तर दिया— “जीवन की अन्तिम श्वास तक।” और निःसन्देह उन्होंने अपने वचन को पूर्णरूपेण निवाह कर दिखा दिया।

डा. श्वाइत्जर के आश्रम में जहाँ एक ओर रोगी हब्लियों की चारपाइयाँ पड़ी रहती थीं, वहाँ दूसरी ओर बहुत से पशु-पक्षी भी रह रहे थे। हिरन, चीतर, गुरिल्ला, चिम्पांजी, बत्ख, मुर्गी, उल्लू आदि न जाने कितने पशु-पक्षी उनके परिवार के सदस्य बने हुये थे। यह सब पशु-पक्षी वही थे जो एक बार रोगी होने के कारण जंगल से पकड़कर उपचार के लिए डॉ. श्वाइत्जर के पास लाए गए थे और फिर चंगे होकर अपने प्रेमी सेवक को छोड़कर दुबारा जंगल में नहीं गए।

सन्त श्वाइत्जर को मानव जाति की तरह ही अन्य जीवों से भी प्यार था। उन्हें उनकी भावनाओं का कितना ख्याल रहता था यह इस छोटी घटना से ही प्रकट हो जाता है। एक बार वे अपने कमरे में जा रहे थे। रास्ते में एक मुर्गी अपने बच्चों को प्यार कर रही थी। वे रुक गए। किन्तु जब मुर्गी ने रास्ता नहीं दिया तब उन्होंने उसके कान में धीरे से कहा— “याँ मुर्गी, मुझे चले जाने के लिए रास्ता दे दो। किन्तु जब वह तब भी नहीं हटी तो वे उसके ऊपर से लाँच

कर इस प्रकार धीरे से निकल गये कि मुर्गी के कार्यक्रम में तनिक भी बाधा नहीं पड़ी। इस छोटी सी घटना में डॉ. श्वाइत्जर के हृदय की विशालता का कितना सुन्दर तथा स्पष्ट चित्र प्रतिबिम्बित होता है इसे भावुक व्यक्ति ही समझ सकते हैं। वे स्वयं तो माँस नहीं खाते थे। उन्होंने हब्लियों को भी कभी किसी पशु-पक्षी को मारने नहीं दिया। उनके आश्रम में भोजन से पूर्व प्रार्थना होती थी और व्यालू के बाद सामूहिक प्रार्थना। उनका चिकित्सालय पूर्ण रूप से एक ऋषि आश्रम के समान ही था।

मानव सेवा के इस सरहनीय कार्य के लिये डॉ. श्वाइत्जर को १९४८ में नोबेल पुरस्कार दिया गया जिसकी समग्र धनराशि उन्होंने चिकित्सालय से थोड़ी दूर महारोगी (कुष्ठ) सेवाश्रम खोलने में लगा दी। इस नये सेवाश्रम में उन्होंने पाँच सौ कोटियों के रहने के लिये व्यवस्था कर दी। उसी अवसर पर जब वे ओसलो गये तो अपने सम्मान समारोह में बोलते हुये उन्होंने कहा था— “मानव की आत्मा अभी मरी नहीं है। वह उन जीवों के प्रति दया एवं करुणा भावना से परिचित है जिसमें सम्पूर्ण नैतिकता सन्निहित है। यह जीव दया तभी सार्थक होती है जब कोई मानव-जाति से ऊपर उठकर सारी जीव-सृष्टि को अपने अंचल की छाया में ले ले। मनुष्य ने विज्ञान के बल पर अतिमानव शक्तियाँ तो प्राप्त कर ली हैं किन्तु वह अभी वांछित अतिमानवी बुद्धि का विकास नहीं कर सकता है। इसीलिये उस वैज्ञानिक शक्ति के घातक परिणाम सामने आने की सम्भावना दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। अब हम मानवता के भविष्य को अधिक समय तक टाल नहीं सकते। इसके लिये सबसे महत्वपूर्ण एवं मूल बात यह है कि हम सब एक स्वर से स्वीकार करें, कि हम सब अमानवीय आचार के अपराधी हैं। यही एक उपाय है जिससे कि हम उस मार्ग पर आगे बढ़ सकेंगे जो एक युद्धविहीन जगत की ओर जाता है।”

इसके पूर्व भी जब वे जर्मन विद्वान् गेटे की शताब्दी के उपलक्ष में फ्रैंकफर्ट महोत्सव में बोलने के लिये आमंत्रित किए गए थे उन्होंने बड़े ही मार्मिक सत्यों को उद्घाटित करते हुये कहा था— “मनुष्य एक आध्यात्मिक व्यक्तित्व है और उसे उसी रूप में मानकर व्यवहार करना चाहिए। उसे हठात् पदार्थवादी सभ्यता के घूरे में दबाना सरासर अन्याय एवं अनर्थ है।” इस पर जर्मन डिक्टेटर हिटलर बहुत कुछ लाल-ताल हुआ किन्तु उन्होंने उसकी जरा भी चिन्ता नहीं की।

इसी प्रकार एक बार आनफोर्ड में हिबर्ट भाषण करते हुए उन्होंने केवल चार छोटे वाक्यों में पश्चिमी सभ्यता का सार रखकर उत्सव में उपस्थित लोगों को न केवल स्तब्ध ही कर दिया, बल्कि वक्ताओं की वाचालता समाप्त कर दी। उन्होंने कहा— “क्या आज हमारे जीवन में धर्म का कोई अस्तित्व है? नहीं! प्रमाण! युद्ध।” इतना कहकर उन्होंने अपना भाषण समाप्त कर दिया और फिर उसके बाद कोई भी बोलने खड़ा नहीं हुआ।

इस प्रकार आधुनिक बोधिसत्त्व सन्त श्वाइत्जर आजीवन मानव सेवा करते और सत्य का सन्देश देते हुये नब्बे वर्ष की आयु में ४ दिसम्बर, १९६५ को मानव देह से मुक्त हो गए।

भारतीयता के संरक्षक— महात्मा हंसराज

यह वह समय था, जब भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत करने के लिये शिक्षा का साधन रूप में प्रयुक्त किया जा रहा था। १८५७ के बाद अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी कि जब तक भारतीयता को नष्ट करके भारत में अंग्रेजियत का प्रचार नहीं किया जायेगा, अंग्रेजों का राज्य चिरस्थायी नहीं हो सकता।

अंग्रेजों ने इसके दो मार्ग निकाले, एक तो धर्म-प्रिय साधारण जनता को ईसाइयत की विशेषता बतलाकर और उनकी सामाजिक परिस्थिति तथा आर्थिक दशा का लाभ उठाकर ईसाई बनाना। दूसरे अपेक्षाकृत सम्पन्न तथा जागरूक जनता में से तरुण वर्ग को शिक्षा के माध्यम से अंग्रेजियत में रँगकर अपना मानसिक गुलाम बनाना।

निदान सरकार ने शिक्षा प्रसार का दायित्व अपने पर लेने के बहाने से जनता के बीच जन-सहयोग से चलने वाली सभी छोटी-बड़ी शिक्षा-संस्थानों को बन्द कर दिया, जिनमें धर्म के माध्यम से जीवन के सभी अंगों की शिक्षा दी जाती थी। सरकारी स्कूल स्थापित किये गये और उनमें बाबूशाहों का निर्माण होने लगा, ईसाइयत सिखाई जाने लगी।

सरकार की यह योजना सफल हुई और नवयुवक अंग्रेजी राज्य के अनुकूल शिक्षा पा-पाकर उसके यन्त्र बनने लगे। थोड़ी अंग्रेजी पढ़ने और अंग्रेजियत को अपनाने वालों को अच्छे-अच्छे सरकारी पद मिलने लगे और वे लोग इसे अपना भाग्य समझने लगे।

उस समय सरकार की इस भयंकर योजना का विरोध करना शेर के दाँत गिनने के समान था। सरकार सन् १८५७ के आघात से आहत होकर बौरा चुकी थी और जरा-सा भी विरोध करने वाले को राज-द्रोही ठहरा कर तरह-तरह के त्रास देकर बर्बाद कर रही थी। बड़ा विषम समय था। एक ओर भारतीयता थी और दूसरी ओर प्राणों का भय। स्वातन्त्र्य-संग्राम की विफलता ने जनता में एक निराशा की भावना पैदा कर दी थी। लोग किसी भी अत्याचार को ईश्वरीय इच्छा समझकर सह लेने में ही खैरियत समझते थे।

ऐसी भयंकर परिस्थिति में जो व्यक्ति अपनी बुद्धि एवं साहस के बल पर राष्ट्र की रक्षा कर सके, वह वास्तव में परमात्मा का रूप ही थे।

जहाँ एक ओर लोग भय से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अनचाहे भी सरकारी शिक्षा योजना में सहयोग कर रहे थे, वहाँ एक आत्म-विश्वासी व्यक्ति ऐसा भी था, जो प्राणों को दाँव पर लगाकर सरकार की इस विषम योजना को सफल होने से रोक देने के लिये मन ही मन संकल्पपूर्ण तैयारी कर रहा था और वह व्यक्ति था—नवयुवक हंसराज।

हंसराज, जो आगे चलकर—महात्मा हंसराज के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह जिस समय शिक्षा पा रहे थे, उस समय सरकार की इस

नीति का भी अध्ययन कर रहे थे। वे सरकार की इस शिक्षा-प्रणाली के प्रारम्भ से ही विरोधी थे, किन्तु उन्होंने उसका बहिष्कार नहीं किया प्रत्युत अधिकाधिक संलग्नता से विद्या प्राप्त की, अंग्रेजी पढ़ी। वे जानते थे कि कोई भी भाषा क्यों न हो, यदि वह ऊँचे स्तर तक पढ़ी जाती है तो कोई ऐसी हानि नहीं पहुँचा सकती, जैसी कि हानि वह निम्न स्तर तक पढ़ने पर पहुँचाती है। हानि, पूर्णता से नहीं, अपूर्णता से होती है।

यही बात किसी धार्मिक दर्शन के सम्बन्ध में भी होती है। जिस धार्मिक शिक्षा की ऊपरी बातों तक ही सीमित रहा जायेगा, उसका कुछ ऐसा प्रभाव भले पड़ जाये, जिससे कोई एक विश्वास अथवा पद्धति से हटकर दूसरे विश्वास अथवा पद्धति पर चला जाये, किन्तु जब उसकी गहराई में उतरकर उसका सांगोपांग अध्ययन तथा मनन किया जाता है, तब उसकी सारी असलियत सामने आ जाती है और उस दशा में यदि वह दर्शन सत्य पर आधारित है तो उसके अपनाने में किसी हानि की सम्भावना नहीं रहती और वह यदि यों ही कपोल कल्पित चिंतन पर आधारित होगा तो किसी भी विवेकशील व्यक्ति पर प्रभाव न डाल सकेगा।

महात्मा हंसराज अंग्रेजी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर उसी के माध्यम से अंग्रेजों को समझने और उनकी चाल को विफल करना चाहते थे। साथ ही ईसाइयत के प्रभाव का उन्हें कोई भय न था। इसके लिये वे भारतीय-धर्म तथा वैदिक साहित्य को अच्छी तरह पढ़ चुके थे और स्वामी दयानन्द की तीव्र तर्क पद्धति की अपने मस्तिष्क में प्रति-स्थापना कर चुके थे।

महात्मा हंसराज ने ईसाइयत के बीच अंग्रेजी पढ़ी और इतना गम्भीर अध्ययन किया कि जिस समय उन्होंने उत्तम श्रेणी में बी. ए. पास किया तो उन्हें अपने में लाने और उनकी योग्यता का लाभ उठाने के लिए सरकार के मुँह में पानी आ गया। निदान बी. ए. की उपाधि लेते ही उसने महात्मा हंसराज की ओर बड़ी से बड़ी सरकारी नौकरी की फूल मालायें बढ़ाईं। सरकार को पूरी आशा थी कि उनकी मादक गन्ध से एक भारतीय युवक अवश्य मोहित होकर आकर्षित होगा और अंग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत करने में सहायक बनेगा।

किन्तु महात्मा हंसराज उन युवकों में न थे जिनके सामने मौज मजा लेने के अतिरिक्त जीवन का कोई अन्य लक्ष्य ही नहीं होता। उस समय जब अंग्रेज सरकार शिक्षा के कुठार से भारतीयता की जड़ें काटकर अंग्रेजियत बो रही थी और किसी भी माई के लाल के कन पर जूँ तक नहीं रेंग रहीं थी, तब भला भारतीयता के प्रति भयंकर खतरा अनुभव कर लेने पर भी वह किस मुँह से मौज-मजा लेते और चैन की नींद सोते। अन्याय एवं अनुचित के प्रति बलिदान की परम्परा जगाते रखने के लिए कोई न कोई बलि-बेदी पर आता ही रहना चाहिए। अन्यथा राष्ट्रीयता मिट जायेगी, देश निर्जीव हो जायेगा और समाज की तेजस्विता नष्ट हो जायेगी।

जिसने खतरा अनुभव किया, उसका कर्तव्य था कि वह आगे बढ़े। महात्मा हंसराज ने बड़ी गम्भीरता से विचार करके तथा समाज की मनोवृत्ति का ठीक-ठीक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि

सरकार की इस कुटिल शिक्षा नीति का विरोध किसी आन्दोलन, संघर्ष अथवा खुली चुनौती के रूप में करना ठीक न होगा। सरकारी शिक्षा प्रणाली को किसी समानान्तर शिक्षा प्रणाली से ही निरस्त करना ठीक होगा।

अध्ययन से निवृत्त होकर चल पड़ा, भारतीयता के संरक्षण का व्रती। किधर ? रोटी-रोजी और मौज-मजे की तलाश में— नहीं— एक ऐसे बिन्दु की तलाश में, जहाँ से वह अपना शुभ अभियान प्रारम्भ करे। जिस दिन निस्पृह एवं निष्कलंक समाज-सेवियों, धर्मीनिष्ठों तथा देश-भक्तों को रोटी की कमी पड़ने लगेगी, उस दिन संसार से राष्ट्रीयता की संज्ञा ही उठ जायेगी। देश और धर्म की चिन्ता करने वाले मनीषियों को चाहिए ही क्या ? केवल मुट्ठीभर अन्न और वह भी इसलिये कि जनसेवा के लिए वे कल भी जी सकें। जिस आत्म त्यागी की सारी कामनायें, वासनायें और आवश्यकतायें किसी जन-कल्याण के यज्ञ में आहुति बन चुकी हों, उसे अपनी सुघ रहती ही कब है ? उसकी खोज खबर लेने का दायित्व तो उन कोटि-कोटि व्यक्तियों पर आ जाता है, जिनके हित के लिए वह अपने को खपा रहा है।

ला. हंसराज के सामने केवल एक उद्देश्य था कि कोई ऐसी योजना बनाई जाये, जिससे जन-साधारण को भारतीय राष्ट्र के अनुकूल शिक्षित करके उनमें आत्मविश्वास, देशभक्ति तथा स्वाभिमान की भावना जगाई जा सके। भारतीयता के प्रति बढ़ती हुई, उनकी हीन भावना और ईसाइयत से ओत-प्रोत अंग्रेजियत के प्रति बढ़ती हुई आस्था को रोक जा सके। महात्मा हंसराज के बुद्धिमत्तापूर्ण इस एक उद्देश्य में ही राष्ट्र की सारी आवश्यकतायें सन्निहित थीं। देखने में छोटा लगने वाला यह उद्देश्य कितना व्यापक था ? इसको कोई दूरदर्शी बुद्धिमान ही देख सकता था। वे कोई लम्बी-चौड़ी योजना सामने रखकर जनता को भयभीत करना तथा सरकार को चौकाना न चाहते थे।

एक समय में कोई एक ही विचार, किसी एक ही मस्तिष्क में नहीं आता, लाखों के मस्तिष्क में १९-२० के अनुपात तथा बुद्धि की पात्रता के अनुसार एक साथ अवतरित होता है। और जब कोई एक साहसी उसकी समीचीनता की घोषणा करने के लिए खड़ा होता है तो उसके झंडे के नीचे सजातीय विचारवानों को एक बड़ी संख्या में इकट्ठा होते देर नहीं लगती।

लाहौर में कुछ विचारवानों ने स्वामी दयानन्द कॉलेज कमेटी की स्थापना कर रखी थी और चाहते थे कि किसी प्रकार स्वामी दयानन्द के नाम पर ऐसा विद्यालय प्रारम्भ किया जाये, जिसमें ठीक-ठीक राष्ट्रीय शिक्षा दी जा सके। कोई कमेटी बना लेना एक बात है और उसके उद्देश्यों को कार्यान्वित करना दूसरी बात। कमेटी तो बना ली किन्तु सरकारी भय के कारण उसके सदस्य यह न समझ पाते थे कि स्कूल की स्थापना करके उसे कैसे चलाया जाये ?

विद्वान् हंसराज ने कमेटी में प्रवेश किया और एक छोटा-सा विद्यालय स्थापित करके उसमें अवैतनिक शिक्षक बन गये। सच्ची भावना से योजना का सूत्रपात हो गया और उसी प्रगति के साथ विरोध भी प्रारम्भ हो चला। किन्तु इससे क्या ? जन-साधारण का विरोध

योजना की महानता का प्रमाण-पत्र होता है। जिस योजना का विरोध नहीं होता, जिस नियोजन की आलोचना नहीं होती, समझ लेना चाहिए कि उस योजना में कोई जीवन नहीं है, कोई नवीनता नहीं है।

उक्त नवजात संस्था को मिटा सकने के लिए सरकार कोई बहाना न पाकर केवल इतना ही कर सकी कि उसने उसे कोई आर्थिक सहायता देने से इन्कार कर दिया इसको संस्था के संस्थापकों ने शुभ ही समझा। क्योंकि वे स्वयं ही सरकार से कोई सहायता न लेना चाहते थे, क्योंकि उस दशा में उन्हें सरकारी नियमों के पचड़े में पड़ना होता, जिससे संभव था उन्हें अपने उद्देश्य में कुछ हेर-फेर करना पड़ता। उद्देश्य की न्यूनता के साथ पाई हुई किसी सुविधा की अपेक्षा उद्देश्य की रक्षा में पाई असुविधा अधिक त्रेयस्कर होती है।

सरकार ने न केवल अनुदान देने में ही विमुखता दिखाई बल्कि उक्त विद्यालय को मान्यता देने में भी अनुदारता बरती। किन्तु सुयोग्य शिक्षक महात्मा हंसराज अपना काम करते रहे। शीघ्र ही उनके परिश्रम का फल जन-साधारण की चर्चा के रूप में फलीभूत हुआ और लोग संस्था की ओर आकर्षित होने लगे। आत्म अनुशासित तथा त्यागी शिक्षक के पढ़ाये हुए छात्र चमकते हुए हीरों की तरह निकलने लगे, जिससे अभिभावकों की आस्था दिनों-दिन बढ़ती गई और छोटा-सा प्रारम्भिक स्कूल विस्तार एवं विकास पाने लगा।

कुछ समय बाद उस संस्था को डी. ए. वी. स्कूल के नाम से ख्याति प्राप्त हुई और उसके शिक्षा अभियान को डी. ए. वी. आन्दोलन का नाम मिला। डी. ए. वी. स्कूल की वेग से बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर सरकार को शर्म आई और उसने जन-आलोचना के भय से स्कूल को मान्यता दे दी। मान्यता के प्रथम वर्ष में ही सुयोग्य शिक्षक के पढ़ाये विद्यार्थियों ने हाईस्कूल की सारी छात्रवृत्तियाँ जीत लीं।

महात्मा हंसराज की भावनापूर्ण तपस्या फलीभूत हुई, उनका त्याग अंकुरित हुआ और देश में डी. ए. वी. स्कूलों तथा कॉलेजों का जाल बिछने लगा। अनेकों बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा उद्योगों ने मुक्तहस्त दान देना प्रारम्भ कर दिया और स्कूल कॉलेजों में बदलने लगे।

महात्मा हंसराज के जीवन काल में डी. ए. वी. मिशन के अनेक शिल्प विद्यालय, टेक्निकल स्कूल, आयुर्वेदिक कॉलेज, नार्मल स्कूल, वैदिक शोध संस्थान, कला-विज्ञान कॉलेज तथा वैदिक धर्म प्रचारकों की शिक्षण संस्थाएँ बन गईं। इसके अतिरिक्त डी. ए. वी. आन्दोलन के अन्तर्गत उसके अपने बैंक, बीमा कम्पनी तथा अनेक उद्योग भी चलने लगे।

महात्मा हंसराज की तपस्या का यह हाहाकारी फल देखकर सरकार के पाँव काँपने लगे और उसे अपनी लोकप्रियता बनाये रखने के लिए सरकारी शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन करना पड़ा। महात्मा हंसराज का मिशन पूरा हुआ। भारतीयता की रक्षा हुई और अंग्रेज कूटनीतिज्ञों की दूरगामी योजना विफल हुई। डी. ए. वी. आन्दोलन, के रूप में देश को महात्मा हंसराज की देन अनुपम है, जिसके लिए— क्या भारतीय और क्या भारतीयता, युग-युग तक उनकी आभारी रहेगी।

आज से लगभग २७-२८ वर्ष पूर्व संसार से वह महान् आत्मा दिवंगत हो गई, किन्तु डी. ए. वी. शिक्षा संस्थाओं तथा आन्दोलन के अन्तर्गत चलती हुई योजनायें उसे अमर रखेंगी।

गोस्वामी गणेश दत्त देश, जाति और संस्कृति के गौरव प्रतिष्ठाता

शताब्दियों तक पंजाब पर मुसलमानों का प्रभुत्व छाया रहा। राजनीति की दृष्टि से चतुर चालाक मुगल शासकों ने वहाँ की हिन्दू सभ्यता को समूल नष्ट कर देने का षड्यन्त्र चलाया और इस षड्यन्त्र में उन्हें बड़ी हद तक सफलता भी मिली। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि पंजाब के अधिकांश हिन्दू नागरिकों ने कट्टर हिन्दू निष्ठा के परिणाम स्वरूप अपना धर्म भले ही न बदला हो—रहन-सहन और जीवन का रंग-ढंग अवश्य बदल दिया। पंजाबी मुसलमानों की तरह ही रहने लगे। उनकी भाषा, वेषभूषा, भाव और रहन-सहन सब कुछ विजातीय संस्कृति के अनुरूप चलने लगा। वे लोग उर्दू बोलते थे। हिन्दी का कहीं नामो-निशान भी नहीं दिखाई देता और ऐसी अवस्था में देशकाल की इन परिस्थितियों में वहाँ के निवासी एक युवक ने रचनात्मक दृष्टिकोण से सोचा। वह युवक बाद में गोस्वामी गणेशदत्त के नाम से जाना जाने लगा।

इस विचार की प्रेरणा उन्हें बड़े हृदयस्पर्शी ढंग से मिली। एक साधारण-सी घटना ने उनके अन्तस् को छू लिया। हुआ यह बताया जाता है कि एक बार उन्होंने अपनी पुस्तिका में कुछ प्रश्नों के उत्तर हिन्दी भाषा में लिखे। परम्परा यह थी कि जो भी उत्तर लिखा जाय वह उर्दू भाषा में हो अथवा अंग्रेजी में। अपने हिन्दी प्रेम के कारण गोस्वामी जी ने इस परम्परा का उल्लंघन किया। परिवार में हिन्दी और संस्कृत भाषा की प्रधानता रहने से गोस्वामी जी को हिन्दी में लिखे गये उत्तरों से स्वाध्याय में सुविधा रहती थी।

उत्तर-पुस्तिका जब जँचने के लिए कक्षाध्यापक के पास पहुँची तो कक्षाध्यापक बौखला उठे। बात यह नहीं थी कि शिक्षक हिन्दी न जानता हो। परन्तु नियम और परम्परा टूटते देखना उसे कैसे सहन हो सकता था। इसलिए उसने गणेशदत्त को मुर्गा बनने के लिए कहा। गणेशदत्त जी ने इस सजा का कारण पूछा तो शिक्षक ने कहा—“तुमने इस पुस्तिका में प्रश्नों के उत्तर हिन्दी में क्यों लिखे हैं।”

“महाशय जी! हिन्दी में लिखने से मुझे अध्ययन में सुविधा जान पड़ी। हमारे परिवार में प्रायः यही भाषा बोली जाती है इसलिए हिन्दी में पढ़ना-लिखना मेरे लिए आसान और सुविधाजनक रहता है।” — गणेशदत्त जी ने कहा।

“कुछ नहीं, तुमने विद्यालय का नियम तोड़ा है। इसलिए तुम्हें यह भोगना ही पड़ेगा।”

“दण्ड सहने से मुझे एतराज नहीं है परन्तु मैं यह पूछना चाहता हूँ कि इस प्रकार विद्यालय का नियम कहाँ टूटता है। पुस्तिका तो

मेरी अपनी निजी सामग्री है उसमें किसी भी भाषा में लिखूँ तो विद्यालय को क्यों एतराज होना चाहिए।” — युवा छात्र गणेशदत्त ने घटना के हर पक्ष पहलू को छूकर अपना दृष्टिकोण बताया परन्तु अध्यापक भी अपने ढंग का एक ही पूर्वाग्रही, जिद्दी और अड़ जाने वाला व्यक्ति था।

इस विषय में हुई और भी बातों ने गोस्वामी जी को इस तथ्य से अवगत करा दिया कि पंजाब में उर्दू निष्ठा और हिन्दी उपेक्षा की प्रवृत्ति चरम सीमा पर है। जब किसी देश की अपनी ही भाषा के प्रति वहाँ की जनता का लगाव खत्म हो जाता है तो उस देश की सभ्यता और संस्कृति का भी अधःपतन होने लगता है। गणेशदत्त जी ने उसी समय संकल्प लिया कि चाहे जो हो। पंजाब में देश धर्म और संस्कृति की निरन्तर होती जा रही इस क्षति को रोककर ही रहेंगे। उन्होंने पंजाब में हिन्दी भाषा के प्रचार का व्रत लिया।

संकल्प ले लेना ही उसे पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होता। वरन् उसे पूरा करने के लिए साधन और सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। जिन्हें जुटाना पूर्ति की साधना में प्रथम आवश्यक है। यही प्रश्न गोस्वामी जी के सम्मुख भी खड़ा हुआ लेकिन लगता था असाध्य। पास में न तो पैसा था और न समाज पर प्रभाव कि आवश्यक साधन जुट जायें। काम प्रारम्भ भी करें तो किस प्रकार। काफ़ी सोच-विचार के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि काम का श्री गणेश कर देना चाहिए। किसी भी दुस्साध्य कार्य का आरम्भ कर दिया जाय साहसपूर्वक तो शनैः-शनैः मार्ग भी मिल जाता है। साहस करना व्यक्ति का काम होता है और सहायता करना भगवान् का।

उन्होंने आरम्भ भी बहुत छोटे प्रयास से किया। वस्तुतः उनकी सामर्थ्य भी नहीं थी अभी कि वे तुरन्त इस क्षेत्र में अभियान स्तर का प्रयास शुरू कर दें। छोटे-से समारम्भ में भी उन्हें अन्य संस्थाओं से सहयोग की अपेक्षा करना पड़ी। जिस नगर में वे रहते थे—लायनपुर वे वहाँ की सनातन धर्म सभा के मन्त्री के पास पहुँचे और अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उसकी आवश्यकता पर प्रकाश डाला। सभा के मन्त्री ने उनसे पूछा—“आखिर आप चाहते क्या हैं।”

“मैं अपने इस सामाजिक उद्देश्य के हेतु आपसे कुछ सहायता चाहता हूँ।”

“मेरे पास है क्या जो मैं आपकी सहायता कर सकता हूँ।” — मन्त्री ने टालने के भाव से कहा।

“जो सहायता आप कर सकते हैं। वही मैं आपसे माँगने भी आया हूँ। बात छोटी-सी है। यदि आप मेरे निवेदन पर सहानुभूति-पूर्वक विचार करें तो आसानी से पूरी हो सकती है।”

“कहिए-कहिए” — मन्त्री ने उत्सुकतापूर्वक कहा। शायद वह समझा होगा कि कोई दो-चार पाँच रुपये का चन्दा लेने के लिए ये आये होंगे। इतना सहयोग तो मैं आसानी से कर दूँगा। इस युवक पर अपने व्यक्तित्व का मुफ्त प्रभाव पड़ेगा सो अलग।

“दरअसल बात यह है कि आप सभा भवन में विद्यार्थियों को बैठने के लिए एक कमरा दे दें और थोड़ी-सी तेल की व्यवस्था कर

दें तो मैं हिन्दी की एक रात्रि पाठशाला आराम से चला सकूँगा'—गोस्वामी जी बोले ।

और इतना सुनकर मंत्री महोदय को जैसे सॉप सूँघ गया । उन्होंने कहा—सभा भवन में ऐसा कोई फलतू कमरा नहीं है, जो आपके इस सर्वथा नये काम के लिये दिया जा सके । तेल-बत्ती की व्यवस्था भी नहीं की जा सकती ।

सभा के मंत्री का उत्तर सर्वथा निराशादायक था और इस उत्तर को सुनकर निराश होने में कोई देर नहीं लगती । किन्तु गोस्वामी जी हतोत्साहित नहीं हुए वे बराबर मंत्री से सम्पर्क करते रहे और अपने उद्देश्य के विषय में समझाते रहे, निवेदन करते रहे । गोस्वामी जी को सभा भवन ही अपने कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त लगता था । और उन्होंने यह भी अनुभव कर लिया था कि थोड़ा प्रयत्न करने पर मंत्री को अवश्य ही सहयोगी बनाया जा सकता है । आखिर गोस्वामी जी का यह प्रयत्न सफल हुआ और कुछ समय बाद सनातन धर्म सभा के मंत्री ने रात के समय कुछ घंटों तक सभा भवन को उपयोग में लेने की अनुमति से दी । फिर भी तेल-बत्ती के लिए उसने स्पष्ट कह दिया कि उसका प्रबन्ध गोस्वामी जी स्वयं करें, गोस्वामी जी ने इस अनुमति को ही पर्याप्त माना और इस सहयोग के लिए उन्हें हृदय से धन्यवाद दिया । और उस छोटे-से कमरे में हिन्दी कक्षा आरम्भ करने की योजना बनी ।

गोस्वामी जी तो अभाव देवता की सन्तान थे । उनके पास स्वयं अपना भरण-पोषण करने योग्य सुविधा-साधन ही नहीं थे तो वे विद्यालय के लिए आवश्यक धनराशि कहाँ से जुटाते । एक ही मार्ग सुझाई देता था वह था जन-सहयोग का उपार्जन इसलिए उन्होंने झोली तैयार की और उसे लेकर घर-घर, द्वार-द्वार पर जाना आरम्भ किया । गोस्वामी जी जिस द्वार पर भी जाते उस द्वार पर ही गृहवासियों से दो निवेदन करते थे एक तो अपने बच्चों को रात्रिशाला में पढ़ने के लिए भेजने का निवेदन और दूसरा हिन्दी कक्षा के लिए आवश्यक साधन जुटाने हेतु चन्दा । यह दो निवेदन करते हुए वे घर-घर जाने लगे । यद्यपि जीवन में उन्होंने कभी अपने लिए किसी से कुछ नहीं माँगा था । आर्थिक दुरवस्था और अभावग्रस्त स्थिति में भी उन्होंने किसी से एक पाई का सहयोग नहीं लिया । इतना आत्मसम्मान जीव देश-धर्म और संस्कृति के मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा हेतु झोली फैलाने लगा । लोग ताने कसते । गोस्वामी जी कभी किसी की सहायता नहीं लेते थे न देने पर भी कैसा इन्कार करते थे । परन्तु अब क्यों झोली पकड़नी पड़ी ।

गोस्वामी जी का उत्तर होता—भाई अपने लिए तो नहीं माँगता हूँ । जो माँग रहा हूँ वह इसलिए कि हम लोगों में देश, जाति और भाषा के प्रति आत्मसम्मान और आत्मगौरव की भावना पैदा हो ? 'मर जाऊँ माँगू नहीं'—का दृढ़ संकल्पी गोस्वामी जी को परमार्थ प्रयोजन के लिए माँगने में किंचित भी संकोच नहीं होता । कई घरों से निराश भी लौटना पड़ता परन्तु उन्हें इसमें अपना आत्मसम्मान जाता नहीं लगा । वरन् इससे तो आत्मगौरव और भी बढ़ा । वह

इस कारण कि परमार्थ हित में अपना आत्माभिमान भी तज सकता हूँ ।

संस्कारों से मजबूर सर्वसाधारण किसी भी नयी बात को आसानी से ग्रहण नहीं कर पाते । लोगों का विरोध चलता रहा, उनकी उपेक्षा भी होती रही और मजाक भी लेकिन हतोत्साहित या निराश होने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी । विजयी श्री उसी का वरण करती है जो धैर्य-प्रयत्न, पुरुषार्थ और लगन के धनी होते हैं । इस मन्त्र की साधना से गोस्वामी जी ने अपने चरित्र को उदात्त आदर्श के रूप में प्रतिष्ठापित किया । वे प्रयत्नपूर्वक इस साधना में लगे रहे । विद्यार्थी और पैसा दोनों ही पर्याप्त मात्रा में मिलने लगे । रात्रि-पाठशाला के प्रति लोगों में आकर्षण, अभिरुचि और उत्साह जागा तथा कार्यक्रम गतिशील होने लगा । गोस्वामी जी इस कार्य में इतने तन्मय और समर्पित हो गये कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही हिन्दी और शिक्षा प्रचार के लिए अर्पित कर दिया ।

धीरे-धीरे काम बढ़ता गया । अब सभा भवन में कक्षाएँ नहीं लग सकती थीं अतः उन्होंने अलग स्थान की व्यवस्था की । इसी क्रम से लायनपुर के बाहर भी उनका कार्यक्षेत्र फैला और एक-एक कर उनकी संस्था की शाखाएँ स्थापित होने लगीं । गोस्वामी ने क्रम से पंजाब भर में लगभग चार सौ स्कूल, हाईस्कूल, इण्टर कॉलेज, बाल विद्यालय और कन्याशालाओं की स्थापना करवायी, इन शालाओं में हिन्दी को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया । कुछ ही दिनों में हिन्दी पंजाब की प्रमुख भाषा बन गयी । गोस्वामी जी द्वारा तैयार किया गया यह तन्त्र सुचारू रूप से चलने लगा ।

तभी भारत आजाद हुआ और आजादी मिलते ही देश के टुकड़े भी हुए । उर्दू भाषी क्षेत्र पाकिस्तान बन गया । गोस्वामी जी की अधिकांश शाखाएँ पूर्वी-पंजाब में थीं और वह सारा का सारा भाग पाकिस्तान बन गया । पाकिस्तान के अन्धे साम्प्रदायिक नेताओं ने गोस्वामी जी की समूची व्यवस्था को ही नष्ट-भट्ट कर दिया । गोस्वामी जी ऐसी दशा में भी किर्कतव्यविमूढ़ नहीं हुए और पाकिस्तान छोड़कर भारत आ गये । धैर्यपूर्वक उन्होंने इस होनी को परमात्मा की इच्छा समझकर सहन किया ।

भारत आकर गोस्वामी जी जनसेवा के दूसरे कार्यों में लगे । उन दिनों पंजाब और बंगाल से हजारों-लाखों की संख्या में शरणार्थी आ रहे थे । गोस्वामी जी ने इन लोगों के पुनर्वास कार्य में बहुत बड़ा योगदान दिया । दिल्ली के बिड़ला मन्दिर में अपने सेवा कार्य का केन्द्र बनाकर शरणार्थियों के लिए अन्न, वस्त्र और आवासादि साधनों की व्यवस्था की । इसके अतिरिक्त वे दुःखी शरणार्थियों के पास जाते और उनकी वेदना में भी भागीदार बनते । यथाशक्ति सहायता देने के बावजूद, यद्यपि वह अत्यल्प ही होती थी—फिर भी वे शरणार्थियों के प्रति संवेदना, सहानुभूति, करुणा और आश्वासन आदि प्रकारों से उनका जो दुःख बँटाते थे उससे शरणार्थियों को बड़ी राहत मिलती थी ।

पंजाब में प्लेग, बंगाल के अकाल और अन्य ऐसी ही संकट की घड़ियों में देशवासियों की उन्होंने जो सेवा की उसकी मिसाल ढूँढ़ पाना मुश्किल है। अपना सारा जीवन सेवा कार्यों में लगाकर गोस्वामी जी ने इस परम पिता परमात्मा के विराट स्वरूप का साक्षात् कर लिया जो सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है।

मानवता के महान् उपासक— संत श्री गाडगे बाबा

सन् १९०७ के पौष महीने का अन्तिम रविवार। दिन ढलने के साथ-साथ ऋण मोचन (अमरावती) के मेले में एकत्रित भीड़ छूटने लगी। सदा की भाँति खर पत्तों के कूड़े, रसोई के लिए प्रयोग किये गए मिट्टी के दूटे बर्तन, भोजन के बचे टुकड़े, यही नहीं ऊँचे-नीचे स्थानों पर मलमूत्र जहाँ-तहाँ भरे पड़े थे। प्रत्येक वर्ष इस तरह की गन्दगी से उत्पन्न बीमारियों के कारण मेले के आस-पास के गाँवों के निवासियों को अनेक कष्ट झेलने पड़े थे पर उसकी सफाई की ओर अब तक किसी ने ध्यान नहीं दिया था। हाँ, इस साल एक युवक, जो मेले के पूर्व नदी की ऊँची कगार को काट-काटकर स्नानार्थियों के लिए राह बना रहा था। अब हाथ में झाड़ू लिए मेले की गन्दगी की सफाई में अकेला व्यस्त था। दर्शकों का कौतूहल धीरे-धीरे प्रशंसा में बदल चला था। कुछ यह भी कहते सुने गये कि जो व्यक्ति आम लोगों की सुख-सुविधा तथा स्वास्थ्य-रक्षा के लिए पूरे दिन कुली और भंगी की तरह सेवा कार्य में जुटा है, उसका स्थान मन्दिर के देवताओं की आरती उतारने वालों से कम महत्त्व का नहीं है। यहीं नहीं उसका मार्ग ही भगवान् की सच्ची उपासना का मार्ग है।

मेले की सफाई के उपरान्त संत गाडगे, वहाँ उन्हें ढूँढ़ने आई अपनी माँ सखुजाई के समक्ष आकर बैठ गये। भंगी के समान उन्हें मेले की सफाई करते देख माँ का हृदय भर आया था, जिसे संत ने भाँप लिया। अतः जब माँ ने रोते हुए अपने इकलौते बेटे से घर लौट चलने के लिए आग्रह किया तो संत गाडगे ने कहा— “माँ अपने आस-पास का मानव संसार ही भगवान् का प्रत्यक्ष रूप है। इन कोटि-कोटि लोगों की यथाशक्ति सेवा करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना हो सकती है। सुगन्धित फूल-पत्तों को पत्थर की मूर्ति पर चढ़ाने की अपेक्षा अपने आस-पास विद्यमान चलती-फिरती दुनिया की सेवायें तथा भूखों के लिए रोटी मुहैया करने में जीवन खपा देने में उसकी सार्थकता है। ऐसे फूल-पत्तों से हमारी झाड़ू श्रेष्ठ है। पर यह बात आज तुम्हारी समझ में नहीं आ सकती।”

मानवता के इस महान् उपासक का जन्म महाराष्ट्र राज्य के अमरावती जिले में १८७६ में हुआ था और २० दिसम्बर, १९५६ को राष्ट्र संत स्व. तुकड़ो जी महाराज ने ‘मानवता के महान् पुजारी संत गाडगे बाबा’ नामक पुस्तक के अपने प्राक्कथन में संत गाडगे की ‘मानवता के मूर्तिमान आदर्श’ के रूप में वंदना की है।

एक बार जब संत गाडगे बाबा व्यसन-मुक्ति प्रचार के सिलसिले में वर्धा जिले में घूम रहे थे, गाँधी जी के निमन्त्रण पर उनसे मिलने सेवा ग्राम गये। जब आश्रम के आस-पास के गाँवों के निवासियों को उनके आश्रम में आने की सूचना मिली तो सैकड़ों की संख्या में लोग वहाँ आ पहुँचे। गाँधी जी ने गाडगे बाबा को बैठने को आसन दिया पर वे उनके सामने जमीन पर ही बैठ गये। राष्ट्रपिता के अनुरोध पर संत ने कीर्तन किया और बाद में उनके साथ भोजन भी किया। संत गाडगे की लोकप्रियता और सरलता देखकर गाँधी जी मुग्ध हो गये।

संत गाडगे बाबा सच्चे निष्काम कर्मयोगी थे। महाराष्ट्र के कोने-कोने में उन्होंने अनेक धर्मशालाएँ, गौशालाएँ, स्कूल, छात्रावास, दवाखाने आदि का निर्माण कराया, जिनका मूल्य इस समय दो करोड़ रुपयों से भी अधिक है। यह सब उन्होंने भीख माँग-माँगकर बनवाया परन्तु अपने सारे जीवन में इस महापुरुष ने अपने लिए एक कुटिया तक नहीं बनवाई, धर्मशालाओं के बरामदे या आस-पास के किसी वृक्ष के नीचे ही अपनी सारी जिन्दगी बिता दी। एक लकड़ी, फटी पुरानी चादर और मिट्टी का एक बर्तन (जो खाने-पीने और कीर्तन के समय ढपली का काम देता था) ही उनकी सम्पत्ति थी। इसी से उन्हें महाराष्ट्र के भिन्न-भिन्न भागों में कहीं गाडगे (मिट्टी के बर्तन वाले) गोधड़े (चिथड़े वाले) बाबा के नाम से पुकारा जाता था, उनका वास्तविक नाम आज तक किसी को मालूम नहीं।

गाडगे बाबा के जीवन का एकमात्र ध्येय था लोकसेवा। दीन-दुःखियों, उपेक्षितों की सेवा को ही वे ईश्वर सेवा मानते थे। धार्मिक बाह्याडम्बरों के वे प्रबल विरोधी थे। वे कहा करते थे कि भगवान् न तो तीर्थ स्थानों में हैं और न मूर्तियों में, बल्कि दरिद्र नारायण के रूप में वह मानव-समाज में ही विद्यमान है। मनुष्य को चाहिए कि वह इस भगवान् को पहचाने और उसकी तन-मन धन से सेवा करे। भूखों को भोजन, प्यासे को पानी, नंगे को वस्त्र, अनपढ़ को शिक्षा, बेकार को काम, निराश को ढाढस और मूक जीवों को अभय प्रदान करना ही वे भगवान् की सच्ची सेवा मानते थे। तीर्थ स्थानों पर १२ बड़ी-बड़ी धर्मशालायें स्थापित करने का उनका एकमात्र उद्देश्य था कि गरीब यात्रियों को वहाँ मुफ्त में ठहरने का स्थान मिल सके। नासिक में बनी उनकी विशाल धर्मशाला में ५०० यात्री तक एक साथ ठहर सकते हैं, वहाँ यात्रियों को सिगड़ी, बर्तन आदि भी निःशुल्क देने की व्यवस्था है। दरिद्र नारायण के लिये वे प्रतिवर्ष अनेक बड़े-बड़े अन्न क्षेत्र भी किया करते थे, जिनमें अन्धों, लँगड़ों तथा अन्य अपाहिजों को कम्बल और बर्तन आदि भी बाँटते थे।

संत गाडगे बाबा बड़े बुद्धिवादी थे, यद्यपि वे अनपढ़ थे। बचपन में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई थी। अतः उन्हें छुटपन में अपने नाना के पास रहना पड़ा, जहाँ उन्हें गायें चराने तथा खेती का काम करना पड़ता था। सन् १९०५ से लेकर १९१७ तक संत गाडगे बाबा अज्ञातवास में रहे। इस दौरान उन्हें देश और समाज को नजदीक से देखने का पर्याप्त अवसर मिला। अन्धविश्वासों, बाह्य आडम्बरों, रूढ़ियों तथा सामाजिक कुरीतियों एवं दुर्व्यसनों से समाज

को कितनी भयंकर हानि हो रही है, इसका उन्हें भली-भाँति अनुभव हुआ। यही कारण है कि इन चीजों का उन्होंने खुलकर विरोध किया। वे कहा करते थे कि तीर्थ और मन्दिरों के पण्डे-पुजारी सब भ्रष्टाचारी रहते हैं, अतः वे तुम्हारा क्या भला कर सकेंगे? धर्म के नाम पर होने वाले पशुबलि के भी वे कट्टर विरोधी थे। यही नहीं नशाखोरी, छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयों तथा मजदूरों और किसानों के शोषण का भी वे प्रबल विरोध करते थे।

साधु-महात्माओं के पाँव छूने की प्रथा आज भी सर्वत्र प्रचलित है। सन्त गाडगे इसके घोर विरोधी थे। जब भी कोई उनके पाँव छूने की चेष्टा करता वे दूर हट जाते और झिड़कते हुए कहते—“खबरदार जो मेरे पाँव को स्पर्श किया।” यहीं नहीं जब ब्रह्मालु लोगों की भीड़ उनके पैर छूने के लिए टूट पड़ती तो वे अपनी छड़ी से उन्हें दूर हटाते हुए भाग जाते।

सन्त गाडगे बाबा द्वारा उनके जीवन काल में ही स्थापित ‘गाडगे महाराज मिशन’ आज भी १२ धर्मशालाओं तथा ३१ कॉलेज, स्कूल छात्रावास आदि संस्थाओं का सफल संचालन तथा समाज-सेवा के अन्य कार्यों में संलग्न हैं।

सन्त गाडगे बाबा आज के सन्त-महन्तों एवं महात्माओं के लिये समाज-सेवा का जो आदर्श छोड़ गये हैं, उस पर यदि वे चलने का प्रयास और संकल्प करें तो दिन प्रतिदिन इस पुण्य भूमि भारत की हो रही अवनति और अधःपतन से उसे उबार सकते हैं। प्रभु इसके लिए उन्हें सदबुद्धि एवं सत्प्रेरणा दे।

जैन धर्म के प्रचारक— पं. गोपालदास बैरैया

“जैन उन्हें कहते हैं जो ‘जिन’ के अनुयायी हों जिन्होंने अपनी वाणी को, कर्मा को जीत लिया, वे ही ‘जिन’ हैं। यह गर्व का विषय है कि जैन धर्म भारतवर्ष के प्रमुख धर्मों में से है। प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की कामना तथा सारगर्भिता के कारण ही इसे यह महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।”

“हम यह मानते हैं कि अपने को जीतना ही सबसे बड़ी साधना है। पुरुष संग्राम में दस लाख शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे उसकी अपेक्षा तो वह अपनी आत्मा पर ही विजय प्राप्त कर ले, यही श्रेष्ठ जय है। अहिंसा, तप और संयम—यही जैन धर्म के प्रमुख तीन स्तम्भ हैं।

आज समाज में चारों ओर जो अशान्ति और कुंठाएँ व्याप्त हैं, उन्हें दूर करने में यह धर्म पूर्णतः सक्षम है। परन्तु आवश्यकता ऐसे लोगों की है जो समाज-कल्याण के लिए वैयक्तिक सुखों का मोह त्याग कर कमर कसकर कर्मक्षेत्र में कूद पड़ें। यदि युवाओं की धमनियों का लहू अभी जमा न हो तो वे आगे आयें.....”

वक्ता का धाराप्रवाह भाषण चल रहा था। अनेक श्रोता मंत्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। श्रोताओं में एक युवक ऐसा भी था जिसके जीवन की धारा ही भाषण के द्वारा परिवर्तित हो गयी। धर्म क्या होता है,

धर्म की शक्ति सामर्थ्य कैसी होती है, यह उसे प्रथम बार पता लगा था। वक्ता महोदय के तर्क इतने युक्तिसंगत थे कि युवक को मानना पड़ा कि समाज-कल्याण के लिए; उसे सदगुणी, सदाचारी, चरित्रवान बनाने के लिए धर्म का प्रचार आवश्यक है। उसी दिन उसने अपना जीवन जैन सिद्धान्त और जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित कर दिया। यह युवक थे पं. गोपाल दास बैरैया जो आगे चलकर जैन धर्म के प्रचारकों में अग्रगण्य गिने गये। इनकी महान् सेवाओं के फलस्वरूप आज भी इनका नाम अत्यन्त ब्रह्म तथा आदर के साथ लिया जाता है।

पं. गोपालदास बैरैया को उपर्युक्त घटना से पूर्व धर्मादि में कोई रुचि न थी। उनका बचपन बहुत साधारण-सा था। बाल्यावस्था में ही पिता की मृत्यु हो गयी थी। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त अजमेर में रेलवे दफ्तर में नौकरी करने लगे। ‘खाओ-पीओ और मौज मनाओ’ यही उनका जीवन-क्रम चल रहा था। अचानक ही वे एक जैन विद्वान् के सम्पर्क में आये तथा उन्हें इस धर्म की गरिमा को स्वीकार करना पड़ा। उनके अन्तःकरण में प्रस्तुत देवत्व के बीज जागरित हो उठे और देश और धर्म के पुनरुद्धार के लिए उन्होंने अपना जीवन दे दिया।

नौकरी छोड़कर पंडित जी बम्बई चले गये। यहाँ वे जैन महा-सभा के कार्यों में सक्रिय भाग लेने लगे। यहीं पर उन्होंने संस्कृति, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के माध्यम से जैन धर्म का गंभीर अध्ययन किया तथा जैन संस्कृति महाविद्यालय की परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण कीं।

जैन धर्म का तन्त्र समझ कर अब वे जनता को भी उसका रहस्य समझाने में जुट गये। १९०० ई. में पंडित गोपालदास बैरैया ने ‘जैन मित्र’ नामक पत्र निकाला। इसके माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्त को जनसाधारण तक पहुँचाया। ‘जैन धर्म का पालन घर-परिवार छोड़कर ही किया जा सकता है’ जनसाधारण को उन्होंने जैन धर्म के सम्यक् विवेचन से निर्मूल सिद्ध कर दिया, साथ ही पंडित जी ने यह भी सिद्ध किया कि यदि गृहस्थ लोग अणुव्रतों का ठीक से पालन करें तो समाज में चारों ओर फैला हाहाकार दुःख और अशान्ति दूर होते देर न लगे।

जनता में त्याग, तपस्या, सेवा, अहिंसा, सत्य, परिग्रह आदि की भावनाएँ भरने के लिए उन्होंने घूम-घूम कर प्रचार किया। जैन मुनियों के महान् संदेश को इन्होंने अत्यन्त सरल सुबोध भाषा में जनसाधारण के अन्तःकरण तक उतारा तथा उन्हें सात्विक और परोपकारी जीवन जीने की प्रेरणा दी। आज जैन धर्म का जो व्यापक प्रचार है, उसका श्रेय एक प्रकार से पंडित जी को दिया जा सकता है।

जय कृष्ण प्रभुदास भणसाली का सार्थक तप

“बापू ! बापू !! ओरे देखिए न, काका को क्या हो गया है ?” बच्चों का एक पूरा झुण्ड कोठरी के द्वार पर दौड़ आया। अभी सबेरा हुआ ही था। दिसम्बर-जनवरी के महीने में सूर्य रश्मियाँ वैसे भी

अलसाई रहती है, फिर तो आज उन्होंने कोहरे की सफेद चादर तान रखी थी। ऐसे में इतनी सुबह बालकों के समूह का द्वार पर कमल की पंखुड़ियों की तरह सिमट आना। क्यों न सिमटें ? आखिर एक वही तो है जिनसे छोटे-बड़ों की शिक्षायतें, आपस की नोक-झोंक सब कुछ कह लेते हैं। कभी-कभी तो उनसे उनकी भी गलतियाँ बताने में नहीं चूकते। सुनकर वह हँसते हैं समझते हैं और जवाब में पूरा आश्रम परिसर खिलखिलाहट से भर जाता है। आज फिर पता नहीं क्यों ?

द्वार खोलते ही सबके सब घुस गए। बच्चों से घिरे उन्होंने पूछा “क्या हुआ तुम्हारे कक्का को ?” बच्चों के ये कक्का दुनिया की विचित्र वस्तुओं से भी विचित्रतम। कहा जाता है कि संसार के सात आश्चर्य हैं किन्तु ये ऐसे कि सातों आश्चर्य इन्हें देखकर स्वयं आश्चर्य में पड़ जायें। सभी आश्रमवासी उनके बारे में यही राय रखते थे। आपस में हो रही चर्चा में कहीं न कहीं उनका नाम अवश्य कूट पड़ता। इस नाम कूट से बातों का मजा बढ़ जाता था। उनका जीवन क्रम उपवास करने लग जाय तो ६८ दिन तक बिना खाए-पिए बने रहें और अगर खाने लग जायें तो आश्रम का सारा दूध अकेले पी जाने लगें, तब गौशाला के इन्चार्ज ने बापू से विनय की इस समय लगभग बीस सेर तो दूध ही होता है, वह सब का सब कक्का के पेट में चला जाता है। बापू हँस पड़े “कोई प्रयोग कर रहा होगा, मैं मना कर दूँगा” और दूसरे दिन से बारह-तेरह किलो खली खाने का क्रम चला यह छूटा तो महीनों कड़वी नीम की पत्ती के बोल पर गुजरे। आश्रमवासी हैरत में पड़े थे आखिर ये हैं क्या ? इतना कठोर जीवन कि कठोरता को भी कैपकैपी छूट जाय। इस पर बीमारी तकलीफ उनसे कोसों दूर।

तब आज फिर क्या कोई नया....? बापू की मुस्कान अपने आप में गहरा रहस्य छुपाए थी। बच्चे तो अपना सारा आश्चर्य उन्हीं की झोली में उड़लने आए ही थे। तनिक-सा संकेत मिलते ही सब के सब एक साथ बोल पड़े “आज रात क्या हुआ ? तू नहीं मैं बताऊँगा नहीं मैं।” आखिर हँसते हुए उन्होंने सबको चुप कराया फिर एक बारह-तेरह साल के बालक को बोलने का इशारा किया।

“कल शाम कक्का ने गायों की लम्बी वाली नाद को साफ किया फिर उसमें पानी भरा, उसने बताना शुरू किया हम लोगों ने सोचा कि ऐसे ही सफ़ाई चल रही होगी। पर नहीं वह तो टाट की एक लँगोटी पहने नंगे बदन सारी रात उस पानी में लेते रहे। कल रात की सर्दी उफ ! जैसे उसे स्मरणमात्र से झुरझरी हो आयी हो।” “असली बात बता।” एक साँवले से तनिक वाचाल लगने वाले लड़के ने अपनी आँखें मटकते हुए टोका। इसके पहले कि दोनों में नोक-झोंक हो जाती, उन्होंने हाथ के इशारे से शान्त करते हुए उसी साँवले बालक को बताने का संकेत किया। “उन्होंने मुँह सिलवा लिया बापू। मुँह सिलवा लिया।” अब तो उन्हें भी ताज्जुब हुआ। महावर तो सुना है मुँह सिलवाना पर कोई सचमुच में। किस चीज से सिलवाया है ? ताबें के तार से। कई लड़के एक साथ बोल पड़े।

अब की बार गाँधी जी को गम्भीर होना पड़ा। लोग जब कहते बापू तुम्हारे आश्रम में चोर से लेकर संन्यासी तक तरह-तरह के आदमी रहते हैं। आपने इन्सानों का चिड़ियाघर खोल रखा है। सुनकर वह हँसते हुए मजाक में कहते चिड़ियाघर नहीं शिव की बरात है। नन्दी-भृंगी से लेकर भूत-बैताल, साँप-बिच्छू सभी हैं, वीरभद्रों की भी भारी तादाद है। भाँति-भाँति के इन्सानों नमूनों में एक यह भी फिर कुछ सोचते हुए पूछा अच्छा इस समय क्या कर रहे हैं ? नदी के पानी में दोनों हाथ उठाए छाड़े आकाश की ओर देख रहे हैं। बच्चों का जवाब था।

अपनी हलकी-सी शाल को लपेटते हुए वह बच्चों के साथ चल पड़े। कदमों के सहारे पगडंडी को नापते उनका चिंतन चक्र चल पड़ा। अनेक गुण हैं उसमें स्वाध्यायी है, विनयशील है, कर्मठ है, सत्यवादी है संक्षेप में एक महापुरुष के लिए जितने गुणों की अपेक्षा रहती है, प्रायः वे सभी हैं। यदि कोई दोष है तो यह कि हठी हैं। यों जीवन के अन्य विषयों में पारस्परिक व्यवहार में नीति परामर्श में। उसका हठ कहीं भी आड़े नहीं आता। इसके प्रकटीकरण का क्षेत्र तो एक ही है जिसे वह ‘तप’ कहता है।

‘तप’ कितना गहरा अर्थ छुपा है इस शब्द में। जीवन का, अरुण मन्थन का, ऊर्जस्वता के अर्जन का नाम है ‘तप’। व्यक्तित्व के महासागर का मन्थन कर चौदह गुण रत्नों के प्रकटीकरण की प्रक्रिया है यह। पर अचानक उनकी नजर सामने की ओर उठी। चारों ओर कोहरे की सफेद धुंध अभी भी पगडण्डी, खेतों-वृक्ष, वनस्पति और इक्के-दुक्के आने-जाने वालों को अपनी सुविस्तीर्ण चादर में लपेटती जा रही थी। सन्नाटे के बीच कभी-कभार नदी की लहरों की ध्वनि तरंगित हो जाती। आगे बढ़ गए बच्चों को पुकार कर पास बुलाकर स्नेहपूर्ण स्वरों में कहा साथ-साथ चलो। वह पुनः उनके बारे में सोचने लगे तप के नाम पर ही तो अपने शरीर को यातना देता है। कई बार उसे उन्होंने संकेत भी किए फिर वह कोई नासमझ तो नहीं है, जिसने इतिहास, अंग्रेजी, अर्थशास्त्र तथा फ्रेंच विषयों में एम. ए. (आनर्स) किया हो। जो सेण्ट जेवियर कॉलेज में प्राध्यापक रहा हो।

इस ओर नहीं उस तरफ। एक बच्चे ने उनके कदमों को दूसरी ओर मोड़ा उस ओर जिधर इनके कक्का खड़े थे। वे सोचने लगे— “कितना प्यार करते हैं ये सब बच्चे उसको। तभी तो ऐसी कड़ाके की ठण्ड में भी आकर उसे देख गए। मुझे लेकर आये। वह भी इन बच्चों के लिए जान देता है। जब होता है तब इन्हीं बच्चों के विकास का चिन्तन। बिना किसी आशा अपेक्षा के इनके हित में लगे रहना। प्रेम भाव है, दिव्य भाव, मनुष्य में विकसित देवत्व यह। जिस किसी भाव का स्वयं को विकास होता है, बाह्य जगत से उसी का प्रतिदान मिलता है। जिसने अपने अन्दर घृणा पनपाई है, उसे बदले में घृणा के सिवा और कुछ न मिलेगा। जिसने अपने अस्तित्व को निचोड़ कर अमृत बिन्दु छिड़के सम्पूर्ण विश्व उसे अमृत कलश समर्पण करने में गौरव की अनुभूति करेगा।”

कमर तक पानी में खड़ा उसका निष्कम्प शरीर कोहरे को बेधकर झिलमिलाता दीख रहा था। 'ये रहे।' बच्चों का समवेत स्वर गूँज उठा। 'नदी का जल अभी भी सफेद धुंध से ढका था। ये सब बिल्कुल पास जाकर खड़े हो गए। थोड़ी देर बाद हलका-सा कंपन हुआ। आकाश की ओर उसने हाथ जोड़े और पीछे की ओर मुड़ा। शायद उसने आज की उपासना पूर्ण कर ली थी। मुड़ने पर एकाएक वह अपनी आँखों पर विश्वास न कर सका दो-चार बार पलकें झपकीं। तो क्या बापू स्वयं? दिल की धड़कनें तेज हो गईं?

इस तरफ आ जाओ। कानों के अन्दर चिरपरिचित आवाज ने प्रवेश किया। अब तो अविश्वास का कोई सवाल न था। धीरे-धीरे पानी को पार करता हुआ उनके पास आ पहुँचा। "भणसाली! क्यों इतनी तकलीफ उठाते हो?" कहते हुए उन्होंने अपनी शाल के अन्दर से एक सूखा कपड़ा निकाल उनके शरीर को पोंछना शुरू किया। आहिस्ते-आहिस्ते तब के उस तार को निकाला जिससे उन्होंने अपने होंठों को बेध रखा था। दूसरे क्षण ऊनी खादी का एक मोटा कपड़ा उसे लपेटने को दिया। सम्भवतः वह इसे अपने साथ लेकर चले थे। बच्चे मौन खड़े अपने कानों को देख रहे थे।

थोड़ी देर में सब साथ-साथ चल दिये। आश्रम की जानी पहचानी राह पर बच्चे उछलते-कूटते भाग चले। आखिर उन्हें अपना विजय सन्देश सुनाने की जल्दी जो थी। भणसाली काका को डिगाना और हिमालय को डिगाना एक। पर बापू की सहायता से सब कुछ... देखते-देखते बालकों का समूह ओझल हो गया।

इधर बापू कह रहे थे "भणसाली जिद छोड़ो, तपस्या हट नहीं जीवन का शोधन है। वही तो करने की कोशिश कर रहा हूँ। शब्दों में बिंधे होयों का कष्ट सुना था। जवाब में बापू ने वात्सल्य भरी झिड़की दी फिर वही बच्चों वाली बात, लगता है तुम लड़कों को पढ़ाते-पढ़ाते लड़के हो गए जिद्दी लड़के। भले आदमी! रात भर पानी की नाद में लेटने, तपती बालू में पड़े रहने, होंठ सिलवा लेने से जीवन का शोधन कैसे होगा? उत्तर में एक चुप्पी थी, जिसे तोड़ते हुए गाँधी जी की वागधारा पुनः बह चली।" "जिस जीवन का परिष्कार कर सैकड़ों-हजारों लाखों क्षत-विक्षत जिन्दगियों में नए प्राण फूँके जा सकते हैं, जो परिष्कृत जीवन सहस्रों-सहस्र नर पशुओं को देव मानव की दीक्षा देने में समर्थ है उसी को तिल-तिल करके गलाना परमात्मा की दिव्य धरोहर का अपमान नहीं तो और क्या है?"

वे बोल उठे "पर बापू मैं तो शास्त्र विधान के अनुसार तप..." वाक्य पूरा होने के पूर्व गाँधी जी ने टोका "शास्त्रों में गीता को पढ़ना भूल गए क्या? जिसके सत्रहवें अध्याय में इस शरीर यातना को अविवेकियों के द्वारा किया जाने वाला आसुर कर्म कहा है। घर छोड़ो-जंगल भागो, कमरे छोड़ो, गुफा ढूँढ़ो मनस्वियों के इसी पलायन धर्म के कारण विधाता के विश्व उद्यान का बंटाधार हुआ है। जिस बगीचे के माली भाग जाएँ तो परिणाम जानते हो बगीचे और मालियों का गाँधी ने तीव्र बेधक दृष्टि से उनकी आँखों में झाँका। कुछ पल रुक कर शिक्षक के स्वर में बोले बगीचे को बनाने पशु रोदेंगे। हँसते-खिलकिलाते फूलों को कुचले-मसले जाने के लिए बिबश होना पड़ेगा और तप के नाम पर युग धर्म से मुख मोड़ने वाले इन पलायन धर्मियों

को आत्मग्लानि के तुषानल में जन्म-जमान्तर तक झुलसना पड़ेगा। आज अपने देश की दुर्दशा, उसके जिस्म पर हो रहे सहस्रशः आघातों का एकमात्र कारण इसके मालियों का पलायनवाद है।" बापू के स्वर गाम्भीर्य ने उसे सहमा दिया। मानवता के लिए उनके दिल में अहर्निश उठने वाली धुमड़न से वह अपरिचित न था पर...।

शायद उन्होंने अपने स्वर की तीव्रता स्वयं अनुभव कर ली। इसी कारण अपने को अपेक्षाकृत सहज करते हुए कहने लगे। योगेश्वर कृष्ण तप की व्याख्या करते हुए कहते हैं शरीर का तप है सेवा के लिए श्रम। वाणी का तप है सत्य प्रिय हितकारक वचन और मन का तप है सौम्यता व विचारशीलता। हठ छोड़कर इसे अंगीकार करो-बदलो अपने मन की प्रवृत्तियों को।

वार्तालाप के क्रम में नदी से आश्रम का रास्ता कब पूरा हुआ इसका दोनों में से किसी को भान तक न होने पाया। उस दिन से प्रारम्भ हुआ इनका यथार्थ तप। हरिजन यंग इण्डिया का सम्पादन हो अथवा आटा चक्की चलना पूर्ण तन्मयता से आश्रम के हर छोटे-बड़े काम करते रहते। आश्रमवासी उनके इस परिवर्तित स्वरूप को देखकर चकित थे। १९४२ के अगस्त महीने में महिलाओं के रक्षणार्थ किए गए उनके सत्याग्रह ने सारे देश को चकित कर दिया। चिमूर स्थान में किए गए इस सत्याग्रह पर स्वयं गाँधी जी कह उठे जय कृष्ण प्रभुदास भणसाली ने मेरा सिर दुनिया में ऊँचा कर दिया। युगधर्म के निर्वाह के लिए 'कष्ट सहिष्णुता ही तप है।' इसी आदर्श के निर्वाह में उनका जीवन बीता। काल प्रवाह के बदले स्वरूप में आज हमारी बारी है इस तप का निर्वाह कर अपने मार्गदर्शक का सिर ऊँचा करने की। ब्राह्मणोचित जीवन जी कर, ब्रह्म बीज की तरह गलकर सारी विश्वसुधा को ब्रह्म कमलों से सुविकसित करने की।

समाज-सुधार के शंखोच्चारक— महात्मा ज्योतिबा फुले

२७ नवम्बर, १८९० की प्रातःकाल जब उनके जीवन की अन्तिम साँसें चल रही थीं उन्होंने अपने निकटवर्ती अनुयायियों को बुलाया। उन्होंने जीवन भर सामाजिक कुरीतियों के साथ विद्रोह किया था। आज उनके विग्राम का दिन था पर जैसे उनकी आत्मचेतना को तब तक विग्राम स्वीकार नहीं था जब तक इस देश का बच्चा-बच्चा भेद-भाव, जाति-पाँति, ऊँच-नीच की संकीर्णता से मुक्त नहीं हो जाता। जब तक इस देश की नारी अपना यथेष्ट सम्मान और समानाधिकार प्राप्त नहीं कर लेती, जब तक एक भी विधवा इस संसार में भार रूप जी रही हो तब तक उस क्रान्तिकारी की आत्मा विग्राम लेना स्वीकार नहीं कर सकती थी। इसलिए उन्होंने अपने साधियों को सामने बैठाकर उसी प्रकार समझाना प्रारम्भ किया जिस प्रकार एक अध्यापक अपने विद्यार्थियों को पाठ सिखाता है। भाइयो अपना देश धर्म और अपनी संस्कृति जब तक अपने पूर्व उज्ज्वल कीर्ति को नहीं पा लेती सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध सत्याग्रह की आवाज को मन्द मत पड़ने देना।

३.७२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

अपने भीतर यही दर्द छुपाये हुए वह इस संसार से विदा हो गये पर मरते-मरते वह यह समझा गये— मनुष्य के लिये समाज सेवा से बढ़कर कोई धर्म नहीं। उससे अच्छी कोई ईश्वर उपासना नहीं। जो अपने समाज को ऊँचा उठाने में अपनी योग्यताओं, शक्ति, सुख और सुविधाओं का बलिदान कर सकता है वही सच्चा ईश्वरभक्त और लोकनायक है। दुनिया उसे चाहे बुरा कहे या विरोध करे वह सब निरर्थक है।

समाज के प्रति इतना प्रेम बरतने वाले यह महात्मा महाराष्ट्र में सामाजिक सुधार के आदि प्रवर्तक और पिता माने जाते हैं। उनकी सेवाओं के लिये न केवल महाराष्ट्र वरन् सारा देश ही चिरकाल तक अनुगृहीत रहेगा। उन का नाम था महात्मा ज्योतिबा फुले। ज्योतिबा का जन्म १८२७ में पूना में एक माली परिवार में हुआ था। वह सबसे पहले भारतीय थे जिन्होंने इस देश में समाज-सुधार और पद-दलितों के उत्थान का अभियान ही नहीं चलाया बल्कि धर्म और संस्कृति के सत्य स्वरूप की शोध के लिये भी एक महान् परम्परा का श्री गणेश किया। इतना बड़ा कार्य जो उन्होंने अकेले सम्पन्न किया वह किसी मिशनरी के बराबर का काम था। लोग आश्चर्यचकित हैं इतनी कठिन तपश्चर्या वे कैसे कर सके पर जिनके हृदय में दूसरों के लिये थोड़ी दया, थोड़ी करुणा, आत्मभाव और प्रेम होता है, उसकी आपूर्ति के लिये जो केवल बातें ही नहीं करते वरन् मैदान में कूदकर एक सच्चे योद्धा की तरह लड़ने और संघर्ष भी करने की हिम्मत रखते हैं, उनके लिये यह उपलब्धि एक साधारण बात है।

सहायतायें तो उन्हें भगवान् देता है। सुविधायें मनुष्य कहाँ दे सकता है वह भी परमात्मा की ही प्रेरणा से जुटती हैं। सिद्धियाँ— मनुष्य की कर्मठता ही वह सिद्धि है जो बड़े से बड़ा चमत्कार कर दिखाती है। ज्योतिबा जिस परिवार में जन्मे थे उसमें आज तक किसी ने उच्च शिक्षा नहीं पाई थी। उसमें उस परिवार का कोई दोष नहीं था। उन्हें बताया ही यही गया था कि तुम नीच वर्ण के हो तुम्हें शिक्षित होने का अधिकार नहीं है। पढ़ना, लिखना केवल कुलीनों की बपौती है। इस अन्धमान्यता के कारण ही हिन्दू जाति अपने संगठन को खो बैठी और उसे सैकड़ों वर्ष लम्बी गुलामी के शिकंजे में जकड़े रहना पड़ा।

ज्योतिबा के पिता ने कहा— मैं अपने बच्चे को अवश्य पढ़ाऊंगा चाहे मुझे सूखी रोटी खाकर ही गुजारा करना पड़े। दुर्मति सन्तानें छोड़कर मैं भगवान् के सुन्दर संसार की कुरूपता नहीं बढ़ाना चाहता और इस तरह ज्योतिबा को उच्च शिक्षा के लिये मार्ग मिल गया जिस पर ये उसी निष्ठा से चले भी और यह सिद्ध कर दिखाया कि विद्या और ज्ञान किसी एक वर्ग की विरासत नहीं, वह तो साधना है और उसका लाभ कोई भी ले सकता है। उसका अधिकार सबको है। सभी अपनी आत्मा के उत्थान के लिये ज्ञानार्जन की इस प्रारम्भिक शर्त को पूरा कर सकते हैं इसमें समाज की अपनी ही भलाई है। अच्छे आदमियों की उससे संख्या ही बढ़ती है।

ज्योतिबा अभी नवयुवक ही थे। एक ब्राह्मण मित्र की शादी थी। मित्र ने बहुत आग्रह किया कि ज्योतिबा भी बारात में चलें। ज्योतिबा

सहर्ष तैयार हो गये पर अभी बारात बीच रास्ते में ही थी कि वर के किसी सम्बन्धी को पता चल गया कि ज्योतिबा नाम का बाराती माली है बस उसे मानो सर्प ने काट लिया। पहले तो उसने जी धरे कर अछूतों को बुरा-भला कहा और फिर ज्योतिबा को बारात से चुपचाप लौट जाने की चेतावनी दी। मित्र के आग्रह को भी किसी ने नहीं माना उसे यह कह कर चुप कर दिया गया— तुम पढ़-लिख गये हो इसलिये धर्म को भी नहीं पहचानते। अच्छा होता तुम्हें पढ़ाया नहीं जाता तो जाति-पाँति के बन्धनों का उल्लंघन करने की हिम्मत तो नहीं करते।

ज्योतिबा लौट आये पर एक तूफान और क्रान्ति की ज्वाला लेकर। उसके ब्राह्मण मित्र ने इस अपमान को सहा तो पर उसे अपने धर्म से ही घृणा हो गई। आज का तरुण वर्ग नास्तिक होता चला जाता तो इसका दोष उसके नहीं वरन् इस संकीर्ण और दकियानूसी विचारों को ही है। जो मान्यतायें मनुष्य को मनुष्य से अलग करती हैं जिसमें इतनी संकीर्णता हो कि एक-सी परिस्थितियों में जन्मे एक को छूत और दूसरे को अछूत कहें। उसके वर्चस्व को स्वीकार भी कौन करेगा। भारतीय धर्म का पतन न हुआ होता यदि इस तरह के दम्भों, पाखण्डों और आत्म-प्रवचना पूर्ण कुीतियों और मान्यताओं से उसे बचा लिया गया होता।

ज्योतिबा ने निश्चय किया कि जब तक समाज में बुराईयाँ हैं तब तक मुझे केवल अपने बारे में सोचना भी पाप है। हम जिस जाति में जन्मे हैं उसके प्रति भी अपने कर्तव्य हैं ऊपर की पीढ़ी ने यह पाप किया है उसका फल हम भुगत रहे हैं पर आगामी पीढ़ी को उस दण्ड से बचाने के लिये यदि कुछ प्रयत्न नहीं करते तो हम भी इन पूर्वजों की तरह ही अपराधी होंगे। माना हमारा अपमान हुआ है पर यह हम तक ही तो सीमित नहीं है। इससे मनुष्यता भी तो कलंकित होती है इसलिये उसके उत्थान का कुछ प्रयत्न करना ही चाहिए।

२१ वर्ष के तरुण ज्योतिबा ने अब तक अपने घर के कर्तव्यों का पालन किया था। उनकी धर्मपत्नी सावित्री बाई फुले अनपढ़ आई थीं। उन्हें एक-एक मिनट का समय निकालकर उन्होंने इस ख्याल से पढ़ाया था कि वह विचारवान साथी की तरह जीवन पथ पर वास्तविक सहयोग प्रदान कर सके।

२१ वर्ष की अवस्था जब लोग सांसारिक सुख और लौकिक लालसाओं के लिये मचलते हैं जब ज्योतिबा फुले ने अपने सामाजिक दायित्व के लिये अपने आपको सम्पूर्ण साहस के साथ प्रस्तुत किया। उनके निकटवर्ती सम्बन्धी ने मना किया— ज्योतिबा पहले तो अपनी हैसियत का विचार कर फिर अवस्था का। सेवा करनी ही है तो उसके लिये भी एक अवस्था होती है। तेरी सुनेगा कौन? तेरी मानेगा कौन?

पर रत्ती भर निराश हुए बिना ज्योतिबा ने उत्तर दिया, काका जी, नैपोलियन २३ साल की आयु में ब्रिगेडियर बना था। इतनी ही अवस्था होगी कि शिवाजी ने कई किले मुगलों से छीन लिये थे। सन्त ज्ञानेश्वर की अवस्था ही क्या थी जब उन्होंने ज्ञानेश्वरी-टीका रचकर तैयार कर दी थी, यही अवस्था काम की है। काका अभी जिस

कार्य की आवश्यकता है उसके लिये आयु की प्रतीक्षा करने का अर्थ है हम उसे करना नहीं चाहते या हमारी सिद्धान्तवादिता केवल औरों को दिखाने के लिये है।

ज्योतिबा में साहस था और काम करने की लगन भी। इसलिये सहयोग भी अपने आप जुटा। उनकी धर्मपत्नी सावित्री ने शिक्षा के महत्त्व को मान लिया था क्योंकि वह दोनों स्थितियों में रह चुकी थीं उन्होंने अपने पति के इस कार्य में न केवल उत्साह बढ़ाया वरन् पूरा सहयोग भी दिया। दोनों ने मिलकर समाज-सुधार का शंख निनादित कर ही दिया।

एक कन्याशाला की स्थापना की गई। पास-पड़ोस की जानी-पहचानी कन्याओं को जोड़ने में दम्पति को जितना परिश्रम नहीं करना पड़ा उससे अधिक विरोध का सामना। ब्राह्मण वर्ग कन्याओं को स्कूल भेजने के पक्ष में न था इसलिये उनकी खुलकर आलोचना हुई, मार डालने तक की भी धमकी दी गई। पर ज्योतिबा ने कहा— नेक रास्ते पर पाई हुई मृत्यु से मुझे सन्तोष होगा। वे अपने रास्ते डटे रहे। नारी शिक्षा की आवश्यकता और उपयोगिता पर लेख लिखे, भाषण भी दिये उससे पढ़ी-लिखी जनता को जोश उमड़ा और देखते-देखते वह कन्या पाठशाला धूम-धाम से चलने लगी, विरोधी अपना-सा मुँह लेकर रह गये। नारी शिक्षा के विस्तार के लिये वे लगे ही रहे और अन्ततः सारे महाराष्ट्र में नारी शिक्षा के व्यापक प्रसार में सफलता पाई। ब्रिटिश सरकार ने भी उनके इन प्रयत्नों पर कभी सहायता दी।

इसी बीच उनकी भेंट एक गर्भवती विधवा से हुई। उसकी करुण कहानी सुनकर ज्योतिबा का हृदय करुणा से भर गया। तब उन्होंने विधवा विवाह का प्रसार भी प्रारम्भ कर दिया। कई विधवाओं के विवाह उन्होंने स्वयं कराये और ऐसी विधवाओं और उनके बच्चों को आत्महीनता से बचाने के लिये उन्होंने एक आश्रम की स्थापना भी की जो भारतवर्ष में अपने ढंग की पहली संस्था थी। विधवा विवाह के लिये उन्हें कई बार अपमानित होना पड़ा पर इस पर उन्होंने दकियानूसी समाज को करारी लताड़ देते हुए कहा— स्वयं तो कई-कई विवाह करें और स्त्री को सती बनाकर रखना चाहें यह कहाँ का न्याय है। उनको इन कटूक्तियों का किसी के पास कोई जवाब न था। हाँ कुछ लोगों ने धार्मिक और शास्त्रों की दुहाई दी तो उन्होंने वह अंश भी लोगों को दिखा दिये जिनमें पूर्व पुरुषों द्वारा विधवा विवाह का समर्थन किया है।

इस स्थिति पर पहुँचने के बाद ज्योतिबा ने अनुभव किया कि यह जितनी सामाजिक बुराईयाँ जड़ पकड़ रही हैं उनका एकमात्र कारण धार्मिक अन्धविश्वास है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलकर आज लोग उसके बाह्य कलेवर को पकड़ बैठे हैं इसलिये धर्म को सुधारना अत्यावश्यक है। उसी की पूर्ति के लिये उन्होंने “सत्य शोधक समाज” की स्थापना की। इस संस्था का कार्य धर्म के वास्तविक स्वरूप की खोज और उसकी जानकारी सर्वसाधारण तक पहुँचाना नियत कर दिया। इस समाज ने अनेक धार्मिक सुधार किये। पहले ब्राह्मण ही कर्मकाण्ड कर सकते थे पर ‘सत्य शोधक समाज’ ने वर्ण

व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार को स्पष्ट कर दिया तो फिर लोगों की हिम्मत बढ़ गई और दूसरे योग्य व्यक्तियों ने भी पौरोहित्य कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने ईश्वर उपासना के लिये मध्यस्थ की अपेक्षा को भी फटकारा और उपासना और ईश्वर भक्ति को भी पुरुषार्थ बताकर लोगों में उसके लिये आन्तरिक प्रेरणायें जाग्रत कीं। यह समाज भारतवर्ष में धार्मिक रूढ़िवादिताओं का पर्दाफाश करने वाली पहली संस्था थी। उसके माध्यम से ज्योतिबा ने समाज को एक नया प्रकाश दिया और इस तरह हिन्दू धर्म का ज्ञान शिक्षितों में भी जीवित बना रह सका। यदि यह अंकुर बने न रहे होते तो कौन जाने आज भारतवर्ष पूरी तरह नास्तिक हो गया होता। इस तरह ज्योतिबा ने अपना सारा जीवन ही धर्म और समाज की सेवा में खपाकर उसे एक नई ज्योति दी।

‘भारतीय संस्कृति को नवजीवन प्रदान करने के लिये आज अनेकों तरुण ज्योतिबाओं की आवश्यकता है। उनका जीवन दर्शन किसी में ऐसी कसक पैदा कर सके तो यह मानेंगे कि अभी लोगों के हृदय में अपने महापुरुषों का मान और आदर जीवित है।

भारतीय संस्कृति के अनन्य आराधक— पं. गोपीनाथ जी कविराज

घटना सन् १९११ की है। काशी के क्वीन्स कॉलेज में एक अत्यन्त ही मेधावी और प्रतिभाशाली छात्र ने एम.ए. के पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया। उस समय क्वीन्स कॉलेज के आचार्य थे डॉ. वेनिस। जो नयी प्रतिभाओं को अपनी पारखी निगाहों से तुरन्त पहचान लेते थे और उसे आगे बढ़ने के लिए दिशाबोध कराने के साथ-साथ प्रोत्साहन भी देते थे। जिस छात्र की चर्चा उपरोक्त पंक्ति में की गयी है उसकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय डॉ. वेनिस को भी मिला। तो उन्होंने छात्र को अपने संपर्क में आने का अवसर दिया और उस संपर्क के दौरान वे छात्र की प्रतिभा क्षमता को तौलते रहे। उन्होंने देखा दर्शनशास्त्र, संस्कृति और प्राच्यभाषाओं में छात्र की अभिरुचि जैसे निसर्गजात है तो डॉ. वेनिस ने एक दिन कहा— “गोपीनाथ। मैं बहुत दिनों से कहना चाह रहा हूँ कि तुम यदि दर्शन, साहित्य और प्राच्य भाषाओं के साथ प्राच्यविद्या और पुरातत्त्व का भी अध्ययन करो तो वह तुम्हारे लिए अधिक लाभदायक होगा।”

गोपीनाथ ने डॉ. वेनिस के परामर्श की गूढ़ता को समझा और उसके महत्त्व को स्वीकार किया। इस परामर्श को स्वीकार कर गोपीनाथ ने प्राच्यदर्शन, प्राच्य कला, प्राच्य संस्कृति का अध्ययन आरम्भ किया। यद्यपि आगे चलकर उस छात्र के निर्माण में अन्य तत्त्व भी सहायक हुए किन्तु उस तरह के व्यक्तित्व की नींव डॉ. वेनिस के परामर्श से ही जमी। किसी के द्वारा दिशाबोध करा देना और प्रेरणा प्रदान करा देना अलग बात है किन्तु उस दिशा में बढ़ते रहने का साहस जुटाना तथा मनोयोग अर्जित करना उससे आगे की ओर श्रमसाध्य साधना ही है। उस साधना को सफलता के द्वार तक लेकर पहुँचने वाले डॉ. गोपीनाथ कविराज अपनी साधना निष्ठा के बल

पर स्वयं भी अकल्पित उपलब्धियाँ प्राप्त कर सके हैं और समाज को भी उन्होंने बहुत कुछ दिया है।

अब तक भारतीय आर्य साहित्य और योगविद्या को तथाकथित प्रगतिशील गुरुद्वय और अन्धविश्वास का ही फतवा देते रहे हैं। दोष उनका भी नहीं है—क्योंकि इस क्षेत्र में धूर्तता और पाखण्ड की छलनीति अपनाकर अनेकों निहित स्वार्थी योगविद्या का मखौल उड़ाने जैसे करतब करते रहे हैं। इसी कारण योगविद्या और प्राचीनकाल प्रणीत साधना विज्ञान को भी लोग संदेह की दृष्टि से देखने लगे। डॉ. गोपीनाथ कविराज ने योगविद्या, तंत्रशास्त्र के गुह्य आयामों का प्रस्तुतीकरण न केवल वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में किया बल्कि भारतीय संस्कृति के लुप्त तत्त्वों को भी प्रकाश में ला दिया।

क्वीन्स कॉलेज में डॉ. गोपीनाथ कविराज ने अपने जीवन की जो दिशा ग्रहण की उस दिशा में बढ़ते रहने के लिए लाख प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती रहीं पर वे अविचल होकर धैर्यपूर्वक उसी दिशा में बढ़ते रहे। उनका जन्म ७ सितम्बर, १८८७ को बंगाल (अब बंगला देश) के धामराई ग्राम में हुआ था। जन्म से ही गोपीनाथ जी को केवल माता की गोद ही दिखाई दी। पिता की छवि कैसी होती है इसका कोई लौकिक अनुभव उन्हें नहीं हो सका। उनके जन्म के पाँच माह पूर्व ही उनके पिता का देहान्त हो गया था। उनके पिता बैकुण्ठनाथ बड़े ही धार्मिक स्वभाव के थे—परन्तु वे अपने इस होनहार लाडले का मुँह देखने के लिए भी जीवित नहीं रह सके थे। चार माह की गर्भवती माता सुखदा सुन्दरी को असमय ही वैधव्य का सामना करना पड़ा और वह—निर्बल के बलराम की आस्था का आश्रय लेकर भजन-पूजन में व्यस्त रहते हुए अपने दुःख का भार ढोने का प्रयत्न करने लगीं।

गर्भवती माता के मनोभावों का प्रभाव भावी बालक पर भी संस्कारों के रूप में पड़ा। बाद में पति के अभाव में सुखदा सुन्दरी को जिन कष्टों का सामना करना पड़ा उन्हें सहने की शक्ति भी वह भजन-पूजन में रत रहते हुए प्राप्त करने लगीं। इस प्रकार बालक गोपीनाथ को प्रारम्भ से ही धार्मिक, आध्यात्मिक वातावरण मिला।

गोपीनाथ जी की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा धामराई में ही हुई। आगे पढ़ने के लिए माँ ने उन्हें कलकत्ता भेज दिया। कलकत्ता में रहकर उन्होंने मैट्रिक तक की शिक्षा प्राप्त कर ली। बालक गोपीनाथ के मन में अपने परिवेश और अपनी पारिवारिक परिस्थितियों का प्रभाव यह हुआ था कि मुझे अपना निर्माण स्वयं करना है। पिता की छत्र-छाया नहीं है इसलिए किसी का पूर्ण संरक्षण मिल सकेगा—यह सोचा भी नहीं जाना चाहिए। इस प्रक्रिया ने गोपीनाथ को बचपन में ही स्वयं के प्रति उत्तरदायी, मेहनती, ध्येयनिष्ठ और लगनशील बना दिया था। जब उनके अन्य सहपाठी, मित्र तथा परिचित खेलकूद में व्यस्त रहते तो गोपीनाथ जी अपने निर्धारित दिनचर्या कार्यक्रमों के अनुसार पढ़ाई में व्यस्त रहते थे। माँ से विरासत के रूप में उन्हें आस्तिकता और ईश्वरनिष्ठा के संस्कार तो मिले ही थे, सो वे पढ़ने-लिखने और अन्य कार्यक्रम निबटाने के साथ-साथ भजन-पूजन और ध्यान-उपासना भी किया करते। धर्म और अध्यात्म के प्रति वे जिज्ञासु

भी थे—अतः जब कभी कोई जिज्ञासा होती तो उसका समाधान करने के लिए वे अपने से बड़ों के पास भी जाते।

यद्यपि गोपीनाथ जी को अपने पिता के न होने से कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था परन्तु बैकुण्ठनाथ जी के मित्र स्नेही उनके पुत्र की यथासम्भव सहायता भी किया करते थे। कुछ तो उनका बड़ा ध्यान भी रखते थे। उनके हितौषियों ने कविराज जी की प्रतिभा को भी पहचाना और वे निरन्तर उन्हें साहस व धैर्य बंधाया करते। उन्हीं दिनों कलकत्ता में मलेरिया फैला। आजकल तो चिकित्सा साधनों का बहुत विकास हो जाने के कारण मलेरिया से तीन-चार दिनों में ही छुटकारा पाया जा सकता है। पर उन दिनों वैसी बात नहीं थी। चिकित्सा साधन उतने सुलभ तो थे नहीं, अतः जब भी किसी को मलेरिया हो जाता था वह हफ्तों तक बिस्तर पर पड़ा रहता और महीनों उसका प्रभाव बना रहता। कलकत्ता में कविराज जी मलेरिया के शिकार हो गये और काफ़ी दिनों तक बीमार रहे। उनके हितचिन्तक उन्हें कलकत्ता से हटाकर जयपुर ले आये और ठीक होने के बाद शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया।

जयपुर से इण्टर और बी. ए. की परीक्षा पास करने के बाद कविराज जी काशी आ गये और वहाँ एम. ए. में भर्ती हुए। जहाँ डॉ. वेनिस ने उनके व्यक्तित्व को संवारने में महत्वपूर्ण सहायता दी। डॉ. वेनिस कविराज से बहुत ममत्व रखते थे। स्वयं में निष्ठा और लगन होने के कारण परिस्थितियों से भी अयाचित सहयोग मिलता रहा और इस प्रकार सन् १९१३ में कविराज जी ने एम. ए. की परीक्षा पास की। उन्होंने पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। उनकी इस सफलता से प्रभावित होकर लाहौर तथा जयपुर विश्व-विद्यालयों ने तार देकर उन्हें तुरन्त अपने यहाँ आमंत्रित किया और अध्यापक के पद पर काम करने का प्रस्ताव रखा। कविराज जी के लिए यह एक स्वर्णिम अवसर था परन्तु अब तक तो उन्होंने अपने जीवन का एक सुनिश्चित लक्ष्य निर्धारित कर लिया था—वह था भारतीय संस्कृति की लुप्त कड़ियों की खोज और उनका उद्घाटन।

इस प्रस्ताव पर निर्णय लेने के लिए उन्होंने डॉ. वेनिस से भी परामर्श किया तो वेनिस ने सुझाव दिया कि इस पद को स्वीकार कर तुम आर्थिक दृष्टि से भले ही सुविधा में रहो परन्तु तुमने अपने लिए जो कार्यक्षेत्र चुना है उसमें यह कार्य बाधा ही उत्पन्न करेगा। गोपीनाथ जी का विवेक भी इसी बात की गवाही दे रहा था सो उन्होंने अध्यापक के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए क्वीन्स कॉलेज में ही रहकर अनुसंधान तथा अनुशीलन जारी रखा। इसके साथ ही कविराज जी रहस्यवादी साहित्य का अध्ययन भी करते रहे। रहस्यवादी और आध्यात्मिक साहित्य का अनुशीलन करते हुए ही उनमें आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन भी हुआ इस दिशा में उनकी गहरी रुझान एक घटना से प्रेरित थी।

सन् १९१२ की बात है। वे आर्यशास्त्र प्रदीप नामक पुस्तक पढ़ रहे थे। पुस्तक इतनी प्रेरक और प्रभावपूरित थी कि लगता था वह अध्यात्म विद्या का विश्वकोश ही है। आध्यात्म विद्या पर इतना

उच्चकोटि का ग्रन्थ देखकर कविराज जी बड़े प्रभावित हुए, वहीं उन पर इसका और भी ज्यादा प्रभाव पड़ा कि इस पुस्तक पर लेखक का नाम कहीं भी नहीं छपा था। उनके मन में विचार आया कि इतने उच्चकोटि का ग्रन्थ लिखने वाले व्यक्ति से यदि साक्षात्कार हो सके तो आध्यात्मिक-विद्या के और भी महत्वपूर्ण तथ्य जाने जा सकते हैं। इसलिए उन्होंने आर्यशास्त्र प्रदीप के लेखक का नाम-पता खोजने का प्रयास किया पर उन्हें सफलता नहीं मिली। एक बार जब वे जयपुर आये तो उन्हें पता चला कि उस ग्रन्थ के प्रणेता श्री शिवराम किंकर हैं और वे काशी में रह रहे हैं। वे वापस काशी आये और पता लगाते लगाते जब शिवराम किंकर जी के निवास पर पहुँचे तो देखा साधुवेष में एक प्रसन्न वदन तेजोमय मुखमण्डल व्यक्ति ग्रन्थों से घिरा बैठा है। उनका दर्शन कर कविराज जी जैसे प्राचीनकाल के ऋषि-महर्षि के सम्पर्क में पहुँच गये हों। धीरे-धीरे शिवराम किंकर जी और कविराज जी में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया।

कविराज जी के जीवन को पहला आध्यात्मिक मोड़ शिवराम किंकर जी के सम्पर्क सान्निध्य से मिला और फिर स्वामी विशुद्धानन्द के सम्पर्क में आये तो जैसे उनका आध्यात्मिक कार्याकल्प ही हो गया। स्वामी विशुद्धानन्द जी ने कविराज को सुपात्र और प्रतिभासम्पन्न पा कर योग-विज्ञान के रहस्यों की सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक शिक्षा भी दी और कविराज जी की योगसाधना का सतत विकास होता गया।

स्वामी विशुद्धानन्द का पहला सम्पर्क उन्हें सन् १९१८ में प्राप्त हुआ था। इससे पूर्व ही कविराज जी प्राचीन तन्त्रविद्या और योग विज्ञान की शोध अपने ढंग से कर रहे थे। परन्तु योग्य गुरु के सम्पर्क सम्बन्ध ने तो इन्हें जैसे कल्पवृक्ष के नीचे बैठने का अवसर उपलब्ध करा दिया था। अब कविराज जी यौगिक साधनाओं में भी प्रगति करते हुए भारतीय वांगमय के पुनरुद्धार की संस्कृति साधना करने लगे। उन्होंने इस उद्देश्य से काशी में सरस्वती भवन ग्रन्थमाला का भी सूत्रपात किया जिसके अन्तर्गत संस्कृत साहित्य के अनखुए पहलुओं पर प्रकाश डाला गया। सन् १९३७ में उन्होंने अपने सभी विभागीय दायित्वों से अवकाश ले लिया और विशुद्ध रूप से योग विज्ञान की पुनर्शोध में ही अपना सारा समय लगाने लगे। उनका कहना था— “योग की मुख्य वस्तु प्राकृत नेत्रों से नहीं दिखाई देती। विज्ञान के प्रयोगों का फल प्रत्यक्ष दिखाई देता है। प्राचीनकाल में भारत में योगविद्या का बहुत प्रचार था उसी से यह देश आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ भौतिक उन्नति के क्षेत्र में भी पराकृष्टा तक पहुँच सका। विज्ञान में आज जिस आकर्षण शक्ति को इतना महत्व दिया जा रहा है उसका मूल योग के सहारे बड़ी सरलता से पकड़ा जा सकता है और उस रहस्य को जान लेने पर चंद्र, नक्षत्र, वायु, पृथ्वी आदि के विज्ञान करतलगत से हो जाते हैं।”

इन प्रतिपादनों को हवाई उड़ान नहीं कहा जा सकता। तर्क, तथ्य और प्रमाणों के आधार पर कविराज जी ने अपने प्रतिपादनों को पुष्ट किया। भारतीय संस्कृति और अध्यात्म विज्ञान की इन सेवाओं को सम्मानित करते हुए कविराज जी को भारत सरकार ने महामहोपाध्याय की उपाधि दी थी। स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने उन्हें विशिष्ट विद्वता के लिए प्रशस्ति-पत्र देकर भी सम्मानित किया।

२२ जून, १९७६ को उनका देहान्त हो गया। परन्तु अपने वैयक्तिक स्वार्थों को तिलांजलि देते हुए उन्होंने संस्कृति, योग, तंत्र, पुरातत्व, इतिहास आदि के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति की जो सेवा की वह उन्हें चिरकाल तक अमर रखेगी।

तैलंग स्वामी का अद्भुत योगबल

तैलंग स्वामी आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे। वे योगशास्त्र में निष्णान्त थे और उन्होंने अपने समय के बड़े-बड़े योगियों से इस विद्या की शिक्षा ग्रहण की थी। उनका मानसिक झुकाव बाल्यावस्था से ही वैराग्य की तरफ था और वे अविवाहित रह कर धर्म-साधना करने के इच्छुक थे, पर माता के बहुत अधिक आग्रह करने पर उन्होंने विवाह कर लिया और जब तक माता जीवित रहीं वे गृहस्थाश्रम का निर्वाह करते रहे। पर जैसे ही माता की मृत्यु हुई और उन्होंने श्मशान में जाकर उसका अन्त्येष्टि संस्कार किया, उसी समय उन्होंने अपना संसार त्याग का निश्चय सब पर प्रकट कर दिया। उन्होंने श्मशान भूमि से घर लौटना भी स्वीकार नहीं किया और अपने हिस्से की समस्त जायदाद अपने सौतेले भाइयों को देकर वहीं कुटी-बनाकर रहने लगे। उस समय उनकी अवस्था ४८ वर्ष की थी और नाम शिवराम था।

कुछ समय बाद वे तीर्थयात्रा को निकल पड़े। घूमते-घूमते उनकी भेंट एक वृद्ध साधू से हुई, जो योग विद्या का अच्छा ज्ञाता था। उसने भी इन्हें योग्य अधिकारी देखकर सच्चे हृदय से शिक्षा देना आरम्भ किया। कुछ समय बाद उसी से संन्यास की दीक्षा लेकर ये तैलंग स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुये।

गुरु का देहान्त होने पर कुछ वर्षों तक वे सेतुबन्ध रामेश्वर और नेपाल में रहे पर दोनों जगह उनकी योग-विद्या के चमत्कारों की बात फैल गई और उनके दर्शनों के लिये लोगों की भीड़ जमा होने लगी। इससे उनको बड़ी असुविधा हुई और योग-साधना में विघ्न पड़ने लगा। तब वे तिब्बत की तरफ चले गये। वहाँ मान सरोवर के तट पर रहकर उन्होंने बहुत समय तक योगाभ्यास किया। जब उनको सिद्धि प्राप्त हो गई तो वे वहाँ से चलकर मोक्ष-धाम काशी नगरी में पधारे। कुछ समय तक तो वे दशाश्वमेध घाट पर निवास करते रहे और अन्त में पंचगंगा घाट पर योगाश्रम बनवा कर वहीं रहने लग गये। उसी आश्रम में वे जिज्ञासुओं को योग विद्या की शिक्षा दिया करते थे और अभावग्रस्त लोगों की सहायता भी करते रहते थे।

बंगाल के हुगली जिले में श्रीरामपुर नाम का एक गाँव है। उसमें जय गोपाल नाम का व्यक्ति निवास करता था। उसके मन में वैराग्य का उदय होने से वह घर-बार की सब व्यवस्था अपने पुत्रों के सुपुर्द करके काशीधाम में चला आया। उसने पहले से ही तैलंग स्वामी का नाम सुन रखा था। काशी आने पर वह हर रोज स्वामी जी के दर्शनों के लिये आया करता था और थोड़ा फल, फूल और दूध उनके लिये ले जाता था। इस प्रकार बराबर जाते रहने से स्वामी जी की

३.७६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

कृपा दृष्टि उस पर रहने लगी। एक दिन उसने स्वामी जी से कहा कि “आज न जाने क्यों मेरी छाती धड़क रही है और घबराहट हो रही है। इससे मुझे शंका होती है कि कोई अशुभ घटना न हो।” स्वामी जी ने कहा कि “मैं अभी तुम्हारे घर का समाचार मंगाये देता हूँ।” यह कह कर उन्होंने जरा देर के लिये आँखें बन्द कर लीं और फिर जय गोपाल से कहा कि “तुम संध्या के समय भोजन करके यहाँ आना।” जब वे संध्या समय वहाँ आये तो स्वामी जी ने कहा कि आज प्रातः तुम्हारे बड़े पुत्र की हैजा से मृत्यु हो गई है। यह सुन कर जय गोपाल बड़ा व्याकुल हो गया। तब स्वामी जी ने उसे संसार की असारता का उपदेश दिया जिससे उसे कुछ शांति प्राप्त हो गई। रात्रि के समय निद्रावश हो जाने पर उसको अपना पुत्र दिखालाई पड़ा। दूसरे दिन उसने अपने घर को ‘अरजैट’ तार भेज कर समाचार मंगाये तो उत्तर आने पर मालूम हुआ कि स्वामी जी का कथन अक्षरशः सत्य था।

काशी में आने के बाद स्वामी जी घोर जाड़े की ऋतु में भोजन और निद्रा का त्याग करके दो-दो, तीन-तीन दिन तक गंगाजी के जल पर पड़े रहते और कठिन से कठिन गर्मी के मौसम में तपे हुये पथरों पर बैठे रहते। वे भिक्षा माँगने किसी के घर नहीं जाते, जो कुछ भक्त लोग आश्रम में आकर दे जाते उसी को संतोषपूर्वक ग्रहण करते। एक बार एक दुष्ट स्वभाव के मनुष्य ने उनकी परीक्षा लेने के लिये आधा सेर चूने को पानी में घोलकर दूध की तरह बना दिया और स्वामी जी के सामने रखकर विनयपूर्वक कहा “महाराज यह दूध आपके लिये लाया हूँ।” स्वामी जी ने तत्काल ही पहचान लिया कि यह चूना है, तो भी बिना कुछ कहे बर्तन को उठाकर सबका सब पी गये। उस आदमी को भय लगा कि जब इनको मालूम होगा कि यह चूना है तो यह क्रोधित होंगे और कदाचित् मुझे मार बैठेंगे। इससे वह कुछ पीछे हटकर बैठ गया। पर स्वामी जी चूना पीकर भी पूर्ण शान्त बने रहे और उन्होंने जरा-सा मुँह भी नहीं बिगाड़ा यह देख कर उसे बड़ा पश्चाताप हुआ और अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा। पर स्वामी जी ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान न देकर वह सब का सब चूने का पानी उलटी करके बाहर निकाल दिया। उनकी सामर्थ्य देखकर वह दुष्ट चकित होकर बैठा रह गया।

एक बार काशी के राजा का एक अफसर नाव द्वारा रामनगर से बनारस आ रहा था। उस समय तैलंग स्वामी पद्मासन लगा कर जल के ऊपर तैर रहे थे। इस अफसर ने मल्लाहों से इनके विषय में पूछा और प्रशंसा सुनकर इनको अपनी नाव में बैठा लिया। उसने इनसे कुछ प्रश्न किये, पर स्वामी जी चुपचाप गूँगे-बहरे की तरह बैठे रहे। जब नाव बीच धारा में पहुँची तो स्वामी जी ने उस अफसर की तलवार, जो बड़ी सुन्दर और बहुमूल्य थी, देखने को माँगी। न जाने कैसे वह उसी समय हाथ से छूटकर गंगाजी में गिर पड़ी। इस पर वह अफसर बड़ा नाराज हुआ, क्योंकि वह उसे किसी बड़े अंग्रेज की तरफ से भेंटस्वरूप प्राप्त हुई थी। इतने में नाव किनारे पर आ लगी। वहाँ स्वामी जी का एक मुख्य शिष्य उपस्थित था। उसने अफसर को गुस्सा होकर बकते हुये देखा तो कहा कि “आप

नाराज न हों, मैं गोताखोरों को बुलाकर गंगाजी में से तलवार निकलवा दूँगा।” स्वामी जी ने जब देखा कि उनका शिष्य बहुत दुःखी हो रहा है तो उन्होंने गंगाजी में हाथ डाला और तीन तलवारें निकाल कर अफसर के हाथ में रखीं कि इनमें से जो तुम्हारी हो उसे पहचान कर ले लो। यह चमत्कार देख कर अफसर तो भौचक्का रह गया और अपने अपराध के लिये क्षमा माँगने लगा। अफसर ने अपनी तलवार पहचान कर ले ली और शेष दो तलवारें स्वामी जी ने पुनः पानी में फेंक दीं।

एक दिन पृथ्वीगिरि नाम के साधु का शिष्य इनसे मिलने को आया। उस समय स्वामी जी के पास बहुत-से व्यक्ति बैठे हुये थे। थोड़ी देर में ये दोनों लोगों के देखते-देखते अदृश्य हो गये। लगभग आध घंटे बाद स्वामी जी तो अपने स्थान पर फिर दिखाई देने लगे, पर पृथ्वीगिरि का शिष्य वहाँ दिखालाई न पड़ा।

तैलंग स्वामी एक सिद्ध योगी थे, यह ऊपर दिये चमत्कारों से भली प्रकार विदित होता है। उनमें हर तरह की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ थीं, पर उन्होंने उनके द्वारा सिवाय लोगों के उपकार के अपकार कभी नहीं किया और अपने साथ शत्रुभाव रखने वालों को भी कभी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाई। इससे यह भी प्रकट होता है कि वे केवल योगी ही न थे वरन् एक सच्चे सन्त और साधु भी थे। अपनी मृत्यु का समय आने पर उन्होंने अपने सब शिष्यों तथा भक्तों को एक दिन पहले ही उसकी सूचना दे दी थी। उसके अनुसार संवत् १९४४ (सन् १८८७) के पौष सुदी ११ के दिन संध्या के समय उन्होंने योगासन पर बैठकर चित्त को एकाग्र करके देह त्याग किया। ऐसा कहा जाता है कि उस समय उनकी आयु २८० वर्ष की थी।

संत चतुर्भुज के संकल्प से हुआ कायाकल्प

नर्मदा तट पर बसे एक गाँव मेखलमती में एक धर्म सभा आयोजित की गयी। उसी दिन यहाँ मंत्र दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुए थे। बहुत बड़ी संख्या में ग्रामवासियों ने पशुबलि न करने का संकल्प लिया था और काली के स्थान पर गायत्री महाशक्ति की उपासना का व्रत लिया था। धर्म सभा का आयोजन उन्हीं के उद्बोधन के लिए हुआ था।

बात उस समय की है जब गोंडवाना प्रदेश में व्यापक रूप से पशुहिंसा का प्रचलन था। काली को प्रसन्न करने के नाम पर निरीह जीवों की हत्या का क्रम इस तेजी से चलता था कि नवरात्रियों पर कई बार एक-एक लाख पशुओं तक का देवबलि के नाम पर वध कर दिया जाता था। इन्हीं दिनों वहाँ चतुर्भुज नामक एक महापुरुष का अवतरण हुआ। वे उपासना के नाम पर होने वाली ऐसी निर्दय जीवहिंसा देखकर द्रवित हो गये। उन्होंने लोगों को बहुतेरा समझाने का प्रयत्न किया किन्तु समर्थ को मानने और प्रभावशील व्यक्तित्व का आदेश स्वीकारने की अनादि काल से चली आ रही परम्परा झुठी कैसे होती? प्रभावशाली व्यक्तित्व और प्राणपूर्ण वाणी ही जन-दिशा

मोड़ती है। उसके अभाव में अत्यन्त करुणाई चतुर्भुज का भी कोई प्रभाव पड़ा नहीं।

तब उन्होंने विधिवत गायत्री उपासना प्रारंभ की। गायत्री उपासना से उन्हें न केवल आत्मबोध हुआ, वरन् वह शक्ति भी मिली जिससे दूसरों को प्रभावित कर पाते। उनकी वाणी में वह शक्ति उभरी जिससे सुनने वाले ठगे से रह जाते। गायत्री उपासना से विमल हुई बुद्धि में विद्वता की तीव्र धार चढ़ती चली गयी जिससे अध्यात्म विद्या के गूढ़ रहस्य एक के बाद एक परतों की तरह खुलते चले गये। प्रतिफल यह हुआ कि बड़ी संख्या में लोग उनसे दीक्षा ग्रहण करने लगे। उन्होंने लोगों को बताया कि महाकाली गायत्री की ही एक शक्ति धारा है जिसका अर्थ पशु प्रवृत्तियों का उन्मूलन होता है—पशुवध नहीं, फलतः गोंडवाना प्रदेश का यह कलंक छूटा और लोग गायत्री महाशक्ति की सात्विक दक्षिणमार्गी उपासना में प्रवृत्त हो सके। चतुर्भुज ने सर्वत्र घूम-घूमकर गायत्री उपासना की दीक्षा दी और इस अन्धकार के युग में भी इस महाविद्या को विनष्ट होने विलुप्त होने से बचा लिया।

जिस समय यह सभा चल रही थी, श्रोताओं में चोरी के माल सहित एक चोर भी उत्कण्ठावश आ बैठा। उसी सभा में वह व्यक्ति भी उपस्थित था जिसके यहाँ चोरी हुई थी, सन्त ने कहा—गायत्री सदबुद्धि की, सद्-विवेक की, ऋतुभरा प्रज्ञा की देवी है। इसका अवलम्बन लेने वालों का मन पाप-पंक में कभी नहीं लिपटता। गायत्री दीक्षा का अर्थ ही है—दूसरा जन्म अर्थात् पापपूर्ण अन्धकार मय जीवन का अन्त और पवित्र प्रकाशपूर्ण जीवन का आरंभ। यद्यपि वह चोर को पहचान नहीं सके तथापि चोर के मन में संत की वाणी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने अपने कृत्य का वहीं प्रायश्चित्त करने का निश्चय कर लिया। जैसे ही सभा विरजित हुई उसने चोरी का सारा सामान उनके चरणों पर रखते हुए स्वीकार किया कि उसने अभी तक अनेक अपराध किये हैं, उसकी सजा भुगतने के लिए वह तैयार है।

संत ने चोरी का माल जिसका था उसे लौटा दिया और चोर से प्रायश्चित्त स्वरूप कुछ चान्द्रायण करा कर उसे शुद्ध कर दिया।

गोंडवाना नरेश उस दस्यु को अपनी सारी शक्ति लगाकर भी नहीं पकड़ पाये थे। जहाँ-कहीं भी उसका पता चलता, पकड़ने के प्रयास किये जाते, पर वह किसी के हाथ नहीं आता। संत चतुर्भुज के सामने आत्मसमर्पण करने और दीक्षा ग्रहण कर साधनारत होने का समाचार पाकर वे स्वयं भी जन-सभा में उपस्थित हुए। गायत्री उपासना से विकसित संत की तेजस्विता देखकर वे पराभूत हो उठे और उन्होंने स्वीकार किया कि लोगों का हृदय परिवर्तन राजतंत्र से नहीं आध्यात्मिक धरातल पर ही संभव है। सो उन्होंने भी विधिवत गायत्री उपासना की दीक्षा ग्रहण की और माँसाहार जैसी दुष्प्रवृत्ति का परित्याग किया।

तेजस्वी संत के समक्ष दस्यु द्वारा आत्मसमर्पण किये जाने एवं नरेश द्वारा स्वयं दीक्षा ग्रहण करने का समाचार सारे प्रान्त में आग की तरह फैल गया। अब तो जन-जन में उत्साह की लहर दौड़ गयी। लोग देव-साक्षी में अपनी बुराइयों की बलि देने लगे और इस तरह

पूरे गोंडवाना प्रदेश में व्यापक रूप से लगा पशु-हिंसा का पाप पूरी तरह धुल कर स्वच्छ हो गया।

गोंडवाना प्रदेश में विद्या व्यसन जाग्रत हुआ। लोग अध्यवसायी बने। देखते-देखते यह प्रान्त देश का समुन्नत और साक्षर क्षेत्र बन गया। संत चतुर्भुज की गायत्री उपासना का फल उस क्षेत्र की उन्नति के रूप में उभरा। सारे प्रदेश की जनता ने अपना दूसरा जन्म हुआ अनुभव किया। लोगों को जीव-हिंसा से विरत करने और उनका कायाकल्प करने का संत का संकल्प पूरा हुआ।

भक्त जलाराम—सत्कर्म कभी अधूरे नहीं रहते

भक्त जलाराम सौराष्ट्र के एक प्रसिद्ध संत पुरुष थे। वे न तो कोई विद्वान् थे और न कोई बहुत बड़े साधक, योगी ही थे। उनका समस्त जीवन एक साधारण गृहस्थ की भाँति व्यतीत हुआ और उन्होंने 'अन्नदान' को ही अपना एक प्रमुख कर्तव्य निश्चित कर लिया। परमात्मा की कुछ ऐसी कृपा हुई कि बीच-बीच में अनेक बार विघ्न बाधाएँ आने पर भी उनका अन्न क्षेत्र अभी तक बराबर चल रहा है। इस बीच में उनके द्वारा न मालूम कितने लाख मन अन्न भिक्षुकों, साधुओं और भूखे लोगों को वितरण किया जा चुका होगा।

भक्त जलाराम का जन्म वीरपुर ग्राम (राजकोट) में संवत् १८५६ में हुआ था। उनके पिता प्रधान ठक्कर तथा माता राजबाई सीधे-सच्चे और धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। बाल्यावस्था से ही उनके हृदय में भक्ति का पौधा उत्पन्न हो गया था और उठते-बैठते, सोते-जागते भगवान् नाम की ध्वनि करते रहते थे। कहते हैं जिस समय ये बालक ही थे, गिरनार पर्वत के एक संत इनको देखने आये थे और उनसे भेंट होने के बाद इनका भक्तिभाव विशेष रूप से बढ़ गया। सोलह वर्ष की आयु में इनका विवाह वीरबाई नाम की सुशीला कन्या से कर दिया गया। आरम्भ में तो इन्होंने अनिच्छा प्रकट की, पर परिवार वालों का आग्रह देखकर अधिक विरोध नहीं किया। भगवान् की कृपा से पत्नी भी इनको अपनी ही जैसी मिली जिसने इनके धर्म-पालन में कभी तनिक भी बाधा नहीं डाली वरन् कठिन से कठिन परीक्षा के अवसर पर भी इनको पूर्ण सहयोग दिया।

जैसे-जैसे ये बड़े होते जाते जा रहे थे इनकी दानवृत्ति बढ़ती जा रही थी। जो कोई साधु-संत आकर याचना करता उसी को यह भोजन, वस्त्र आदि प्रदान करने को तैयार रहते थे। यह देखकर इनके पिता ने कहा कि इस प्रकार दान करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। इसलिये उचित यही है कि तू अलग रह और तब इच्छानुसार दान-धर्म किया कर। जब ये अपनी पत्नी को लेकर घर से निकले तो कक्रा ने इनको अपने यहाँ बुला लिया और अपनी दुकान का क्रम देखने को कहा। वहाँ रह कर भी ये साधु-संतों की सेवा में लगे रहते।

x x x x

एक दिन दस-बारह साधुओं की एक मंडली वीरपुर में पहुँची। एकाध साधु को तो कुछ भिक्षा देने वाले मिल सकते थे। पर इतने

जनों की भोजन व्यवस्था करना उस छोटे गाँव में सम्भव न था। वे लोग जलाराम के पास पहुँच गये और अपने स्वभाववश वे इनकी भोजन व्यवस्था करने को तैयार हो गये। दुकान से आवश्यक आटा, दाल, धी आदि उठाकर दे दिया। आठ-दस गज कपड़े की आवश्यकता थी वह भी थान में से फाड़ दिया और स्वयं ही इस सामान को साधुओं के ठहरने की जगह तक पहुँचाने को चले। इसी बीच में इस प्रकार के कार्यों से ईर्ष्या रखने वाले एक वैश्य दुकानदार ने जाकर इनके कान से शिकायत कर दी कि जलाराम तो दुकान को साधुओं को लुटाये देता है। वह कान को साथ में लिवाकर लाया और रास्ते में ही सामान सहित इनको जा पकड़ा। कान ने पूछा कि इस गठरी में क्या है, तो भयवश इनके मुँह से निकल गया उपले हैं और लोटे में पानी है। कान ने जब खुलवाकर देखा तो सबको उपले और पानी ही नजर आया। इस पर कान ने शिकायत करने वाले बनिये को बहुत फटकारा और वे अपने घर चले गये। तब जलाराम ने सब सामग्री साधुओं के पड़ाव पर पहुँचादी और सबने यथेच्छ भोजन बनाकर ग्रहण किया।

उपरोक्त घटना के बाद इनका मन व्यापार से बिल्कुल हट गया और ये तीर्थयात्रा की अभिलाषा करने लगे। १८ वर्ष की आयु में घर से चलकर डेढ़ वर्ष में चारों धाम और अन्य तीर्थों की यात्रा करके घर वापस आये। वहाँ आकर ये कान से भी अलग हो गये और पत्नी को बुलाकर मेहनत-मजदूरी करके जीवन व्यतीत करने लगे। उसी समय वे फतेहपुर गाँव के भक्त भोजलराम के यहाँ पहुँच कर उनके शिष्य बन गये। इन्होंने गुरु से प्रार्थना की कि मेरी इच्छा अपने गाँव में एक 'अन्नक्षेत्र' खोलने की है। गुरु ने इनको आशीर्वाद देकर इस कार्य की अनुमति प्रदान की।

जब ये अलग हुये तो इनके पास निजी सम्पत्ति कुछ भी न थी। खेतों में मजदूरी करके पति-पत्नी जो कुछ प्राप्त करते थे उसी से अपना निर्वाह करते हुये कुछ समय में इन्होंने काफी अनाज इकट्ठा कर लिया। इन्होंने पत्नी से पूछा कि हम तो अपने निर्वाह के लायक अन्न प्रति दिन मेहनत-मजदूरी करके कमा ही लेते हैं, इस इकट्ठे हो गये अन्न का क्या करें? पत्नी ने इनके मन की बात समझ कर कहा कि इसी अन्न से अपना 'सदाव्रत' स्थापित कर दीजिये अगर भगवान् की दया होगी तो वह सदैव चलता ही रहेगा। जिस समय 'सदाव्रत' के लिये स्थान बनाया जाने लगा तो एक महात्मा वीरपुर में आये। इन्होंने आशीर्वाद दिया कि तुम निःस्वार्थभाव से प्राणिमात्र की सेवा करते चलो। तुम्हें कभी घाटा न होगा। तुम्हारे सभी कार्यों की पूर्ति होती चली जायेगी। उधर अन्न बाँटने का काम भी भली प्रकार आरम्भ हो गया और उसकी खबर फैलने से साधु-संत अधिकाधिक संख्या में वहाँ आने लगे। कुछ ही समय में उनका जमा किया हुआ अन्न खर्च हो गया। तब उनकी पत्नी ने अपने समस्त आभूषण उतार कर दे दिये कि इनका सबसे अच्छा उपयोग तो यही है कि ये साधुओं की सेवा में काम आयें। जलाराम जी ने कुछ दिन गहनों को बेच

कर अन्नक्षेत्र का काम चलाया। इनका यह त्याग देखकर अन्य लोगों पर भी प्रभाव पड़ा और अनेक लोग इनके भक्त बनकर सब प्रकार की खाद्य सामग्री से अन्नक्षेत्र के कार्य में सहयोग करने लगे और उसकी नींव खूब मजबूती के साथ जम गई।

जब जलाराम जी के अन्नदान की प्रशंसा वीरपुर के ठाकुर साहब श्री मूलजी ने सुनी तो उन्होंने दो सौ बीघा जमीन, एक कुआँ उसके सहायतार्थ अर्पण किया और अपने गाँव के समस्त किसानों को आज्ञा दी कि वे फसल के समय एक पैमाना अनाज अन्नक्षेत्र के लिये भी दें। इसके सिवाय जो कोई भी कष्ट पीड़ित या अभावग्रस्त व्यक्ति इनके पास आता, इनके आशीर्वाद से वह कष्ट से मुक्त हो जाता। इससे इनका प्रभाव आस-पास के स्थानों में फैल गया। उसी समय की दो एक ऐसी घटनायें लोगों में बहुत प्रसिद्ध हैं जो दी जा रही हैं—

वीरपुर में ही जमाल नाम का एक मुसलमान तेली रहता था। उसका दस वर्षीय पुत्र ऐसा बीमार हो गया कि कितनी ही दवा-दारू करने पर अच्छा न हो सका और जान पड़ने लगा कि वह अब थोड़ी ही देर में समाप्त हो जायेगा। उसका बाप पागल की तरह दवा के लिये इधर-उधर दौड़ने लगा। रास्ते में उसकी भेंट हरजी नाम के दर्जी से हुई। लड़के के विषय में पूछने पर जमाल ने कहा—“क्या कहूँ हर जी भाई, अल्ला बचायेगा तो बचेगा अभी तो कोई उम्मेद नहीं।”

हरजी—मैं एक उपाय बता सकता हूँ, पर शायद मुसलमान होने से तुम उसे न मानो और मेरी हँसी करने लगे।

“हिन्दू-मुसलमान का क्या सवाल है भाई! जिस सूरत से मेरा लड़का बच सकता हो वह बताओ। मैं वही तरकीब करने को तैयार हूँ।”

“तो सुनो, तुम जानते हो कि मेरे पेट में कितना दर्द हुआ करता था। जब किसी दवा दारू से अच्छा न हुआ तो मैंने अपने गाँव के जलाभगत की मानता मानी, उसी समय से मेरी पीड़ा जाती रही। तुम भी यही उपाय करके देखो।”

जमाल ने उसी समय हाथ जोड़ कर और आँखें बन्द करके कहा—“मेरा लड़का बचेगा इसकी मुझे उम्मीद नहीं है, तो भी अगर वह एक बार आँखें खोलकर होश में आ जाय तो आपके 'जग्या' (आश्रम) में चालीस पैमाना अन्न चढ़ाऊँगा।”

दो-तीन घंटे बाद ही लड़के की दशा में सुधार होने लग गया। रात्रि के चार बजे उसने आँखें खोलीं और बाप से पानी माँगा और सुबह सात बजे माँ से कुछ खाने को माँगने लगा।

इस खुशी में जमाल ने गाड़ी में चालीस पैमाना अन्न भरा और 'जग्या' की ओर चल दिया। वहाँ पहुँचते ही वह भक्त के चरणों में सिर नवाकर रोने लगा।

भक्त ने आश्चर्य से पूछा—अरे जमाल क्या बात है? तू अनाज देने आया है, फिर रोता क्यों है?

“क्या कहूँ हजूर! मेरा लड़का मौत के मुँह में था, बचने की कोई उम्मेद नहीं रह गई थी। बड़े पीर-पैगम्बरों की मिन्नतें कीं, पर

कोई फायदा नहीं हुआ। तब मैंने आपकी मिन्नत ली, उससे लड़के ने पानी माँगा और खाना खाया। अब वह जिन्दा रहेगा, इसका मुझे पूरा भरोसा है। इसकी खुशी के मारे मेरी आँखों में आँसू आ रहे हैं। मैंने ४० पैमाना अनाज देना कबूल किया था, पर अब यह बैलगाड़ी भी 'जग्या' की भेंट करता हूँ।'

“जला सो अल्ला, जिसको न दे अल्ला उसको दे जल्ला।” इस प्रकार कहता हुआ प्रसन्न होकर सलाम करता हुआ वह चला गया। यह संवत १८७८ की बात है जब कि जलाराम २२ वर्ष की आयु के ही थे।

× × × ×
एक बार धांगध्रा के महाराज के सिपाही वीरपुर के पास से निकले। जलाराम उनको बुलाकर एक बर्तन में से दो लड्डू और एक मुट्ठी सेव प्रसाद देने लगे। जब लगभग १५० सैनिकों को प्रसाद देने पर भी वे बर्तन ज्यों के त्यों भरे नजर आये तो सिपाही आश्चर्यचकित हो गये। उनमें एक सिपाही घोड़ा दौड़ा कर महाराज के पास पहुँचा और इस घटना की खबर उनको सुनाई। राजा प्रभास पाटन की यात्रा करने निकले थे और उनके साथ भी उन १५० के अतिरिक्त २५० सिपाही और थे। आश्चर्य की बात सुनकर वे भी अपनी सेना सहित वीरपुर की ओर चले आये। वहाँ पर देखा तो वास्तव में भक्त जलाराम दोनों हाथों से प्रसाद बाँट रहे थे। उन्होंने महाराज को देखकर हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और कहा—“राजा साहब, अभी जूनागढ़ दूर है, भगवान् का प्रसाद तो लेते जाइये।”

राजा—अभी पहुँच जायेंगे भक्तराज, मेरे साथ सैनिक बहुत हैं।

“प्रसाद लिये बिना तो न जाने दूँगा।” यह कह कर जलाराम ने सब सैनिकों को उसी बर्तन में से प्रसाद बाँटना आरम्भ कर दिया।

चमत्कार से प्रभावित होकर राजा ने कुछ देने की इच्छा प्रकट की तो भक्त ने कहा—“आश्रम में कुछ बड़ी चक्कियों की आवश्यकता है। सुना है कि आपके राज्य में इसके लायक बढ़िया पत्थर मिलता है। इसलिये कुछ पत्थर भिजवादे तो कृपा होगी।”

राजा—अरे भक्त, यह क्या माँगा! धन अथवा जागीर माँगी होती तो बात थी।

जला—यहाँ तो साधु-संत हैं, राम का भजन करते हैं और वे ही जो कुछ देते हैं वह सबको खिला देते हैं।

महाराज ऐसा भाव देखकर बड़े प्रसन्न हुये और अपनी इच्छा से बहुत-सा धन भेंट चढ़ाकर चले गये। उन्होंने बहुत से बाँधिया पत्थर भी भिजवाये जिनकी चक्कियाँ अब तक काम दे रही हैं।

× × × ×
भक्त जलाराम के इस प्रकार के अनगिनत चमत्कार जनता में प्रसिद्ध हैं। आज भी उस प्रदेश के बहुसंख्यक लोग भक्त जलाराम की मानता मानकर अपने मनोरथ को पूरा करते हैं। जलाराम जी के उत्तराधिकारियों ने इस 'अन्नदान' की परम्परा को और भी बढ़ाया है। अब बम्बई, अहमदाबाद, सूरत तथा अन्य अनेक छोटे स्थानों में भी अन्नक्षेत्र स्थापित किये गये हैं जहाँ हजारों मन अनाज प्रतिमास

वितरण किया जाता है। इनका चरित्र इस बात का प्रमाण है कि अगर मनुष्य सच्ची निष्ठा और शुद्ध अन्तःकरण से कार्य करे तो साधारण स्थिति में रह कर भी आत्मकल्याण करते हुए दीन-दुःखी जनों की भरपूर सेवा कर सकता है।

संत तुकड़ो जी महाराज— मैं वैरागी कैसे बना ?

महाराष्ट्र में बच्चा-बच्चा संत तुकड़ो जी के नाम से परिचित है। उनकी सेवा-साधना से महाराष्ट्र ने जो उन्नति की है, वह अवर्णनीय है। अपने बारे में वे लिखते हैं कि मैं बहुत खोजता हूँ कि मुझे त्याग और वैराग की प्रेरणा कब से मिली? मगर मुझे उसका समय भी याद नहीं आता और आज भी मेरे पास उसका पता नहीं है। फल मात्र है निश्चित! जैसे ही मुझे बचपन में होश आया, अन्य लड़कों से मेरा कदम कुछ दूसरी ओर था। जैसे-जैसे दिन बीतते गये वैसे ही उनके साथ मेरे विचार भी बढ़ने लगे; काम भी और व्यवहार भी बढ़ते गये। जो चीज पहले मेरी लगती थी वह विचारों के साथ-साथ सब की होती रही। मैं जो अपने को अपना मानता था वह बढ़ते-बढ़ते सब का मानने लगा—‘मैं मानव मात्र का हूँ’ ऐसा स्वाभाविकता से लगने लगा। जो सम्प्रदाय मेरा मालूम होता था, विचार के बढ़ जाने से वह व्याप्त हो गया और सब का सम्प्रदाय मेरा प्रतीत होने लगा। मैं जिनको अपने गुरु, अपने माँ-बाप मानता था, उनकी जगह अब ‘सभी गुरु अपने हैं, सभी माँ-बाप का मैं बेटा हूँ, सभी बेटे मेरे समान हैं’ ऐसा बिना कुछ छोड़े और बिना कुछ पकड़े ही ख्याल होने लगा। यह तो जैसे नैसर्गिक क्रम से होता गया। मैं इसका शास्त्रीय क्रम अभी भी नहीं जानता हूँ कि मैं कैसे बढ़ा और किस साधना से बढ़ा।

हाँ, वह एक साधन मेरे पास जरूर था कि जिस किसी ने मुझसे जो भी कहा उसका बोध मुझे बराबर हुआ और श्रद्धायुक्त भावना से उनको सुनते हुए आगे बढ़ने की मैंने कोशिश की। पर उसमें यही देखते गये कि ये सब साधन उनके हैं—उनके अनुभव के हैं; खुद अपने को कुछ उनसे और कुछ अपने मन से लेना पड़ेगा। यही धारणा बनती गयी। अभी भी मैंने कुछ त्यागा नहीं। ख्याल में थोड़ा फर्क जरूर है। कपड़ा पहनता हूँ, मगर कल का कौन-सा कपड़ा अपने पास है—कभी ढूँढ़ा ही नहीं। जो मिला सो पहन लिया। खाने-पीने का भी यही तरीका है। जो मिला खा लिया, जहाँ जगह मिली वहीं रहा और जिसने सम्हाला उसी का बना। जब लोग मुझे अपने-अपने घर ले जाने को आपस में झगड़ा करने लगे तब सब ने तय किया कि तारीखबार दिन दिये जायें। तारीख सम्हालने वाले भी मिले।

मुझे दी हुई भेंट मैंने कभी पास नहीं रखी। किसी ने जेब में डाल दी तो याद नहीं रही। धोने में सैंकड़ों नोटें भीग गयीं, खराब हो गयीं, फट गयीं। बाद में पास के आदमियों ने उसे सम्हाला। जो भजन बनते गये वे जहाँ लिखे वह रह गये। जब जनता को ठीक लगा तब उन्हीं लोगों ने उसका संग्रह किया और फिर ‘प्रकाशन

मंडल' बने। कुछ बातें अच्छी लगीं तो जनता ने उनका भी संग्रह कर लिया। कुछ लोग प्रेमी बने, उनका एक मंडल बन गया और अब तक हजारों शाखाएँ बन चुकीं। लाखों भेंटें मिलीं, लाखों खर्च चले। समय बचा नहीं, पास में खजाना नहीं, पर खर्च करने को कम नहीं। जो मिले सो अपना, जो गाली दे सो भी अपना। यह सब जीवन के साथ बढ़ता ही गया। अनुभव बढ़ा, त्याग बढ़ा, वैराग बढ़ा। मगर बढ़ा कब और शुरू हुआ कब, इसका अंदाज नहीं पाया।

मैं तो यही मानता हूँ कि किसी को कुछ भी त्यागना नहीं है, सिर्फ उसकी मालिकियत को व्यक्ति से हटाकर सर्वव्यापी करना है। त्याग-वैराग के लिये कुछ करना नहीं है, बल्कि सब की मालिकियत को समझना है। ईश्वर से मिलना नहीं है, बल्कि अपने में उसका अनुभव करना है। मुक्ति प्राप्त करना नहीं, बल्कि अपनी मुक्त आत्मा का ज्ञान भर कर लेना है, समझकर उसी में रहना है। क्योंकि आत्मा का यही रूप है। अनुसंधान में सब कुछ पा जाता है।

हाँ, कुछ स्मरण है कि जब मंदिर में ध्यान करने गया तब मंदिर में ही रामायण होने लगी और वहीं मुझे अपना घर महसूस होने लगा। जब पिता भोजन को ले जाते तब कहीं घर की याद ! जब पिता ने छोड़ दिया, तब जो ले जाता उसी का घर-घर बन जाता। बेफिक्र था मन ! एक दिन भजन की कुछ बहियाँ लिखकर रख दीं और बाहर गया, तब किसी दूसरे ने उसे चुगने की चेष्टा की। तो उनके अतराफ दो साँप उसको दिखे। तब वहीं मेरे पास कहने आया कि “भाई क्षमा करो। मेरे दिल में चोरी करने की बुद्धि आयी थी, मगर जब देखा कि बड़े-बड़े दो साँप दरवाजे पर लटक रहे हैं तब पश्चाताप हुआ।” यह सुनते ही और विश्वास दृढ़ हुआ कि अपना रक्षण करने वाला हमेशा मौजूद है तब तो और भी बेफिक्र बना।

एक मित्र ने कहा कि ‘तुम निकम्मे हो, मुफ्त का खाते हो। तुमसे काम कुछ नहीं बनता।’ दिल को लगा, यह ठीक नहीं है। सिलाई की मशीन का घंघा सीखा तीन माह में। एक मशीन उधार खरीद ली और उस पर काम करके चार महीने में पैसे अदा किये। साथ ही उसी वक्त मशीन को बेच डाला और एक बड़ा सत्यनारायण किया। जितने भी पैसे मशीन के आये थे दान में उड़ाये यानी भूखों को रोटी खिलाकर मुक्त हुआ। और उसी रात को भजन करके कहा— “मैं निकम्मा नहीं हूँ। काम कर सकता हूँ। मगर मुझे उसकी जरूरत नहीं है। खाऊंगा कम और काम करूँगा बहुत, जो मेरे और धर्म तथा देश के काम आ जायें।” लोगों को विश्वास हुआ। फिर लोग ही मेरी फिक्र करने लगे। मुझे कुछ छोड़ने और पकड़ने की जरूरत ही नहीं पड़ी।

मुझे कुछ याद होती है, एक सातली-कोथली कर महाराज मेरे जन्माँव में रहते थे। उन्हीं के पास मैं बचपन में रहता था। वे ही मुझे भजन सिखाते थे, सिर्फ मैं उनके पास बैठ करता था। बस, एक रोज हाथ में एकतारी ली और गाने लगा। उन्होंने कहा, “अब तुमको भजन ही करना होगा।” बड़े अच्छे महात्मा थे— मुझे वहीं से भजन का चक्का लगा।

जब मैं गुरु महाराज (श्रीसमर्थ आइक्रेजी महाराज) के समझने के बाद जंगलों में भागा तब मेरी वृत्ति कुछ पागल-सी थी। मेरे बदन पर कपड़ा नहीं था, लंगोटी भी नहीं थी। एक नशा-सा छाया हुआ था, कि मैं आत्म साक्षात्कार कैसे करूँगा ? रोता था, कभी पत्थरों से पूछता था, कभी झाड़ों के साथ बोलता था— तुम तो इस में व्याप्त हो ना ? तब बोलो, मुझे साक्षात्कार कैसे होगा ?” कभी बादल से आँखें लगाता था। कभी शेरों की गुफाओं में घुसकर ध्यान करता था कि मेरा डर निकले और मैं अमर आत्मा का अभ्यास करूँ, मगर यह सब स्वभाव था। कभी एक चित्त से एक भी साधन मैंने नहीं किया। चित्त बहुत किया, चित्तन से ज्ञान हुआ ज्ञान से अनासक्ति बढ़ी और उपासना, भजन से लोकसेवा बढ़ी। मगर वैराग का पता नहीं लगा कि, मुझे वैराग कब से हुआ ?

एक कारण का पता चलता है कि जब मुझे मन्दिर में ध्यान नहीं करने दिया तब माता के कहने से जंगलों में बैठने का, नदियों के किनारे शंकर जी की रेतमूर्ति बनाकर ध्यान करने का अभ्यास शुरू किया। संसार से उपराम होने का भाव तभी बताया गया— बढ़ता गया। यही सिर्फ याद है; मगर उसे वैराग कैसे कहूँ ? वह तो मेरा हठ था, आग्रह था।

जब मैंने बदन के कपड़ों को छोड़ा तब तो मुझे याद ही नहीं आता था कि मैं नंगा नहाया हूँ या कपड़ा पहने हुए हूँ। मेरा तो वह क्षण जैसे देह-विसर्जन का था कि या तो मैं मर जाऊँ या कुछ मिलाऊँ-दर्शन पाऊँ। यह तो लगन थी, इसे वैराग कैसे कहा जाय ? तब वैराग की प्रेरणा का दिन या कारण कैसे समझ सकता ?

यही समझ लिया है मैंने कि बड़ी चीज के लिए छोटी चीजों की प्रीति छोड़ी, महान् प्रकाश के लिये अल्पजीवि प्रलोभन छोड़े और ‘सब मानव मेरे’ ऐसा समझने के लिये जाति, पंथ, पक्ष, धर्म आदि की सीमाएँ छोड़ीं। सर्वव्यापी आत्मा के दर्शन के लिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि की आसक्ति छोड़ी और अब उसकी पूर्णवस्था में समाने के लिये सारी याद भी छोड़ने की तैयारी में हूँ। मगर वह सेवा के मैदान में ही छूटेगी, कुर्बान हो जायेगी।

नागेश का तप

धर्म और दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति का पतन देख नागेश भट्ट का स्वाभिमानी मन विचलित हो उठा। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक आर्ष साहित्य का अवांछनीय भाग सुधार नहीं डालेंगे, जब तक शुद्ध और सच्चे दर्शन का निर्माण नहीं कर लेंगे तब तक और कोई काम करेंगे ही नहीं, चाहे मुझे भूखों ही क्यों न मरना पड़े।

शाम तक जो कुछ मिल जाता, खाकर वे दिन भर आर्ष ग्रन्थों की खोज, पठन-पाठन, मनन-चिन्तन और लेखन-संकलन में ही लगे रहते। अपनी संस्कृति को जीवित करने की उनकी अदम्य भावना ने स्वास्थ्य का भी ध्यान नहीं देने दिया। आयु जैसे-जैसे ढलती गई, वैसे-वैसे उनका शरीर ही निर्बल नहीं होता गया वरन् पीठ में कूबड़ भी निकल आया।

लोग हँसते और कहते— 'यह देखो भगवान् का काम कहते हैं जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा स्वयं करता है। अब भगवान् को क्या हो गया जो अपने इस प्रेमी की भी रक्षा नहीं कर पाये ?' कहने वाले तो नागेश के सामने भी न जाने क्या-क्या बक जाते, पर उस निस्पृह सेवक का मन जैसे कमल का पत्र बन गया था, कोई कुछ कहता वह उसी तरह ढुलक जाता जैसे पुरइन के पते पर से पानी। जिस दीवार के सहारे बैठते थे, जब वह चुभने और कूबड़ को कष्ट देने लगी तो नागेश भट्ट ने उस दीवार को कटवाकर छेद करा लिया। छेद इतना बड़ा था कि जब वे दीवार के सहारे बैठ जाते तो कूबड़ उसी में समा जाता और उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होता।

इस तरह निर्धनता और अभाव के मध्य नागेश भट्ट की साधना निरन्तर चलती रही। स्वार्थी तत्त्वों द्वारा मिथ्या विचारों, श्लोकों को अपने साहित्य में से वे ऐसे निकाल-निकाल कर फेंकते गये जैसे किसान खेत के झाड़-झंखाड़ को। नागेश भट्ट प्रकाण्ड पण्डित गिने जाने लगे। उनकी योग्यता के आगे कोई भी प्रतिक्रियावादी व्यक्ति टिक नहीं पाता था।

महाराज पेशवा बाजीराव ने यह सब सुना तो स्तब्ध रह गये। सचमुच ऐसा भी पण्डित और लगनशील तपस्वी अब भी इस देश में हो सकता है, इस पर उन्हें सहसा विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने ऐसे महान् साधक और संस्कृतिनिष्ठ देवपुरुष के दर्शन और सहायता करने का निश्चय किया।

पेशवा बाजीराव महाराष्ट्र से चलकर स्वयं ही वाराणसी पहुँचे। वस्तुतः जैसा सुना था, वैसा ही पाया। नागेश भट्ट का शरीर काल का कौर बन चला था, पर वह थे कि अब भी पुस्तकों का ढेर जमा किये अपनी साधना में जुटे पड़े थे जैसे शेष संसार उनके लिये किसी श्मशान की तरह हो जहाँ न तो कुछ दर्शनीय होता है, न ग्रहणीय। संसार में कोई भौतिक सुख भी होता है, यह उन्होंने जाना ही नहीं।

पेशवा ने उन्हें देखा तो उनकी आँखें डबडबा आईं। अपने दुर्भाग्य पर उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ। ऐसे महापुरुष को तो बहुत पहले सहयोग दिया जाना चाहिए था। सम्भवतः तब वे अब की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक काम कर सके होते।

बाजीराव ने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया और बड़े आदर के साथ कहा— आचार्य प्रवर ! आज्ञा दें मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ तो यह मेरा बड़ा सौभाग्य होगा।

ध्यान भंग हुआ तो नागेश ने सिर ऊपर उठाकर महाराज की ओर देखा और उन्हें बड़े आदर के साथ पास में बैठते हुए कहा— हाँ महाराज ! आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये एक सूत्र कठिनाई से हाथ लगा है, पर उसकी व्याख्या नहीं हो पा रही। आप उसमें मेरी सहायता कर दें तो आपकी बड़ी कृपा होगी।

आर्थिक सहायता देने के लिये आये महाराज पेशवा यह सुनकर स्तब्ध हो बोले— 'आपकी साधना अद्वितीय है, उसकी सफलता कोई रोक नहीं सकता।'

केरल के गाँधी—श्री नारायण गुरु

केरल की राजधानी तिरुवन्तपुरम् (त्रिवेन्द्रम) से लगभग ८ मील की दूरी पर स्थित एक छोटे-से गाँव चेम्पपन्ती की मिट्टी ने सन् १८५५ में एक ऐसे असाधारण बालक को जन्म दिया, जिसकी प्रतिभा से वह आगे चलकर केरल का गाँधी हो गया। लेकिन जब यह बालक था, तब कोई अनुमान भी न लगा पाया कि एक दिन वह इतने असाधारण व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेगा। श्री नारायण ने प्राथमिक शिक्षा अपने गाँव की पाठशाला में पूरी की। तदुपरान्त संस्कृत, साहित्य, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि की शिक्षा एक प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित से ग्रहण की। वह बचपन से ही बड़ा भावुक, संवेदनशील और धार्मिक स्वभाव का बालक था। जिस ईश्वर जाति में श्री नारायण का जन्म हुआ था, वह उस समय विद्योपार्जन के अधिकार से वंचित थी ही, उसे आम रास्तों पर चलना भी वर्जित था। सभी निम्न जाति के लोगों से दूर-दूर रहते और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते। श्री नारायण के दिल पर पीड़ित मानवता की पुकार का गहरा असर पड़ा। उनकी आत्मा के प्रेम और करुणा ने उन्हें सत्य के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर दी और तिरुवन्तपुरम् के दक्षिण पूर्व दिशा में कोई दस मील की दूरी पर स्थित अरविपुरम नामक स्थान की गुफा में उन्होंने दीर्घ तपस्या की। तत्पश्चात् इसी क्षेत्र को अपनी प्रयोगशाला मानकर उन्होंने सेवा कार्य आरम्भ कर दिया।

सर्वप्रथम उन्होंने वहाँ एक शिव मन्दिर की स्थापना की। रूढ़िवाद के ठेकेदार 'पण्डित' भला यह वैसे सहन कर सकते थे ? उन्होंने प्रश्न किया 'क्या एक ईश्वर (निम्न जाति) को मन्दिर स्थापना का अधिकार है ?' श्री नारायण गुरु ने एक सौम्य किन्तु सशक्त उत्तर दिया, 'मैंने 'ब्राह्मण शिव' नहीं 'ईश्वर शिव' की स्थापना की है।' वे बार-बार यही कहते— 'मनुष्य की जाति, धर्म और ईश्वर एक है।' इसीलिये मन्दिर में उन्होंने स्पष्ट लिखवा दिया, 'यह वह स्थान है, जहाँ मनुष्य जाति-भेद, धार्मिक विद्वेष आदि से दूर भाईचारे से रहते हैं।'

उन्होंने एक और मन्दिर स्थापित किया, जिसमें सरस्वती की प्रतिमा प्रतिष्ठित की। इसके बाद एक मन्दिर में मूर्ति के स्थान पर केवल एक दर्पण लगा दिया, ताकि मानव स्वयं का निरीक्षण, आत्म परीक्षण कर सके। उनका विश्वास था कि ईश्वर जन-जन में बसता है। जो अपने आपको जान लेता है, वह ईश्वर को पहचान लेता है। केवल सत्य, प्रेम, दया और शान्ति ही वे सीढ़ियाँ हैं, जिनके सहारे हम अपने आपको श्रेष्ठ बना सकते हैं। उन्होंने अनेक शिक्षा मन्दिर स्थापित किये एवं जाति-भेद की निरर्थकता लोगों को समझाई।

भारत में केरल ही एक ऐसा प्रान्त था, जहाँ जाति-प्रथा का, छुआछूत का भीषण रोग फैला हुआ था, यद्यपि भारत का कोई भी प्रदेश इस बीमारी से बचा न था किन्तु केरल में इसका स्वरूप इतना भयंकर था कि एक बार स्वामी विवेकानन्द जी ने इसे धरती पर का 'पागलखाना' कहकर पुकारा था। मनुष्य-मनुष्य को पशु से भी बदतर समझता था। इस ज्वाला को केवल श्री नारायण गुरु की तपस्या के जल ने ही शान्त किया।

श्री नारायण गुरु मानव-जाति में एकात्मता का सन्देश देने वाले एक पूज्य गुरु अथवा दार्शनिक ही नहीं, एक आध्यात्मिक सम्बल एवं श्रेष्ठ समाज-सुधारक भी थे। शताब्दियों से चली आने वाली त्याज्य परम्परा, जनमानस में व्याप्त घोर निराशा, हीन भावना को उन्होंने बड़े सौम्य, शीतल एवं सरल ढंग से सुधार दिया। यह आश्चर्य ही नहीं, चमत्कार है कि आज केरल भर में अनेकों संस्थाएँ, स्कूल, कॉलेज आदि निम्न जाति की सेवा में कार्यरत हैं और भारत में केरल प्रान्त का शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम स्थान है। गत वर्ष डाक-तार विभाग ने श्री नारायण गुरु की एक विशेष टिकिट निकाल कर उनके प्रति श्रद्धा अर्पित की है। केरल के कोल्लम जनपद के निकट 'वर्कला' आज गुरु के कार्य का केन्द्र एवं तीर्थ स्थान बना हुआ है। वहाँ धर्म, साहित्य, कला तथा गुरु के आदर्श पर भाषण-मालायें, वार्तयें, उपदेश आदि बराबर चलते रहते हैं। यह कार्यक्रम केरल अथवा भारत के अन्य प्रान्तों में ही नहीं श्रीलंका, बेल्जियम, जर्मनी, फ्रान्स, अमेरिका आदि विदेशों तक उनके आदर्शों का प्रचार हो रहा है।

एक बार श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गाँधी तिरुवन्तपुरम् पधारे और श्री नारायण गुरु के दर्शनार्थ गये थे। उन्होंने स्वयं व्यक्त किया— “मेरे जीवन का सौभाग्य है कि एक ऐसे महात्मा का दर्शन पा सका। मैंने विभिन्न देश-विदेशों की यात्रा की, कई सिद्ध पुरुषों, महान् विभूतियों से मिला लेकिन केरल के श्री नारायण गुरु के समान महापुरुष कहीं नहीं मिला।”

जिस प्रकार बापू ने भारत से छुआछूत का रोग मिटा दिया, सत्य, अहिंसा और प्रेम का शंख फूँक दिया, उसी प्रकार श्री नारायण गुरु ने केरल के अभिशाप रूढ़िवाद, जाति-भेद आदि भेदभाव को मिटाकर सत्य, स्नेह और शान्ति की त्रिवेणी बहा दी। इसीलिये सम्पूर्ण केरल श्री नारायण गुरु को केरल का गाँधी कहकर पुकारता है।

साधु सन्तों के लिये आदर्श— श्री नारायणदास त्यागी

वह स्थान अब गुफा मन्दिर के नाम से विख्यात है। पहले ही वह बीहड़ वनस्थली। अब वहाँ व्यवस्था है, अनुशासन है, लोक-कल्याण की शिक्षण संस्थाएँ हैं। पहले वहाँ साँप, बिच्छू, कौतर, रीछ, भेड़िये उसी प्रकार अड्डा जमाये हुए थे, जिस प्रकार स्वाध्याय न करने वाले के मन में खराब विचार भरे रहते हैं। अब उस स्थान में जनसंकुलता से उद्विग्न और भौतिक जीवन की जटिलताओं से अशान्त नागरिक जाकर आध्यात्मिक सुख की अनुभूति करते और संतप्त जीवन में उस प्रकार की शान्ति और शीतलता अनुभव करते हैं जिस तरह किसी को तप्त जलकुण्ड से निकलकर शीतल सरोवर में पहुँचा दिया जाता है। पहले वहीं पर चोर और लुटेरे अपना अड्डा जमाये रहते थे। लोगों को लूटते थे और स्वयं भी अपनी आत्मा से छले जाते थे। ऐसे ऊबड़-खाबड़ जंगल को हरा-भरा बनाकर उसे आध्यात्मिक सौन्दर्य प्रदान करने का श्रेय, साहस और संकल्प को है जो साधु नारायणदास त्यागी के वेष में विवर्त हुआ। वहाँ पहुँचकर

केवल हिन्दू जाति ही गौरव अनुभव नहीं करती वरन् सुदूर पश्चिम के लोग भी आकर विश्राम पाते हैं। यह देखने का अवसर तब मिला जब भारत सेवक समाज के तत्वावधान में यहाँ एक श्रम शिविर आयोजित किया गया। ऐसा लगता है कि पश्चिम अब फिर से आत्मिक प्रकाश के लिये भारतीय धर्म और संस्कृति की ओर अपलक निहार रहा है। उसे अब भौतिक जीवन से अरुचि हो गई है इसीलिये अब महन्त नारायणदास जी की तरह कोटिशः विभूतियाँ अवश्यमेव चाहिए जो अपने जीवन को साधना बनाकर लोकहित और विश्व शान्ति में खपा सकें।

मालूम नहीं महन्त जी का घर कहाँ है ? कहाँ जन्मे और कौन उनके माता-पिता हैं। महापुरुष भगवान् के पुत्र होते हैं, धरती उनकी माता और सारा संसार घर। भौतिक इच्छाओं का परित्याग कर केवल जनता जनार्दन की धार्मिक सेवा ही उनका उद्देश्य रह जाता है। ऐसे ही एक साधु अपने दो साधुओं के साथ हरिद्वार का कुम्भ स्नान कर लौट रहे थे। मार्ग में भोपाल पड़ता था। यहीं तक के लिये किराये के पैसे थे और कुछ था नहीं। उसने विचार किया— साधु का यह अधिकार तो है कि वह लोकहित के लिये प्रजा द्वारा दी गई सहायतायें स्वीकार करे। पर बिना टिकट चलने, बिना परिश्रम किये खाने और बिना प्रकाश-दर्शन की योग्यता आडम्बर बनाने जैसी अनियमिततायें तो उसे भी नहीं करनी चाहिए। साधु जिसके पद चिह्नों पर शेष समाज चलता है, यदि वही अनुशासन में नहीं रहेगा तो और कौन मानेगा ? यदि वही ईश्वरीय शक्ति और न्याय पर अटल निष्ठा और विश्वास नहीं रखेगा तो और कौन रखेगा ? इसलिये आगे की यात्रा रोककर यहीं उतर गये। एक शाल था उसे ही सात रुपये में बेच दिया और जहाँ आजकल यह गुफा मन्दिर है वहाँ जाकर विश्राम ले लिया।

पहली रात को नींद नहीं आई क्यों कि बगल में कुछ हलचल-सी होती रही। कभी उल्लू बोलते थे कभी शृगाल चिल्लाते थे। कुछ लोगों के आने-जाने की पदचाप भी सुनाई पड़ती थी। कुल मिलाकर यह स्थान प्रेत-निवास लगता था। सारी रात बेचैनी में कटी।

प्रातःकाल उठकर साधु ने आस-पास घूमकर देखा तो उन्हें उन गुरुकुलों, धर्मपीठों का स्मरण हो आया जो ऐसे ही शान्त और एकान्त स्थानों में स्थापित किये जाते थे। जहाँ ब्रह्मचारियों को ब्रह्मविद्या का अभ्यास कराया जाता था और वानप्रस्थी अगले जीवन की तैयारी किया करते थे। गृहस्थ भी समय-समय पर पहुँचकर जटिल समस्याओं के सरल समाधान पाया करते थे। तभी उनके भीतर से आवाज उठी— “क्यों नहीं ऐसा आश्रम निर्मित करले, मनुष्य ही तो करते हैं। फिर प्रभु ने तो अपना जीवनोद्देश्य वही बनाया है।”

अन्तःकरण की आवाज पर साधु ने संकल्प कर लिया कि इस स्थान को अध्यात्म विद्या का केन्द्र बनाऊँगा। इसके लिये चाहे कितना ही परिश्रम क्यों न करना पड़े।

लेकिन दूसरी-तीसरी रातें ऐसी आईं। जिनसे पता चल गया कि यह संकल्प निबाह ले जाना उतना सरल नहीं है जितना कि ले लेना। वहाँ कई खूँखार चोर और डाकुओं के अड्डे थे। पहले तो उन्होंने सोचा साधु है इन्हें किसी के चोरी करने, अपराध करने से क्या

मतलब ? आज आये हैं कल चले जायेंगे, पर अब कई दिन हो गये तो एक दिन आमना-सामना हो ही गया । डाकू गरम होकर बोले— यहाँ से सबेरे ही चले जाना पर साधु ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया— भाइयो ! आप लोग यह बुरा कर्म करते हैं इसे छुड़ाने के लिये मुझे यहाँ रहना ही पड़ेगा । मेरी धरती माता के ही पुत्र मेरे भाई अपने जीवनोद्देश्य से भटकें और मैं अन्यत्र जाकर सुख की नींद सोऊँ ऐसा भला कहाँ सम्भव है ?

वे लोग साधु की गम्भीरता से प्रभावित तो हुए पर इतना सहज वह स्थान छोड़ना नहीं चाहते थे । इसलिये उन्होंने इन्हें तंग करना भी प्रारम्भ कर दिया । यह दशा देखकर शेष दो साधु तो चुपचाप निकल भागे पर श्री त्यागीजी ने मस्तिष्क में जो स्वप्न बसा लिया था उसकी पूर्ति के लिये अधीर हो रहे थे । इसलिये उन्होंने साहसपूर्वक परिस्थिति से संघर्ष किया और अन्ततः उन अकेले ने सब डाकुओं को वहाँ से भगाकर यह सिद्ध कर दिया कि “सत्य में सचमुच ही हजार हाथियों का बल” होता है । दर-दर तो केवल असत्य मारा घूमता है ।

एक कठिनाई दूर हुई पर अभी वहाँ सैकड़ों परीक्षाएँ शेष थीं । रात जब साधु सोये हुए थे एक विषधर सर्प ने उन्हें काट लिया । वहाँ न तो कोई दवा— न देखने वाला । भगवान् के पुत्र ने भगवान् को ही स्मरण किया— हे प्रभु ! तेरी इच्छा पूर्ण हो । ‘‘और अपनी धूनी से एक चुटकी भभूत खाई । दो दिन बेचैनी में बीते । तीसरे दिन उनका शरीर और मन फिर से वैसा ही स्वस्थ हो गया जैसे उन्हें कुछ हुआ ही न था ।

अब उन्होंने धीरे-धीरे गुफा और उसके आस-पास के क्षेत्र की सफाई प्रारम्भ कर दी । स्वच्छता सौन्दर्य का प्रथम लक्षण है जो स्थान अस्वच्छ पड़ा था वही जब कुछ साफ-सुथरा हुआ तो अच्छा लगने लगा और वहाँ यदा-कदा नगरवासी भी पहुँचने लगे । आदमियों की हलचल बढ़ने से जंगली जानवर भी भाग गये । आने वाले कभी-कभी कुछ पैसे भी दे जाते थे जिससे उनका भोजन भी चल जाता था ।

लेकिन साधु ने विचार किया— कि साधु को सर्वप्रथम— सर्वस्व परित्याग की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए । जब तक मन और हृदय में मोह-वासनायें शेष रहती हैं साधु लोक-कल्याण का अपना कर्तव्य समुचित रीति से पालन नहीं कर सकता । इसलिये मन को नियन्त्रण में लेना तथा आत्मा की गहराई का वेधन करना आवश्यक है । जब तक मानसिक मलिनतायें दूर न हों साधुवेष एक विडम्बना मात्र होता है । आजकल ऐसे साधु जहाँ-तहाँ लोगों को छलते और अन्धविश्वास फैलाते घूमते हैं । आत्मा की सूक्ष्म सत्ता के अवगाहन का उन्होंने कभी प्रयत्न ही नहीं किया होगा ।

श्री त्यागीजी ने गीता उठाकर देखी तो उसमें लिखा था— साधना से मन वश में होता और आत्मा के दर्शन होते हैं । रामायण उठाई उसने भी कहा— “तपु अधार सब सृष्टि भवानी”, शास्त्र पलट कर देखे तो वहाँ भी “दिवमारुहत् तपसा तपस्वी” तप किये बिना आत्मोन्नति नहीं हो सकती लिखा हुआ था । श्री त्यागीजी ने भी तपस्या द्वारा आत्म-विकास करने का निश्चय किया और उसी में जुट भी गये ।

कुछ दिन आंशिक उपवास रखा कुछ दिन हलका आहार ग्रहण किया । अभ्यास के साथ तपश्चर्या भी बढ़ाते गये । उसके बाद उन्होंने लगातार २२ महीने तक केवल फूल-पत्तों पर ही बिताये । उपवास और तप से शारीरिक शुद्धि के साथ मानसिक और आत्मिक शुद्धि भी हुई । उस प्रकाश की अनुभूति उन्हें होने लगी जिसकी शीतल छाया में बैठकर जीवन अभावग्रस्त होकर भी सम्पन्न अनुभव करता है । जहाँ शारीरिक असुविधायें होने पर भी तृप्ति और शान्ति अनुभव करता है । जिसकी अनुभूति के बाद माया-मोह के बन्धन टूट जाते हैं और फिर संसार में केवल कर्तव्य भाव शेष रह जाता है ।

इस प्रकार जीवन को साधना बना लेने के बाद जब यह प्रश्न उठा कि अब कार्य का श्रीगणेश कहाँ से कैसे किया जाये तो वह सुविधायें अपने आप जुटने लगीं । कहते हैं सत्य किसी को बुलाता नहीं, उसके पास लोग दौड़कर अपने आप पहुँच जाते हैं । मध्यप्रदेश की राजधानी इन्दौर से उठकर भोपाल आ गई । सरकार ने यह जमीन त्यागी जी को दे दी । फिर जनता ने भी देखा कि नगर में एक ऐसे आध्यात्मिक संस्थान की तीव्र आवश्यकता है । इसलिये लोग उसके सहयोग के लिये उमड़ पड़े और कुछ ही दिन में वही बीहड़-वन हरे-भरे आश्रम में परिणत हो गया ।

गुफा काटकर मन्दिर का निर्माण, रामानन्द आश्रम की स्थापना, हनुमान मन्दिर और चौदह एकड़ भूमि में वाटिका का लगाना इन सब कार्यों ने यद्यपि बहुत श्रम लिया पर सब देखते-देखते हो गया और यही स्थान जहाँ से कुछ दिन पूर्व अनैतिकता के वाक-रहित शिक्षण हुआ करते थे अब धर्म और संस्कृति का ‘संगम’ बन गया है ।

देश में साधु-महन्तों की कोई कमी नहीं पर श्री त्यागी जी की तरह का साहस, संकल्प और धर्म-प्रेम उनमें से कितनों में होता है ? छोटे-छोटे सीमा क्षेत्र में ही वे सब सच्चाई और अन्तःकरण से धर्म सेवा में लग जायें तो देश में बढ़ती हुई अनैतिकता और अधार्मिकता को देखते-देखते दूर किया जा सकता है ।

समाज के लिए स्वयं के सुख छोड़ने वाले—नीलमणि फुकन

आधुनिक शिक्षा पद्धति को एक हनुमान कूद बताते हुए आचार्य विनोबा भावे ने जीवन और शिक्षण लेख में कहा है— “बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है । तरह-तरह के ऊँचे विचारों के महल बना रहा है । मैं शिवाजी बनूँगा, उनकी तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा । मैं वाल्मीकि बनूँगा । मैं न्यूटन की तरह खोज करूँगा । एक दो चार जाने क्या-क्या कल्पनायें करता है ।’ ऐसी कल्पनायें करने का भाग्य बहुत थोड़ों को मिलता है पर जिनको मिलता है उनको ही लेते हैं । इन कल्पनाओं का आगे क्या परिणाम निकलता है ? जब नोन-तेल-लकड़ी के फेर में पड़ा, जब पेट का प्रश्न सामने आया तो बेचारा दीन बन जाता है । जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है इसकी आज तक बिल्कुल कल्पना ही नहीं की पर अब तो पहाड़ सामने आ गया । फिर क्या करता है ? देश के लिए वन-वन फिरने वाले

शिवाजी, करुणा गीत गाने वाले वाल्मीकि कभी नौकरी की तो कभी औरत की और कभी लड़की के लिए वर की तलाश में घूमते हुए अन्त में श्मशान की शोध करने वाला न्यूटन— इस प्रकार की भूमिकाएँ लेकर अपनी कल्पनाओं का समाधान करता है। यह हनुमान कूद का फल है।

वस्तुतः आज के स्कूल-कॉलेजों में विद्यार्थी को जीवन के गम्भीर दायित्वों का कोई व्यावहारिक ज्ञान मिल ही नहीं पाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि अच्छी श्रेणियों में उत्तीर्ण हुआ छात्र भी जब जीवन के क्षेत्र में उतरता है तो उसे कुशलतापूर्वक जी नहीं सकता आधुनिक शिक्षा पद्धति के इस अभाव को दूर करने के लिए स्वाधीनता से पूर्व ही प्रयास किये गये। भारत राष्ट्र के निर्माताओं ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सभी दोषों को दूर करते हुए एक ऐसी शिक्षण योजना निर्धारित की जिसके अनुसार शिक्षित विद्यार्थी को जीवन भार रूप न लगे और उस शिक्षा पद्धति का नाम रखा गया बुनियादी शिक्षण। इस शिक्षण योजना को अब तक व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका है और वही शिक्षण पद्धति जारी है जिसने अंग्रेज सरकार के लिए हजारों सस्ते क्लर्क और बाबू तैयार किये। उसी पद्धति के कारण आज भी शिक्षित लोग अपने निर्वाह का कोई और साधन खोजने तथा अपनाने की अपेक्षा नौकरी तलाशना ही अधिक श्रेष्ठ समझते हैं।

स्वतन्त्र भारत में सरकार की ओर से भले ही नयी शिक्षा पद्धति को कोई प्रोत्साहन न मिल पाया हो पर ऐसे सेवाभावी कर्मयोगी भी हैं जिन्होंने बुनियादी शिक्षा के आदर्शों पर यथाशक्ति अमल करने का प्रयास किया। जिन महामानवों के प्रयास आधुनिक शिक्षा पद्धति के दोषों को दूर रख कर राष्ट्र को रचनात्मक दिशा देने के लिए बुनियादी शिक्षा योजना से वर्षों पूर्व ही जारी थे उनमें आसाम के लोकमान्य कवि शिरोमणि बाग्यीवर नीलमणि फुकन का नाम सर्वाधिक सम्मान के साथ लिया जा सकता है। असमिया भाषा में उन्हें पितामह कहा जाता है और वस्तुतः वे अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व के माध्यम से आसाम के पितामह ही सिद्ध हुए हैं। राष्ट्रीय-आन्दोलन के कर्णधारों द्वारा बुनियादी तालीम के निर्धारण से पूर्व ही उन्होंने शिक्षा में नये प्रयोगों द्वारा देश को कर्मठ और निष्ठावान नागरिक देने का कार्य आरम्भ कर दिया था। अपने व्यक्तिगत बलबूते पर जन-सहयोग जुटाकर उन्होंने तीस पाठशालायें स्थापित कीं। जिनमें रात-दिन विद्यादान दिया जाने लगा।

आसाम के पितामह नीलमणि फुकन का जन्म सन् १८८० में असम के सम्पन्न और संस्कृति निष्ठ परिवार में हुआ था। उनके दादा संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित निष्ठावान सनातनी हिन्दू और एक बड़े सरकारी अधिकारी थे। दादा की भाँति पिता को और उसके बाद पुत्र को भी वह धर्मानिष्ठा विरासत के रूप में मिली। प्रातः स्नान ब्रह्ममुहूर्त में जागरण, पूजा पाठ, उपासना, जप आदि के साथ आचार-विचार में उदारता, आत्मीयता और सत्य प्रेम आदि के संस्कार भी फुकन को बचपन में ही प्राप्त हो गये वे अपने पिता के साथ गौमाता की सेवा करते, घर पर आने वाले साधु-महात्माओं को भिक्षा और

दान-दक्षिणा देते तथा अन्य धार्मिक आयोजनों में उत्साहपूर्वक हाथ बँटाते।

परिवार के वातावरण में धार्मिकता का प्रभाव तो अक्षुण्ण बना रहा पर लक्ष्मी चंचला स्थिर न रह सकी। दादा के बाद पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी न रह सकी। रुपये-पैसे का कोष भले ही खाली हो पर मन का कोष तो भरा था और इसी कारण परिवार के किसी व्यक्ति ने गरीबी को संज्ञापूर्ण नहीं पाया। नीलमणि फुकन ने एक स्थान पर स्वीकार किया है कि सम्पत्ति भले ही न रही हो पर मैंने दारिद्र्य दुःखों का कभी अनुभव नहीं किया क्योंकि घर में मुझे सभी ने लाड़ प्यार से रखा और घर के सब सदस्य भी परस्पर प्रेमपूर्वक रहते।

आर्थिक स्थिति अच्छी न होते हुए भी पुत्र को अच्छी शिक्षा दिलाने के उद्देश्य से पिता ने उन्हें स्कूल में भर्ती कराया। और नीलमणि अपने परिश्रमशीलता, एकग्रता, अध्यवसाय तथा तन्मयता के बल पर कक्षा में सदैव सर्वप्रथम आते रहे। पिता उन्हें केवल शिक्षित ही नहीं संस्कारवान भी बनाना चाहते थे अतः नीलमणि को विद्यार्थी जीवन में ही देश-विदेश के कई महापुरुषों की जीवनियाँ, प्रेरक कथाएँ, पौराणिक आख्यान तथा सत्साहित्य पढ़ने का अवसर मिला। उन्होंने पैतृक परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन तो किया ही और विशद अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि विचार-शीलता की क्षमता का उदय होते ही उन्हें अपने देश की दुर्दशा, प्राचीन भारत के गौरवमय स्वरूप और अर्वाचीन भारत की दयनीय परिस्थितियों का अहसास होने लगा। भारत के साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि असम तो अन्य भारतीय क्षेत्रों की अपेक्षा और भी पिछड़ा हुआ है। न यहाँ की भाषा का अपना कोई साहित्य है और न यहाँ की जनता की सभ्यता। इन स्थितियों की अनुभूतियों ने उन्हें देश सेवा के लिए भी प्रेरित किया और अपने निकटवर्ती जनों को उठाने के लिए आवश्यक प्रयास करने हेतु भी। जब भी अवसर मिलेगा अपनी इस सेवा को तृप्त करूँगा— के व्रत के साथ नीलमणि पढ़ते रहे।

स्कूली शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने कलकत्ता से बी. ए. पास किया और उसके बाद वकालत करने के उद्देश्य से उन्होंने लॉ कॉलेज में अध्ययन शुरू किया। उन्हीं दिनों डिब्रूगढ़ में एक पाठशाला खुली, प्रश्न उठा इसके प्राचार्य पद पर किसे नियुक्त किया जाय तो सबकी आँखें नीलमणि फुकन पर आ टिकीं और उन्हें कलकत्ता से बुलावा भेज दिया। अनायास ही अपने समाज सेवा के व्रत को पूरा करने का यह अवसर आया देख फुकन ने वकालत का मोह छोड़ दिया और डिब्रूगढ़ आ गये। हालाँकि उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनायें वकालत के पेशे में ही अधिक थीं पर केवल अपने लिए ही नीलमणि फुकन को अपने भविष्य की कहाँ चिन्ता थी वहाँ तो चिन्ता थी अपने पिछड़े और अपेक्षित भाइयों के उत्थान की अतः उन्होंने डिब्रूगढ़ जाकर प्राचार्य पद स्वीकार कर लिया और समाज सेवा में जुट गये।

यह पाठशाला सरकारी सहयोग से आरम्भ हुई तथा चल रही थी। १९१४ में जब पहला महायुद्ध आरम्भ हुआ तो सरकार ने कई संस्थाओं को अनुदान देना बन्द कर दिया। सरकार की इस नीति का

प्रभाव डिब्रूगढ़ की उस पाठशाला पर भी पड़ा जहाँ के प्राचार्य फुकन थे। पाठशाला बन्द हो गयी, समाज सेवा का जो कार्य चल रहा था वह रुक गया पर फुकन ने संकल्प लिया कि चाहे जो हो जाय स्कूल बन्द न होने देंगे और उन्होंने स्कूल के लिए जन-सहयोग जुटाने हेतु गाँव-गाँव घूमना आरम्भ कर दिया। छह महीने तक उन्होंने साइकिल द्वारा आस-पास के सभी गाँव नाप डाले। लोगों ने भी मुक्त हस्त से योगदान दिया और करीब छः महीने में ही चौदह हजार रुपये इकट्ठे हो गये। पाठशाला की आवश्यकता पूर्ति के बाद भी काफी रकम बचती थी सो उससे फुकन ने और नयी शालायें खोलने का अभियान चलाया और कुछ ही समय में तीस पाठशालायें खुल गयीं। आगे चलकर अपनी प्रवृत्तियों का विस्तार करते हुए फुकन ने समाज सेवा के रचनात्मक कार्यक्रम भी चलाये। आदिवासियों के उत्कर्ष हेतु उन्होंने नशाबन्दी आन्दोलन से लेकर अन्य उच्चस्तरीय सेवा कार्यक्रम भी चलाये जिनके दूरगामी परिणाम हुए।

सेवाभावी सन्त-भक्त— पुनीत महाराज

सच्चे विष्णु भक्त की कसौटी को सन्त नरसैया ने अपने भजन “वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।” में स्पष्ट किया है। जो दूसरों के दुःख-दर्द को अपने जैसा जाने तथा उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्नशील ही नहीं रहे वरन् निवारणार्थ जो प्रयास करे वे ‘दुस्साहस’ की सीमा तक हों। यही भाव इस गीत में भरे हैं। इस भावना को जीवन में साकार करने की बड़ी आवश्यकता है यह केवल गीत बनकर ही रह जाये, इससे जनमानस को विशेष लाभ नहीं हो पाता। इसे जीवन में साकार करने वाले एक भक्त थे पुनीत महाराज।

खुशामद व चापलूसी मनुष्य के सामने भले ही चल जाय भगवान् के दरबार में तो कदापि चल नहीं सकती। यदि चलती तो वह इतने बड़े ब्रह्माण्ड का नियंत्रण कैसे कर पाता। जिस काल में इनका जन्म हुआ उस समय भक्ति-भाव तथा भजन के उद्देश्य भुला दिये गए थे तथा यह केवल लोकजन के साधन भर रह गए थे। भजन से यदि पर-दुःख-कठतरता न उपजे तो फिर उसमें और अन्य गीतों में अन्तर ही क्या रह जायेगा। भजन मण्डली न होकर वह मनोरंजन मण्डली भर बनकर रह जाएगी।

ऐसे ही समय जूनागढ़ (गुजरात) के ब्राह्मण परिवार में १९ मई, १९०९ में एक बालक का जन्म हुआ। पिता भाई शंकर और माँ ललिता ने इस बालक का नाम रखा बालकृष्ण। यही बालक आगे जाकर पुनीत महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनको बचपन में ‘बालू’ कहकर पुकारा जाता था। छह वर्ष की अवस्था में ‘बालू’ के पिता का देहावसान हो गया।

माता ललिता ने इस बालक का पालन-पोषण किया तथा इसका निर्माण किया। बचपन से ही इसमें सुसंस्कार भरने आरम्भ कर दिये। स्नेह, लाड़-प्यार के साथ-साथ बालक को शिक्षा भी दी जाने लगी।

बालक तो परावलम्बी होता है माता-पिता पर पूर्णरूपेण आश्रित। पिता तो थे नहीं माँ ललिता गरीबी के झोंकों को अपने आँचल से बचाती हुई इस सुकुमार बालक का पालन-पोषण करती रही। सत्य आवरण में कब तक छिपा रहता। बालक ने देखी था कि माँ किस मेहनत से लोगों के यहाँ काम करके दो पैसे जुटाती है जब कहीं दो रोटी का साधन बन पाता है जिससे जीवन की गाड़ी दो कदम आगे बढ़ लेती है।

अभावों का जीवन कैसा होता है बालक ने समीप से देखा था। माँ के पास हजामत के लिये पैसे नहीं थे। सिर के केश बढ़कर जटा होने लगे। किसी ने मजाक में कह दिया—“जटाजूट तो बड़ा सुन्दर रखा है क्या कोई नाटक खेलने की तैयारी हो रही है।” बालक माँ के पास जाकर पैसे माँग बैठा। माँ के पास कुछ था नहीं। बेचारी को ताम्बे का एक घड़ा बेचकर पैसे जुटाने पड़े।

दूसरे बालकों को देखकर उसका जी ललचाता किन्तु बिना बाप के लड़के पर दया किसे आती? सब परिवार, अपनी सुख-सुविधाओं के लिये रोते हैं। हाथी हो तो भी अपने ही पेट में समाने का प्रयास करेंगे दूसरे को देना सीखा ही नहीं।

ऐसे ही दुःखों को झेलते हुए बालक पढ़ा। उसे गाँव के हाईस्कूल में भर्ती कराया गया। वहाँ उसे शांति मियाँ नाम के अध्यापक से बड़ा सहयोग मिला। अच्छे आदमी भी दुनिया में होते हैं भले ही कम संख्या में हों, उनमें से एक थे यह ‘शांति मियाँ’ नाम के साथ ‘मियाँ’ भले ही जुड़ा था पर थे पूरे वैष्णव। उन्होंने बालू को शिक्षा के साथ-साथ धर्मशास्त्रों की अच्छी अनुकरण योग्य बातें भी बताईं। बालू के जीवन निर्माण में इस सहृदय अध्यापक का बड़ा योग रहा।

एक दिन एक दिवंगत अध्यापक को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये बालू के मुख से भावावेश में कविता फूट पड़ी जिसे सुनकर सारा विद्यालय चकित हो गया। शांति मियाँ फूले न समाए। उसे प्रोत्साहन देने के लिये वे उसे एक कविता पर १ पैसा देते थे।

किसी तरह खींचतान करके बालकृष्ण दसवीं कक्षा तक पहुँचा। अब विवशताओं ने उग्र रूप से आक्रमण आरम्भ कर दिया। इसी समय चेचक का प्रकोप हुआ। आँखों की ज्योति मन्द पड़ गई, फिर भी धनाभाव के कारण चश्मा न खरीदा जा सका। फीस व कागज पेंसिल भी जुटा पाना कठिन था। विवश हो पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी।

बड़े प्रयत्नों के बाद कुछ महीनों तक पोस्ट ऑफिस में ११ महीनों की नौकरी मिली। फिर बेकार हो गया। शादी हो चुकी थी, माँ कब तक पेट भरती। रोजगार पाने के लिये दर-दर भटकना पड़ा। अध्यापक, कुली, सम्पादक सभी कुछ बने पर कोई स्थायी काम न जम पाया। एक बार तो यह स्थिति आ गई थी कि तीसरा बच्चा भी धनाभाव में काल-कवलित हो गया तो दाह-संस्कार के पैसे भी न थे। सूख कर देह काँटा हो-गई। रोग ने आ घेरा, क्षय की अन्तिम स्टेज अर्थात् मृत्यु।

लोहे को धार देने के लिये तपाया जाता है, सोने को परखने के लिये, कान्ति बढ़ाने के लिये तपाया जाता है, इसी प्रकार गानव को सही अर्थों में मानव बनाने के लिये उसे दुःखों की अग्नि पर तपाया

जाता है। दुःख मनुष्य का सच्चा स्वरूप निखारने की एक प्रक्रिया है। सुख आदमी को मार देता है, निष्क्रिय कर देता है किन्तु दुःख उसे आगे बढ़ने और पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है। दुःखों को परीक्षा मानकर चलने वाला व्यक्ति जीवन में कुछ न कुछ करके दिखाता है। ऐसी ही कठिन परीक्षा बालकृष्ण की भी ली गई। इन दुःख-कष्टों से लड़ने का साहस जुटाने वाली शक्ति है परमात्मा, इसी सम्बल को अब बालकृष्ण ने पा लिया। वे अब सब कुछ उसके चरणों में अर्पित कर स्वयं उस पर निर्भर हो गए। वे कह उठे कि हे ईश्वर तेरी जो चाह है वही मेरी चाह है, जो कुछ तू देगा वह लूंगा। हर्ष और विषाद अब मुझे नहीं व्याप्त होंगे। आज तक भटकना, रोना, दुःखी हुआ पर अब नहीं होने वाला हूँ। जहाँ सुख की चाह करता हूँ वहीं दुःख का भी अनुभव होता है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं एक को स्वीकार कर दूसरे को अस्वीकार करने की भूल आज तक करता रहा पर मैंने अब सुख-दुःख दोनों त्याग दिये।

बालकृष्ण की परीक्षा समाप्त हुई। वे उत्तीर्ण हुए। उन्हें एक प्रतिष्ठित फर्म 'तैयब एण्ड कम्पनी' में अहमदाबाद शाखा के एक उच्च पद पर काम मिला गया। धीरे-धीरे स्वास्थ्य भी सुधरने लगा। यह सब उन्होंने ईश्वर का दान समझ कर ग्रहण कर लिया पर वे उन दुःख के क्षणों को भूले नहीं। उन्हें सदा अहसास रहा कि कल जो दुःखी था आज सुखी हो सकता है और आज जो सुखी है वह कल दुःखी भी हो सकता है। सुख-दुःख केवल मन की कल्पना ही तो है। एक ही वस्तु है जिसके अभाव को हम दुःख व उपलब्धि को सुख कहते हैं। मनुष्य को उसे निरपेक्ष भाव से ग्रहण करना चाहिये। अधिक मिला तो उन्हें दो जिनके पास नहीं है और नहीं मिला तो दुःखी न हो कि हमें नहीं मिला, यही सच्ची साधना है। सुख-दुःख को पृथक् मानने के कारण ही संसार के सब प्राणी अपने आप को अलग-अलग मानते हैं, जबकि उनका अलग कोई अस्तित्व ही नहीं है।

उपार्जन की व्यवस्था जम चुकी थी। अब सुख-दुःख के भ्रम में फँसी जनता को सही मार्ग बताने की कामना उनके मन में तीव्र रूप से जाग्रत हो उठी। उन्होंने भक्ति रस के भजनों के माध्यम से जन-जन में इस विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने का शुभारम्भ किया। उस समय गुजरात में इसी प्रकार के भजनों से एक नवीन जाग्रति पैदा हो सकती थी। इन्होंने भजन गाने का क्रम बना लिया। इनकी काव्य प्रतिभा तथा मधुर कंठ और भक्ति की भाव विह्वलता ने भजनों को बड़ा प्रभावशाली बना दिया। जहाँ-कहीं भी भजन-मण्डली होती वहाँ ये पहुँच जाते तथा भजनों के द्वारा इस अलौकिक संदेश को जनता के सामने रखते। सुनने वाले सब कुछ भूल कर इनके भजनों में लीन हो जाते तथा जीवन की एक नई राह उनके लिये खुल जाती थी। वह राह थी स्वयं के स्वार्थ के साथ लोकमंगल का समन्वय करना। धीरे-धीरे ये इतने प्रभावशाली हो गए कि लोगों के मन में इनके व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई। इसी श्रद्धा से अभिभूत होकर एक दिन श्री राधेश्याम जी ने इनका नाम 'पुनीत महाराज' रख दिया। तब से ये पुनीत महाराज कहलाने लगे।

पुनीत महाराज ने अब जन-जाग्रति का आन्दोलन आरम्भ कर दिया। स्थान-स्थान पर भजन मंडलियों की स्थापना किये जाने का प्रयास किया जाने लगा। मनुष्य का मन बड़ा चंचल होता है। यदि वह वश में किया हुआ न हो तो प्रायः भावनाओं को अपने तर्क के आगे टिकने नहीं देता। जन-साधारण से यदि पुनीत महाराज ऐसे मन को वश में करने वाली बात कहते व सुझाव देते कि उसे सही दिशा में चलाओ तो कोई न मानता। सन्त लोगों के लिये एक ऐसा मार्ग एक ऐसा व्यापक कार्यक्रम प्रस्तुत कर देते हैं जिससे अभीष्ट उद्देश्य सहज ही पूरा हो जाय। भजन मंडली उस समय सबसे उपयुक्त साधन थी।

भजन के माध्यम से जन-साधारण में सत्प्रवृत्तियों का प्रसार तथा कुरीतियों का निवारण करने के लिये पुनीत महाराज अपना जीवन अर्पित कर चुके थे। इनके प्रयासों से गाँव-गाँव में मंडलियाँ बनीं। जब देखते कि यह गरीब है तो स्वयं भी कभी-कभी भजन कराने वाले को प्रसाद, अगरबत्ती आदि का खर्च अपनी गाँठ से दे देते थे। मनुष्यों के चंचल मन को मनोवैज्ञानिक ढंग से सद्प्रवृत्ति में लगाकर समाज सुधार का उनका यह ढंग बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ जिसका असर उस क्षेत्र में आज तक विद्यमान है।

स्त्री जाति में चेतना लाने के लिये भी उन्होंने भजन मंडलियों की स्थापना करने का प्रयास किया तथा रूढ़िवादिता के विरोध में भजन बनाए। अश्लील गीतों का बहिष्कार किया।

ये कहीं भजन मण्डली में दान-दक्षिणा नहीं लेते थे। उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली, इनके हजारों अनुयायी बन गए। इन्होंने देखा कि गुजरात में जाग्रति आ गई है। इस हवा को सारे भारत में फैलाना चाहिये। इसके लिये उन्होंने भजन मंडली सहित यात्री-संघ बनाए तथा इनका कुशलतापूर्वक संचालन करके सारे भारतवर्ष में पुनर्जागरण करने का प्रयास किया।

इनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली बन गया था, कि लोगों ने चमत्कारिक कथाएँ भी इसके साथ जोड़ दी हैं। इनमें सत्यता भी है। वह है व्यक्तित्व का प्रभाव तथा परमात्मा की इच्छा। गर्व उन्हें छू भी न गया। ये पुनीत महाराज हो जाने पर भी उस दुःखी 'बालू' को नहीं भूले। उन्हें समाज में जहाँ भी 'बालू' जैसा दीन-हीन जीवन जीते किसी को देखा उसे पुनीत महाराज बनाने में कसर नहीं छोड़ी। वे सौम्य, सरल और विनम्र ही रहे।

तथाकथित साधुओं की तरह उन्होंने समाज पर भार बनना पसन्द न करके उनके सामने उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी नौकरी नहीं छोड़ी। उपार्जन से जो राशि मिलती उसका थोड़ा-सा भाग स्वयं के लिये खर्च करके शेष वे समाज हित में लगा देते थे।

वे वृद्ध होने लगे तो वर्णाश्रम धर्म, के अनुसार वे संन्यासी बनने की कामना करने लगे। उनके अनुगामियों को उनके परिवार की चिंता लगी। श्री गोवर्धनदास नामक एक सद्गुरुहस्त ने उन्हें १० बीघे जमीन भेंट करने का बड़ा आग्रह किया। उस जमीन को उन्होंने स्वीकार तो किया पर उसे अपने परिवार के लिये नहीं जन-कल्याण के लिये ही किया। उसका ट्रस्ट बना दिया तथा उस पर उनके किसी

उत्तराधिकारी का हक न रखा। इसी भूमि पर मणिनगर में 'पुनीत सेवाश्रम' की स्थापना हुई। यह सेवाश्रम आज भी उनके पुनीत कृत्य का स्मरण करा रहा है।

सन् १९५९ में पुनीत महाराज धर्म प्रचारार्थ अफ्रीका गए तथा छह महीने तक उस क्षेत्र में प्रचार करते रहे। इन्होंने अपना कार्यक्षेत्र इतना बड़ा देखा तो संन्यास लेने का विचार छोड़ दिया। वे विदेह हो चुके थे उन्हें गृहस्थ व संन्यास में कोई अन्तर दिखाई नहीं पड़ता था।

२७ जुलाई, १९६२ को पुनीत महाराज का देहवसान हुआ। उनका जीवन एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपने को दीन-हीनों का साथी समझता रहा पर उसने स्वयं को भावना के माध्यम से एक बड़ी शक्ति के साथ जोड़ दिया जिसके आश्चर्यजनक परिणाम हुए तथा लोकजीवन के लिए चिरस्थायी कार्य कर गया।

आज के युग में ऐसे ही लोकसेवियों की बड़ी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। आज के तथाकथित ज्ञानी-ध्यानी लोग उनके चरित्र से प्रेरणा लें तो इनकी संख्या देखते हुए भारत का ही नहीं विश्व का कल्याण संभव हो सकता है।

प्राणिमात्र के सच्चे सेवक— पूजा बाबा

सतपुड़ा तथा विंध्य की पहाड़ियों के बीच एक छोटा-सा, लकड़ियों के बाड़े से घिरा पशु चिकित्सालय था। उसे साधना स्थली भी कह सकते हैं, तपोवन भी। वन के सारे ही घायल तथा आहत पशु-पक्षियों का वह आश्रय स्थल था। उसके निर्माता, संस्थापक, संचालक तथा सेवक थे श्री पूजा बाबा! हाँ—उन्हें सब पूजा बाबा ही कहते थे। नाम कुछ और रहा होगा शायद।

पूजा बाबा जाति के भील थे। बचपन से ही उनकी संस्कारवान् आत्मा धर्म तथा अध्यात्म के प्रति आकृष्ट हुई। जहाँ भी उन्हें धर्म चर्चा अथवा सत्संग जैसा वातावरण मिलता—वे फौरन पहुँचते और सदा दूसरों के उपकार की ही बात सोचा करते।

एक दिन उन्होंने सुना कि प्राणिमात्र की सेवा करना ही सच्ची ईश्वर पूजा है। बस, उसी दिन से उन्होंने यह बात गाँठ बांध ली। जैसे बादल उड़ता हुआ भी अपने साथ अगाध जलराशि लिये चलता है वैसे ही पूजा बाबा का जीवन भी परोपकार, परसेवा तथा जीवमात्र की भलाई की भावनाओं से ओत-प्रोत हो गया।

किन्तु अब सामने प्रश्न यह था कि सेवा का माध्यम भी कुछ होना चाहिए। शिक्षा तथा योग्यता का अभाव था, पर मनोभूमि बड़ी ही ब्रह्मालु तथा उदार थी। ऐसे ही—जैसे बिना खाद-पानी के, कोई बीज को उर्वरा भूमि में डाल दे—बस।

पर इससे उन्होंने अपना मार्ग अवरुद्ध न होने दिया। जंगल में ही उन्होंने एक छोटा-सा स्थान चुना। उसे लकड़ियों से घेरकर एक सुरक्षित बाड़े का स्वरूप प्रदान किया। जंगल में जो भी घायल पशु

अथवा पक्षी पाते उसे ले आते और पूरी लगन के साथ उसकी सेवा सुश्रूषा तथा परिचर्या करते। ठीक होने पर उसे पुनः स्वतन्त्र कर देते। उसके ठीक होने पर—उस प्राणी को तो आराम मिलता ही था—पूजा बाबा की आत्मा को इतना अधिक संतोष तथा आनन्द मिलता कि कभी-कभी तो उनके स्नेहावेग से प्रेमाश्रु बह उठते।

वे सोचते—ईश्वर का सच्चा स्वरूप यह वृहद् ब्रह्माण्ड ही तो है। इसके प्रत्येक प्राणी में उसी का प्राण सक्रिय है। वनस्पति की प्रत्येक डाली में उसी की चेतना लहरा रही है। यहाँ तक पत्थर, नदी, पहाड़ तथा दूर तक फैले नील-गगन के विस्तार में भी उन्हें परमपिता का आभास निकलता-सा प्रतीत होता।

इसीलिए तो—ईश्वराधन का यही स्वरूप उन्हें अधिक पसन्द आया था। यह सेवा कार्य ही उनकी उपासना थी—उनका धर्मानुष्ठान था तथा उनकी धर्म साधना थी।

रोगी पशुओं के लिये जड़ी-बूटियाँ खोजना—उनके लिये भरी दोपहरी में जंगल-जंगल भटकना-रोगियों के लिये उचित खाने-पीने की व्यवस्था जुटाना—उनके स्थान की सफाई करना—इन सब कार्यों में उन्हें बड़ा ही आनन्द आता।

धीरे-धीरे आस-पास के निवासी भी उनके इस सेवा कार्य से परिचित हो गये। अब वे भी जहाँ-कहीं भी किसी घायल अथवा बीमार पशु या पक्षी को देखते तत्काल उठा कर पूजा बाबा के इस पशु चिकित्सालय में पहुँचा देते। बाबा जी बड़े ही स्नेह से उनकी चिकित्सा की व्यवस्था जुटाते। कुछ उत्साही युवक अब अवकाश के समय में उनकी सहायता करने भी आ पहुँचते। घास काटना—जंगल से लकड़ी एकत्रित करना तथा पानी भर देना या बाड़ा साफ कर देना—इन सब कार्यों में वे पूजा बाबा की पूरी सहायता करते।

चिकित्सा सम्बन्धी जानकारीयाँ हासिल करने के लिये भी पूजा बाबा को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा था। उन्होंने किसी कॉलेज में व्यवस्थित शिक्षा तो पाई नहीं थी। किन्हीं वयोवृद्ध सज्जन के विषय में मालूम होता कि वे इस विषय में कुछ जानते हैं तो बस—पूजा बाबा वहीं जा पहुँचते और उससे विशेष जानकारीयाँ हासिल करते।

जिस स्रोत में भी इस विषय की कुछ जानकारी निकली—उसे ही जा पकड़ते और निरन्तर अपने ज्ञान में वृद्धि करते रहते। आधी से अधिक कुशलता का आधार तो उनकी वह सतत साधना थी—जिसमें वे रात-दिन निरत रहते थे।

यह चिकित्सालय लगभग एक-डेढ़ मील के अहाते में था। वहीं पर थोड़ी-सी जमीन में उन्होंने कंदमूल-फल उपजा रखे थे। शाक-सब्जियों के सहारे भोजन की समस्या हल हो जाती थी। कभी नगर की ओर जाना हो जाता था तब आवश्यक वस्तुएँ ले आते थे। कभी कभी कोई बहुत ज्यादा घायल पशु आ जाता था, तो कई-कई दिन नहीं जा पाते थे। तब उनका आहार भी उसी उपज के सहारे चलता रहता था।

वस्त्रों का जहाँ तक प्रश्न था—एक लँगोटी तथा सिर पर बंधा एक पतला कपड़ा। बस इतनी ही आवश्यकता रहती थी उन्हें वस्त्र की। आडम्बरों से वे कोसों दूर थे।

आस-पास के भील उनके पास सहज श्रद्धावश ही आ जाते थे। जिसमें सच्ची भक्ति तथा आस्तिकता होती है उसके प्रति सबके हृदय में अनजाने ही एक आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। आने वाले भीलों को वे अच्छी बातें बताते थे। सेवा-परोपकार तथा परस्पर सहयोग पूर्वक जीने की शिक्षा देते थे। सफाई से रहने का महत्त्व समझाते तथा पश्चिमपूर्वक द्रव्यार्जन करने की शिक्षा देते थे।

आने वालों के प्रति उनका सन्देश था—“दूसरों की सहायता करने और ईमानदारी से जीवनयापन करने की रीति-नीति अपनाकर कोई व्यक्ति थोड़ी पूजा से भी ईश्वर को प्रसन्न कर सकता है। कोई व्यक्ति भजन तो बहुत करे—पर कर्म नीच करे—तो उसका उद्धार भगवान् भी नहीं कर सकते।”

यह थी उनकी शिक्षा, उनका उपदेश। वे सही अर्थों में ईश्वर भक्त तथा संत थे। समस्त धर्म ग्रन्थों का सार उनके इस संक्षिप्त से उपदेश में निहित है।

इनके प्रभाव में आकर कई भीलों ने चोरी करना—शराब पीना—जुआ खेलना तथा माँस खाना तक छोड़ दिया था।

यह है एक सच्चे साधु का स्वरूप। जिसका हृदय एक भक्त तथा उपासक है। जिसकी बुद्धि एक सच्चे समाज सुधारक जैसी है और जिसका शरीर सही अर्थों में एक सेवक का शरीर है।

हमारे देश में फैले ५६ लाख साधुओं में से यदि शतांश भी इस प्रकार की भावना तथा क्रियाकलापों को लेकर आगे आये तो इस गिरते हुए समाज की दशा सुधरते देर न लगे।

आज पूजा बाबा नहीं रहे। पर उनकी दी हुई क्रियात्मक शिक्षाएँ जन-जन के मनों में बस गई हैं। जिन्होंने उनसे कुछ भी प्रेरणा तथा प्रकाश पाया है उनके मनों में पूजा बाबा की स्मृति किसी भी भगवान् से कम नहीं। सच्चे अर्थों में मानवता के उपासक के रूप में उनको सदा स्मरण किया जाता रहेगा।

विश्वमानव के सच्चे पथ-प्रदर्शक— स्वामी भक्ति वेदांत

७० वर्ष की ढलती आयु के एक सच्चे कृष्ण भक्त का हृदय भक्तते हुए विश्वमानव को सत्य का मार्ग बताने के लिए तड़प उठा। पास कुछ भी धन-सम्पदा नहीं, शरीर भी अब उतना स्वस्थ एवं शक्ति सम्पन्न नहीं कि आत्मा की आवाज सुनकर उसका अनुगमन कर ले। वह अमेरिका जैसे भौतिकवादी देश को अध्यात्मवाद की महिमा बताने को आतुर हो उठा। आत्मा की अमरता पर अगाध विश्वास तथा त्याग-तप के संचित बल को लेकर यह एक प्राणी अमेरिका जा पहुँचा।

जहाँ किसी कार्य को करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाय तथा उसके पूरे श्रम तथा मनोयोग से किया जाय तो असम्भव दिखने जैसा कार्य भी सम्भव हो सकता है। इस सफलता को देखकर कभी-कभी उसे चमत्कार की संज्ञा भी दी जाने लगती है। ऐसा ही एक चमत्कार इस संकल्पवान ने अमेरिका में प्रस्तुत किया। इनका नाम

है प्रभुपाद ए. सी. भक्ति वेदान्त। ये अमेरिका पहुँचे। यहाँ समाचार पत्रों में जो वहाँ की बातें पढ़ते थे वहाँ आँखों से देखने को मिलीं। किसी भी प्रकार का संयम और मर्यादा यहाँ पिछड़ापन माना जाता था। धन के पीछे अन्धे होकर दौड़ लगाना और उस धन को पाकर अन्धाधुन्ध शराब; व्यभिचार तथा अन्य शारीरिक तुष्टियों में खर्च कर देना यही एक जीवन-क्रम देखकर वे मानव की इस भूल पर रो पड़े। यह सुर-दुर्लभ मानव जीवन इस प्रकार के जीवन के लिये तो नहीं मिला है।

प्रेम और सेवा की पूँजी से इन्होंने यहाँ अपना भक्ति अभियान चलाया। ७० वर्ष के सात्त्विक, तप, त्याग भरे जीवन के कारण इनके व्यक्तित्व में ऐसी विलक्षणता उत्पन्न हो चुकी थी कि जिससे प्यार से बोले कि वह उनका हो गया। जिसकी पीठ पर स्नेह से हाथ फेरना कि वही लोहे से चुम्बक बन गया।

जो इनके सम्पर्क में आया उसे आश्चर्य हुआ कि यह साधारण-सा आदमी जिसके पास सर्दी से बचने के लिये पूरे कपड़े तक नहीं, जिसके पास कुछ भी धन-सम्पदा नहीं कितना प्रसन्न है? कितना आकर्षक है, इसकी इस सादगी में? जबकि हमारे पास यह सब आवश्यकता से अधिक होते हुए भी दुःखी और अतृप्त हैं। सच्चे सुख को इन्होंने पाया है। फिर वे इनके अनुयायी बनने लगे।

कृष्ण भक्तों की यह संख्या बढ़ने लगी। जिसने अपनी शक्तियों को सन्मार्ग पर डाल दिया। उसके जीवन में सुख-शान्ति का सागर लहराने लगा। फिर तो न्यूयार्क की सड़कों पर इन कृष्ण भक्तों का विशुद्ध भारतीय वेशभूषा में संकीर्तन करते हुए निकलना एक साधारण बात हो गई।

वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिये भक्ति वेदांत जी ने जो माध्यम चुना वह ‘कीर्तन’ है। कीर्तन के माध्यम से ही चैतन्यदेव ने भारतवर्ष में धार्मिक नवजागरण किया था। यही माध्यम इन्होंने भी अपनाया। देखने-सुनने में यह साधारण भले ही लगता है किन्तु इसका वहाँ जो व्यापक प्रभाव हुआ है उसे एक चमत्कार ही कहा जायेगा। इसे पहली बार देखकर कोई पागलपन समझ बैठता है पर प्रायः यही देखते रहने पर कुछ जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये जब उसकी जानकारी प्राप्त की जाती है तो पहली बार जिसे वह पागलपन समझता है उसी को स्वयं दोहराने लगता है।

यही अमेरिका में हुआ १९६६ में भक्ति वेदान्त जी ने न्यूयार्क में “इन्टर नेशनल सोसायटी फॉर कृष्णा कांशसनेस” की स्थापना की। इनके अनुयायी बढ़ते गये उनके द्वारा न्यूयार्क की सड़कों पर कीर्तन मण्डलियाँ निकली गईं। लोगों ने देखा अमेरिकन पुरुष व अमेरिकन महिलाएँ विशुद्ध भारतीय वेशभूषा भगवा धोती, भगवा कुर्ता और साड़ियों में ढोलक व झाँझ-मजीरों के साथ भक्ति के रस में डूबे हरे-कृष्णा हरे-कृष्ण, कृष्ण-कृष्ण हरे हरे।” का उच्चारण करते हुए नाच रहे हैं। पहले कुछ उपेक्षा की फिर जिज्ञासा उठी और फिर मन ने मान लिया।

इस प्रकार के संघ में बड़े-बड़े घरों के युवक-युवतियाँ, कॉलेज के सुशिक्षित छात्र, प्रोफेसर, वकील, व्यापारी तथा सभी वर्गों के व्यक्ति सदस्य बनने लगे। अब तक अमेरिका में लास एंजिल्स, न्यूयॉर्क, केलीफोर्निया, बोस्टन आदि नगरों में इसकी शाखाएँ खुल चुकी हैं। इंग्लैण्ड, पेरिस, ब्रिटिश कोलम्बिया आदि में इसका प्रभाव बढ़ रहा है। हजारों लोग इस मिशन के सदस्य बन चुके हैं।

भक्ति वेदान्त जी अँग्रेजी के विद्वान् तथा गीता, महाभारत तथा भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित हैं। उन्होंने अपनी इस प्रतिभा की जहाँ आवश्यकता थी वहीं पर नियोजित किया। इस पाण्डित्य का उपयोग उपदेश देने अथवा मठ बनाने में नहीं करके लोक-कल्याण के लिये प्रयुक्त किया। इसी स्वाध्याय की पूँजी और आदर्शोन्मुख ७० वर्ष के त्याग और तप के कारण वे इतने लोगों को सद्मार्ग पर चलाने में सफल हो सके हैं।

वे सबसे अधिक बल संयमित जीवन व शुद्ध आहार पर देते हैं। उनकी मान्यता है कि संयम से ही सुख पाया जा सकता है तथा शुद्ध आहार से ही मनुष्य का मन निर्मल होता है उसमें सही मार्ग पर चलने में सरलता होती है। इसी कारण संघ की सदस्यता पाने के लिये इनका पालन अनिवार्य है। वे शराब, माँस, धूम्रपान, जुआ, आदि दुर्व्यसन ही नहीं छुड़ाते, चाय व काफी तक के लिये मना कर देते हैं। वे व्यक्ति जो दिन-रात शराब, माँस, उत्तेजक गोलियाँ, सिगरेट आदि का सेवन करते थे, शारीरिक वासना में डूबे रहते थे। अब वे संयमित जीवन जीने लगे हैं शुद्ध शाकाहारी भोजन तथा गौ दुग्ध पर जीवनयापन करने लगे हैं तो वे अपने आपको बिल्कुल दूसरा ही मुक्त जीव पाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन से दूसरे भी प्रभावित होते हैं। इसी का परिणाम है कि छह वर्षों में ही इस प्रकार के संयमी जीवन जीने वाले शाकाहारियों की संख्या हजारों तक पहुँच गई है।

अमेरिका से इस मिशन की विचारधारा व कार्यकलाप से लोगों को परिचित कराने के लिये 'बैक टू गाड हेड' नामक मासिक पत्रिका व भक्ति वेदान्त जी के लिखे ग्रन्थ कई भाषाओं में प्रकाशित किये जाते हैं। भारतीय मन्दिरों की तरह वहाँ पर सुन्दर मन्दिरों का निर्माण किया गया है। सिनेमा, टेलीवीजन तथा कीर्तन के रेकार्ड द्वारा भी इस मिशन का प्रचार किया जाता है। पुरी की रथ-यात्रा की तरह केलिफोर्निया में वैसी ही रथ-यात्रा निकाली जाती है। वर्जीनिया में ५०० बीघा भूमि पर 'वृन्दावन' बसाया जाने का कार्य भी चल रहा है। कृष्ण भक्तों के नाम भारतीय रखे जाते हैं यथा कृष्णदास, गुरुदास, कीर्तनानन्द आदि।

भक्ति वेदान्त जी ने पश्चिम में भारतीय संस्कृति का वास्तविक रूप प्रस्तुत करके जो कार्य किया है वह आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। भौतिकता के पीछे दौड़ लगाने वालों को उन्होंने बताया कि जलती अग्नि में धी डालने से आग बुझती नहीं बढ़ती ही है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो नियमों को तोड़कर कष्ट भोगता है और दुःखी होता है जबकि सारा जगत एक क्रम में, एक नियम में, एक गति में चल रहा है मनुष्य इसके विपरीत चलकर सुखी नहीं हो सकता उसे संयम करना ही पड़ेगा। इसे सिखाने-समझाने की जो

राह उन्होंने चुनी वह सर्व-साधारण के लिये उपयुक्त ही नहीं इस कार्यक्रम को शीघ्रता से बढ़ाने वाली भी थी।

वे आत्म प्रशंसा से सदा दूर रहे। लोग उन्हें चैतन्यदेव का अवतार कहने लगे तो उन्होंने कहा "मैं तो कृष्ण सेवकों का चरण सेवक भर हूँ।" कीर्तन को वे अपने आपको ईश्वर से तादात्म्य जोड़ने का साधन मानते हैं तथा आत्मा के आवरण को हटाने का साधन मानते हैं। उन्होंने केवल अनुयायी भर नहीं बनाये उन्हें कठोरतापूर्वक नियम पालन भी कराया। संख्या की चिन्ता न करके ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत करने का ही लक्ष्य उनका रहा।

भक्ति वेदान्त जी के प्रयासों से विश्वमानव के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय संस्कृति ही विश्व संस्कृति है।

स्वामी प्राणनाथ—जिन्होंने संन्यास का सच्चा अर्थ समझा

मेहराज संन्यास ग्रहण करके स्वामी प्राणनाथ बन गये किन्तु उन्हें इस संन्यास ग्रहण से कोई विशेष सन्तोष नहीं हुआ। घर-बार, स्त्री-पुत्र सभी छोड़कर केवल स्वर्ग या मुक्ति की कामना के अपने ही स्वार्थ में निरत रहने की संकीर्णता का नाम ही यदि संन्यास है तो फिर गृहस्थी और संन्यासी में अन्तर ही क्या रह जाता है। और फिर संसार से भाग कर कहीं जाया भी कैसे जा सकता है? फिर संन्यासी का धर्म क्या हो? इस प्रश्न का उत्तर उन्हें नहीं मिल रहा था।

इसी प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए वे गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम रहे थे। काफी भटकने के बाद उन्हें इसका उत्तर मिला समर्थ गुरु रामदास के कर्तृत्व के रूप में। समर्थ भी संन्यासी थे, विवाह की वेदी से उठकर भाग खड़े होने वाले संन्यासी, पर उनका मार्ग परम्परावादी संन्यासियों से भिन्न था। वे संसार से भागे नहीं थे वरन् उन्होंने अपने आपको संसार में इस प्रकार घुला दिया था कि वे उससे पृथक् दीखते ही नहीं थे। स्वर्ग मुक्ति की कामना से प्रेरित होकर मात्र भजन, ध्यान व योगाभ्यास में निरत होने की अपेक्षा उन्होंने जग जागरण का महत्त्वपूर्ण काम अपने हाथों में लिया था। सोयी हुई हिन्दू जाति को जगाने का समर्थ उद्योग किया था। धर्म के सच्चे स्वरूप को लोगों के सामने रखा था। धर्म और ईश्वर सामाजिक दायित्वों से पलायन करना नहीं सिखाते वरन् उनमें और अधिक दृढ़ता से प्रवृत्त होना सिखाते हैं।

अधर्म राज्य को हटाकर उसके स्थान पर धर्मसम्मत राज्य स्थापित करने और लोगों में राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने का जो प्रबल पुरुषार्थ समर्थ गुरु रामदास ने दिया था उससे प्रभावित होकर वे भी उनके इस कार्य में सहयोग देने के लिए निकले पड़े। अब उनका लक्ष्य स्वर्ग या मुक्ति नहीं रह गया था। वे तो यह चाहने लगे थे कि मुझे तब तक स्वर्ग और मुक्ति नहीं मिले जब तक इस संसार का एक भी प्राणी दुःखी और बद्ध है।

स्वामी प्राणनाथ का जन्म सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गुजरात के जामनगर में हुआ था। बचपन से ही उनकी धर्म में अनुरक्ति थी।

पिता को भय लगा कि कहीं वे साधु-संन्यासी न हो जायें सो छोटी आयु में ही विवाह कर दिया गया। उनकी पत्नी बाईजू राज पति-परायणा सरल चित्त महिला थी। कुछ वर्ष तक उनका पारिवारिक जीवन चलता रहा। लड़के बच्चे भी हुए। वे जब वयस्क होकर घर बार सम्हालने लायक हुए तो उन्होंने संन्यासी बनने की चिरसंचित अभिलाषा पूर्ण कर ली। पर आरम्भ में तो उन्हें ऐसा ही लगा जैसा मीराबाई ने अपने पद में बताया है— “जोगी होय जुगत नहीं जानी उलटे जनम् फिर आसी” किन्तु फिर राह मिल ही गयी और उनका गृहत्याग करना सार्थक हो गया।

उन्होंने गाँव-गाँव जाकर लोगों को ईश्वर व धर्म का सच्चा स्वरूप बताना आरम्भ कर दिया। उस समय की हिन्दू जनता में निराशा और दीनता बढ़ रही थी। बहुसंख्यक होते हुये भी उन्हें मुस्लिम कुशासन व अत्याचारों का बोझ ढोना पड़ रहा था। इसका मूल कारण जनता में सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का अभाव और राजाओं की अहमन्यता, आरामतलबी और स्वार्थपरता थी। इस निराशा व दैन्य को भेदने के लिए जिस अभियान की उस समय सबसे अधिक आवश्यकता थी उसे युग धर्म समझकर अपनाने वालों में स्वामी प्राणनाथ भी एक थे।

धर्म और अध्यात्म व्यक्ति को आत्मिक प्रगति के साथ ही उसे सामाजिक दायित्वों का बोध भी कराते हैं किन्तु उस समय के साधु संन्यासियों ने उस पक्ष को भुला दिया था। जनता में भी धर्म और अध्यात्म का वैसा ही स्वरूप प्रचलित था। उसके स्थान पर समयानुसार धर्म का दिग्दर्शन करने के लिए स्वामी प्राणनाथ गाँव-गाँव, घर-घर घूमे।

उनके प्रखर व्यक्तित्व और तथ्यपूर्ण उपदेशों का जनता पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। किन्तु राजा लोगों ने उनकी बात नहीं मानी। सुनी तो सही। उनका संन्यासी के नाते सम्मान भी किया पर जब स्वामी जी ने उनसे संगठित होकर स्वतन्त्र हिन्दू राष्ट्र के गठन की बात कही तो वे उन्हें कहने लगे— “यह तो सम्भव नहीं हो सकता। धर्म की बात करना एक बात है और उस पर पालन करना दूसरी बात। धर्म और राजनीति का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।” इस पर स्वामी जी उन्हें भगवान् कृष्ण और महाभारत का उदाहरण देकर बताते तो उस समय तो वे मान लेते पर थोड़े ही समय बाद वे पुनः अपने ढर्रे पर ही चलने लगते।

स्वामी जी कर्म में विश्वास रखते थे सो अपना कर्म करते रहे। घूमते-घूमते वे पन्ना पहुँचे। वहाँ के अधिपति महाराज छत्रसाल उनके उपदेशों से बहुत प्रभावित हुये। उन्हें लगा कि जिस प्रकार समर्थ गुरु रामदास को शिवाजी मिले थे वैसे ही मेरे लिये छत्रसाल वैसे ही सहयोगी सिद्ध होंगे और हुये भी सही।

छत्रसाल उस समय यमुना से लेकर नर्मदा तक के क्षेत्र के अधिपति बन चुके थे। यह उनके अपने पुरुषार्थ का परिणाम था। छत्रपति शिवाजी से उन्हें मार्गदर्शन व सहायता मिली थी। छत्रपति शिवाजी उनके आदर्श ही नहीं आराध्य थे। स्वामी प्राणनाथ से भेंट

होने पर उन्होंने उन्हें अपना गुरु बना लिया। उनके निर्देशानुसार वे धर्म, राज्य व धर्म युद्ध में प्रवृत्त होते रहे थे।

इतने बड़े भूभाग के अधिपति होते हुये भी अभी तक छत्रसाल सेनापति ही थे वे महाराज या राजा नाम से नहीं पुकारे जाते थे क्योंकि अब तक उनका राज्याभिषेक नहीं हुआ था। वे राज्याभिषेक कराने के इच्छुक भी नहीं थे किन्तु स्वामी प्राणनाथ के आग्रह पर उन्हें राज्याभिषेक के लिए तैयार होना पड़ा था। उनके राज्याभिषेक होने से दो बातें उजागर होती थीं। एक तो यह कि इतना बड़ा हिन्दू राज्य गठित हो गया है। इससे प्रजा में स्वाभिमान व उत्साह की वृद्धि होगी। दूसरे एक सामान्य से जागीरदार के पुत्र द्वारा इतने बड़े राज्य की स्थापना करना और वह भी अपने लिए नहीं हिन्दू समाज में राष्ट्रीयता और स्वाधीता की अपनी भावना जगाने के उद्देश्य से सुशासन देने के उद्देश्य से प्रेरित होकर।

स्वामी जी बुन्देलों के सहायक, शुभचिन्तक और परामर्श दाता थे। राजा राज्य का प्रबन्ध करे पर वह प्रबन्ध किसी सुयोग्य धर्माचार्य के मार्गदर्शन पर चले इस परम्परा को उन्होंने पुनर्जीवित किया। आचार्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का और समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी का जिस प्रकार मार्गदर्शन किया उसी प्रकार स्वामी प्राणनाथ ने महाराज छत्रसाल के राज्य को धर्म राज्य बनाया अपने मार्गदर्शन द्वारा।

सन् १६८७ में उन्होंने महाराज छत्रसाल का शास्त्रानुसार राजतिलक किया। शास्त्र में राजा के वर्णित दायित्वों को निभाने के लिए वे वचनबद्ध हुए। इन दायित्वों का पालन करते रहने में स्वामी जी उनके सहायक हुए थे। जब कभी वे चूके तो उन्होंने उन्हें भूल सुधारने के लिए प्रेरित किया। स्वामी प्राणनाथ का शेष जीवन पन्ना में ही व्यतीत हुआ।

स्वामी प्राणनाथ एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे। ब्रह्मा और ईश्वर को एक मानने से एकता की भावना को बल मिलता। अतः उनकी यह मान्यता व्यावहारिक भी थी। “जहाँ धर्म होता है वहाँ विजय होती है” यह सत्य ही छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल के उत्कर्ष का मूल था और उस मूल को सींचने वाले थे समर्थ गुरु रामदास और स्वामी प्राणनाथ। समाज को सदा ऐसे ही संन्यासियों की आवश्यकता रहती है।

निष्ठावान धर्मसेवी—सन्त फतहसिंह

स्वतन्त्रता प्राप्ति की घोषणा के साथ ही भारतवर्ष के दो टुकड़े हो गये। एक ही देश में बसने वाले दो स्वजन-बांधव अकारण एक-दूसरे को शत्रु की निगाह से देखने लगे। विभाजित पंजाब के उस भाग से, जिसे मुस्लिम बहुल क्षेत्र होने के कारण पाकिस्तान के रूप में अलग राष्ट्र बनाया गया था। लाखों की संख्या में अल्प-संख्यक हिन्दुओं को मार-मार कर भगाया गया। वहाँ के शासकों और धर्मोन्मादी व्यक्तियों ने हिन्दुओं की सारी जायदाद और सम्पत्ति छीन ली। बड़े-बड़े लखपति कंगाल होकर और लम्बे-चौड़े परिवार के सदस्य अनाथ और एककी बनकर भारत में चले आये। इन वीहत्स घटनाओं की

प्रतिक्रियास्वरूप भारत में भी स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे हुए और देश के मूर्धन्य नेताओं के माथे पर चिन्ता की रेखायें खींच गयीं।

उस समय जब दिल्ली में सत्ता हस्तान्तरण का कार्यक्रम सम्पन्न हो रहा था, स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयत्नों के समग्र श्रेयभाजन महात्मा गाँधी साम्प्रदायिक दंगों से ग्रस्त क्षेत्रों में शान्ति स्थापना का प्रयास कर रहे थे। वे इस कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं हो सके। उनके अतिरिक्त एक व्यक्ति ऐसा और भी था जो ऐसे ही दंगा पीड़ितों और शरणार्थियों के डेरों में घूमता, उनकी चिन्ता करता और सान्त्वना देता फिर रहा था। वह व्यक्ति बाद में सन्त फतहसिंह के नाम से वर्षों बाद भारत के राजनीतिक आकाश में एक विवादास्पद व्यक्तित्व के रूप में चमका। अखबारों में सन्त फतहसिंह के विचार और कार्य मुखपृष्ठों पर छपे। भले ही उनकी इतनी प्रशंसा न की गयी हो परन्तु इसके वर्षों पूर्व उन्होंने धर्म और समाज सेवा के क्षेत्र में जो कार्य किये उन्हें उनकी महानता की ही अभिव्यक्ति कही जानी चाहिए।

सन्त फतहसिंह के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उन्होंने अपने स्वयं के सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कहा। कुछ लोगों के मतानुसार वे मुस्लिम-गूजर माता-पिता की सन्तान थे और कुछ लोग यह मानते हैं कि वे सिख परिवार में ही जन्मे थे। जो कुछ भी हो वे एक सिख सन्त के रूप में ही सार्वजनिक क्षेत्र में आये और धर्म सेवा को अपना कार्य चुना। बाद में उन्होंने राजनीति में भी प्रवेश किया। इस क्षेत्र में वे काफ़ी विवादास्पद भी रहे। फिर भी उन्होंने राष्ट्रीय हितों के सामने अपने विरोधी विचारों तथा मतभेदों को भुला देने और देश सेवा के लिए आगे आने की ही नीति अपनायी।

पंजाब के भाषावार विभाजन की माँग लेकर सन्त जी ने सितम्बर ६५ में आमरण अनशन किया तथा आत्मदाह की धमकी दी। परन्तु तभी भारत पर पाकिस्तान ने हमला किया और सन्त जी ने अपनी माँग स्थगित कर दी। उपरान्धियों ने उनका उस समय विरोध भी किया था परन्तु उन्होंने इसकी कोई चिन्ता नहीं की। उनकी दृष्टि में उस समय अपने मतभेदों से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न था देश की सुरक्षा और अखण्डता को बचाये रखने का। यद्यपि वे सरकार में नहीं थे, फिर भी अपने प्रभाव और प्रतिष्ठा का उपयोग कर उन्होंने जनता का मनोबल बनाये रखने और शत्रु के हमले का मुक़ाबला करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

मास्टर तारासिंह उनके अनन्य सहयोगी रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में सन्त जी को लाने का श्रेय मास्टर जी को ही दिया जाता है। किन्तु मास्टर तारासिंह ने जब पंजाबी सूबे के नाम से एक सिख बहुल राज्य की घोषणा की तो सन्त जी ने उसका विरोध करते हुए कहा कि हिन्दू और सिख कोई दो अलग जातियाँ नहीं हैं। उनमें अलगाव की बात तो दूर एक-दूसरे से भिन्न पन्थ का मानना भी उनका अपमान करना है।

सन्त जी की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ उस समय की हैं जब देश में अधिक लोग उन्हें नहीं जानते थे। शरणार्थियों के पुनर्वास में उन्होंने महत्वपूर्ण स्मरणीय भूमिका निभायी थी।

पेशवाओं के पथ-प्रदर्शक— ब्रह्मेन्द्र स्वामी

छत्रपति शिवाजी के पश्चात् उनका पुत्र शम्भाजी उन जैसा योग्य व दूरदर्शी सिद्ध नहीं हो सका इस कारण उनके द्वारा स्थापित महाराष्ट्र का हिन्दू राज्य अल्पकाल के लिए विमूखलित हो गया उसे पुनर्गठित करने का श्रेय बालाजी विश्वनाथ पेशवा, खण्डो बल्लास तथा बालाजी विश्वनाथ पेशवा के पुत्र पेशवा बाजीराव बालाजी प्रभृति देशभक्तों को है।

पेशवा बालाजी विश्वनाथ के समय से ही छत्रपति तो नाम के राजा रह गये थे सारी शक्ति पेशवाओं के हाथ में आ गयी थी। पेशवा बालाजी और उनके पुत्र पेशवा बाजीराव को देश की रक्षा में सतत सन्तुष्ट रहने व धर्मसम्मत राज्य करने की प्रेरणा का मार्गदर्शन जिस तपस्वी व्यक्ति ने दिया वे थे ब्रह्मेन्द्र स्वामी। ऐसे तपस्वी संन्यासियों की हर समय देश को आवश्यकता रही है। शिवाजी को सामान्य जागीरदार के पुत्र से महाराष्ट्र के अधिपति बनाने में जो योगदान समर्थ गुरु रामदास का रहा—वही बालाजी विश्वनाथ को एक सामान्य किरानी (क्लर्क) से महाराष्ट्र पेशवा बनाने का श्रेय ब्रह्मेन्द्र स्वामी को है।

ब्रह्मेन्द्र स्वामी का जन्म नाम विष्णुपन्त था। बरार प्रदेश के दुधेवाड़ी ग्राम के देशस्थ ब्राह्मण की सौभाग्यवती भार्या उमाबाई की कोख से इस विशिष्ट आत्मा का जन्म सन् १६४९ में हुआ। बाल्यकाल से ही बालक विष्णु का चित्त ईश्वराधना में ही अधिक लगता था। ये दस वर्ष के थे तभी इनके माता-पिता का देहावसान हो गया। अब विष्णु पूरी तरह विरक्त हो चुके थे। वे धूमते-धूमते ज्ञानार्जन के उद्देश्य से वाराणसी पहुँचे। काशी आरम्भ से ही विद्या और शिक्षण का केन्द्र रहा है। यहाँ परमयोगी परिव्राजकचार्य स्वामी ज्ञानेन्द्र सरस्वती उन्हें योग्य गुरु मिले। उन्होंने से उन्होंने वेदान्त की शिक्षा व संन्यास की दीक्षा ली।

वाराणसी से लौटकर देशाटन करते हुए ब्रह्मेन्द्र स्वामी महाराष्ट्र पहुँचे और सह्याद्री पर्वत के परशुराम देवस्थान के चिपुडुन ग्राम में तपस्या करने लगे। तप-साधना द्वारा आत्म-शोधन व आत्मशक्ति सम्पादन के लिये जिस एकान्त की आवश्यकता होती है वह यहाँ थी ही। जब उन्होंने तप द्वारा अपने शरीर, मन और आत्मा को इस योग्य बना लिया कि वे अपने ज्ञान व आत्मशक्ति द्वारा लोक-कल्याण कर सकें तो वहीं पर उन्होंने अपना आश्रम बनाया।

बालाजी विश्वनाथ का सम्पर्क इन्हीं दिनों उनसे हुआ। वे स्वामी जी के ज्ञान व तपस्या से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर लिया। स्वामी ब्रह्मेन्द्र स्वामी के उपदेशों व मार्गदर्शन का ही फल था कि बालाजी विश्वनाथ स्वयं भी सामान्य राज्य कर्मचारी से प्रगति करते हुए महाराष्ट्र राज्य के पेशवा बन सके साथ ही देश व समाज की बहुत बड़ी सेवा कर सके।

बालाजी विश्वनाथ के पुत्र पेशवा बाजीराव बालाजी भी स्वामी जी के अनन्य भक्त थे। ब्रह्मेन्द्र स्वामी का मराठा सामन्तों पर बड़ा प्रभाव था। इस प्रभाव का उन्होंने उन्हें एक सूत्र में बाँधकर रखने में उपयोग किया। वे देश में भ्रमण करके लोक-जागरण व देशभक्ति की भावनाओं का प्रचार किया करते थे।

ब्रह्मेन्द्र स्वामी समर्थ गुरु रामदास की तरह त्यागी व्यक्ति नहीं थे। उनके पास अनेक धनी-मानी शिष्यों व राज-वर्गों से काफी धन-सम्पदा आती थी। यद्यपि वे इसे निस्वार्थ भाव से ही ग्रहण करते तथा लोकहित के कार्यों में ही व्यय करते थे। उन्होंने समय-समय पर महाराष्ट्र मण्डल को भी आर्थिक सहायता दी थी। पर उन जैसे निस्पृह कितने व्यक्ति होते हैं। उन्होंने यह काम निष्काम भाव से किया था पर उनका अनुकरण करने वाले उस भाव को स्थिर भी रख सकेंगे या नहीं इसकी चिंता उन्होंने नहीं की।

बाजीराव पेशवा की मृत्यु के थोड़े समय बाद उनका देहान्त हो गया। उनके तपोमय जीवन व लोकमंगल की साधना ने हिन्दू के उत्थान में जो योग दिया उसको भुलाया नहीं जा सकता।

जब पहचानी मानव जीवन की गरिमा

“उहरो।” मानो किसी ने पीछे से जबरन खींच लिया हो। सचमुच दो पग पीछे हट गया अपने आप। मुख फेर कर पीछे देखना चाहा उसने इस प्रकार पुकारने वाले को, जिसकी वाणी में उस जैसे कृतनिश्चयी को पीछे घसीट लेने की ताकत थी।

थोड़ी दूर शिखर की ओर उस टेढ़े-मेढ़े घुमावदार पथ से चढ़कर आते उसने एक पुरुष को देख लिया। मुण्डित मस्तक पर तनिक-तनिक उग आए पके बालों ने सफेदी पोत दी थी। यही दशा नासिका और उसके समीप के कपोल के कुछ भागों को छोड़कर शेष मुख की भी थी। कटि पर गेरुए कोपीन के अतिरिक्त शरीर पर अन्य कोई वस्त्र न था। खूब लम्बे शरीर को वृद्धावस्था न तो क्षीण कर सकी थी और न झुर्रियाँ डाल पाई थी।

नजदीक आने पर दिखा कि उनके शरीर का रंग भी कोपीन की ही भाँति रक्तम है। उनका भव्य ललाट आत्म तेज की आभा से दीप्त है। उनके तेजपूर्ण नेत्रों से निकलने वाली ज्योति रेखाएँ किसी से अस्तित्व को भेदने में सक्षम हैं। वह अपलक खड़ा देखता रहा।

“तुम आत्महत्या करना चाहते हो? इतने डरपोक हो तुम? छिः” झिड़क दिया महापुरुष ने। नीचे अतल खड्ड था। एक उजाड़ ऊँची चोटी पर किनारे से कुल दो पद पीछे खड़ा था। वहाँ से झुक कर नीचे देखने में भी भय लगता था। नीचे गिरे तो हड्डी-पसली का पता भी नहीं चलने का। इसी चोटी से कूटकर अपनी विषम भावनाओं से मुक्ति पाने आया था वह। कोई आकस्मिक बात न थी, कई सप्ताह मनोमन्थन के तुमल संघर्ष के बाद यह निश्चय किया था। पर कहाँ हाथ रे मानव! मरना भी तेरे हाथ नहीं। ठीक कूदने के क्षण उसे पुकार कर रोक लिया गया।

“तुम जानते हो कि मरकर परिस्थितियों को बदला नहीं जा सकता।” महापुरुष उसके कन्धे पर अपना दाहिना हाथ रखकर कह रहे थे “संकटों को मृत्यु हटा नहीं पाती और न उससे कुछ मिल पाता

है। उनसे डर कर जीवन से भागना घृणास्पद भीरुता है और तुम्हें यह भी जान लेना चाहिए कि इस संसार में समस्त दण्ड विधान भीरु के लिए बनाए जाते हैं।”

“मैं ऊब गया हूँ। जलते-जलते मेरा हृदय असह्य पीड़ा से विदीर्ण हो चुका है।” उसकी सिसकियाँ फूट पड़ीं। “किसी भी प्रकार मैं अब यह सब सहन नहीं कर सकता। एक बार इससे परित्राण पाने का मैंने निश्चय कर लिया है।”

“बड़ा अच्छा निश्चय है तुम्हारा।” उनके चेहरे पर हँसी खेल गयी। “भोले युवक। जब गाय क्षुधा-पिपासा, हरे चारे के लोभ या बन्धन से ऊबकर रस्सी तुड़ा कर भागती है तो पुनः पकड़ कर बाँध दी जाती है। बन्धन और कठोर हो जाता है। लाठी-डण्डे ब्याज में मिलते हैं।”

यह पहली उसकी समझ में नहीं आई। मुख उठाकर उसने उनकी ओर जिज्ञासा भरी आँखों से देखा।

“कर्मों का नाश नहीं होता। प्रारब्ध प्राप्त भोगों का परित्याग कोई अर्थ नहीं रखता। अगला जीवन वहीं से शुरू होगा, जहाँ से तुमने इसे छोड़ा था। आत्महत्या पाप है— उसका दण्ड, अपने कर्म क्षेत्र से बिना नियमित अवकाश का अवसर आए भागने का दण्ड दोनों को ही तुम्हें भोगना पड़ेगा।”

“ओह!” सिर पर दोनों हाथ रखकर घुटनों के बल वहीं बैठ गया। दोनों घुटनों के मध्य सिर करके सम्भवतः रोने लगा था। निस्सीम थी उसकी वेदना ओर-छोर नहीं था उसकी पीड़ा का।

“मेरे बच्चे!” महापुरुष के अमृतस्पन्दीकरण ने उसके मस्तक का स्पर्श किया। उनकी जीवन संचारिणी वाणी ने कानों में अमृत उड़ेली— “तुम व्यर्थ अधीर हो रहे हो। जीवन उसका है जो दृढ़तापूर्वक उसे अपनाता है। जो कठिनाइयों के मस्तक पर अपने मजबूत पाँव जमाकर खड़ा हो सकता है। जीवन अधीर और भीरु का नहीं है।”

संध्या हो चुकी थी। अस्ताचल से एक बार दिनपति ने जगती को देखा और उनके विराग की छाया सम्पूर्ण धरातल पर विस्तीर्ण हो गई। सम्पूर्ण हिमाच्छादित गिरि शिखिर गैरिकवर्णी वीतरागी संन्यासी के वेष में परिवर्तित हो गए। तरु-वीरुधलताओं ने भी उसी वर्ण को अपना लिया। प्रत्येक शिला रंग गई उसी रंग में। पक्षियों ने दिशाओं में मन्त्रपाठ प्रारम्भ किया और इसी समय गगन से उन दोनों व्यक्तियों के मस्तक पर धुनी रई के समान सूर्य किरणों में रंगी हिम इस प्रकार गिरने लगी, जैसे आकाश से गेरू की वर्षा हो रही हो।

“आज हिमपात का प्रथम दिन है।” उन्होंने नभ की ओर देखा। सम्भव है अधिक बर्फ गिरे। उन्होंने संकेत किया और वह उनके पीछे अवश हो चल पड़ा। हिम पर नये चिह्न बनते जा रहे थे और नवीन हिम उन्हें मिटाता जा रहा था। वे चले जा रहे थे, चुपचाप शांत पैर बढ़ाए।

इन पैरों ने उन दोनों को एक झोंपड़ी तक पहुँचा दिया। जल का एक घड़ा मिट्टी के दो-तीन सकोरे, कटु तुम्बी के कटोरे जैसे कटे,

दो बोल कुछ टाट एक चटाई। थोड़ी-सी पुस्तकें और कोपीन के दो गैरिक टुकड़े उनके पास परिग्रह के नाम पर बस यही था।

“माता-पिता दस साल की आयु में छोड़ कर चले गए। जमीन जायदाद हड़पने को सगे-सम्बन्धी काफ़ी थे।” चटाई के एक छोर पर बैठा वह उनको अपनी कहानी सुना रहा था। दूसरे छोर पर कमर को कुछ झुकाकर बैठे वह ध्यानपूर्वक उसकी बातें सुन रहे थे। “जिन्होंने सब कुछ हड़प लिया, वे भी रूखी रोटी देने में शर्माते हैं। सब मुझसे इस तरह दूर-दूर रहते हैं जैसे मैं छूत का रोगी होऊँ।”

मैंने सोचा “शायद वह भी भगवान् का कोई अनुग्रह है। सो भटकता हुआ यहाँ चला आया। पर मेरा अन्तर्जगत बाह्य से भी अधिक कोलाहलपूर्ण है। दुर्दय मन अदम्य नीरस हृदय।” बीस वर्ष के इस तरुण के जीवन अनुभवों को वे गहरी एकग्रता के साथ सुन रहे थे। वह कह रहा था “शरीर का कोई उपयोग नहीं। हृदय की उत्सुकता और कौतूहल मर चुके। बुद्धि केवल कल्पना जाल में अपनी शक्ति व्यय करके रह जाती है।” रुक-रुक कर कह रहा था वह “तब पृथ्वी का भार क्यों बढ़ाया जाय ? निर्धन को संसार में जीने का अधिकार नहीं—साधना के लायक मेरा मन नहीं। तब ऐसे में……”

चन्द्रमा हलका-हलका प्रकाश दे रहा था वृक्षों की शाखाएँ धूमिल रजनी में हिम का उज्ज्वल भार उठाए चमक रही थीं। क्षण-क्षण पर उनसे धप शब्द के साथ हिम का ढेर गिर पड़ता। पशु-पक्षियों की चीखें यदा-कदा सन्नाटे को कँपा देतीं। उटज के आले में मन्द-मन्द दीपक टिमटिमा रहा था। गहराती रात्रि उसकी पलकों को बोझिल करने लगी। बातों का अधूरापन उसमें खोने लगा।

दूसरे दिन रात्रि की बर्फ तो गल गई। पर क्रीचड़ हो गया था पथ में। वृक्षों के पत्ते काले पड़ गए थे। लताओं की हरीतिमा लुप्त हो जाने से उनका कण्टकमय कंकाल साफ नजर आने लगा था। उन्होंने स्नान क्या किया, मानो महासमर जीत लिया हो। सूर्य किरणों प्राणों का वितरण करने में तन्मय थीं।

“तुम मानव हो, वह मानव जिसकी मानवता पर देव और दानव दोनों ईर्ष्या करते हैं।” महात्मा बाहर एक स्थान पर बैठ गए थे, वह भी उनके सम्मुख बैठा था। “तुम्हें ठीक-ठीक मनुष्य बनना है, उससे कम नहीं।”

“किसे कहते हैं मानव ?” प्रभावपूर्ण ढंग से वह रुक-रुक बोल रहे थे “सबलता और दुर्बलता के मिश्रित पुतले को, जिसमें दूसरों के प्रति भी वहीं अनुभूति हो, जो उसे अपने सम्बन्ध में होती है। यही अनुभूति जीवन का सार है। जैसे-जैसे यह गहरी होती है दुर्बलताएँ पलायन कर जाती हैं। उसके इस भावमय स्वरूप को देख नारायण भी ललचा उठता है। वह भी नर रूप धर कर भागा चला आता है और मनुहार करता है भैया ! तुम मुझे अपना मित्र बना लो। उसकी अनुनय तुमने सुनी है, सुहृद सर्वभूतानां के बहाने।”

शब्द उसके अन्तर्धन में उतरते चले जा रहे थे। दूसरों की पीड़ा की भावानुभूति। उसने दूसरों के बारे में सोचा ही कब ? वह तो सदा अपने बारे में सोचता चला आया है। औरों को ऊँचा उठाने में लगी

दुर्बल भुजाएँ भी थोड़े समय में लौह दण्ड बन जाएँगी। पर उसकी नियति…… सोच की सुई यहीं अटक गई। यह नियति ही तो उसे पटकने आई है। “नियति…… नियति” मुँह से निकल ही गया आखिर यह शब्द।

शब्द के पीछे झाँकता मन का उद्वेलन उनसे छिप न सका। वे कहने लगे “नियति की यही इच्छा है कि मनुष्य ऊँचा उठे। उसे आगे बढ़ाने के लिए प्रकृति की शक्तियाँ निरन्तर सक्रिय रहती हैं। ईश्वर के राज-पुत्र को सुखमय बनाना ही प्रकृति का क्रम है। सृष्टा ने इसीलिए उसे रचा और खड़ा किया है।”

“फिर भी स्वयं दुःख में डूबा है वह।” चाहते हुए भी अपने आश्चर्य को व्यक्त करने से रोक न सका।

“अन्तःकरण की आकांक्षा का सही निर्धारण नहीं कर पाया वह। यदि यह प्रथम पुरुषार्थ उससे हो सके तो आत्मसत्ता उसकी पूर्ति में जुट जाती है। मनःतंत्र अपनी विचारशक्ति और शरीर तंत्र अपनी क्रियाशक्ति को उसी आदेश के पालन में जुटा देता है। मनुष्य आगे बढ़ता है। उसके निर्धारण और पुरुषार्थ को इस विश्व में चुनौती देने वाला कोई है भी तो नहीं ?”

वार्तालाप के इस अनवरत प्रवाह में उठ रहीं अनेकानेक विचार भँवरों में उसके मन की टूटी नाव चक्कर खाने लगी। गहरी मीमांसाओं को सुनने जैसी मनःस्थिति उसकी अभी हो नहीं सकी थी। वह तो सीधे-सादे स्वरों में समाधान जानने का इच्छुक है। रात्रि-दिवस पर्यन्त उनके सान्निध्य से उसे यह तो अनुमान हो गया था जिसे वह खिलौने की तरह तोड़-पटककर फेंकना चाहता था, वह जीवन कोई बहुमूल्य सम्पदा है। पर उसका उपयोग किस तरह हो।

अवचेतन की गहराइयों से उमड़ रही उसके मन की हलचलें उनसे छिपी नहीं। संकोच ने वाणी पर भले बाँध बना रखा हो, पर विचारों की अविश्राम धारा को कौन रोके ?

“मृण्मय शरीर मन्दिर में शाश्वत चेतन आत्म देवता का निवास ! यही है जीवन ! इन आत्मदेव की उपस्थिति मिट्टी के शरीर को भी चिन्मय बना डालती है। उनकी गम्भीर वाणी जीवन का रहस्य उघाड़ने लगी। जीवन स्वयं में देवता है, अपरिमित शक्ति का स्रोत। भावमय प्रेम इसकी उपासना है, साहस भरा पुरुषार्थ इस परम देव की साधना और मौत की मनहूसियत से मरते जा रहे विश्व वसुधा में जीवन चेतना का प्रसार विस्तार इसकी आराधना है।”

शब्दों की प्राण ऊर्जा से उसकी सम्मोहन बेड़ी एकाएक तड़ितड़ा कर टूट गई। इस नए तत्त्व दर्शन ने उसे चौंका दिया। अभी तक तो उसने जीवन को नोचने-खसोटने-चबाने को, दौड़ते-चीखते चिल्लाते पिशाच-प्रेतों से भरा महाशमशान समझा था। विलासिता के क्रूर अट्टहास अथवा दारिद्र्य का दैन्य क्रन्दन। उन्माद के चक्रवात और घुटन की मेख-मालाएँ अब तक इन्हें ही जीवन का नाम देता आया था। कितने भ्रम में पड़ा था, स्वयं की बौनी सोच पर उसे शर्म आने लगी।

“हुई पहचान मानव जीवन की गरिमा की ?” उसे मौन देख उनका सवाल उभरा।

‘हाँ’ इस एक शब्द के साथ एक क्षण के लिए दोनों की आँखें मिलीं। यही दीक्षा थी जीवन के महामंत्र की। स्वयं के जीवन को नष्ट करने के लिए उतारू युवक विष्णुपन्त ब्रह्मेन्द्र स्वामी में बदल गया। परम योगी ज्ञानेन्द्र सरस्वती की जीवन विद्या का प्रभाव था यह। जीवन के इस आराधक ने १७वीं सदी में महाराष्ट्र के इतिहास को नया मोड़ दिया। साधारण-से क्लर्क बालाजी विश्वनाथ को गढ़कर पेशवा बनाया। अपने कर्तव्य से समर्थ रामदास की रिक्तता की पूर्ति की। यह महा परिवर्तन-जीवन देवता की आराधना का सुफल था। हमारे अपने शरीर मन्दिर में बैठा यह परम देवता अपने सवालों की झड़ी लगाए है, पतन अभीष्ट है या उत्कर्ष ? असुरता प्रिय है या देवत्व ? क्षुद्रता चाहिए या महानता ? इसके निर्माता तुम स्वयं हो। पतन के पथ पर नारकीय मार सहनी पड़ेगी, उत्कर्ष के पथ पर स्वर्गोपम शांति की प्राप्ति होगी।

निर्णय मनुष्य के हाथ में है। चयन की स्वतंत्रता तो विधाता ने मनुष्य को दी है, किन्तु स्वच्छन्दता बरतने की नहीं।

यही अंतर्मथन व्यक्ति को नर से देव मानव, महामानव व ऋषि, देवदूत बना देता है। समय-समय पर महाकाल की सत्ता विभिन्न रूपों में मानवी चेतना को झकझोरने आती रही है। उसे पहचानकर अवसर का लाभ जिसने उठा लिया, वह निहाल हो गया। मानव जीवन दुबारा नहीं मिलता। वह क्षय हेतु नहीं, गरिमा के अनुरूप शानदार जीवन जीने को मिला है, इस तथ्य को बार-बार मनोपटल पर लाया व जीवन व्यवहार में उतारा जाना चाहिए।

आजीवन ब्रह्मचारी—गोपाल कृष्ण

हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा, पुनर्जीवन और उसके आन्तरिक आदर्शों के प्रसार का जब भी प्रश्न उठा उत्तरी भारतवासियों की अपेक्षा दक्षिणवासियों ने कम त्याग और उत्सर्ग नहीं किये। जगद्गुरु शंकराचार्य को बौद्ध धर्म और चार्वाकियों के विरुद्ध शक्ति और संरक्षण देने वालों में दक्षिण की साधारण जनता ही नहीं राजा-महाराजा तक कूटते थे। विवेकानन्द विदेशों में हिन्दू धर्म के प्रसार के लिये गये उसका सारा प्रबन्ध दक्षिण के शिष्यों ने ही किया। जब कहीं से भी कोई बलिष्ठ आवाज नहीं आ रही थी तब अरुणाचलम में भगवान् शिव के चरणारविंदों में कठोर तप और हिन्दू आस्थाओं को जीवन देने वाले महर्षि रमण को क्या कभी भूला जा सकेगा ? उससे तो उत्तर को वर्तमान में और अधिक सेवा, त्याग और धर्मोत्सर्ग की भावना ही मिलेगी।

दक्षिण में अनेक ऐसे विद्वान्, पंडित, समाज-सेवी, धर्मनिष्ठ महापुरुष हुए हैं। कुछ यश पा गये, कुछ ऐसे भी रहे जो लोकेषणा से बचकर धर्म को ही भगवान् मानकर आत्म-सुख के लिये उसकी सेवा में आजीवन आरुढ़ रहे। गोपाल कृष्ण ऐसे ही थे जिन्होंने धार्मिक नव-निर्माण के लिये लगाई गई एक ही आवाज पर जीवन के सारे सुखोपभोगों को ठोकर मार दी और माथे में तप की जो भभूत रमायी तो वह चिता पर जाकर ही अदृश्य हुई।

गोपाल कृष्ण का जन्म तनामपैठ के तिरसामालम ग्राम में हुआ था। उन दिनों सन्त वसवेश्वर हिन्दू धर्म की टूटी अस्थाओं को जोड़ने, रूढ़िवादियों से जनमानस को प्रबुद्ध बनाने में लगे थे। वह एक तरह का छोटा-सा युग-निर्माण आन्दोलन ही था जिसने तत्कालीन व्यक्तियों को ही नहीं कुलीन सामन्तों और राजाओं को भी प्रभावित किया। अनेक सम्पन्न व्यक्तियों ने जब देखा कि समाज सुधार और धार्मिक जाग्रति में सहयोग से बढ़कर और दूसरा पुण्य नहीं तो अनेकों लोग तत्पर हो उठे और उन्होंने हिन्दू धर्म की आस्थाओं के पुनर्नयन में पूर्ण लगन से काम किया। वह प्रभाव उस क्षेत्र में आज भी बहुत अंश में विद्यमान है।

ऐसे समय जब एक ओर समाज गहरी दुर्वस्था की नींद में खरटे भर रहा था, भारतीय जीवन की आदर्श-संस्कृति को अन्धविश्वास, अशिक्षा और रूढ़िवादियों के चूहे कुतरने में व्यस्त थे, तब संत वसवेश्वर की उस आवाज को गुरु गम्भीरता से पहचानने वालों और उसके लिये त्याग करने वालों में गोपाल कृष्ण का नाम शीर्ष में लिखा जाता है। उन्हें लोग प्यार से ‘तम्बी’ कहते हैं। तम्बी दक्षिण में छोटे बच्चों को प्यार से पुकारा जाता है।

गोपाल कृष्ण की आयु तब २५ या २६ वर्ष की थी। वे पर्याप्त विद्या और योग्यता प्राप्त कर चुके थे। इधर घर में एक बहू लाने का प्रबन्ध किया जा रहा था। सम्बन्धीगणों में तम्बी को अच्छी से अच्छी सर्विस दिलाने की प्रतिस्पर्धा चल रही थी तब उस युवक ने इन सारे प्रलोभनों, सांसारिक सुखों को लात मार धर्म सेवा के लिये ऐसा हलका वातावरण बना लिया, जैसे अपने बुने जाल को स्वयं हो उदरस्थ कर मकड़ी सब परेशानियों से छुट्टी पाकर हलकापन अनुभव करती है।

पिता बहुत रुष्ट हुए— पागल हुआ है, विवाह नहीं करेगा, सर्विस न भी करे तो कुछ हर्ज नहीं, धन की कोई कमी नहीं है पर विवाह तो करना ही पड़ेगा, गृहस्थी सँभालनी ही पड़ेगी और समाज में अपने परिवार की प्रतिष्ठा को ऊँचा रखना ही पड़ेगा।

मन ने कहा— जब सारा देश बौद्धिक, मानसिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दासता में आबद्ध है तो एक परिवार की प्रतिष्ठा कैसी ? अहमन्यताओं और बढ़ती हुई दुष्प्रवृत्तियों के कारण सारा समाज झुलस रहा है तो अपने सुख की चिन्ता क्या करना है। अपना धर्म विगलित पड़ा हो, अपने जातीय आदर्श ओछे और धिनौने साबित किये जा रहे हों तब राष्ट्र का युवावर्ग, प्रबुद्ध जन-समुदाय विचारवान लोग अपने सुख, अपनी रंगेलियों में मस्त हों तो धिक्कार है उन लोगों को जो फिर भी अपने आपको उस धर्म, संस्कृति और जाति से सम्बद्ध मानते हैं।

यह बात मन में खौल रही थी पर तम्बी ने पिता को कोई अशिष्ट उत्तर नहीं दिया। उसने केवल इतना ही कहा— पिताजी, भीष्म, अर्जुन, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान, दिलीप, भागीरथ, नचिकेता यह भी तो सब अपनी जाति के थे। सम्पन्नता और सुकुलीनता में वे हमसे बढ़-चढ़कर ही थे। उन्होंने सांसारिक सुखों को ठोकर मारकर

यदि सनातन धर्म को आत्माहुति दी तो हम उनकी संतान क्या इतना भी त्याग नहीं कर सकते ?

पिताजी निरुत्तर तो थे पर वे बच्चे का मोह सहज ही न छोड़ने वाले थे। उन्होंने अच्छी से अच्छी बहू लाने का और उनकी सुविधाओं के लिये जायदाद में अधिक हिस्सा देने, अच्छी से अच्छी सर्विस दिलाने का प्रलोभन दिया पर मन में अटकी धर्म सेवा की भावना के आगे सारे वैभवों का आकर्षण मिट्टी के घरींदे की तरह ध्वस्त होकर रह गये। आज जब युवकों का सारा ध्यान इन्हीं तीन वस्तुओं में फँसा रहता है तब इस त्याग को असाधारण ही कहा जायेगा। यदि ऐसे निस्वार्थ धर्म सेवी बच्चे जन्म नहीं लेते तो आज हिन्दू धर्म को पूछता ही कौन ? हमारे त्याग पर ही तो धार्मिक आस्थाओं की नींव तिरि और अब भी तिरती जा रही है। भले ही अब इस तरह आत्मोत्सर्ग करने वालों की संख्या पोरों पर गिनने योग्य रह गई हो।

गोपाल कृष्ण ने किसी की एक न सुनी तो माता ने आखिरी दाँव चलाया। अपनी जायदाद ले लो पहले उसके हिसाब से लगा दो तब जी में आये सो करना। गोपाल कृष्ण ने उसे स्वीकारा और ऐसा सुन्दर हल निकाला कि दर्शकों की आँखों में प्रेम और ब्रद्धा के आँसू उमड़ पड़े।

सारे धन को गाँव की पंचायत को सौंपकर एक विद्यालय की स्थापना अपनी माता की याद में कर दी, पिताजी को उसका अध्यक्ष बनाया। जब तक वह विद्यालय अच्छी तरह नहीं चलने लगा, २ वर्ष तक उसके संचालक भी रहे और बस उतनी अवधि के बाद वे घर से निकल पड़े।

उनके परिव्राजक जीवन की सेवायें शानदार रहीं। उन्होंने गाँव-गाँव में साधना संघ स्थापित कर लोगों को ईश्वर उपासना की ओर मोड़ा। उसके महत्त्व को भी बताया। संत वसवेश्वर का शिष्यत्व ग्रहण कर उनके सरल ग्रन्थों का प्रसार करने लगे। लोगों में युवक की द्विद्वतापूर्ण वाणी का बड़ा असर पड़ा। लोग गोपाल कृष्ण से धार्मिक समस्याओं का निराकरण कराते गोपाल कृष्ण उनका पूरी सच्चाई और न्याय के साथ समाधान करते थे।

एक दिन वे एक ऐसे गाँव पहुँचे जहाँ उनके एक सम्बन्धी रहते थे। उनकी एक सयानी कन्या थी जिसकी वे गोपाल कृष्ण के साथ शादी करना चाहते थे। उन्होंने जानबूझ कर कन्या को उनके पास विचार-विमर्श के लिये भेजा। वे स्वयं भी आये पर युवक होते हुए भी गोपाल कृष्ण ने कहा— बहिन सौन्दर्य और धन तो नाशवान हैं हमें इनकी नहीं धर्म और शाश्वत परमात्मा की उपासना करनी चाहिए ताकि अपनी पीढ़ियाँ पवित्र हों और धार्मिक आदर्शों का नव-जीवन मिल सके।

युवक का हृदय किसी भी प्रलोभन के आगे नहीं झुका। उन्होंने स्थान-स्थान पर धर्म और संस्कृति के आदर्शों का प्रसार किया। लोगों को पुरुषार्थ, पराक्रम, पश्रिम, सच्चाई, ईमानदारी, चारित्र्य-संगठन, सेवा का पाठ पढ़ाया। उनकी मीठी बोली सुनने के लिये हजारों लोग उमड़ पड़ते थे पर तो भी उन्हें कभी भी तुच्छ अहंकार ने नहीं सताया। वे अपनी योग्यतायें अध्यात्म ज्ञान बढ़ाने और साधना की कठिनाताओं

में धीरे-धीरे धँसते जाने के प्रयास में लगाते रहे। गोपाल कृष्ण १४ वर्ष तक निरन्तर इस तरह धर्म और समाज की सेवा में किसान की तरह जुटे रहे और अपने शरीर का भी ध्यान नहीं दिया। जब वे ३५ वर्ष के थे तब उनके पेट में भयंकर फोड़ा हुआ पर उसकी परवाह किये बिना वह सेवा में जुटे रहे। उसने इनका शरीर ही तोड़ दिया।

अन्त में उन्होंने उत्तर भारत की तीर्थयात्रा की और अन्तिम जीवन बिताने हिमालय की ओर चले गये। एक स्थान पर उन्होंने कहा— मेरा जन्म दक्षिण में हुआ पर मरना मैं उत्तर में चाहता हूँ— ताकि मेरी आत्मा उत्तर-दक्षिण दोनों के लाखों-लाखों लोगों के हृदयों में फूट पड़े और एक प्रबल जन-समुदाय जब आवश्यकता पड़े धर्म सेवा के लिये मैदान में आ कूदे।

आज तम्बी नहीं रहे पर लगता है उनके अन्तःकरण की आवाज सच होने का समय आ गया है, जब सैकड़ों युवक अपनी रोजी-रोटी समस्याओं को ठुकराकर समाज सेवा के कठोर व्रत को जीवन का लक्ष्य बनाकर चल पड़ेंगे और सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं को अपनी उभरती नव-शक्तियों से उलट-पुलट कर रख देंगे।

देश, जाति और धर्म के पुजारी— सूफी अम्बा प्रसाद

सन् १८५७ के बाद के वर्ष भारतीय जन-मानस में गम्भीर उथल-पुथल के वर्ष कहे जाते हैं। उन दिनों अनेक भावनाशील व्यक्तियों में स्वदेशाभिमान और राष्ट्रभक्ति की भावनाओं के ज्वार आ रहे थे। कई परिवार तो अंग्रेजी शिक्षा से भी घृणा करने लगे थे। ऐसे ही एक परिवार में प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर आगे की शिक्षा के विषय में पुत्र ने अपने पिता से विषयों के चयन में परामर्श माँगा, तो पिता ने कहा— एक तो अरबी लो और दूसरी फारसी।

‘बाकी’ पुत्र ने पूछा।

‘बाकी जो विषय तुम पढ़ते रहे हो वही पढ़ो, बेटा।’

‘परन्तु पिताजी, मैं अंग्रेजी पढ़ना चाहता हूँ।’

‘नहीं बेटे ! अंग्रेजी की शिक्षा हमारे देश को पतन के गर्भ में डकेलने वाली है। मैं तुम्हें इस विषय में अनुमति नहीं दे सकता।’

‘परन्तु मेरा ख्याल है कि अंग्रेजी पढ़ने मात्र से ही तो आपकी आशंका का कोई आधार पुष्ट नहीं होता।’

‘सबसे पहली बात तो यह है कि’ — पिता ने कहा— ‘अंग्रेजी एक विदेशी भाषा है। उसके संपर्क में आते ही छात्रों के हृदय में जमी स्वदेश और स्वधर्म के प्रति आस्थाओं की जड़ें सूखने लगती हैं।’

‘लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे सम्बन्ध में आपकी यह धारणा अपवाद ही सिद्ध होगी।’

‘नहीं हो सकती है, नहीं हो सकती है— अंग्रेजी के नाम पर स्कूलों में जो पढ़ाया जाता है उससे मैं भली-भाँति परिचित हूँ। वह निश्चित ही छात्रों में भारत और भारतीयता के प्रति अनास्था की प्रवृत्ति की ही सम्भावना मजबूत करता है।’

‘मैं पूज्य श्री के चरणों की सौगन्ध खा कर कहता हूँ कि आपको मेरे लिए इस प्रकार कभी भी चिन्तित नहीं होना पड़ेगा। मैं अंग्रेजी केवल ज्ञानार्जन और विद्या विभूति बढ़ाने के उद्देश्य से ही पढ़ना चाहता हूँ।’

और पिता ने अपने पुत्र पर सहज ही विश्वास कर अनुमति दे दी अंग्रेजी पढ़ने की। कुछ दिनों बाद उस बालक ने भारत धर्म के प्रति अपनी प्रगाढ़ निष्ठा का परिचय आगे चल कर दिया, जब वह देश की स्वतन्त्रता और विकास के लिए आजीवन लड़ता रहा। पिता ने भी उस समय गलत नहीं कहा था। उन दिनों अंग्रेजी की शिक्षा देकर संस्कृति निष्ठा को तोड़ने को ही षडयन्त्र रचा जाता था। परन्तु देशभक्त परिवार में— राष्ट्रीयता के वातावरण में जन्मे, पले और बड़े हुए इस बालक ने अंग्रेजी कक्षाओं में— पढ़ाई जा रही भ्रामक बातों का दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद किया।

एक बार की बात है अंग्रेजी पढ़ाने वाले भारतीय अंग्रेजी अध्यापक ने यह कहा कि हिन्दुओं के अवतार कृष्ण दिन-रात औरतों से घिरे रहते और उनके साथ निन्दनीय व्यवहार करते थे।’

अभी बात पूरी भी न होने पायी थी कि बालक ने उठ कर कहा— ‘मास्टर साहब ! आप कैसे कह सकते हैं कि भगवान् कृष्ण स्त्रियों से गलत व्यवहार करते थे ?’

‘दिन-रात औरतों के बीच रहने वाला व्यक्ति कैसे निष्कलंक रह सकता है ?’

‘तो क्या एक वेश्या के साथ रहने वाले ईसा, जिन्हें आप ईश्वर का दूत कहते हैं वे भी पतित नहीं हो गये होंगे— किशोर युवक ने कहा और अध्यापक से इसका कोई उत्तर नहीं बन पड़ा। हाँ उसने युवक के पिता से अवश्य शिक्कयत की कि आपका बच्चा अनुशासनहीनता करता है। पूछा पिता ने कि क्या अनुशासनहीनता की तो सारी बात कही और वहाँ से भी अध्यापक को निरुत्तर ही लौटना पड़ा। तब विद्यार्थी के पिता ने कहा था— ‘इसे तो कोई भी व्यक्ति अनुशासनहीनता नहीं कह सकता। यदि कक्षा में ऐसी बात बतायी जा रही है जिसे छात्र का स्वविवेक गलत ठहराता है और वह अपना विचार व्यक्त करता है तो इसमें न करने योग्य बात क्या है ?’

यह कहने के साथ ही साथ अध्यापक की शिक्कयत सुन कर पिता का अन्तःकरण तृप्त हो उठा था कि मेरा बेटा सचमुच खायी कसम को कितनी निष्ठा के साथ निभा रहा है। बचपन और किशोरावस्था में इस प्रकार अपने पिता को संतुष्ट करने वाला तथा आगे चलकर देश, जाति और धर्म की सेवा करने वाला यह होनहार किशोर था— सूफ़ी अम्बा प्रसाद।

वे जीवन भर अपनी व्यक्तिगत सुख-लालसाओं और आकांक्षाओं को तिला-जलि देकर आजीवन राष्ट्र की जनता के जन्म सिद्ध अधिकार हेतु संघर्ष करते रहे। उनका जन्म स्वतन्त्रता संग्राम के वर्ष में ही मुरादाबाद के एक साधारण परिवार में हुआ। साधारणतया घर में संतान का जन्म हँसी-खुशी लेकर आता है, परन्तु अम्बा प्रसाद जी के पिता नक़्जात शिशु को देखकर ही चिन्ताओं से भर उठे थे। जन्म के समय ही उनका एक हाथ लुञ्ज-पुञ्ज था। एक हाथ वाला

बच्चा देखकर पिता बड़े निराश हुए। वे सोचने लगे कि मेरे बच्चे का जीवन उसकी आत्मा पर भार ही है। कैसे वह— इस दुनिया में जी सकेगा। हाथ पैरों वाले बलिष्ठ देह के स्वामी भी जब इस दुनिया में दर-दर की ठोकें खाते फिरते हैं तो यह अपंग बच्चा क्या करेगा ?

पर हर वस्तु और स्थिति के दो पहलू होते हैं— उज्ज्वल और अंधकारपूर्ण। यह तो था शिशु जन्म का अन्धेरा पहलू जो पिता के हृदय में निराशा और चिन्ताओं को जन्म दे रहा था और कालान्तर में ही पिता का ध्यान जीवन के उज्ज्वल पक्ष की ओर गया। उन्होंने सोचा कि हाथ ही जीवन का आधार नहीं है, आधार तो है प्राण, हृदय और मस्तिष्क। मानवीय व्यक्तित्व के ये तीन ही प्रमुख तत्त्व तो हैं और इन तीनों के होते हुए किसी भी अंग का अभाव विकास में आत्मनिर्भरता में, सेवानिष्ठ व्यक्तित्व के निर्माण में बाधक नहीं हो सकता। उनके मानस पटल पर ऐसे सैकड़ों उदाहरण उभर आये जब अम्बा प्रसाद से भी गयी गुजरी अवस्था में लोगों ने महानता अर्जित कर ली थी। उन्हीं उदाहरणों से प्रेरित होकर उन्होंने संकल्प कर लिया कि वे अपने पुत्र के रूप में देश को एक अनुपम उपहार देंगे।

इसी संकल्प से उन्होंने अम्बा प्रसाद को दीक्षित किया और तदनुसार शिक्षा भी देने लगे। सच ही बच्चा एक मुलायम और गीली मिट्टी है जिसे माँ-बाप मर्नचाहा रूप दे सकते हैं। अम्बा प्रसाद जी के जीवन में जो कुछ भी महान् घटित हुआ वह सब बचपन की मिली शिक्षाओं का ही परिणाम था। अपने एक हाथ के बल पर ही उन्होंने एम. ए. परीक्षा अंग्रेजी से— अच्छे अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण की। जब उन्होंने वक़लत पढ़ने का निश्चय किया और लॉ कॉलेज में भर्ती हुए तो हर किसी परिजन को यह आशा था कि अम्बा प्रसाद घर को धन-धान्य से भर देंगे।

परन्तु ये सब आशायें बालू पर महल बनाने के समान ही सिद्ध हुईं। जिस हृदय में देशभक्ति और राष्ट्र प्रेम का बीज बोया जा चुका हो और अब जब वह पल्लवित-पुष्पित होने की स्थिति में आ गया हो तो उससे देश सेवा को छोड़कर किसी और मन्तव्य के पूरा करने की अपेक्षा बालू पर महल ही तो होगी। परिजन फिर भी आगे चल कर लाभ उठाने की दृष्टि से उन्हें बधाइयाँ देने आये कि अब इस घर की तकदीर बदल जायेगी। उन दिनों देश में वकीलों की कमी भी थी— इसलिए सम्पन्नता और समृद्धि की आशा को झूठा कहा भी नहीं जा सकता था। लेकिन अम्बा प्रसाद जी को इस ओर तनिक भी रुचि नहीं थी। उन्होंने रिश्तेदारों की बधाइयाँ स्वीकार करते हुए कहा— आपकी बधाई के लिए धन्यवाद, इस घर की तकदीर तो बदलेगी, परन्तु उस तरह नहीं जिस तरह कि आप सोचते हैं। अब यह घर एक देश-सेवक की जन्म स्थली के रूप में याद किया जायेगा।

‘तो क्या तुम देश सेवा ही करोगे ? वक़लत नहीं— परिजनों में से कोई एक ने पूछा।’

‘हाँ— अम्बा प्रसाद जी ने कहा— ‘वक़लत करने का मेरा जरा भी मन नहीं है। मैं तो वक़लत इसलिए पढ़ रहा हूँ कि कानून की बारीकियाँ समझ में आ जायें।’ इन बारीकियों को समझकर ही मैं सुरक्षित रह कर देश सेवा कर सकूँगा।

उनकी इस घोषणा ने कुछेक लोगों को भले ही खिन्न किया हो परन्तु कइयों को अपने उच्च लक्ष्य के सम्मुख नत-मस्तक कर लिया। वक़ालत पास कर लेने के बाद उन्होंने देश सेवा का साधन चुना—लेखनी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में चुभते हुए व्यंग्यात्मक लेख लिखकर उन्होंने सोये जनमानस को झिझोड़ डाला। आपकी विशिष्ट लेखन शैली ने जहाँ उनका एक ओर बचाव किया वहीं उनकी उद्देश्य पूर्ति भी की। कई लोग उनसे प्रभावित होकर उनके अनुगामी बन गये।

इसी शैली में जन-जागरण का कार्य बड़े पैमाने पर चलाने के लिए उन्होंने सन् १८९० ई. में मुरादाबाद से एक पत्र निकाला। वह समय देश के राजनीतिक वातावरण में एक अभूतपूर्व जाग्रति का काल था। उन्हीं दिनों सर एलेन ओटिबियन ह्यूम ने इण्डियन नेशनल कांग्रेस का राष्ट्रवादी संगठन गठित किया। सरकार इस जाग्रति से तटस्थ नहीं थी। उसे इन प्रक्रियाओं के परिणाम की भली-भाँति जानकारी थी। इसी कारण वह इनकी प्रतिरोधक व्यवस्था भी कर रही थी।

सरकार ने कुछ संकीर्ण लोगों को अपनी ओर मिलाया और प्रोत्साहन देकर हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता को तभी से बढ़ावा देना आरम्भ कर दिया था, जिसके विषैले और घातक परिणाम भी सामने आने लगे थे। मुस्लिम और हिन्दू सभी तरह की संस्थाएँ उन दिनों साम्प्रदायिकता की आधारभूति पर खड़ी होने लगीं। सूफ़ी अम्बा प्रसाद को यह स्थिति असह्य लगी और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इस शैली को छोड़कर स्पष्ट और निर्भयतापूर्वक सत्य कहना ही पड़ेगा। उन्होंने निश्चय कर लिया कि भले ही मुझे सरकार का कोपभाजन ही क्यों न बनना पड़े अब सच्चाई को निर्भीक होकर ही कहूँगा और उन्होंने सरकार के नापाक इरादों का निडर होकर भण्डाफोड़ किया। जनता जागने लगी। सूफ़ी अम्बा प्रसाद एक के बाद एक तथ्यपूर्ण जानकारीयाँ—जो शासन की इस निकृष्ट और घृणित आकांक्षा को उजागर करती थीं देने लगे।

परिणाम वही हुआ जो विदेशी शासन काल में हर स्वतंत्रता प्रेमी का होता है। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। राजद्रोह का मुकदमा चला तो सूफ़ी अम्बा प्रसाद ने निडर होकर मानवता और राष्ट्रीय विकास के पक्ष में स्वयं को लाभदायक सिद्ध किया। तब के कठमुल्ला न्यायाधिपतियों ने उन्हें राजद्रोही करार देकर कारागृह में डाल दिया। डेढ़ वर्ष तक कठोरतम यातनायें उन्होंने भोगीं। वे स्वस्थ और शक्तिशाली देह लेकर कारावास में गये थे। लौटते तो निर्बल और क्षीणकाय होकर। परन्तु शरीर की स्थिति से मनोबल का, आत्मबल का सम्बन्ध नहीं है। कठोर परीक्षाओं से गुजरने के बाद भी निष्ठा और आस्थाओं पर दृढ़ रहने वालों का मनोबल तो असाधारण रूप से बढ़ ही जाता है।

जेल से लौटते ही वे पुनः वही नीति अपनाकर जन-जागरण की साधना में लगे। अब की बार उन्हें कई वर्षों के लिए जेल भेज दिया गया तथा सारी सम्पत्ति भी जब्त कर ली। इसके बाद उन्हें जेल में और भी प्राणलेवा यातनायें दी गयीं परन्तु वज्रदेह सूफ़ी जी फिर भी बचकर आ गये। उन्होंने जितनी बार जेल की यातनायें सहन

कीं उतनी ही बार जेल से लौटकर और भी अधिक गति से क्रियाशील होते गये।

बाद में वे सीमान्त प्रान्तों में गये तथा वहाँ धूम-धूम कर जन-जागरण का शंखनाद करते रहे। उन्होंने भारत माता बुक सोसायटी नामक एक प्रकाशन संस्था भी खोली और इस संस्था के माध्यम से छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित करवाकर उनका वितरण करवाया। इन्हीं यात्राओं के दौरान वे ईरान भी पहुँचे। ईरान को उन दिनों अंग्रेज साम्राज्यशाही का आज़दहा निगल ही जाने को हुआ था।

वह तो सूफ़ी साहब के प्रयत्नों से ईरान के जागरूक देशभक्तों ने ऐन वक़्त पर ऐसा संघर्ष छेड़ा कि वहाँ से उनकी जड़ें हिल गयीं। कुछ स्वार्थी तत्त्व उस समय अंग्रेजों का साथ नहीं देते तो बहुत सम्भव था कि वहाँ से अंग्रेजों का पटिया उलाट हो जाता। ईरान में हुए विद्रोह के लिए सरकार एकमात्र दोषी सूफ़ी साहब को ठहरा रही थी। विद्रोह जब पूरी तरह दमित कर दिया गया तो सूफ़ी साहब को गिरफ्तार कर लिया गया। इस बार उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया।

निष्काम सेवा-परायण, संस्कृति के प्रेरक उन्नायक—अम्बुभाई पुराणी

मैं कौन हूँ ? मेरा आद्य-स्वरूप क्या है ? ब्रह्म क्या है ? विश्व क्या है ? क्यों यह सृजन और विनाश का क्रम चल रहा है, अंशान्ति क्यों है, अतृप्ति क्यों है, क्यों इस मनुष्य-शरीर में जन्मा ? इन अन्त-प्रश्नों का कोई समाधान अपने आप में न मिला, गणित और अंग्रेजी की पुस्तकों में न मिला तो उसने विचार किया—मेरी आशंकाओं का समाधान करने की शक्ति किस धर्म और किस व्यक्ति में है ?

हिन्दू-दर्शन ने यह जिज्ञासायें भाविर्भूत की थीं तो सन्तुष्टि की शक्ति भी उसी में है—यह निश्चय कर एक कर्मठ, साधनानिष्ठ और सेवाभावी युवक महर्षि अरविन्द की अध्यात्मशाला, पाँडिचेरी पहुँचा। यह चुनाव बुद्धिसंगत ही था। आत्मदर्शी साधक ही आध्यात्मिक मार्गदर्शक हो सकता है। जिसके मन में 'अथातो ब्रह्म विजिज्ञासो' का मूल आत्मदर्शन स्वर प्रस्फुटित न हुआ हो वह कितना ही वेष बनाए, शब्दजाल फैलाए पर किसी का आत्म-कल्याण उसके बलबूते कहाँ सम्भव है ? आधी सफलता उसे उसी दिन मिल गई जिस दिन उसने महर्षि अरविन्द के चरणों में अपना आध्यात्मिक हित सौंपकर कठोर साधना का संकल्प लिया।

वह कौन था ? महर्षि का योग्यतम प्रख्यात शिष्य—अम्बालाल। जामनगर में सन् १८९३ में इसका जन्म हुआ था। गुजरात के लोग उसे प्यार से अम्बुभाई कहते थे। किशोरावस्था से ही उसकी धार्मिक मनोवृत्ति सतेज हो उठी थी। परमात्मा की कृपा कहनी चाहिए कि उसने ध्यान से निरख-परख कर योग्य आध्यात्मिक प्रशिक्षक भी पा लिया।

राह मिल जाना एक बात है; उस पर सतत आँरूढ़ रहकर लक्ष्य प्राप्त करना दूसरी बात। उद्देश्य की प्राप्ति मार्ग पा लेने से नहीं,

उसकी कठिनाइयों को झेलकर कष्टों और अभावों में पलकर निरन्तर चलते रहने से होती है। महर्षि के और भी शिष्य थे। आश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे और साधनायें करते थे, पर उन सबसे कुछ अधिक त्याग, तप, साधना, लगन, विद्याध्ययन में अभिरुचि प्रदर्शित करने के कारण अम्बुभाई ने गुरुदेव का सहज स्नेह अर्जित किया। उनका नाम सर्वश्री नीरदवरन्, नलिनी कान्त गुप्त और दिलीपकुमार सहित चार योग्यतम शिष्यों में गिना जाता है। वरिष्ठता का आधार बाह्य वारीयता नहीं, अम्बुभाई की निष्ठा थी जिसने तपोभूमि के अभावयुक्त वातावरण में भी अम्बुभाई को २३ वर्ष तक बनाये रखा।

आत्मचेतना का ज्ञान उपलब्ध होने पर अध्यात्मवादी के समक्ष दो उद्देश्य रहते हैं। पहला यह कि वह लौकिक परम्पराओं, व्यवहार, सुख-सुविधाओं का परित्याग कर वह आत्म-कल्याण में संलग्न हो। दूसरा है पुण्य-परमार्थ का पथ। सुविधायें भूलकर आप आत्म-कल्याण करे, दूसरों को भी पुण्य पथ प्रदर्शित करे। संक्षेप में ब्राह्मण-धर्म का निर्वह करे।

अपने गुरु के ज्ञान-किरण कलश में ज्योति-स्नात अम्बुभाई ने पुण्य-परमार्थ का पथ तो चुना किन्तु लगता है वे मनुष्य की छोटी-छोटी आवश्यकताओं, समाज की यथार्थ स्थिति और उसके अनुरूप समाधान, देशोत्थान, धर्मजागरण के सही और व्यावहारिक मार्गदर्शन का चिन्तन नहीं कर पाये। महर्षि अतिमानव थे दर्शन की पराक्रम्यता ने उन्हें जटिल बना दिया था। उस प्रभाव से भला अम्बुभाई ही क्यों अछूते रहते ?

आपने आश्रम से निकलने के बाद जो विचार और साहित्य प्रदान किया है उसमें 'पथिकना पत्रो', 'राधा' और 'फूल' आदि प्रेरक पत्रों तथा निबन्धों को देखने से पता चलता है कि कठिन विषय को भी हस्तामलकवत बना देने की उनमें क्षमता थी। कदाचित वे इस योग्यता का उपयोग समाज-सेवा में करते तो केवल गुजरात ही नहीं, सम्पूर्ण देश के युवकों, विद्यार्थियों, नागरिकों और योग-साधना, तप तथा प्राणशक्ति का विकास करने की इच्छा रखने वालों का और अधिक कल्याण होता।

भारतीय अध्यात्म को जटिल रूप देने की परम्परा तो पहले ही बहुत थी। पण्डितों और विद्वानों के लिये अब तक जो मसाला तैयार हो चुका है वही इतना है कि कोई भी अध्ययनशील उसका सम्पूर्ण अवगाहन नहीं कर सकता फिर क्या आवश्यकता थी कि 'चिन्तनना पुष्पो', 'पथिकतां पुष्पो', 'पूर्णयोगना प्रकाशमा' आदि की रचना में अधिक समय लगाया जाता। सच पूछा जाये तो यह ऐसा संक्रांतिकाल है, जिसमें दर्शन की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी भारतीय समाज को विगलित परम्पराओं, अन्धविश्वास, गिरे हुए जीवन स्तर, बाह्य अनुकरणशीलता आदि अनेक बुराइयों से बाहर निकलकर उन्हें प्रांमरी स्तर से अध्यात्म सिखाने की आवश्यकता थी। अम्बुभाई ने इतना किया होता तो सम्भवतः उनकी साधना का सच्चा सदुपयोग हुआ होता।

यह भूल उन्होंने तब अनुभव की जब अपने भारतीय अध्यात्म का सन्देश समझाने के लिये विदेश यात्रा की। सिंगापुर, हाँगकॉंग,

जापान, अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा अफ्रीका आदि देशों में अम्बुभाई ने महर्षि अरविन्द के अध्यात्म को स्पष्ट स्वरूप देने का प्रयास किया। यहाँ के लोग उससे लाभान्वित भी हुए किन्तु अम्बुभाई ने भी यह अनुभव किया कि वस्तुतः अध्यात्म की आवश्यकता पाश्चात्य देशों को जितनी हो सकती है, उससे अधिक अपने ही राष्ट्र को है। हमें अपने देश, धर्म और जाति की सेवा करनी चाहिए और वह भी छोटे स्तर से।

अम्बुभाई स्वदेश लौटे। यहाँ आकर उन्होंने भारतीयों को ज्ञानामृत पिलाना आरम्भ किया। वाणी से भी और लेखनी से भी। यह सही है कि वे अपना सन्देश सारे देश में नहीं फैला सके, कदाचित संगठित प्रयास होते तो वह भी कोई कठिन बात न थी तथापि गुजरातवासियों की ही प्रचुर सेवा करके उन्होंने अपना शिष्यत्व सार्थक किया। ज्ञान तो अमर है—वह कभी भी, किसी के भी द्वारा शेष संसार तक पहुँचाया जा सकता है। कम-से-कम यह व्यवस्था तो इस युग में सरल हो ही गई है।

अम्बुभाई के छोटे भाई छोटेभाई के नाम से सुविख्यात हैं। बन्धु-द्वय गुजरात में व्यायाम-प्रवृत्ति के जनक माने जाते हैं। गुजरात के गाँव-गाँव में घूमकर उन्होंने स्वास्थ्य, समर्थता, रोगता और शारीरिक शिक्षण की महिमा समझाई। उनकी हार्दिक आकांक्षा थी कि राष्ट्र के जीवन में सर्वतोमुखी पराक्रम और तेजस्विता का आविर्भाव हो, इसके लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर नवयुवकों को चेतना प्रदान की। गुजरात में यह प्रवृत्तियाँ आज भी अनुकरणीय ढंग से चल रही हैं।

अन्ततः यह स्वीकार करना पड़ता है कि अम्बुभाई ने गुरु से जो ज्ञान-प्रसाद ग्रहण किया उसे उन्होंने आत्मकल्याण मात्र का साधन नहीं बनाया वरन् सबके लिए बाँटने का प्रयास किया। यदि वह पूरा नहीं हुआ तो उसे वर्तमान पीढ़ियाँ सम्पन्न करेंगी पर उसके सूत्रधार के रूप में अम्बुभाई का नाम शीर्ष पर लिखा जायेगा।

११ दिसम्बर, १९६५ को प्रातःकाल पांडिचेरी आश्रम में हिन्दू-संस्कृति के महान् पुत्र का निधन हो गया। आज वे नहीं हैं पर उनकी शिक्षायें, उनका ज्ञान, उनका दृष्टिकोण, देश-प्रेम, सेवा-परायणता। और आध्यात्मिकता की भावनार्यें जीवित हैं, उन्हें प्रखर किया जा सके तो वही अम्बुभाई के लिये सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

स्वामी आत्मानन्द—जिनकी शिक्षा सार्थक हुई

अब रामकृष्ण आश्रम रायपुर के प्राण प्रतिष्ठाता स्वामी आत्मानन्द कभी कपिसदा जिला रायपुर के निवासी थे। उनका जन्म, पिता धनीराम के अध्यापन काल में मोढर से १ मील दूर बरबंदा ग्राम में हुआ। बचपन का नाम तुलेन्द्र, प्यार में लोग रामेश्वर कहकर पुकारते।

बाल्यकाल पिता की अभावजन्य परिस्थितियों में बीता तो भी पिता के योग्य मार्गदर्शन और उनकी लगन, धैर्य और परिश्रम के कारण

दारिद्र्य विद्याध्ययन में बाधक नहीं बन सका। विद्यार्थी मित्र कहा करते—तुलेन्द्र ! उच्च शिक्षा के लिये धन की आवश्यकता है और तुलेन्द्र का उत्तर होता—मित्र ! प्रतिभायें एवं योग्यतायें अभाव में भी उतनी ही विकसित हो सकती हैं, यदि व्यक्ति की अपनी लगन और हिम्मत कमजोर न पड़े।

कम पैसों में पढ़ाई का खर्च चलाते हुये उन्होंने प्रथम श्रेणी में मैट्रिक उत्तीर्ण की। १९४९ में नागपुर यूनिवर्सिटी से बी. एस-सी. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर मेरिट में द्वितीय स्थान प्राप्त किया। एम. एस-सी. और आई. ए. एस. की परीक्षा साथ-साथ देकर दोनों ही प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर आपने इस आदर्श की प्रतिष्ठापना की कि—यदि विद्यार्थी का मन पढ़ने का हो तो कोर्स की पुस्तकें बोझ नहीं, मनुष्य कोर्स के बाहर की भी बहुत सारी पुस्तकें पढ़कर विद्यार्थी जीवन में अपना ज्ञान बढ़ा सकता है।

जब वे नागपुर में थे धार्मिक पुस्तकें पढ़ने का उन्हें तभी से चाव लग गया था। रामकृष्ण मिशन छात्रावास से उनके पिता ने उन्हें इसीलिये हटा लिया कि कहीं लड़का बाबाजियों के फेर में न फँस जाय। पर आत्म-शोध के मार्ग में न तो उच्च शिक्षा के द्वारा प्राप्त होने वाले सांसारिक आकर्षण ही उनका मार्ग रोक सके और न पिता के द्वारा उत्पन्न कृत्रिम अवरोध ही। जब सब विद्यार्थी उपन्यास, कहानियों और फिल्मी जीवन का आनन्द ले रहे थे युवक तुलेन्द्र एक ऐसा भविष्य निर्माण करने में जुटा हुआ था जिसमें उसका अपना मनुष्य जीवन में आने का उद्देश्य भी पूरा हो सके और धर्म एवं भारतीय संस्कृति की सेवा के मार्ग की प्रशस्ति भी।

आत्मोपलब्धि का मूल्य और महत्त्व उन्होंने स्वाध्याय से ही समझा। धर्म की गरिमा भी धार्मिक ग्रन्थों के अनुशीलन से अनुभव की। महापुरुषों के जीवनवृत्त पढ़ने से ही वे उत्कृष्ट धार्मिक सेवा सम्पादन करने का पुण्य व्रत अन्तःकरण में उतार सके। संयम, साधनामय जीवन की उपयोगिता भी उन्हें स्वाध्याय से ही मालूम पड़ी।

प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के कारण सरकार ने उन्हें विदेशों में उच्च शिक्षा के लिये छात्रवृत्ति देनी चाही किन्तु उन्होंने उसे ठुकरा दिया। चाहते तो कहीं कलक्टर हो जाते, आई. ए. एस. किया था पर उन्होंने आत्मशोध और धार्मिक सेवा के सन्तोष को सांसारिक सुख से बढ़कर माना। इसलिये सब वैभव छोड़कर वे रामकृष्ण मिशन में दीक्षित होकर साधना और योगाभ्यास में जुट गये।

भारतीय तत्त्वदर्शन के गहन स्वाध्याय से भारतीय धर्म के प्रति उनकी आस्था अत्यन्त प्रगाढ़ हो उठी, पर बचकनी धर्म सेवा से अरुचि भी। इसलिये उन्होंने अपनी सारी योग्यताएँ धार्मिकता और समाज की सेवा में खपाने का निश्चय कर लिया।

रायपुर में रामकृष्ण सेवा समिति पहले से ही स्थापित थी पर अनेक अन्य धार्मिक संस्थानों की भाँति वह भी प्रसुप्त अवस्था में थी जब तक वे ब्रह्मचारी वेष में थे। उन्होंने इसी संस्था के माध्यम से धर्म-शिक्षण का कार्य प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भ में कुल ४ विद्यार्थी ही आये पर उससे उन्हें कोई निराशा न हुई। धर्म आज इतना विकृत हो चुका है कि उसके स्वरूप से लोग भय खाये तो दोष उनका नहीं

वरन् परिस्थितियों का है। इस विकृति को अब प्रबुद्धजनों के त्याग और तप से ही सुधार जा सकता है ऐसा मानकर वे निरन्तर लगे ही रहे।

साधनाओं के सम्पादन और धार्मिक सेवाओं के लिये यद्यपि कोई वेष और आभ्रम निर्धारित नहीं है। गृहस्थ में रहकर भी अच्छी तरह से सेवायें सम्पन्न की जा सकती हैं किन्तु आज भारतीय जनता अपनी बौद्धिक कमजोरियों के कारण उन योग्यताओं को परखने में सक्षम नहीं रही जो उनका यथार्थ हित साधन कर सकती हैं। वेष को पूजने की भ्रान्ति ने ही सारे देश में अन्धविश्वास को पनपाया है। यही बात निष्काम कर्मयोग के गृहस्थ साधक के लिए अवरोध हो सकते हैं, यह समझकर श्री तेज चैतन्य नाम से ब्रह्मचर्य में दीक्षित तुलेन्द्र ने संन्यास ले लिया। चाहिये तो यह था कि जनता की मूढ़ मान्यताओं से भी लड़ा जाता पर धार्मिक सेवा के उद्देश्य से प्रजा के इस ठपे को भी स्वीकार कर लेना कोई बुरा नहीं था। अब वे स्वामी आत्मानन्द जी के नाम से पुकारे जाने लगे।

वे पुनः रायपुर आये और उस छोटी-सी संस्था का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया। (१) धार्मिक शिक्षण, (२) भारतीय संस्कृति के तत्त्वज्ञान, (३) स्वाध्याय की अभिरुचि को बढ़ावा देना, (४) व्यक्ति निर्माण। यह चार देश की प्रधान आवश्यकतायें हैं इनकी पूर्ति के लिये जो भी सम्भव प्रयत्न हों उन्हें क्रियान्वित करना आज की सबसे बड़ी आवश्यकता समझकर उन्होंने रामकृष्ण मिशन की गतिविधियाँ तीव्र कीं और इन चार क्षेत्रों में जो भी सम्भव प्रवृत्तियाँ थीं उन्हें बढ़ाते चले गये। जिससे छोटी-सी दिखाई देने वाली यही संस्था छत्तीसगढ़ क्षेत्र की जाग्रति का प्रकाश बन गई।

संस्थायें स्थापित करना कोई महत्त्व नहीं रखता आवश्यकता उनके पीछे उत्कृष्ट व्यक्तित्व रखकर समाज सुधार के लिये निरन्तर प्रेरणा व प्राण फूँकने की होती है। ऐसी थोड़ी-सी सजीव संस्थायें भी भारतवर्ष में हो जायें तो व्यक्ति निर्माण तथा समाज सुधार की आवश्यकतायें कुछ ही दिन में पूरी हो सकती हैं।

स्वामी आत्मानन्द जी का कार्य क्षेत्र उपरोक्त चार दिशाओं में बँटा है पर वह कार्यक्रम अनेक प्रवृत्तियों में विभाजित होकर राष्ट्र के आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। वर्तमान में विवेकानन्द आश्रम में ६० छात्रों के लिये एक छात्रावास है। जिसमें—धार्मिक सत्संग, सांस्कृतिक कार्यक्रम, पर्वों और त्यौहारों पर आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षण के कार्यक्रम चलते हैं। विवेक ज्योति नामक त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन ग्रामवासियों तक यहाँ के सन्देश पहुँचाने के लिये किया जाता है। पंचायती राज-प्रशिक्षण केन्द्र भी साथ में है। निःशुल्क वाचनालय व पुस्तकालय की व्यवस्था है—जिनमें १० दैनिक समाचार पत्र, ६६ नियतकालिक पत्रिकायें आती हैं, धार्मिक महत्त्व और उच्च आचरण का शिक्षण करने वाली १२४११ पुस्तकें हैं। आश्रम का अपना उपासना ग्रह है जिसमें बैठकर प्रतिदिन ७०-७५ व्यक्ति सामूहिक उपासना करते हैं।

व्यायाम, चिकित्सा और प्राणियों की सेवा जैसी गतिविधियों के लिये भी जो इस युग की प्रधान आवश्यकतायें हैं, यह संस्थान प्रयत्न

कर रहा है। मंगल उद्देश्य, भगवान् सब तरह सफल करते हैं। पीड़ित मानवता की सेवा के लिये उठी छोटी-सी चिन्गारी को भी ज्वालामुखी बना देने की क्षमता जिस परमात्मा में है वह ऐसी निष्काम सत्प्रवृत्तियों के हाथ भी मजबूत करता है।

भारतीय धर्म मंच आज प्रतिभा और योग्यता के अभाव में सूना पड़ा है। शिक्षितों की होड़ सांसारिक उपलब्धियों की दिशा में है। इसीलिये संसार के मार्गदर्शन की क्षमता वाला भारतीय तत्त्वज्ञान आज लँगड़ा-लूला पड़ा है। यदि स्वामी जी की तरह और भी प्रबुद्ध प्रतिभायें धार्मिक सेवा में गौरव अनुभव कर सकें तो देखते-देखते पद-दलित भारतीय समाज अपनी प्राचीन उत्कृष्टता प्राप्त कर ले।

आदिवासियों के अनन्य सेवक— आचार्य मिसे

४ जुलाई, १९७१ का दिन। आषाढ़ शुक्ल एकादशी महाराष्ट्र में यह दिवस बहत पुण्यप्रद माना जाता है। पंढरपुर में इस दिन पर विठ्ठल-दर्शन के लिए लाखों का मेला लगता है। जाति-पाँति के भेदों को भूलकर महाराष्ट्र के कोने-कोने से लाखों लोग पैदल चलकर चन्द्रभागा नदी के किनारे आते हैं और विठ्ठल भगवान् के संकीर्तन में भाव-विभोर हो जाते हैं। यदि उस दिन किसी की मृत्यु हो जाय तो लोग समझते हैं कि वह बड़ा पुण्यात्मा था। अन्तर-भारती व्यास के अध्यक्ष एवं आदिवासियों के अनन्य सेवक आचार्य श्री शंकरराव जी मिसे का देहान्त इसी आषाढ़ी एकादशी के दिन बम्बई में हुआ। जो आत्मा सतत साठ साल से गरीब तथा दलितों की सेवा में अपने को खपा रही थी, उसने उस दिन अपने शरीर को स्वेच्छा से त्याग दिया। वैसे तो गत कुछ वर्षों से उनका स्वास्थ्य कुछ गिरा हुआ ही था, लेकिन वे तो लोकमंगल के लिए सिर से कफन बाँधे घूम रहे थे, अतः उन्होंने अपनी बीमारी की तनिक भी चिन्ता नहीं की। समाज की खासकर पिछड़े हुए समाज की भलाई के सिवा दूसरा कोई विषय उन्हें सूझता ही नहीं था। आदिवासियों की सेवा में ही उन्होंने अपना सारा जीवन खपा दिया था, उनकी भलाई के लिए ही वे अन्त तक तड़पते रहे। **‘सर्वे सुखिनः भवन्तु, सर्वे सन्तु निरामयः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित दुःखमाप्नुयात्’** यही एकमात्र प्रार्थना सिर्फ वाणी से नहीं तो अपने जीवन के हर कार्य से वे करते रहे। महाराष्ट्र में गाँधी जी से प्रेरणा पाकर जिन लोगों ने समाज-सेवा में अपने को लगा दिया था, उनमें आचार्य मिसे का स्थान उल्लेखनीय है।

आचार्य मिसे गत कुछ महीनों से गंभीर रूप से बीमार थे। उनकी बीमारी की खबर पाकर उन्हें देखने के लिए दूर-दूर से लोग आने लगे थे। अस्पताल में लोगों का ताँता बंध जाता था। उन्हें देखकर आचार्य जी बेचैन हो जाते। कहते— **‘मैं अब चंगा हो गया हूँ, मुझे यहाँ से ले चलो।’** वे अस्पताल का खर्चीला प्रबंध देखकर झल्ला पड़ते। कहते— **‘यह प्रबंध तो अमीरों के लिए होना चाहिए। गरीबों**

की सखा तो मृत्यु ही होती है।’ वे कहा करते— सेवक को कभी बीमार नहीं पड़ना चाहिए। यदि वह बीमार पड़ता है, तो उसके जीवन की कुछ त्रुटि के कारण पड़ता है।

मित्र आचार्य जी की इन बातों से बेचैन हो जाते और उनकी बेचैनी को देखकर आचार्य जी अस्पताल की सुख-सुविधाओं को लाचार होकर बर्दाश्त कर लेते। लेकिन शरीर सचमुच अहर्निश सेवा में घिस-घिसकर टूट गया था और उसे फिर विश्वास की आवश्यकता थी। उसे मृत्यु-मैया ने अपनी गोद में ले लिया और जिस तरह माँ की गोद में बच्चा बेहिक-बेझिझक चला जाता है, उसी विश्वास से आचार्य जी ने मृत्यु की गोद में अपने शरीर को लिटा दिया।

करीब साठ साल पहले की बात है। श्री शंकरराव मिसे बम्बई विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त कर चुके थे। अवस्था लगभग बीस वर्ष की होगी। परिवार अत्यन्त निर्धन था। त्यों-त्यों करके किसी प्रकार बी. ए. कर चुके थे। उस समय भारत के राजनैतिक क्षितिज पर दो नक्षत्र प्रकाशमान थे। एक भारत-सेवक श्री गोपालकृष्ण गोखले और दूसरे लोकमान्य तिलक। ऐसा कोई युवक उस समय देश में नहीं था, जिस पर इनके जीवन का प्रभाव न पड़ा हो। दोनों ने अपने जीवन का प्रारम्भ शिक्षक के रूप में किया था। शिक्षक ही ऐसा साधन है, जो नयी पीढ़ियों का निर्माण करता है। आचार्य मिसे जी ने भी शिक्षा के क्षेत्र में ही प्रवेश करने का निश्चय किया, यद्यपि उस समय उपाधियों के लिए उच्च प्रशासकीय नौकरियों की कोई कमी नहीं थी। भारत-सेवक स्व. गोखले जी की स्मृति में कुछ युवक मित्रों ने गोखले एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना की और बम्बई में एक माध्यमिक विद्यालय का प्रारम्भ किया। नयी पीढ़ी राष्ट्रीयता की भावना से अभिमंत्रित बने और देश की स्वतंत्रता के लिए जीवन न्योछावर करने को तत्पर हो यही संस्था का उद्देश्य था। श्री मिसे जी इस विद्यालय में शिक्षक के रूप में काम करने लगे।

पर कुछ दिनों बाद मिसे जी को लगा कि सिर्फ शहर में शिक्षा का प्रचार करना पर्याप्त नहीं है। गाँवों तक नये युग का संदेश पहुँचाना चाहिए। उस समय पश्चिम समुद्र तट के समीपवर्ती प्रदेश में शिक्षा का प्रचार नहीं था। अतः उन्होंने कुलाबा जिले के अन्तर्गत बोर्डी नामक समुद्र किनारे के एक गाँव को पसंद किया, जहाँ आदिवासी लोग बसते हैं।

आदिवासी लोगों का अज्ञान तथा घोर दरिद्रता देखकर उनमें बड़ी मानसिक अशांति हुई। अपनी इस अस्वस्थता को दूर करने हेतु एक बार वे जंगलों में घूम रहे थे कि अचानक उनकी नजर उस निर्जन वन की एक समाधि पर जा पड़ी। कौतूहल जाग उठा और मिसे जी उसके पास पहुँच और देखते क्या है? उस समाधि पर एक शिला लेख लगा था। वह समाधि एक विदेशी मिशनरी की थी। पाँच हजार मील दूरी से आकर उसने अपने को आदिवासियों की सेवा में समर्पित कर दिया था। अन्तिम साँस तक वह सेवा में संलग्न रहा। श्री मिसे जी वहीं बैठकर सोचने लगे— **‘हम भारतीय संस्कृति का बड़ा घमण्ड करते हैं। ‘कृषन्तो विश्वं आर्यम्’ का मन्त्र बोलते हुए फूले नहीं**

समाते। 'सर्वे सुखिनः सन्तु' की दिन-रात रट लगाते रहते हैं लेकिन जनता की भलाई के लिए जीवन खपाने की कल्पना भी नहीं करते, वही यह एक इन्सान था जो पाँच हजार मील की दूरी से आकर आदिवासियों की सेवा में अपना जीवन लगा देता है। ना ये लोग उसके सगे-सम्बन्धी हैं, न उसकी चमड़ी के रंग के हैं। फिर भी वह सेवा करने दौड़ आता है, उसका उद्देश्य चाहे जो हो। और एक मैं हूँ, जो अपने पिछड़े बंधुओं की सेवा से जी चुराता हूँ। उनके बीच जाकर रहने की कल्पना मात्र से सहम उठता हूँ।'

श्री मिसेजी के जीवन का यह एक क्रान्तिकारी क्षण था। वहाँ से मिसे जी जो लौटकर आये, वे बिल्कुल नये बनकर। नयी उमंग और नया संकल्प लेकर। सबको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। मिसे जी बोर्डे गये और वहाँ एक विद्यालय शुरू किया।

मिसे जी एक आदर्श शिक्षक थे। बच्चों से बड़ा प्यार करते थे। अपना स्वतंत्र परिवार बनाकर अपने को सीमित नहीं करना चाहते थे, इसलिए ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा कर ली। वे व्यक्तिगत काम तथा अध्ययन का समय छोड़कर शेष सारा समय विद्यार्थियों में बिताया करते। कुछ दिनों के बाद उन्हें ख्याल आया कि छात्रावास के बिना शिक्षा कार्य अधूरा ही रह जाता है। अतः शीघ्र ही छात्रावास का प्रबंध किया गया। इसके सिवा उन्हें यह भी महसूस होने लगा कि शिक्षा का क्षेत्र केवल विद्यार्थियों तक ही सीमित रखना पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका विस्तार सर्वसाधारण तक करना चाहिए। अतः वे अवकाश के समय में पास-पड़ोस के इलाके में घूमने लगे। यातायात के साधन नहीं थे। पैदल ही घूमना पड़ता था। जंगलों और पहाड़ों को पार करना पड़ता था। आदिवासियों का जीवन क्या था, मूर्तिमान दरिद्रता का राज था। न तन ढकने के लिए कपड़ा, न पेट भरने के लिए अनाज। निवास के लिए घर न बीमारी के इलाज का कोई प्रबंध। शिक्षा का तो नामोनिशान नहीं। एक ओर सरकारी हाकिम दबाते थे, तो दूसरी ओर जंगल के ठेकेदार लूटते थे। न उनका कोई सहाय था, न संगी-साथी। जंगलों में उनकी अमानुष पिटाई होती थी तो कोई बचाने नहीं आता था। स्त्रियों के साथ बलात्कार किया जाता। जंगल ठेकेदार और सरकारी अफसरों की साँठ-गाँठ रहती थी। आचार्य जी इस परिस्थिति को देखकर बड़े चिंतित रहा करते। विद्यालय के काम से छुट्टी पाते ही वे आदिवासियों के बीच जाकर उनमें स्वाभिमान और साहस का भाव भरते। धीरे-धीरे आदिवासी भाई-बहनों को विश्वास हो गया कि निडर होकर उनके लिए जूझने वाला एक अच्छा नेता उन्हें मिल गया। लोग उनके पास अपनी दुःख-दर्द भरी शिकायतें लेकर पहुँच जाते। उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए आचार्य जी खून-पसीना एक कर देते। धीरे-धीरे उनके सहयोगियों की एक टोली भी खड़ी हो गयी।

आचार्य जी स्वतंत्रता के आन्दोलन में भी कूद पड़े। फलस्वरूप उन्हें दो बार कठिन कारावास की यातनायें सहनी पड़ीं। वे मानते थे कि जब तक देश स्वतंत्र नहीं हो पाता, तब तक इन दीन-दुःखियों की कठिनाइयाँ नहीं मिटाई जा सकतीं। जेल में आचार्य जी ने अपना काम जारी रखा। आदिवासी समस्या पर वे अपने विचार समाचार-

पत्रों में प्रकाशित कराते। जेल से रिहाई पर वे अपने साथ नये स्वयं-सेवकों की एक टोली ही लेकर बाहर आये।

आदिवासी उस समय तक खेती का सही ढंग भी नहीं जानते थे। जंगल जलाकर उसी भूमि में यों ही अनाज फेंक देते और उससे जो कुछ पैदा होता उसी से अपनी गुजर-बसर कर दिन काटते थे। आचार्य जी ने सोचा कि इस प्रकार की अवैज्ञानिक खेती से काम नहीं चलेगा। नये कृषि-विज्ञान से आदिवासियों को अवगत कराना होगा। तब पास ही में कोसवाड़ नामक पहाड़ी स्थान पर उन्होंने कृषि-विद्यालय की स्थापना की। बच्चों को नये जीवन की दीक्षा देने के लिए ग्रामीण बाल-प्रशिक्षण केन्द्र शुरू किया। एक अभिनव प्रयोग प्रारम्भ किया गया। अब बच्चों को स्कूल में नहीं आना पड़ता था, स्कूल ही भेड़ बकरियों को चराने वाले चरवाहों बच्चों के पास जाने लगा। आदिवासी का एक पैर कर्ज की दलदल में फँसा रहता तो दूसरा व्यसनों में। उन्हें शराब के नशे में अपने दुःख-दर्दों को भूलने की आदत भी पड़ गयी थी। स्त्रियाँ और बच्चे व्यसनों से मुक्त नहीं थे। अतएव समाज-सुधार एवं व्यसन-मुक्ति के लिए उन्होंने आश्रम तथा पाठशालाओं की योजना हाथ में ली। फलस्वरूप एक नया जीवन उस क्षेत्र में पनपने लगा।

आचार्य मिसे स्वागत-सत्कार आदि से हमेशा अपने को दूर रखते थे। उनका शिष्य-परिवार काफी बड़ा था। आचार्य जी की पचहतरवीं वर्ष गाँठ पर वे उनका अभिनन्दन करना चाहते थे और उनके लिए एक निधि भी उन्हें भेंट करना चाहते थे पर आचार्य जी इसके लिए राजी नहीं हुए। जब लोग नहीं माने तो जिस तिथि को उनका अभिनन्दन करने की योजना बनायी गयी थी, उस दिन वे बिना किसी को बताये जंगल में किसी अज्ञात स्थान में चले गये। मालायें और अभिनन्दन पत्र जहाँ के तहाँ पड़े रहे। कुछ दिनों बाद आचार्य जी जब लौटे तो नई लगन लेकर दुगुने उत्साह से काम करने के लिए तत्पर होकर। उन्हें दारिद्र्य और घोर विषमता देखकर बड़ा कष्ट होता था और वे उन्हें मिटाने के लिए मर मिटने को तैयार हो गये। एक दिन सेवा कार्य करते हुए ही उन्हें मूर्छा आ गयी। इलाज के लिए उन्हें अस्पताल में भरती किया गया। आचार्य जी ने अस्पताल में ही आखिरी साँस ली, भगवान् से सबकी भलाई के लिए दुआ मांगते हुए।

आचार्य मिसे ने अपनी अखण्ड सेवा-साधना से अनेक कार्यकर्ताओं को प्रेरणा दी है। अपने निरपेक्ष सतत सेवा-कार्य से आदिवासियों में नवजीवन का संचार किया। वे आदिवासियों के अनन्य सेवक थे। उनकी तेजस्वी स्मृति को बारम्बार वन्दन।

परोपकारी भीम

पाण्डवों का अज्ञातवास का समय चल रहा था। वे एक गाँव में वेश बदले एक ब्राह्मण के घर रह रहे थे। माता कुन्ती को घर छोड़कर पाँचों पाण्डव भिक्षाटन पर चले जाते थे। उसी समय उदर पोषण के लिए अन्न भी संचय कर लाते थे और अपने विषय में जनमत का भी पता लगाते रहते थे।

एक दिन चार पाण्डव तो भिक्षाटन पर चले गये। भीम घर पर रह गये। वे माता से बातें कर रहे थे। इतने में ही ब्राह्मण के परिवार से रोने की आवाज आई। भीम ने माता से पता लगाने को कहा।

कुन्ती अन्दर आई तो देखा ब्राह्मण का पूरा परिवार एक साथ बैठा रो रहा है। कुन्ती को देखकर सभी सहसा कुछ देर को चुप हो गये। ब्राह्मण ने कुन्ती का स्वागत करते हुए कहा— “आइये माता, इस समय आपने हम दुःखियों को दर्शन देकर बड़ा आभार किया। अब तो हम सब तीसरे प्रहर तक के मेहमान हैं, सायं तक समाप्त हो जायेंगे। हम लोगों के न रहने के बाद भी आप अपने पुत्रों सहित इसी घर में रहें और इसे अपना ही समझें। बस कभी-कभी हम अभागों को याद अवश्य कर लिया करें।”

कुन्ती ने देखा कि ब्राह्मण निश्चय ही किसी बड़ी विपत्ति में फँसा है। लेकिन उसने अपने विवेक को नष्ट नहीं होने दिया है। यथायोग्य शिष्टाचार का निर्वाह किया है और पहले जैसा ही आत्मीयतापूर्ण उदार व्यवहार कर रहा है। निश्चय ही यह बड़ा धीर पुरुष है। नहीं तो आपत्ति के समय तो लोग विपत्ति से घबरकर अन्यथा व्यवहार करने लगते हैं। ईश्वर की सहायता ऐसे धीर पुरुषों को ही तो मिलती है।

माता कुन्ती ने सान्त्वना देकर सबका दुःख बाँट लिया और विलाप का कारण पूछा— ब्राह्मण ने अपनी दुःख कथा इस प्रकार सुनाई—

“माता ! इस क्षेत्र में एक बड़े ही दुरन्त दैत्य का आतंक छाया हुआ है। वह पहले प्रतिदिन जहाँ से जिसको चाहता था खाने के लिये पकड़ ले जाता था। जिससे सम्पूर्ण क्षेत्र में घर-घर भय छाया रहता था। कोई भी अपने को किसी समय भी सुरक्षित नहीं समझता था। सामान्य जीवनक्रम के साथ सारी नित्य-क्रियायें स्थगित हो गई थीं। धर्म-कर्म रुक जाने से दैत्य की असुरता और भी प्रबल होती जाती थी। निदान क्षेत्र की जनता ने एक पंचायत करके दैत्य से यह समझौता कर लिया कि वह बस्ती में न आया करे, प्रतिदिन क्रम से एक घर से एक आदमी और भोजन का समान उसके पास स्वयं ही पहुँच जायेगा। तब से यही क्रम चला आ रहा है और आज हमारे घर की बारी है। हममें से किसी एक के मृत्यु मुख में जाने से दूसरे उसके वियोग में मर जायेंगे। इसलिये हम सबने एक साथ ही दैत्य के पास जाकर मरने का निश्चय कर लिया है।”

माता कुन्ती ब्राह्मण का दुःख सुनकर गम्भीर ही नहीं उदास भी हो गई। उन्होंने दो क्षण विचार किया और बोलीं— “आप लोग अब अधिक चिन्ता न करें। हम सब भी आप लोगों के दुःख में भागीदार होंगे। ईश्वर हमारी सहायता करेगा।” सान्त्वना देकर कुन्ती वापस आ गई।

कुन्ती ने सारी बात भीम को बतलाई और इच्छा व्यक्त की कि इस दुःख में ब्राह्मण की सहायता की जाय। भीम बोले— “इसमें भी क्या कठिनाई है ? भोजन लेकर आज दैत्य के पास मैं स्वयं चला जाऊँगा और उसका काम तमाम करके चला आऊँगा। बस सारा झंझट ही समाप्त हो जायेगा।”

कुन्ती ने कहा— “दैत्य बड़ा प्रबल है। मैं तुम्हें अकेले नहीं जाने दूँगी।” भीम हँसे और बोले— “पापी और प्रबल। माँ, आपकी यह शक्ति मेरे प्रति आपके मोह की ही अभिव्यक्ति है। पुण्य परमार्थ में पाप की अपेक्षा हजारों गुनी शक्ति होती है।” भीम भोजन सामग्री लेकर गये और शीघ्र ही उस नर-भक्षी को मार कर वापस आ गये। निःसन्देह अन्याय के विरुद्ध प्राणों की बाजी लगा देने वालों को परमात्मा अपनी शक्ति दे देता है।

स्वामी भवानी दयाल—साधुता जिन्हें पा कर धन्य हो गयी

पराधीनता काल में अंग्रेजों ने हजारों भारतीय नागरिकों को कुली बनाकर उन्हें और भी घृणित तथा निम्न स्तर का जीवन जीने के लिए दक्षिण अफ्रीका भेज दिया। वहाँ ब्रिटिश जहाजों पर से माल चढ़ाने और उतारने में काफ़ी कुली मजदूरों की आवश्यकता थी। ऐसे कुली जो मजदूरी भी सस्ती लेते हों और काम भी मेहनत से करें। अपनी मर्जी से तो कौन इसे स्वीकार करता इसलिए अंग्रेजों की दृष्टि अपने सभी उपनिवेशों में घूम-फिर कर, देख-टटोल कर भारतीयों पर आ टिकी। जो अपेक्षाकृत सीधे, सरल और जरूरत से ज्यादा भोले होते थे। जरूरत से ज्यादा भोले और सीधे-सादे लोगों को दण्ड और दबाव द्वारा आसानी से तोड़ा जा सकता है। फिर भारतीय मेहनती भी कम नहीं रहे हैं।

इसलिए ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भारतीय नागरिकों पर ही अपना पंजा चलाया और उन्हें जोर-जबर्दस्ती से विवश कर दक्षिण अफ्रीका में नारक्रीय जीवन जीने के लिए लेजा पटक। ऐसे कुलियों में कुछेक भारतीय समझदार और होशियार भी थे। ऐसे ही समझदार और होशियार मजदूरों में से एक कुली बाबू जयराम सिंह ने वहाँ दुकानदारी भी की। सूझ-बूझ तथा चतुराई से उक्त व्यक्ति ने व्यापार के क्षेत्र में भी प्रवेश किया और अपनी साख बना ली। भारत में मजदूरी करने वाला, चन्द पैसों के लिए धनी और मध्यम वर्ग के आगे-पीछे एड़ियाँ रगड़ने वाला यह परिवार चन्द दिनों में ही सम्पन्न और समृद्ध हो गया। वहाँ उन्होंने अच्छी-खासी जायदाद बना ली और स्थायी रूप से वहीं बस गये। सम्पन्नता और वैभव ने उनकी सारी व्यथा वेदना हर ली थी।

उसी परिवार में १० सितम्बर, १८९२ ई. को जोहन्सबर्ग के एक भवननुमा मकान में एक ऐसे बालक ने जन्म लिया जिसने आगे चलकर उस समस्त सम्पत्ति और जायदाद को तृणवत तुकरा दिया। वह जातक आगे चलकर स्वामी भवानी दयाल के नाम से विख्यात हुआ। जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रह रहे प्रवासी भारतीयों को एक सूत्र में आबद्ध किया तथा अनाचार और अत्याचार के विरुद्ध समर्थ प्रतिरोधक मोर्चा खड़ा करने के लिए उन्हें संगठित किया। स्वामी भवानी दयाल संन्यासी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को पहली बार जागरण का शंख फूँका।

भवानी दयाल की शिक्षा-दीक्षा में परिवार वालों ने कोई खास रुचि नहीं ली। बाबू जयराम जी की दृष्टि में शिक्षा का मूल्य और महत्त्व व्यापार से रती भर भी अधिक नहीं था। वे स्वयं भी शिक्षितों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते थे। व्यापार में मिली सफलता ने उनकी दृष्टि में धन ही सब कुछ बना दिया था। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने पुत्र को भी कामचलाऊ अंग्रेजी पढ़ाकर कारोबार में लगाना चाहा।

एक बार की बात है भवानी दयाल स्कूल जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने एक बड़ा करुण दृश्य देखा। एक भारतीय कुली— वृद्धावस्था के कारण जिसकी कमर झुकी हुई थी। सिर पर भारी बोझ उठावाये— पीछे-पीछे बेंत हाथ में लिए गोरा अधिकारी चला जा रहा था। वृद्ध की गर्दन टेढ़ी हुई जा रही थी— सिर पर रखे भार से और उसका हर कदम डगमगाता हुआ उठ रहा था। कहना मुश्किल लगता था कि कुली का अगला कदम भी सधा हुआ ही पड़ेगा और पीछे से आ रहे मालिक ने कहा— ‘जरा तेज कदम उठाओ। गाड़ी निकल गयी तो चमड़ी उधेड़कर रख दूंगा।’

‘आदमी है या शैतान’— सुनकर भवानी दयाल बुदबुदाये। तभी उन्होंने देखा कि वृद्ध कुली जल्दी चलने के प्रयास में ठोकर खाकर गिर पड़ा है और उसके सिर पर रखा हुआ सामान भी सड़क पर बिखर गया है। आस-पास से कोई भी वृद्ध कुली को सहारा देने के लिए आगे नहीं बढ़ा। यहाँ तक कि पीछे आते हुए गोरे प्रभु ने भी उसे सहानुभूति के दो शब्द नहीं कहे। कहता भी क्या ? उसे तो अपनी प्रभुता का मद चढ़ा हुआ था और उसी मद में उसने अपनी बेंत उठा ली तथा लगा तड़ा-तड़ा उस पर बरसाने।

वृद्ध बेचारा तिलमिलाता रहा था लेकिन अंग्रेज पर तो हैवानियत सवार थी। वह बिना चिंता किये सिर पर इसी प्रकार तड़ातड़ा बेंतें लगाता रहा। लेकिन आसपास चलते लोगों पर इस घटना का कोई असर नहीं हुआ सब देखा-अनदेखा करते हुए वहाँ से गुजर गये। बालक भवानी दयाल को बड़ा आश्चर्य हुआ अंग्रेज के व्यवहार पर और उससे अधिक लोगों पर जो ऐसे चले जा रहे थे जैसे यह रोजमर्रा की बात हो और क्षोभ भी कम नहीं हुआ।

अंग्रेज ने अनुभव किया कि कोई नन्हे हाथ उसके हाथों को पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं। देखा तो एक भारतीय-सा लगने वाला बालक अंग्रेजी वेषभूषा में अंग्रेजी भाषा में कह रहा था— ‘‘यह बेकसूर है इसे छोड़ दीजिए। इसने कोई अपराध नहीं किया है।’’

गोरे व्यक्ति ने समझा यह किसी अंग्रेज की भारतीय पत्नी का ही पुत्र है अन्यथा किस भारतीय में इतनी सभ्यता है जो अपने बेटे को इस तरह सभ्य और मनुष्य बनाकर रखे। उसने वृद्ध कुली को पीटना छोड़ कर उसने कहा— ‘इस जानवर ने मेरा सब सामान खराब कर दिया है, बेटे ! मैं तुम्हारे कहने से छोड़ देता हूँ।’

‘‘नहीं सर ! सामान खराब करने में इसका दोष नहीं है। दोष तो आपका है जो आपने यह जानते हुए भी की यह बूढ़ा व्यक्ति इतना

सामान नहीं उठा सकेगा इसके सिर पर इतना सामान रखा, कह अपना काम खत्म हुआ जानकर भवानी दयाल वहाँ से चले दिये। उस दिन पूरे समय उनका मन स्कूल में नहीं लगा।’

घर लौटे तो अपने पिता से आज की घटना पर चर्चा की और कारण जानना चाहा कि भारतीय इस दशा में क्यों हैं ? पिता ने टालने की दृष्टि से एक सच्ची किन्तु साधारण-सी बात कह दी— ‘‘इसलिए कि वे लोग अनपढ़ हैं, बेवकूफ हैं और ढंग से रहना नहीं जानते।’’

यह वाक्य उनका प्रथम-प्रदर्शक बन गया और उन्होंने तत्क्षण ही फैसला कर लिया कि वे भारतीयों में से इन क्रमियों को दूर करके रहेंगे ताकि वे लोग मानवीय गौरव-गरिमा के अनुरूप जी सकें, बन सकें, रह सकें। सर्वप्रथम इसके लिए यह आवश्यक लगा कि इस दृष्टि से वे स्वयं योग्य और सक्षम समर्थ बनें। प्रवासी भारतीयों में शिक्षा का प्रकाश किस तरह फैलाया जाय ? तथा वे कैसे इन अत्याचारों का सामना करने के लिए उठ खड़े हों उनकी चेतना इसी दिशा में बहने लगी।

ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा तथा उनकी बुद्धि परिपक्व होने लगी। समस्या के कारणों का एक-एक पक्ष उनके सामने उद्घाटित होता गया। सबसे पहली बात उन्होंने यह देखी कि दक्षिण अफ्रीका में रह रहे सभी भारतीय एक-दूसरे से कटे और अलग-अलग हैं। इसका कारण यह था कि अफ्रीका में जितने भी कुली थे वे सब भारत के अलग-अलग भागों से लाये गये थे। कोई उत्तर प्रदेश से तो कोई मद्रास से तो कोई बिहार से और कोई बंगाल से। भारत तो वैसे ही विभिन्न भाषाओं और रहन-सहन की सभ्यताओं का देश है। एक-दूसरे के सम्पर्क माध्यम ही एक-दूसरे के दुःख-दर्द जानने में असमर्थ हों तो बिखराव होना ही था।

इस समस्या का निदान उन्होंने खोजा भी और पाया भी। गहन चिन्तन-मनन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी भारतीयों को एक भाषा का ज्ञान कराया जा सके और उनमें आत्म-सम्मान, अनीति के प्रतिरोध की भावना और शक्ति जगायी जा सके तो कोई सम्भावना नहीं है कि अंग्रेजों का यह उत्पीड़न चलता ही चला जाय। भाषायी एकता उनमें सामूहिक सुरक्षा का भाव लाने की पहली कड़ी बन सकती है और उन्होंने इस एक सूत्र में आबद्ध करने की सीढ़ियों पर कदम बढ़ाया हिन्दी के प्रचार द्वारा। हिन्दी पढ़ने के लिए वे अफ्रीका छोड़कर भारत चले आये। उस समय वहाँ हिन्दी पढ़ने की कोई व्यवस्था नहीं थी। हिन्दी भाषी परिवारों में परिवार के सम्पर्क से ही हिन्दी का जो ज्ञान हो जाता सो हो जाता। वह ज्ञान उसी सीमा तक रहता।

भारत में— हिन्दी विषय में अच्छी योग्यता प्राप्त करने के बाद जब वे अफ्रीका लौटने लगे तो कुछ अंग्रेज अधिकारियों को उनके भावी कार्यक्रम का पता चल गया। डरबन पहुँचने से पहले ही उन्हें शासकीय आदेश हुआ कि वे भारत लौट जायें। अफ्रीका की भूमि पर चरण भी न रखें, अन्यथा उन्हें भयानक दण्ड दिया जायेगा। भवानी दयाल जी ने प्रयत्न किये कि सरकार इन आदेशों को वापस ले ले परन्तु कोई सफलता नहीं मिली। उन्हें डरबन बंदरगाह पर उतरने नहीं दिया गया। किसी प्रकार तो अफ्रीका में घुसना ही है यह सोचकर

३.१०४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

वे टांसवाल में उतरे किन्तु वहाँ पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर मुकदमा चला ।

सौभाग्य से फैसला देने वाले न्यायाधीश को उनसे कोई खतरा नहीं लगा और उन्हें निर्दोष ससम्मान बरी कर दिया गया । इन झन्झावातों से गुजर कर वे अपने पिता के पास जोहन्सबर्ग पहुँचे और वहाँ अपनी निर्धारित योजना के अनुसार काम करने लगे ।

जगह-जगह पर उन्होंने बच्चों को हिन्दी शिक्षा देने के लिए पाठशालायें खुलवाई । प्रौढ़ों को हिन्दी शिक्षा देने के लिए पाठ्यक्रम चलाया और रात्रि-शालायें खोलीं । बड़ों और बच्चों दोनों को पढ़ने के लिए उन्होंने बड़ी ही रोचक, शिक्षाप्रद एवं राष्ट्रीय भावों से ओत प्रोत छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं । यह पुस्तकें बच्चों को निःशुल्क ही वितरित की जातीं । पाठशालायें भी निःशुल्क थीं और उनकी प्रेरणा से जो शिक्षक शालाओं में पढ़ाते थे वे भी किसी प्रकार का पाश्चिमिक नहीं लेते । इस प्रकार विशुद्ध सेवा भावना से यह विशाल जन-जागरण का अभियान खड़ा और चालू किया गया ।

हिन्दी प्रचार के लिए उन्होंने एक बड़ा प्रभावशाली कार्यक्रम चलाया । वे भारतीय बस्तियों में अलग-अलग स्थानों पर मिलन गोष्ठियाँ आयोजित करते और उन गोष्ठियों से प्रवासी भारतीयों को देशभक्ति, राष्ट्र प्रेम, स्वाभिमान की भावनायें भरते । विभिन्न प्रवासी इन विषयों पर हिन्दी में ही भाषण देते । इस कार्यक्रम से एक साथ तीन प्रयोजन पूरे होते थे— पहला हिन्दी का प्रचार, दूसरा राष्ट्रीय भावनाओं का जागरण और तीसरा संघ शक्ति का गठन । धीरे-धीरे जब प्रवासी भारतीयों में हिन्दी का प्रचार हो गया तो भवानी दयाल जी ने कई हिन्दी संस्थाओं की स्थापना की ।

तभी उनके पिता का देहावसान हो गया । माँ तो पहले ही मर चुकी थी । एक विमाता थी जिससे उनकी कोई खास पटती नहीं थी । इसी विमाता ने पिता द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति के लिए गृह कलह किया । पिता ने भवानी दयाल को सम्पत्ति का आधा भाग विमाता को देने के लिये कहा था । उन्होंने पिता जी के आदेशानुसार विमाता को उचित भाग दे दिया । परन्तु उसकी आकांक्षा थी कि सारी सम्पत्ति ही उसे मिल जाये । भवानी दयाल जी ने विमाता की इस लालसा का पता चलते ही शेष सब कुछ उसे दे दिया और सम्पत्ति के मोह से ही छुटकारा पा लिया ।

अब उनके पास पर्याप्त समय खाली था । वे अपना सारा समय इसी काम में लगाने लगे । कालान्तर में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया और तप, त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे । इस जीवन में प्रवेश करने के बाद अपना सारा समय ही लोकसेवा के कार्य में लगाया । बाद में दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों में जो अदम्य साहस और जागरूक चेतना आयी— वह स्वामी भवानी दयाल जी के प्रयासों का ही परिणाम थी ।

दक्षिण अफ्रीका में जन-जागरण के अतिरिक्त स्वामी जी ने भारतीय समाज की जो अविस्मरणीय सेवायें कीं उनका भी बड़ा मूल्य है । उन्होंने भारतवास के समय बंग-भंग आन्दोलन की सफलता के लिए गाँव-गाँव में घूम-घूम कर जन-जागरण का कार्य किया ।

असहयोग आन्दोलन तथा स्वदेशी प्रचार के लिए भी उन्होंने अथक प्रयास किये और महीनों तक कारावास की सजा काटी । सन् १९५१ में ५९ वर्ष की आयु में यह महानतम विभूति इस लोक से विदा हो गयी । देहांत का समाचार मिलते ही भारत भर और दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों ने शोक मनाया । भारत, भारतीय और भारतीय भाषा की सेवा में उस आहुत व्यक्तित्व को पाकर साधु वेष सार्थक हुआ कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

संस्कृति को नव-जीवन देने वाले— पं. भगवद् दत्त

निकट के सम्बन्ध की एक महिला मेहमान घर आई है । रात वे घर की बड़ी बहू के पास विभ्राम करने लेटीं । क्रमकमजी स्त्रियों को दिन भर तो अवकाश मिलता नहीं इसी समय थोड़ी-बहुत चर्चा करके सो जाती हैं । उनकी बातचीत का साधारण प्रसंग कुछ देर चला, मेहमान महिला ने बगल के कमरे से आ रहे प्रकाश की ओर झाँककर पूछा— “बहिन भगवद् दत्त अभी तक नहीं सोया ?” माँ कहती है “हाँ बहन यह अभी घण्टों नहीं सोयेगा ?”

बातचीत का क्रम फिर चल पड़ा रात के ११ बज गये बत्ती फिर भी नहीं बुझी । इस पर अतिथि ने फिर पूछा “बहिन बच्चे के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ेगा । इतनी रात बीत गई पढ़ाई बन्द करने को क्यों नहीं कहती ?”

एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुये माँ ने कहा— “बहिन ! यह कोई कोर्स की ही पुस्तकें तैयार नहीं करता । कहता है— पाश्चात्य पंडितों और इतिहासकारों ने हमारी धर्म संस्कृति को, हमारे इतिहास को गलत ढंग से प्रस्तुत किया है । अपने धर्म-ग्रन्थों का मैं विस्तृत अध्ययन कर पाश्चात्य पंडितों की धारणा का खण्डन करूँगा और एक नया इतिहास लिखूँगा ? अपनी इसी धुन में लगा रहता है वह न जाने कहाँ-कहाँ से पुस्तकें ला-लाकर पढ़ता रहता है, जब खर्च के लिये जो कुछ मिलता है देखती हूँ वह सब पुस्तकें खरीदने में ही खर्च करता है ।”

“पढ़ना तो बहुत अच्छी बात है ।” अतिथि-बहिन ने गम्भीर मुद्रा और दार्शनिक भाव से कहा— “किन्तु उसके स्वास्थ्य का भी तो ध्यान रखना चाहिये ?”

माँ हँसकर बोलीं— बहिन ! अपने बेटे के लिये पौष्टिक आहार और नियमित जीवन का सारा प्रबन्ध मैं स्वयं सम्भालती हूँ उसमें कोई त्रुटि नहीं आने देती पर मैं भी यह अनुभव करती हूँ कि आज देश की सर्वोपरि आवश्यकता अपने धर्म, समाज और सांस्कृतिक परम्पराओं को पुनर्जीवित करने की है । यदि वह न हुआ तो हम राजनैतिक दृष्टि से स्वाधीन भले ही हो जायें बौद्धिक दृष्टि से हम अपंग ही बने रहेंगे । मेरा बेटा जो कर रहा है मैं उससे प्रसन्न हूँ । इसलिये बीच में व्यवधान उत्पन्न करने का मेरा भी जी नहीं होता ।”

मेहमान अत्यधिक प्रभावित हुई । उन्होंने कहा— “तुम सचमुच धन्य हो दूसरी मातायें अपने बच्चों से भौतिक सुख-साधनों की अपेक्षा

करती हैं तब तुमने अपने व्यवहार से यह दिखा दिया कि भारतीय नारियाँ देश और धर्म के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने से भी पीछे नहीं रहतीं ।”

जिस बालक के सम्बन्ध में यह वार्ता चली वह पं० भगवद् दत्त हैं जिनकी कृतियों ने जहाँ इस देश की पश्चिमाभिमुख बुद्धि को झकझोर कर जगाया और उसे यह सोचने को विवश किया कि सच्चे ज्ञान और यथार्थ दर्शन का सूर्य पूर्व से भारतवर्ष से निकलता है, पश्चिम तो उसकी साँझ है, वहाँ उन्होंने पश्चिम के विद्वानों को भी यह मानने को विवश कर दिया कि वेद गड़रियों के गीत नहीं ज्ञान विज्ञान के अछूत भण्डागार हैं । भारतीय दर्शन कल्पनिक उड़ानें नहीं चिन्तन का यथार्थ धरातल है, उपनिषद् मात्र साहित्यिक कृतियाँ नहीं वरन् जीवन विज्ञान के अमूल्य ग्रन्थ रत्न हैं । यह पं० भगवद् दत्त ही हैं जिन्होंने पेरिस विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लुई रिनो तक को जो कभी भारतीय धर्म और समाज व्यवस्था के प्रबल आलोचक थे, के मुँह से निकलवाया— “वेद के मन्त्रों में अभूतपूर्व विज्ञान भरा पड़ा है भारतीय संस्कृति विश्व संस्कृति हो सकती है ।”

जिसने पश्चिम के विद्वानों की भ्रान्त धारणाओं को ब्रह्मा और विश्वास में बदल दिया— जिनका सारा जीवन एक सच्ची उपासना है उन्हें भारत के कितने लोग जानते हैं इससे क्या उनकी आत्मा को दुःख हुआ ? नहीं नहीं मृत्यु के समय उनसे एक मित्र ने कहा— “बड़ा दुःख है कि आप जैसे सच्चे देशभक्त और विद्वान् का देश ने यथा सम्मान नहीं किया ।” इस पर उनकी आँखें चमक उठीं चेहरे पर गौरवपूर्ण प्रकाश छा गया, करवट बदलते हुये उन्होंने कहा— “यह अच्छा ही हुआ सम्मान के चक्कर में पड़ गया होता तो थोड़ा बहुत कर्म किया वह भी न कर पाया होता, मेरा शरीर जा रहा है पर मैं अपनी आत्मा अपनी पुस्तकों में छोड़े जा रहा हूँ ।”

और सचमुच आज उस कर्मयोगी की ज्ञान-गीता के प्रकाश में भारतीय समाज और संस्कृति के पुनरुद्धार का कार्य शुरू हो गया है । ‘वैदिक इतिहास का वाङ्मय’, ‘वेद विद्या निदर्शन’ तथा ‘भारतवर्ष का वृहद् इतिहास’ जैसी उनकी अमूल्य कृतियाँ जो एक बार पढ़ लेता है पाश्चात्य विचारों ने उसके मन मस्तिष्क पर कितनी ही गहरी जड़ें क्यों न जमा रखी हों, दिमाग को झकझोर कर रख देती हैं ।

पं० भगवद् दत्त देश के विभाजन से पूर्व तक लाहौर के निवासी थे । बाल्यावस्था लाहौर में ही बीती, वहीं पढ़े और वहीं दयानन्द कॉलेज में १३ वर्ष तक प्रोफेसर रहे । विभाजन के बाद वे भारत आ गये और जब अधिकांश शारणार्थी यहाँ आकर अपनी आर्थिक और पारिवारिक व्यवस्थाओं में जुटे थे । पण्डित जी ने यहाँ आते ही और दिल्ली में मात्र निवास की व्यवस्था होते ही अपनी संस्कृति उपासना प्रारम्भ कर दी ।

कुछ दिन में वे पंजाब विश्वविद्यालय के कैम्प कॉलेज के प्राध्यापक नियुक्त हो गये । यहाँ भी अध्यापक के बाद का उनका सारा समय इतिहास की गवेषणा और सांस्कृतिक उपादानों की शोध

में ही बीता । मनुष्य का मन यदि एक काम में पूरी तन्मयता से जुट जाता है तो सचमुच चमत्कार हो जाता है । पण्डित जी की यह सेवायें मन की एकाग्रता के ही चमत्कार हैं । जिस पर उन्हें नरेन्द्र देव पुरस्कार जैसा विशिष्ट सम्मान भी प्राप्त हुआ ।

उनकी उपलब्धियों का एक उदाहरण यह भी है कि आई. ए. एस. के प्रशिक्षणार्थियों का जो आगे चलकर प्रशासनिक सेवाओं में उच्च पदाधिकारी नियुक्त होते हैं को भारतीय संस्कृति का ज्ञान कराने के लिये पण्डित भगवद् दत्त को ही चुना गया था । आई. ए. एस. के प्रशिक्षार्थी मानते थे कि पण्डित जी जैसी अध्ययनशीलता, लगन और सेवा साधना का भाव यदि भारतीयों में आ जाता तो सारा विश्व भारतीय धर्म एवं संस्कृति के पीछे-पीछे चलने लगता ।

पण्डित जी कहा करते थे— इतिहास-शुद्धि आज देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है । इतिहास से ही नई पीढ़ी जातीय स्वाभिमान और उन्नति की प्रेरणायें प्राप्त करती है अतएव उसका स्वरूप अपनी गरिमा के अनुरूप ही रहना चाहिये । पिछले दिनों मुसलामन और अंग्रेज इस देश के शासक रहे । उन्होंने इस देश का आर्थिक शोषण ही नहीं किया । सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रहार किये और मनमाने ढंग से इतिहास लिखकर हमारे जातीय स्वाभिमान को नष्ट-भष्ट कर दिया । जब तक हमारे बच्चों को यह इतिहास पढ़ाया जाता रहेगा, उनकी मनोवृत्ति पश्चिम को ही सब कुछ मानने और स्वयं आत्महीनता की स्थिति में पड़े रहने जैसी बनी रहेगी । इसलिये उन्होंने भारतीय इतिहास की शोध नई ढंग से करने और भारतवर्ष का नया इतिहास न केवल लिखने की प्रेरणा दी अपितु लिखा और प्रसारित भी किया । जिन बातों को हम भारतीय ही भूल गये थे उन्हें फिर से प्रकाश में लाकर उन्होंने एक गौरवपूर्ण अध्याय का श्री गणेश किया ।

पण्डित जी सांस्कृतिक स्वाभिमान के मूर्तिमान प्रतीक थे । आहार-व्यवहार, वेष भूषा, रहन-सहन और चिन्तन सभी कुछ भारतीय । उनका चिन्तन यह कृतृत्व भारतीय समाज के सेवा साधकों में सदा प्रातःस्मरणीय बना रहेगा ।

सेवाभावी—भोले बाबाजी

वह छोटा-सा गाँव जब चहुर्मुखी प्रगति की दौड़ में अपने आसपास के सभी गाँवों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया, तब सभी देखते रह गये । कल तक जो गाँव राज्य का सबसे पिछड़ा गाँव था, वही देखते-देखते तीन चार-साल के थोड़े अरसे में ही आदर्श गाँव की पंक्ति में आ बैठेगा । इसकी कल्पना किसी को नहीं थी, गाँव वालों को भी नहीं । इसीलिए दूर-दूर से लोग उस गाँव को देखने के लिए आते और उसकी सफलता का रहस्य जानने की कोशिश करते । जब उन्हें यह मालूम होता कि इस छोटे-से गाँव का कार्याकल्प करने में भोले बाबा जी का प्रमुख हाथ रहा है, तो वे दाँतों तले अँगुली दबा लेते । उन्होंने अब तक ऐसे साधु-महात्माओं के बारे में ही अधिक सुन रखा था, जो लोगों को लूट-खसोटकर चलते बनते हैं । पिछले

साल की बात है। पास के एक गाँव में एक बाबा मन्दिर बनवाने के नाम पर लोगों का हजारों रुपया डकार कर चम्पत हो गया था और उस गाँव की बताशी बुआ तो आज भी उस साधु के नाम को रोती रहती हैं। उस बेचारी का तो सारा गहना ही दुगुना करने के बहाने उसने ऐंठ लिया था।

भोले बाबाजी ऐसे साधुओं की बिरादरी में नहीं आते थे। सुबह-शाम मंदिर में घन्टे-घड़ियाल बजाकर स्वाँग भरते शायद ही कभी किसी ने उन्हें देखा हो। दीन-दुःखियों और पीड़ित समाज की सेवा को ही वे ईश्वर की सच्ची आराधना समझते और कर्मठता को अपने जीवन का मूलमन्त्र मानते। रोजाना भोर होने से पहले ही वे उठ जाते और नित्य के कामों से निबटकर घन्टा-डेढ़ घन्टा भगवद् चिन्तन और अध्ययन-मनन में लगाते। इसके बाद अपनी बगीची में पेड़-पौधों की निराई-गुड़ाई और सिंचाई करके अपनी झोली कन्धे पर डालकर गाँव में निकल जाते। अपना अधिकांश समय लोगों को विकास कार्यों की ओर उन्मुख करने में लगाते। रोजाना बिना नागा उनकी कुटिया पर लोगों की बैठक होती और उसमें घन्टों विभिन्न विषयों पर चर्चा चलती। बस यही बाबाजी की रोजाना की दिनचर्या थी।

लगभग चार साल हुए जब भोले बाबा इस गाँव में आये थे। उस समय गाँव की हालत बहुत खराब थी। वह अपने आसपास के गाँवों में सबसे पिछड़ा गाँव था और लोग अच्छी तरह उस गाँव का नाम तक नहीं जानते थे। गाँव के लोग बुरी तरह रूढ़ियों और कुसंस्कारों से जकड़े थे। जन्म और मरण-भोज पर सैकड़ों रुपया पानी की तरह बहो पैसा उनके लिए मामूली-सी बात थी। कोई जलकर, पानी में डूबकर या अचानक मर जाता तो लोग उसे प्रेत-आत्मा की माया के अलावा और कुछ भी नहीं समझते। पानी न बरसने, बाढ़ आने या महामारी फैलने पर उसे भगवान् का कोप समझकर चुप रह जाते। किसी के बीमार पड़ने पर डॉक्टर या वैद्य को न बुलाकर झाड़-फूँक करने वालों के चक्कर में पड़कर अपना धन लुटाते। गाँव के लोगों में आपस में भी भारी मनमुटाव और मुकद्देबाजी का बोलबाला था। जरा-सी बात के लिए हजारों रुपया मुकद्दमों पर फूँक देना वे अपने लिए गौरव की और प्रतिष्ठा की बात समझते थे। उनकी इस फूट का गाँव के सरपंच और पटवारी लोग भरपूर फायदा उठाते थे। वे एक-दूसरे को आपस में लड़ाकर मुकद्देबाजी कराते और फिर दोनों पक्षों से मनमाना पैसा ऐंठकर अपनी चाँदी बनाते। खाली समय में लोगों को चौपाल पर बैठकर गप्पें लड़ाने, एक-दूसरे की निंदा करने और हुक्क गुड़गुड़ाने के अलावा कोई काम नहीं था। भोले बाबा जी उस गाँव में रहने के विचार से नहीं आये थे। वे तो शिवालिक की घाटियों में तपस्या करने के लिए जाते समय उस गाँव में दो दिन के लिए ठहर गए थे। इन दो दिनों में उन्होंने जो जो दृश्य गाँव में देखे, उनसे उनकी आत्मा सिहर उठी और उन्होंने वहीं रहकर समाज-सेवा करने का संकल्प कर डाला।

बात यों हुई। उस दिन शाम को गनपत की पत्नी, मैना अपनी भैंस को बाहर नीम के पेड़ से खोलकर उसे उसारे में बाँधने गई थी। अचानक वह किसी चीज से ठोकर खाकर नीचे गिर पड़ी और चीखकर

बेहोश हो गई। उसकी चीख-पुकार सुनकर गनपत और उसके पड़ोसी दौड़ पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि मैना अचेत पड़ी है। उसकी साँसें ठीक से नहीं चल रही थीं और उसके जबड़े भी आपस में भिच गये थे। यह देखकर गनपत बुरी तरह से घबरा गया। उसकी समझ में नहीं आया कि वह क्या करे? इतने में कुछ लोग बोले कि इसे कोई प्रेत-आत्मा लग गई है। जल्दी से फुलवा सयाने को बुलाओ। बात की बात में कोई फुलवा सयाने को बुला लाया। उसने मैना को देखते ही कहा— “अरे, पीछे हटो। इसे तो पीरवाले बाबाजी लग गए हैं। जल्दी से आग जलाओ। मैं अभी इसका भूत उतारने के लिए मन्त्र फूँकता हूँ।”

लोगों ने तुरन्त आग जला दी। रामलाल ग्राम सेवक ने उन्हें ऐसा करने से रोकना चाहा और कहा— “अरे भाई, क्यों इस बेचारी की जान लेने पर तुले हुए हो। इसे भूत-चुड़ैल कुछ भी नहीं, बल्कि हिस्टीरिया (उन्मादवायु) का दौरा पड़ा है। यह सब कमजोरी और थकावट से होता है। इसका इलाज जंतर-मंतर से नहीं……” लेकिन रामलाल की बात नक्कर खाने में तूती की आवाज बनकर रह गई। फुलवा ने अपना खेल शुरू कर दिया। उसने आग में धूनी डाली और ‘खप्पर मैया की जय’ कह कर मन्त्र फूँकना शुरू कर दिया। फिर उसने चिमटे से मैना की पिटाई करते हुए पूछा— “बोल, तुझे पीरवाले बाबाजी लगे हैं न?” उसे कोई उत्तर न देते देख फुलवा ने उसकी चिमटे से इतनी पिटाई की कि वह बेचारी दो महीने तक खाट से नीचे पैर न उतार सकी।

इस घटना से अगले ही दिन एक बात और हो गई थी। शंकर ने चेताराम के खलिहान में इसलिए आग लगा दी कि उस साल उसके खेत में सबसे अधिक पैदावार हुई थी और उसे सरकार की ओर से पुरस्कार मिलने की भी पूरी आशा थी। इससे चेताराम के लड़के गोपाल के मन में ईर्ष्या पैदा हुई, उसने अगले दिन शंकर के दोनों बैल ही गायब करा दिये। इससे दोनों परिवारों के बीच शत्रुता बढ़ गई और इसने फौजदारी के बीज बो दिये।

इन घटनाओं से भोले बाबाजी के दिल पर बहुत असर हुआ। दो दिन बाद जब वे उस गाँव को छोड़कर चलने को तत्पर हुए तो उनकी अन्तरात्मा ने उनके पाँव जकड़ लिये। उन्हें लगा कि जैसे कोई रोकते हुए उनसे कह रहा हो— “बाबा, शिवालय की घाटियों में तपस्या करके क्या लोगे? ईश्वर की सच्ची आराधना तो समाज में रहकर उसका सुधार और कल्याण करने में ही है।”

भोले बाबाजी के हृदय में समाज-सेवा की लौ बचपन से ही प्रज्ज्वलित थी। बस, फिर क्या था। उन्होंने अपनी अन्तरात्मा की आवाज को भगवान् की वाणी समझकर उस पर चलने का दृढ़ निश्चय कर डाला।

गाँव के छोर पर एक बगीची थी। काफ़ी दिनों से किसी ने भी उसकी सुध नहीं ली थी। कुआँ, मन्दिर और कुटिया सभी कुछ होते हुए भी वह बगीची बिल्कुल उजाड़ पड़ी थी। भोले बाबाजी ने उसी बगीची में अपना डेरा जमा लिया। कुछ ही दिनों में बाबाजी के हाथों का प्यार-दुलार पाकर उस बगीची में फिर से बहार आने लगी और साथ-साथ गाँव के दिन भी फिरने लगे।

बाबाजी ने शुरू में गाँव के लोगों से अपना मेलजोल बढ़ाना । शुरू कर दिया । वे सुबह ही अपनी झोली कंधे पर डालकर गाँव में निकल जाते और हर काम में लोगों का साथ देते । वे दुःख-दर्द में उनका हाथ बँटाते और समस्याओं को सुलझाने में उनकी पूरी मदद करते । बाबाजी की नेक सलाह से सबका काम बन जाता था । इसलिए वे जल्द ही गाँव वालों के बीच लोकप्रिय हो गये । एक दिन उपयुक्त अवसर पाकर उन्होंने गाँव वालों को विकास और सही रास्ते पर चलाने का काम प्रारम्भ कर दिया ।

शुरू-शुरू में ग्राम-पंचायत के प्रधान, पंच और पटवारी आदि ने उनके कार्यों में रोड़े अटकाने चाहे, लेकिन बाबा जी के सरल-सीधे और निष्कपट व्यवहार से गाँव वाले इतने प्रभावित हो चुके थे कि उनके सामने इन समाज-विरोधी लोगों की एक न चली । गाँव के लोग उनकी करतूतों से पूरी तरह परिचित हो चुके थे । वे जान गये थे ये लोग उन्हें गुमराह करके अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं । बाबा जी के बताये सही रास्ते पर चलने में ही उनकी भलाई और कल्याण है, यह सब लोग अच्छी तरह समझ चुके थे ।

इसलिए अन्त में हवा के रुख को अपने विपरीत बहते देख कर उन्होंने भी सबके साथ चलने में ही अपनी खैर समझी । बाबा जी स्वभाव के जितने मृदुल थे, कर्तव्य के प्रति उतने ही कठोर और सजग भी थे । एक बार जो भी व्यक्ति उनके निकट सम्पर्क में आ जाता, वही उनका कर्तव्यनिष्ठ साथी बन जाता । इस तरह बराबर उनके निकट सम्पर्क में रहने के कारण लोगों के आचार-विचारों में एक बारगी परिवर्तन आ गया । उनका व्यवहार, चाल-चलन सीक और स्वभाव शुद्ध हो गया । लोगों के हृदय में डाह, जलन, छल-कपट, घृणा और ईर्ष्या के भाव लेशमात्र भी न रहे । उनमें आपस में कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करने की प्रेरणा जाग उठी । युवकों और स्त्रियों में भी ग्रामोत्थान की भावना घर कर गई । इस तरह उनके आपसी सहयोग और संगठन के बल पर गाँव में सुख-समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो गया । फलस्वरूप तीन-चार साल के थोड़े समय में ही गाँव को उन्नति के शिखर पर पहुँचने में देर न लगी । वह गाँव पूरे प्रदेश में आदर्श गाँव के रूप में विख्यात हो गया ।

गाँव में प्राइमरी स्कूल का पक्का भवन और पंचायत घर बन गया । धीरे-धीरे गाँव में रेशमी का प्रबन्ध हुआ और एक छोटा-सा डाकघर और सरकारी दुकान भी खुल गई । सबको प्रतिदिन चिट्ठियाँ और जरूरत की चीजें निश्चित दाम पर आसानी से मिलने लगीं । बेकरार समय में लोग रस्सी, टोकरी और चटाई आदि बुनने का काम करने लगे । इससे उनके समय का सदुपयोग होने लगा और उन्हें उनके पत्रिम का उचित दाम भी मिलने लगा ।

गाँव में युवक-दल, महिला-मंडल और किसान-संघ गठित हो गये । उन्होंने गाँव से प्रमुख मार्ग तक एक पक्की सड़क भी बना डाली । इस तरह जिस गाँव का नाम कल तक कोई नहीं जानता था, वही देखते-देखते बाबा जी के सद्प्रयत्नों और गाँव वालों की मेहनत, लगन और सहयोग के बल पर इतना ऊँचा उठ गया कि वह अपने

जिले में ही नहीं पूरे राज्य के लिए भूषण बन गया । बाबाजी की सेवा की सच्ची लगन का ही यह चमत्कार था ।

महर्षि दधीचि का त्याग

त्वेष्टा का पुत्र विश्वरूप देवताओं का पुरोहित और असुरों का भान्जा था । वह प्रत्यक्ष रूप से तो देवताओं को भाग (यज्ञ भाग) देता और असुरों को छिपे-छिपे देता था ।

तब हिरणकशिपु को अगुआ बनाकर असुरों ने विश्वरूप की माता-अपनी बहन से कहा— बहिन ! यह तुम्हारा पुत्र, त्यष्टासन विश्वरूप त्रिशिर जो कि देवताओं का पुरोहित है, देवताओं को तो प्रत्यक्ष रूप से भाग देता है और हमें छिपा कर । इसलिये देवता बढ़ते और हम नष्ट (दुबले) होते जाते हैं । तुम इसे रोको, जिससे यह हमारा साथ देवे ।

असुरों की इच्छानुसार विश्वरूप से माता ने कहा— ‘हे पुत्र ! तू शत्रु पक्ष को बढ़ाता हुआ मातुल पक्ष का नाश क्यों करता है ? तुझे यह करना उचित नहीं ।’ वह विश्वरूप ‘माता का वचन उल्लंघन करने योग्य नहीं’ यह समझकर और उसे आदरपूर्वक ग्रहण करके हिरणकशिपु के पास गया । इधर ब्रह्म पुत्र वशिष्ठ ने हिरणकशिपु को शाप दिया हुआ था कि चूँकि तूने दूसरे को होता बना लिया अतएव यज्ञ पूर्ण बिना हुए ही तू अपूर्व प्राणी से मारा जायेगा । उसके शाप देने से ही हिरणकशिपु वध को प्राप्त हुआ ।

तब मातृ पक्ष को बढ़ाने वाला विश्वरूप घोर तप करने में लगा, उसका तप नष्ट करने के लिये इन्द्र ने बहुत-सी रूपवती अप्सरा भेजीं । उन्हें देख कर उसका मन चंचल हो गया । तुरन्त ही वह उन अप्सराओं में फँस गया । उसको फँसा हुआ जानकर अप्सराओं ने कहा कि हम अपने स्थान को जाती हैं ।

त्वेष्टा पुत्र विश्वरूप ने उनसे कहा— ‘कहाँ जाओगी ! यहाँ मेरे पास ही बैठो, तुम्हारा कल्याण होगा ।’ उन्होंने उससे कहा ‘हम देवताओं की स्त्रियाँ अप्सरायें हैं, हम सब कामनापूर्ण करने वाले समर्थ इन्द्र को ही वरेंगी ।’

विश्वरूप ने उनसे कहा— ‘आज ही इन्द्र सहित सब देवता न रहेंगे, नष्ट हो जायेंगे ।’ तब उसने मंत्रों का जाप किया । इन मंत्रों के प्रभाव से वह बढ़ा और उसके तीन सिर हो गये । उसने एक मुख में तो सब लोकों में अग्निहोवादि करने वाले ब्राह्मणों द्वारा विधिपूर्वक हुत सोम का पान किया, एक से (दूसरे से) अन्न और (तीसरे से) देवताओं का भक्षण करना प्रारम्भ किया ।

तब सोमपान से पुष्ट शरीर वाले उस विश्वरूप को बढ़ता हुआ देखकर इन्द्र देवताओं सहित चिंता में पड़ गया । इन्द्र सहित देवता ब्रह्मा के पास पहुँचे । उन्होंने कहा— ‘विश्वरूप सब यज्ञों में हवन किया सोम पी जाता है, हमारा भाग ही न रहा, इसलिये असुर बढ़ रहे हैं और हम क्षीण हो रहे हैं । आप अब हमारा कल्याण कीजिये ।’

ब्रह्मा ने उनसे कहा— ‘भृगु पुत्र दधीचि ऋषि तप कर रहे हैं । जाकर उनसे वर माँगो । ऐसा करो, जिससे वह अपना शरीर त्याग दें, तब उसकी हड्डियों से बज्र बनाओ ।’ तब देवता लोग भगवान्

दधीचि ऋषि जहाँ तप कर रहे थे, वहाँ पहुँचे। इन्द्र सहित देवता उनके पास जाकर बोले।

दधीचि ने उनसे कहा— “आप लोगों का स्वागत है, कहिये क्या करूँ ? जो आप लोग कहेंगे, उसे मैं पूरा करूँगा।” उन्होंने उनसे कहा— “लोक के कल्याण के लिये आप अपना शरीर परित्याग कर दीजिये।”

तब सुख-दुःख को समान समझने वाले महायोगी दधीचि ने बिना किसी प्रकार का दुःख प्रकट किये अस्मा को समाधिस्त कर शरीर छोड़ दिया। शरीर से जीवन के निकल जाने पर ब्रह्मा ने वे हड्डियाँ ले बज्र बनाया। न टूटने वाले दुर्जय ब्राह्मण की हड्डी से बने हुए विष्णु अविष्ट उस बज्र से इन्द्र ने विश्वरूप को मार और उसके सिर काट लिये। संसार पर आई हुई विपत्तियों का निवारण करने के लिये साधु पुरुष अपने शरीर का परित्याग कर देते हैं।

महर्षि कणाद शिष्य धौम्य—सही साधनों का अनुसंधान

“आपकी साधना, आपका तत्त्व ज्ञान, आपका ब्रह्मवर्चस् विश्व के कल्याण के लिए है भगवन् ! पर यह कहाँ सम्भव है कि आप सुदूर प्रान्तों का निरन्तर परिव्रजन करते रहें और लोगों की ज्ञान-पिपासा को तृप्त करें। गुरुकुल की स्थापना करनी ही होगी देव ! उसके बिना भावी पीढ़ी का आध्यात्मिक प्रशिक्षण किस प्रकार बन पड़ेगा ? आप ही तो कहते हैं, कि धर्म-तत्त्व का प्रशिक्षण और प्रसार किए बिना लोक-जीवन का चारित्रिक, बौद्धिक, सामाजिक और आत्मिक विकास नहीं हो पाता।”

“सो तो यथार्थ है तात् !” महर्षि कणाद ने शिष्य धौम्यपाद के कथन का समाधान करते हुए कहा— “वत्स ! जिस राष्ट्र के नागरिकों को शिक्षा के साथ दीक्षा नहीं मिलती वहाँ लोगों की बौद्धिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी क्षमताएँ कुण्ठित हो जाती हैं। इसलिए विद्यालय का निर्माण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। पर, गुरुकुल चलते हैं जिन पर, ऐसे साधन कहाँ से उपलब्ध होंगे ?”

“आप उनकी चिन्ता न करें देव ! मुझे आदेश दें, साधनों का अनुसंधान मैं करूँगा। मैं लोगों के दरवाजे-दरवाजे जाकर साधन एकत्रित करूँगा। आवश्यकता हुई तो इस पुनीत उद्देश्य के लिए भीख भी माँगूँगा। वन के पक्षी अपना आहार जुटा लेते हैं। वणिक नौकाओं में धान्य लादकर समुद्र की विस्तृत सीमाएँ लाँघ जाते हैं और द्रव्यार्जन कर लाते हैं। बादल बरसने की इच्छा करते हैं तो उन्हें समुद्र से जल मिल जाता है। देव नदी गंगा ने जब लोक-कल्याण के लिए अपनी धर्म यात्रा आरम्भ की तब उन्हें भी ऐसी ही चिन्ता हुई थी, पर क्या हिमालय का अंचल इतना संकीर्ण था कि वह गंगा माता को वर्ष भर निरन्तर प्रवाहित होने के लिए जल न दे पाता ? भगवन् ! मुझे विश्वास है सदुद्देश्यों के लिए साधनों का कभी अभाव नहीं होता।” धौम्य ने एक बार फिर अपना बिनम्र निवेदन दुहराया।

“तुम्हारा संकल्प पूर्ण हो वत्स ! जाओ मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। तुम गुरुकुल की स्थापना के लिए साधनों की खोज करो।” महर्षि कणाद ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया। ऐसा लगता था उनकी मुस्कराहट में कुछ गहरा रहस्य छुपा है।

धौम्य चल पड़े। सम्पूर्ण राष्ट्र के नाम एक परिपत्र वितरित कर उन्होंने प्रजा से सहयोग की याचना की। उस समय महर्षि कणाद की तपश्चर्या का प्रभाव शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति दिव्य और निष्कलंक चमक रहा था। परिपत्र को पढ़कर जन-जीवन में उल्लास आ गया। तपस्वी, वैज्ञानिक, महर्षि की सेवा में धन-वैभव का कुछ अंश लगा सकें यह प्रत्येक के लिए सौभाग्य की बात थी। जिसके पास जो कुछ था— खुशी-खुशी देने लगे। देखते-देखते धन-धान्य, रत्न, सोने, चाँदी तथा वस्त्राभूषणों के ढेर लग गए। किसी ने भवन निर्माण का उत्तरदायित्व ले लिया, किसी ने छात्रों की भोजन व्यवस्था का। एक वर्ष के भीतर ही साधनों का अम्बार लग गया। धौम्यपाद सगर्व गुरुदेव के पास पहुँचे और उन्हें प्राप्त किए साधनों की तालिका भेंट की।

तालिका के अंकित अक्षरों को पढ़ते गए ऋषि कणाद, उतनी ही उनकी मुख मुद्रा गम्भीर होती गई। उन्होंने कहा— “तुम्हारा उत्साह सार्थक हो धौम्य, गुरुकुल की स्थापना का काम प्रारम्भ कर दो। विद्यार्थियों के प्रवेश का प्रबन्ध अविलम्ब किया जाय। पर इससे पहले यह एकत्रित धन-सामग्री जहाँ से आयी है, यथावत् उसे अविलम्ब वापस कर दिया जाय। जिन साधनों की आवश्यकता थी वे अभी तक नहीं मिले, अभी उनकी खोज करनी होगी।” महर्षि का प्रतिवाद करने की हिम्मत धौम्य में थी ही कहाँ ? उन्होंने आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। जहाँ से धन आया था, वापस लौटा दिया गया।

ऋषि कणाद ने उसी दिन मौन व्रत ले लिया। वाणी के प्रसुप्त होते ही स्वप्न जाल की भाँति उनकी क्रियाशीलता जाग पड़ी। महर्षि प्रतिदिन सूर्योदय होते ही जंगल में प्रवेश कर जाते और दिन भर लकड़ियाँ काटते रहते। एक महीने में इतनी लकड़ियाँ इकट्ठी हो गयीं, जिससे छात्रों के आवास का प्रबन्ध किया जा सके। अगले महीने काँस और फूस की उतनी ही मात्रा काटी कणाद ने, जिससे पर्णकुटीरों में छाया का यथेष्ट प्रबन्ध हो जाता। अगले मास महर्षि ने सघन वृक्षारोपण का कार्य प्रारम्भ किया। कुछ ही समय में पौधे बढ़ते दिखाई देने लगे। चारों ओर हरियाली छा गई। इसी बीच उन्होंने पर्णकुटीर तैयार किये। निजी आश्रम, शिक्षकों के निवास, छात्रावास और पाठन कक्ष के निर्माण में ऋषि ने अपने स्वेद कणों की एक-एक बूँद उत्सर्ग कर दी। तब कहीं जाकर गुरुकुल की स्थापत्य आवश्यकताएँ पूरी हो पायीं।

इस बीच भी उन्होंने अपनी आवश्यकता खेतों से बीने हुए दानों से ही पूर्ण की। महर्षि के इस कठोर श्रम को देखकर देश का जन-जन रोमांचित हो उठा। हरेक की ब्रह्मा महर्षि का चरण चूमने के लिए मचल उठी। लोगों ने अपने बालकों को भोजना आरम्भ कर दिया

और इस प्रकार गुरुकुल की स्थापना हो गई। उसका प्रथम सत्र शुरू हो गया।

विद्यार्थियों की संख्या पर्याप्त हो गई। सामान्य किसानों के बच्चों से लेकर महात्माओं और महाराजाओं तक के बच्चों ने प्रवेश लिया। जन-जन को विश्वास था महर्षि कणाद की तपश्चर्या और ब्रह्मनिष्ठा पर। इसलिए जिनके भी लड़के विद्यालय में प्रविष्ट हुए, उन्होंने अपना अहोभाग्य समझा। किन्तु महर्षि को अब तक कोई भी सहायक उपलब्ध नहीं हुआ था। धौम्यपाद उनके आश्रम की देख-रेख करते थे। पर छात्रों के विद्याध्ययन से लेकर उनकी सामान्य देख-रेख तक का सारा कार्य महर्षि को स्वयं ही देखना पड़ता था। प्रथम सत्र के समापन का समय समीप आ चुका था। अब तक उन्होंने एक दिन भी विग्राम नहीं किया था। आश्रम के अतिरिक्त वे समीपवर्ती गाँव भी न जा पाए थे। उनकी श्रमशीलता, लगन और अध्यवसाय के साथ महान् तप और त्यागवृत्ति की चर्चा सारे विश्व में छा गई। वृद्ध होने पर भी अभी उनके शरीर में किसी प्रकार की थकावट के लक्षण परिलक्षित नहीं हो रहे थे।

वर्षा का आगमन निकट देखकर एक दिन उन्होंने विचार किया कि बरसात में जंगल का सम्पूर्ण काष्ठ गीला हो जायेगा। इसलिए समिधाओं के लिए सूखा ईंधन इकट्ठा कर लेना चाहिए। कुल्हाड़ी और रस्सियाँ लिए छात्रों के साथ कुलपति कणाद वन की ओर चल पड़े। उनके वृषभ स्कन्ध पर कुल्हाड़ी विराजमान थी और वे आह्लाद के साथ आगे बढ़ते हुए जा रहे थे। मौन शिष्य मंडल पीछे-पीछे चल रहा था। बादलों ने छाया कर दी थी। सूर्यदेव ने अपना आक्रोश हलका कर लिया था, इसलिए मौसम और भी सुहावना हो रहा था। ऋषि ने शिष्यों के साथ सायंकाल तक लकड़ियाँ काटीं। उनकी गौरवर्ण वृद्ध देह से झर रहे स्वेद बिन्दु ऐसे दीख रहे थे जैसे हिम-शिखर से गंगा का फैलाव मन्दगति से उतर रहा हो। उनकी मुखाकृति और भी उदीप्त हो उठी थी। एक-एक विद्यार्थी की वही स्थिति थी। अपने-अपने गड्ढर लिए सभी छात्रों ने जब आश्रम में प्रवेश किया तब ऐसा लग रहा था जैसे, श्रम, संयम, स्वावलम्बन और अध्यवसाय ने अनेकों भव्य रूप ले रखें हों और धीरे-धीरे आश्रम की प्राचीरों में समाते चले जा रहे हों।

ईंधन, समिधाएँ सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाकर जब सब विद्यार्थी संध्या वंदन के लिए बैठे, तब भी महर्षि देख रहे थे कि इन सब के भोजन की व्यवस्था हो गई है या नहीं? किसी पर्णकुटीर में छेद तो नहीं हो गए, कल के लिए समुचित खाद्यान्न जुटाया जा चुका है या नहीं?

बालक अपने-अपने कक्ष में पहुँच चुके थे। दीप-वृन्द जल उठे थे। शान्त वातावरण में स्वाध्याय करते छात्र ऐसे भले लग रहे थे—जैसे नक्षत्रों से फूटती दिव्य किरणों ने मूर्त स्वरूप धारण कर लिया हो और तब महर्षि कणाद ने स्नान कर साधना कक्ष में प्रवेश किया। किन्तु आज उनका शरीर इतना थक चुका था कि साधना प्रकोष्ठ की तीन सीढ़ियाँ उनसे चढ़ी न जा सकीं। अन्तिम पैर बढ़ाते

ही वह लड़खड़ा गए। उनकी कृश देह माँ गायत्री के सम्मुख जा गिरी। ऋषि अचेत हो गए।

धौम्य भागते हुए आये। जल के छीटे देकर उन्होंने गुरुदेव को सँभाला। अचेतनता दूर हुई। ऋषि ने आँखें खोलीं। पूछा—“धौम्य! विद्यालय के लिए किन्हीं साधनों का अभाव हो तो खोजना, उसे पूरा करना। अब यह शरीर बहुत थक गया है।” उनकी चरण रज मस्तक पर लगाते हुए धौम्य ने उत्तर दिया—“गुरुदेव! आपने जिन साधनों की आवश्यकता अनुभव की मैंने उन्हें देर से समझा। पर यह समझ अब कभी धूमिल न पड़ेगी।” सुनकर महर्षि की आँखें ज्योतिर्गोचर हो उठीं, मुख मंडल पर सौम्य विश्वास की आभा फैल गई। उनके प्राण—प्राणों की अधिष्ठात्री—गायत्री में विलीन होने लगे।

समाज सृष्टा—महात्मा भगवानदीन

वास्तव में उन व्यक्तियों का हृदय कितना विशाल और आत्मा कितनी महान् होती होगी, जो बिना किसी प्रयोजन अथवा स्वार्थ के किसी की प्रेरणा के बिना यों ही अपना जीवन-समाज, राष्ट्र अथवा मानवता की सेवा में समर्पण कर देते हैं। निःसन्देह ऐसे व्यक्ति मनुष्य योनि में होते हुए भी देवता ही होते हैं। महात्मा भगवानदीन भी एक ऐसे मनुष्य रूपी देवता थे।

महात्मा भगवानदीन बाल्यकाल से ही कुछ विशेष विचारशील थे। अन्य आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर वे थोड़ी देर बैठकर कुछ न कुछ चिन्तन-अवश्य किया करते हैं। उस समय तो लोग उनके इस काम को एक पागलपन समझते थे और कहा करते थे कि यह लड़का अकेले में बैठकर न जाने क्या सोचा करता है। पर बाद में आगे चलकर उनके कार्यों को देखकर लोगों को पता चला कि वह बालक यों ही निरर्थक कल्पना-लोक में विहार नहीं करता था, बल्कि देश और धर्म के विषय पर बड़े ही क्रियात्मक ढंग से विचार करता था।

विचार क्रिया की एकाग्रता की उपलब्धि करके महात्मा भगवानदीन ने सबसे पहले जैन धर्म और जैन शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। जिस अभ्यास बल से उन्होंने विचार क्रिया की सिद्धि की थी उसी अभ्यास ने उन्हें शास्त्र मंथन में बड़ी सहायता की। जिस समय वे किसी शास्त्र का अध्ययन करने के लिये बैठते थे, तो केवल उसका साधारण पाठ ही नहीं करते थे बल्कि उसके एक-एक वाक्य, एक-एक अक्षर की गहराई में उतरते थे। शास्त्रों में इस पैठ की विशेषता उनको अपनी ज्ञान-जिज्ञासा के जागरण से सहज प्राप्त हो गई थी। जो ज्ञान का इच्छुक है, आत्मा और परमात्मा के रहस्यों को जानना चाहता है, वह ज्ञान की किसी भी पुस्तक में स्वयं ही नहीं उतरता बल्कि उसकी शिक्षाओं को भी अपने जीवन और अपने व्यवहार में उतार लेता है।

उदार दृष्टिकोण और समर्पित मनोबुद्धि से शास्त्र मंथन का जो परिणाम होता है वह महात्मा भगवानदीन को भी प्राप्त हुआ! मन,

बुद्धि, ज्ञान से सराबोर होकर वे स्थिर हो गये, आत्मा के रहस्यों का उद्घाटन होने लगा, जिससे स्वभावतः उनकी चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गईं। पर महात्मा भगवानदीन के अन्तर्मुखी होने का यह अर्थ कदापि नहीं था, कि बस अब उनको आत्मानन्द प्राप्त हो गया और वे उसी में लीन होकर संसार को तिलांजलि देकर उसे उसके भाग्य पर छोड़कर स्वयं एकान्तवास कर लें, संन्यास ले लें।

महात्मा भगवानदीन ने जब आत्मानन्द की अनुभूति की तब उन्होंने ठीक प्रकार से जाना कि वास्तव में उनके मानव-बन्धु संसार में गलत भावना से लिपटे हुये कितना भयंकर दुःख भोग रहे हैं। अपने आत्म-सुख की तुलना में मनुष्यों के दुःख की समीक्षा करते-करते वे बड़े ही करुणार्द्र हो उठे। अपने मानव-बन्धुओं को उनकी दुर्दशा में छोड़कर अन्धकार में भटकने देकर आत्म-सुख का उपभोग करने में उन्हें बड़ा ही जघन्य स्वार्थ मालूम पड़ा। उन्होंने अपने महान्तम आत्मानन्द को जनसेवा में बदल देने का निश्चय कर लिया।

जनसेवा का व्रत लेकर उन्होंने उसकी रूपरेखा निर्धारित करने के लिए विचार करना शुरू कर दिया। विचार करते-करते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक देश के बच्चों तथा तरुणों के चरित्र का ठीक-ठीक निर्माण नहीं होगा समाज का सच्चा कल्याण नहीं हो सकता। एक अच्छे समाज के निर्माता बच्चे तथा तरुण ही हुआ करते हैं और इनका समुचित निर्माण चरित्र के सुधार से ही हो सकता है। इस प्रकार समाज का निर्माण व्यक्तियों के चरित्र निर्माण पर ही निर्भर करता है।

एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच कर उन्होंने हस्तिनापुर में ऋषभ-ब्रह्मचर्याश्रम नाम से एक चरित्र-निर्मात्री संस्था की स्थापना की। इस आश्रम के नियम बनाते समय महात्मा भगवानदीन ने बड़ी ही बुद्धिमानी, सावधानी तथा सतर्कता से काम लिया। ये आश्रम के कोई ऐसे जटिल नियम न बनाना चाहते थे जो व्यवहार में न लाये जा सकें, अथवा जिनको देख सुनकर तरुण वर्ग आश्रम को दूर से ही हाथ जोड़ ले। साथ ही वे इतने अधिक नियम न बनाना चाहते थे जो अपनी दीर्घ संख्या के कारण किसी आश्रमाश्रित को चारों ओर से एक बड़े जाल की तरह घेर लें।

एक सीमित संस्था में सर्वांशाय-सम्पादक ऐसे नियम बना सकना, जो कि पूर्ण रूप से सरल एवं व्यवहार्य हों, कोई आसान काम न था। किन्तु व्यवस्थित मस्तिष्क, सन्तुलित चित्त और सकर्मक विचार रखने के कारण महात्मा भगवानदीन को इसमें कोई कठिनाई नहीं हुई। जिसने अपने मन, मस्तिष्क तथा आचार व्यवहार को सन्तुलित एवं व्यवस्थित कर लिया है मानो उसने जीवन की समय समस्याओं का समाधान अपनी मुट्ठी में कर लिया है।

उन्होंने आश्रम के लिये केवल चार नियम बनाये—

(१) ब्रह्मचर्य पालन, (२) स्वावलम्बन, (३) मितव्ययिता तथा (४) सेवा। निःसन्देह यह चार नियम ही वे चार स्तम्भ हैं जिन पर जीवन-निर्माण का बड़े से बड़ा भवन खड़ा किया जा सकता है।

ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य के शरीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक तीनों प्रकारों के स्वास्थ्यों की उन्नति होती है। मन के बलवान और

शरीर के बलिष्ठ होने से मनुष्य में साहस की वृद्धि होती है जिससे वह संसार में निर्भीकतापूर्वक किसी भी कठिन से कठिन कार्य को अनवरत रूप से करता रह सकता है और अनवरत कार्यरत रहने का अर्थ है 'सफलता' जिससे मनुष्य को एक अनिर्वचनीय प्रसन्नता की उपलब्धि होती है। जहाँ चित्त प्रसन्न है, जहाँ बुद्धि स्थिर है और जहाँ बुद्धि चंचल नहीं है वहाँ दुर्गुणों अथवा दुर्विकारों का प्रश्न ही नहीं उठता।

स्वावलम्बन मनुष्य को आत्मविश्वासी एवं आत्मनिष्ठ बनाता है। हर कार्य अपने हाथ से करने में अभ्यास बढ़ता है जिससे कार्य-कौशल की उपलब्धि होती है। सारे काम अपने हाथ से करने वाला परमुखापेक्षी होकर कभी पराधीन नहीं होता और पराधीनता का दुःख तथा स्वाधीनता का सुख भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। पर-निर्भरता न होने से स्वावलम्बी के सारे कार्य समय से स्वेच्छापूर्वक होते हैं, जिससे मन को एक मधुर सन्तोष का सुख मिलता है। स्वावलम्बी स्वभावतः पश्चिमी एवं पुरुषार्थी बनकर आलस्य, प्रमाद, विलम्ब अथवा स्थगन जैसे व्यसनों के वशीभूत नहीं होता और जो व्यसनी नहीं होता उसका जीवन निर्मल एवं निर्विरोध जल धारा की तरह बहता चला जाता है।

मितव्ययिता का दूसरा अर्थ सम्पन्नता ही मानना चाहिये। जो मितव्ययी है उसकी आवश्यकतायें सीमित रहती हैं और जिसकी आवश्यकतायें सीमित हैं उसको अभाव अथवा अधन की पीड़ा कभी सहन नहीं करनी पड़ती। मितव्ययी पैसे का मूल्य जानता है अतएव बुद्धिमत्तापूर्वक उसका समुचित उपयोग करता है। पैसे का समुचित उपयोग करने की कला जानने वाला कम से कम साधनों में सुन्दर से सुन्दर ढंग से रह सकता है। मितव्ययी के स्वभाव में सरलता और रहन-सहन में सादगी का समावेश हो जाता है। मितव्ययिता का गुण ब्रह्मचर्य पालन एवं स्वावलम्बन के निर्वाह में सहायक होता है। मितव्ययी को दरिद्रता, दीनता, दयनीयता अथवा अदेयता का कलंक नहीं लगने पाता जिससे वह निष्कलंक, निर्युक्त एवं निर्द्वन्द्व जीवनयापन करता हुआ सदा सुखी रहता है।

धार्मिक सहिष्णुता के वे बड़े जबरदस्त समर्थक थे। उन्होंने अपने तत्वावधान में अनेक अन्तर्जातीय विवाह कराये और समाज विरोधी अनेक अनावश्यक तथा हानिकारक रूढ़ियों व रीतियों का मूलोच्छेदन किया।

महात्मा भगवानदीन आध्यात्मिक क्षेत्र में एक सम्पूर्ण महात्मा, सामाजिक क्षेत्र के श्रेष्ठ नागरिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में महान् देश-भक्त थे। जीवन के प्रारम्भिक काल में उन्होंने संयम, पश्चिमा एवं पुरुषार्थ के गुणों के साथ अपने जिस जीवन का निर्माण किया था, अस्सी वर्ष की आयु तक उसका ठीक-ठीक उपयोग करके चार नवम्बर सन् १९६४ को स्वर्ग सिधार गये। महात्मा भगवानदीन का पंच भौतिक शरीर आज अवश्य नहीं है किन्तु देश के असंख्यों नागरिकों के चरित्र तथा साहित्य में विचारों के रूप में वे आज भी हमारे बीच मौजूद हैं।

महात्मा मुगुटरामजी की चमत्कारी साधना

आध्यात्मिक उन्नति द्वारा किस प्रकार एक साधारण दिखलाई पड़ने वाला मनुष्य संसार की सब विभूतियों और शक्तियों का स्वामी बन जाता है, इसका परिचय हमको मुंजसर (बड़ौदा) निवासी श्री मुगुटराम महाराज के चरित्र से मिलता है। उनको हुये अभी थोड़ा ही समय हुआ है, उनका जन्म सं. १९३० में हुआ था। उनकी शक्तियों का लाभ उठाने वाले अभी हजारों व्यक्ति उस प्रदेश में मौजूद हैं। वे छोटी अवस्था से ही अपने नाना के पास रहे थे, जो स्वयं एक बहुत बड़े साधक और धार्मिक पुरुष थे। इसके फल से मुगुटरामजी में छोटी अवस्था में ही भक्ति और ज्ञान के अंकुर उत्पन्न हो गये थे, जिन्होंने बड़ी आयु में एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया और अपनी छाया तथा फलों से अनगिनती नर-नारियों का कल्याण किया।

मुगुटरामजी को वर्तमान समय की तरह स्कूल या कॉलेज की शिक्षा प्राप्त नहीं हुई थी। वे प्रायः कहा करते थे कि “अरे भाई, मैं तो केवल गुजराती की दो पुस्तकें पढ़ा हुआ हूँ, अगर नौकरी करनी पड़े तो मुझे कोई दस-बारह रुपया से ज्यादा तनखावा न देगा, पर भगवान् के भजन और गायत्री के जप के प्रभाव से ही मुझे सब प्रकार की सफलता प्राप्त हो सकी है। वे बतलाया करते थे कि मैं रात भर नीचे की तरफ माथा और ऊपर पैर करके, तथा पैरों को एक खूँटी से बाँध कर शिवजी का भजन करता था और सुबह ३-४ बजे से लेकर ९-१० बजे तक गायत्री का जप करता था। कभी-कभी लगातार बारह घंटा बैठकर जप ही करता रहता था।” इस प्रकार की कठोर तपस्या और साधना का फल यह हुआ कि उनकी आन्तरिक शक्तियाँ पूर्णरूप से विकसित हो गईं और वे प्रतिदिन ऐसे कार्य करते रहते थे जिनको लोग चमत्कार ही मानते थे।

-(१) जैसा हमने ऊपर लिखा है मुगुटराम जी नाममात्र को स्कूल की दो पुस्तकें पढ़े थे। पर उनको अपने आप सब भाषाओं का ज्ञान हो गया था। एक दिन बड़ौदा के एक सरकारी अफसर आये तो उनके साथ तैलंगी भाषा में बात करने लगे, फिर दूसरे व्यक्ति के साथ कर्नाटकी भाषा बोलने लगे। एक दिन कोई फकीर आया तो उसके साथ उर्दू में खूब बातचीत की। काम पड़ने पर अंग्रेजी भी बोल लेते थे।

(२) इतनी कम शिक्षा होने पर भी उनको समस्त शास्त्रों का ज्ञान था। उन्होंने किसी से ज्योतिष नहीं सीखी थी, पर वे हजारों मनुष्यों की कुण्डली देखकर उनका ठीक-ठीक फल बता देते थे। जिनके पास कुण्डली न हो उनकी आकृति तथा हाथ देखकर ही कुण्डली तैयार कर देते थे। स्वर-शास्त्र के वे पूरे जानकार थे और कहते थे कि इसके द्वारा विश्व की समस्त बातों का पता लग सकता है। उन्होंने बड़ौदा के पुलिस कमिश्नर श्री घाटगे को स्वर-शास्त्र की दो-चार बातें बतला दी थीं। उसके फल से एक भयंकर डाकू मीरखाँ को पकड़ते समय उनकी अद्भुत रीति से रक्षा हो जाती थी।

(३) योग शास्त्र की उनको पूरी जानकारी थी। वे षट्चक्रों का ऐसा वर्णन करते थे कि मानो उनके आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे हों। शरीर के किस अंग में कौनसी चीज है इसका वर्णन स्पष्ट रूप से कर देते थे। प्राणायाम, आसन मुद्रा आदि सब विषयों को वह भली प्रकार समझा देते थे।

(४) वे कहते थे कि नक्षत्रों का तमाम वनस्पतियों के साथ सम्बन्ध है। इसलिये अगर खास नक्षत्र में कोई वनस्पति लाई जाय और रोगी को विशेष विधिपूर्वक दी जाय तो उसका रोग अवश्य दूर हो जायेगा। इस वनस्पति का अमुक देवता के लिये अमुक नक्षत्र में हवन करने से भी बड़ा लाभ हो सकता है।

(५) मंत्र शास्त्र के बड़े ज्ञाता थे और किस मंत्र का प्रयोग कहाँ करना है यह बहुत अच्छी तरह जानते थे। स्वयं अनेक मंत्रों की रचना अद्भुत रीति से करते थे। दूसरे मंत्रों के स्वरूप और सामर्थ्य को भली प्रकार जानते थे। वे आवश्यक ‘बीज’ अक्षर मंत्र के आरंभ, अंत या मध्य में लगाकर साधन का ऐसा विधान बतला देते थे, कि मंत्र का प्रयोग अवश्य सफल होता था।

(६) वे वेदों के मंत्र बोलकर उनका तात्पर्य अच्छी तरह समझा देते थे। प्रसंग आने पर उपनिषदों की कथायें सुनाते थे। पुराण तो ऐसा लगता था कि उनको कंठस्थ ही हैं। जो पंडित जिस प्रसंग को लेकर उनके पास आता वे उसी विषय के सब प्रकार के शास्त्रीय प्रमाण उसे सुना देते थे।

(७) अपनी जन्म-जात आत्म शक्ति और गायत्री की असाधारण उपासना के बल से उनका वचन सिद्ध हो गया था। जो कुछ मुँह से निकल जाता वही सत्य हो जाता। उदाहरणार्थ ब्राह्मण भोजन करने को बैठे और पानी बरसने लगा, तो आप कहते कि वर्षा तो अभी बन्द हो जायेगी और वैसा ही हो जाता। “जा, तेरा ज्वर अभी उतर जायेगा।” यह कहते ही ज्वर दूर हो जाता। जा, भगवान् तुझे पुत्र देगा, तो शीघ्र ही पुत्र का मुख दर्शन होता। जाओ, महादेव पर सवा पाँच सेर दूध चढ़ाना, तुम्हारा दुःख दूर हो जायेगा तो, वैसा ही होता। साँप के काटे मनुष्यों से कहते जाओ तुम्हारा जहर उतर जायगा, तो साँप के काटे लोग बच जाते। इस तरह असंख्य लोगों ने उनके वचन की सिद्धि से लाभ उठाया था।

(८) कभी किसी की रक्षा के लिये आवश्यकता पड़ जाती तो वे दूसरा शरीर धारण कर लेते थे। इसी प्रकार जंगल में नारायण स्वामी की शेर के आक्रमण से रक्षा की थी। पक्षी क्या बोल रहे हैं इसे वे भली प्रकार समझ जाते थे। वे कहते थे कि जब हम परावाणी में प्रवेश कर जाते हैं तो संसार के समस्त प्राणियों की बोलियाँ और भाषायें समझ में आने लग जाती हैं।

(९) तप द्वारा उनको लक्ष्मी की भी सिद्धि हो गई थी। इसलिये बिना किसी से कुछ भी माँगे और पैसा-रुपया का स्पर्श न करने पर भी वे राजाओं की तरह खर्च करते रहते थे। अपने जीवन में उन्होंने लाखों मनुष्यों को अन्नदान और दक्षिणा दी थी। राजाओं के से बड़े-बड़े ब्रह्मभोज करते रहते थे, बड़े-बड़े यज्ञ करते थे। अपने नाना

और माता के मरने पर पास में पैसा न होते हुये भी उनकी क्रिया-कर्म ऐसे धूम धाम से की कि जैसा कोई लखपती भी नहीं कर सकता ।

(१०) जो कोई अपने किसी मृत सम्बन्धी से बातचीत करना चाहता तो वे उसकी आत्मा को तुरन्त बुला देते और उसे स्पष्ट बातें करते हुये उसकी इच्छा पूछने वाले को बता देते थे । एक बार ईडर रियासत के मुसिफ श्री चतर्भुज माणकेश्वर भट्ट उनके पास आये और अपनी मृत पत्नी से बात करने की इच्छा प्रकट की । उन सज्जन को इस बात का पूरा विश्वास हो गया कि वास्तव में उनकी पत्नी की आत्मा ने आकर बातचीत की थी । भविष्य के विषय में वे प्रायः लोगों को पहले से बतला देते थे । दूसरों के मन की बात जानकर बिना कहे ही उसको उत्तर दे देना उनके लिये बिल्कुल साधारण बात थी ।

(११) एक बार उनकी बातचीत एक डॉक्टर से हो रही थी, जो पेरिस (फ्रांस) होकर आया था । मुगुटरामजी ने अपने स्थान में बैठे हुये ही दूरदर्शन शक्ति द्वारा उसे पेरिस का सब हाल सुना दिया, जिसे डॉक्टर ने बिल्कुल ठीक बतलाया । इस पर पास में बैठे उच्छवलाल जौहरी को कौतूहल हुआ और उसने परीक्षा के लिये महाराज से कहा कि मेरा कपड़वज कम्बे में जो मकन है उसका वर्णन बतलाइये । महाराज ने कहा— “यह कौनसी कठिन बात है । तेरे घर का हाल तो यह डॉक्टर साहब ही बतला सकते हैं ।” उनके यह कहते ही डॉक्टर साहब सचमुच उस जौहरी के घर के भीतर का हाल बतलाने लग गये, जिसको उसे सत्य मानना पड़ा । इस प्रकार वे दूसरे लोगों में भी चमत्कारी शक्ति उत्पन्न कर देते थे । अनेक मरते हुये व्यक्तियों को उन्होंने मंत्र पढ़ कर जल पिलाने से बचा दिया था । एक बहुत बड़े अफसर का हृदय रोग एक फूँक मार कर दूर कर दिया ।

(१२) दुनिया में किस जगह कौन-कौन योगी और सिद्ध पुरुष रहते हैं इसका उनको भली प्रकार पता था । इच्छा होने पर उनके साथ बातचीत करते, उनको अपने पास बुला लेते अथवा सूक्ष्म शरीर से स्वयं उनके पास चले जाते ।

(१३) अपने पास आने वाले मनुष्यों के पूर्व जन्म का हाल भी वे बतला देते थे । उस जन्म के किस कर्म के पाप से इस जन्म में कष्ट मिल रहा है इसका पूरा हाल वे जान सकते थे और फिर उसको मिटाने का जो उपाय बतलाते उसको करने से निश्चय ही वह कष्ट दूर हो जाता था ।

(१४) उनके यहाँ आने वाले मनुष्यों का कोई हिसाब न था । रसोइया और उनकी पत्नी उनसे पूछ लेते थे कि कितने व्यक्तियों की रसोई बनेगी । फिर भी प्रायः ऐसा होता था कि दस आदमियों का भोजन बना और खाने वाले २५-३० आ गये— पच्चीस का भोजन बनाया गया और खाते समय सौ आदमी आ गये । पर उनके यहाँ कभी भोजन का अभाव नहीं हुआ । सदा हर एक चीज इच्छानुसार मिलती रहती थी । वे कहा करते थे कि मेरे ऊपर अन्नपूर्णा की कृपा है । कभी भंडार में कमी नहीं पड़ सकती ।

इस प्रकार महात्मा मुगुटरामजी ने अनेक वर्षों तक अपनी आध्यात्मिक शक्ति से सर्व-साधारण का अकथनीय उपकार करके यह

दिखला दिया कि यदि मनुष्य सच्चे हृदय से प्रयत्न करे और ईश्वर पर विश्वास रखे तो उसके लिये कुछ भी असंभव नहीं है ।

एक विद्रोही सन्त—महाराज सिंह

“आप साधु हैं । धर्म और अध्यात्म का प्रचार आपका धर्म है । राजनीति से आपका क्या सम्बन्ध । देश आजाद रहे या गुलाम इससे आप जैसे वीतराग सन्त-महात्मा का क्या सम्बन्ध । आपको राजनीति में दखल नहीं देना चाहिये । इसी में आपका हित है ; जालन्धर के तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर नौरंगाबाद की एक वेदी गुरुओं की गद्दी के सेवक महाराज सिंह को उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियों को रोकने की सलाह दे रहे थे ।”

भाई जी ने कहा— “धर्म और अध्यात्म को लेकर राष्ट्र और समाज के प्रति कर्तव्यों से विमुख होना अक्षम्य प्रवृत्ति है । सच्चा साधु इतना बड़ा पाखण्ड नहीं रच सकता । गुलामी की स्थिति में किसी भी कौम का कोई धर्म नहीं होता आज सबसे पहला पालनीय कर्तव्य है देश को आजाद करना । ईश्वर को प्राप्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि हम पूर्णरूपेण मानव कहलाने के योग्य बनें । और दासता की अनीतिमूलक परिस्थितियों में रहते हुए कोई भी व्यक्ति मानव कभी नहीं बन सकता ।” दृढ़तापूर्वक कहे गये इन वचनों ने डिप्टी कमिश्नर को पस्त कर दिया । भाई महाराज सिंह एक साथ साधु और क्रान्तिकारी दोनों थे । गुरु गद्दी की सेवा करते हुए उन्होंने सार्वजनिक भोजनालय की व्यवस्था सम्हाली थी । वहाँ के सभी लोग इनकी विनम्र सेवा से बड़े सन्तुष्ट थे इसी कारण उन्हें सम्मान और आदर के रूप में महाराज सिंह के नाम से पुकारा जाता ।

महाराजा रणजीत सिंह जब तक रहे उनकी वीरता और शौर्य के आतंक स्वरूप अंग्रेजों ने पंजाब की ओर आँख तक उठाकर नहीं देखा । उनके मरने के बाद फिरंगियों की वक्र दृष्टि पंजाब पर गयी । उन दिनों महाराजा रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी के रूप में किशोर दिलीप सिंह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों और मन्त्रियों के सहयोग से शासन सूत्र का संचालन कर रहे थे । रणजीत सिंह के समय की शक्ति और साहस पंजाब सेना में रही नहीं इसलिए अंग्रेजों की कूटनीतिक चालें सफल हुईं और पंजाब उनके हाथ में आ गया । महाराजा दिलीप सिंह को बन्दी बना लिया गया । उसके बाद एक आँधी-सा सशक्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । पंजाब के क्रान्तिकारियों ने पहाड़ी इलाकों में एक भूमिगत स्वतन्त्र सरकार का गठन किया । महाराजा दिलीप सिंह के नाम से सारे देश में छापामार लड़ाई छेड़ देने की योजना बनायी गई और महाराजा दिलीपसिंह के रूप में क्रान्तिकारियों का नेतृत्व कर रहे थे भाई महाराज सिंह । एक धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले साधु । उनके अनेक श्रद्धालु भक्त थे और वे सब उन्हें गुरु के रूप में मानते थे ।

सिक्ख जनता ने उन्हें इतना मान सम्मान और आदर दिया कि उनके शत्रु प्रतिनिधि जालन्धर के डिप्टी कमिश्नर ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर जनरल को लिखी अपनी रिपोर्ट में कहा— ‘महाराज

सिंह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। सिक्ख जनता में उसके प्रति वही श्रद्धा है जो पक्के से पक्के ईसाई के हृदय में यीशु के प्रति होती है। लोग उसे मसीहा मानते हैं और जिस तरह हमारे धर्मावतारों को हम पूजते हैं उसी प्रकार उसकी भी पूजा होती है।

महाराज सिंह ने अपनी श्रद्धा अनुयायियों को अमृतसर से समुद्र तालाब पर एकत्रित किया और एक दीवान लगाया। उपस्थित लोगों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा— मैं अपने लिए कोई राजनीतिज्ञ महत्वाकांक्षा नहीं रखता हूँ। मैं चाहता हूँ कि देश आजाद हो और सिक्ख लोग पूरे प्राणपण से इस उद्देश्य को प्राप्त करने में जुट जायें। यदि भारत पराधीन रहा तो यहाँ के किसी नागरिक का भविष्य किंचित भी सुरक्षित नहीं है। सब लोगों में जोश और उत्साह उमड़ उठा। इस संगत का और इसके परिणाम का समाचार अंग्रेज सरकार तक पहुँचा। शासन ने राजद्रोह के अपराध में इन्हें पकड़ना चाहा परन्तु महाराजसिंह छुप गये। उन्हें अपराधी घोषित कर पकड़वाने वाले या पता देने वाले को ५००० चाँदी के रुपयों के इनाम की घोषणा की गयी जो आज के एक लाख रुपयों के बराबर है। यद्यपि महाराज सिंह अपने शिष्यों के पास ही रहते रहे परन्तु किसी भी सिक्ख ने इस बात की चर्चा तक नहीं की और महाराजसिंह की क्रान्तिकारी गतिविधियाँ चलती रहीं।

सरकार उनकी खोजबीन करती रही और वे छुपकर ही अपनी गतिविधियाँ चलाते रहे। उन्हें पकड़ने के लिए अंग्रेजी शासन ने आतंकवादी दमन-चक्र भी चलाया। जहाँ उनके होने की थोड़ी-सी हवा लगती अंग्रेज सिपाही पहुँचते। उस पते पर खोजबीन करते, लोगों को डराते, धमकाते, मारते, पीटते। परन्तु महाराज सिंह हो तो भी कौन बताये? देहाती लोगों को गिरफ्तार कर लिया जाता। उन्हें तरह-तरह की यातनायें दी जातीं हवालात में बन्द कर अमानुषिक अत्याचार किये जाते। साथ ही भाँति-भाँति के प्रलोभन भी दिये जाते परन्तु सब उपाय असफल रहे।

अप्रैल १८४८ में मुल्तान के दीवान मूलराज ने अंग्रेजों के खिलाफ आवाज उठाई। और लड़ाई छेड़ दी। मूलराज ने भाई जी से सहायता माँगी। स्वातन्त्र्य यज्ञ में आहुति देने वाले होता के सहयोग के लिए महाराज सिंह तो वस्तुतः महाराज थे। अंग्रेज कुमुक और पुलिस से लोहा लेते हुए पहुँच गये मुल्तान। साथ में बहादुर सिख जवान। महाराज रणजीत सिंह के अनेकों सैनिक अपने देश को आजाद देखने के लिए उनके साथ आ मिले थे। रास्ते में पड़ने वाले नगरों में भी मुक्ति संग्राम छेड़ने का क्रम चलता रहा। अनेक नगरों को उन्होंने मुक्त कराया।

झर पंजाबी सैनिकों का मनोबल गिरने लगा था। लगातार का वनवासी और निर्वासित जीवन। कुछ प्रभावशाली लोगों को अंग्रेज अधिकारी अपनी ओर फेरने में भी सफल हो गये थे। गुजराल नामक स्थान पर फरवरी १८४९ में पन्द्रह हजार सैनिक और सरदार एकत्रित हुए। प्रमुख सरदारों ने आत्मसमर्पण का प्रस्ताव रखा, सैनिकों ने उसका समर्थन किया। हथियार डालने की तैयारियाँ चल ही रही थीं

कि कहीं से भाई जी आ गये और उन्होंने जोरदार शब्दों में आत्मसमर्पण का विरोध किया तथा अन्तिम साँस तक लड़ने की प्रेरणा दी। एक बार सिख फौजों का खून खौल उठा और उन्होंने अपने हाथों से फिसलते हुए हथियारों को एक बारगी फिर कस लिया। महाराज सिंह ने जम्मू के आसपास की पहाड़ियों को अपना केन्द्र चुना। परन्तु भाई जी के सभी साथी उन्हें छोड़-छोड़ कर जाने लगे। पंजाब के सैनिक भी महाराज सिंह की प्रेरणा को स्थायी नहीं रख सके और कुछ दिनों बाद उन्होंने भी आत्मसमर्पण कर दिया। परन्तु भाई जी उसी उत्साह के साथ अपने अभियान में लगे रहे।

अन्ततः दिसम्बर १८४९ में भाई जी अंग्रेजी सिपाहियों की गिरफ्त में आ गये। उन्हें जेल में रखा गया। भाई जी के अनन्य सहयोगी साथी भले ही उनका साथ छोड़कर चले गये परन्तु जनता की श्रद्धा और आस्था भाजन वे पूर्ववत् ही बने रहे। भक्तों ने जेल को चारों ओर से घेर लिया और उनके दर्शन की माँग की। फिर्गी अधिकारियों को डर लगा कि कहीं दर्शन करते भीड़ उनकी रिहाई की माँग न कर बैठे। चुपचाप उन्हें पंजाब से दूर ले जाया गया। प्रारम्भ में इलाहाबाद जेल में रखा गया परन्तु उनके श्रद्धालु भक्त वहाँ भी पहुँच गये फिर कलकत्ता ले जाया गया जहाँ उनके क्रान्तिकारी सहयोगी, दीवान मूलराज तथा अन्य सरदार कैद थे। सुरक्षा की दृष्टि से कलकत्ता भी अनुपयुक्त समझा गया और अन्ततः उन्हें भारत से दूर सिंगापुर की एक काल-कोठरी में बन्द कर दिया गया।

धर्मप्रेमी जनता से घिरे रहने वाले जो कभी अकेले नहीं रहे। सौ-पचास आदमी हमेशा जिनके आसपास रहते ऐसे भाई जी के लिये तन्हाई कैद मर्यान्तक दुःखदायी थी। इसके बावजूद तरह-तरह की यातनायें। समय पर भोजन नहीं मिलता, उसी कोठरी में पूरा दिन व्यतीत करना आदि अनेकों प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक यातनायें। इन सब कष्टों का सामना उन्होंने अविचल भाव से किया। यहाँ उनकी स्थिति 'समदुखे सुखानां लाभालाभौ जया जयौ'— के गीतोक्त स्थित प्रज्ञ लक्षणों को चरितार्थ करती थी परन्तु शरीर की सहन शक्ति की भी एक सीमा होती है। माना कि बाहरी अवरोधों और कष्टों से मन को निर्लिप्त रखा जा सकता है, अनुद्विग्न कहा जा सकता है परन्तु शरीर पर उनका प्रभाव तो नहीं रोका जा सकता है। फिर भी भाई महाराज सिंह ने इन कष्टपूर्ण परिस्थितियों का सात वर्ष तक सामना किया और ८ जुलाई, १८५६ को वे यह संसार छोड़कर चल बसे।

माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर की इष्ट साधना

'मनुष्य जीवन मिला ही भगवान् को पाने के लिए है। संसार के भोग पदार्थ तो दूसरी योनियों में मिल सकते हैं। मनुष्य में भोगों को भोगने की उतनी शक्ति भी नहीं, जितनी दूसरे प्राणियों में है।' वक्ता की वाणी में शक्ति थी। उनकी बातें शास्त्रसंगत थीं, तर्कसंगत-

थीं और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनका व्यक्तित्व ऐसा था जो उनके प्रत्येक शब्द को सजीव बनाए दे रहा था। भगवान् को पाना है इसी जीवन में पाना है। भगवत्प्राप्ति हो गई तो जीवन सफल हुआ और न हुई तो महान् हानि हुई।

प्रवचन समाप्त हुआ। लोगों ने हाथ जोड़े सिर झुकया और एक-एक करके जाने लगे। सबको अपने-अपने काम हैं और वे आवश्यक हैं। यही क्या कम है जो इतनी देर हुई चर्चा में आकर बैठ गए। बैठने वालों में एक यह भी था पर औरों से नितान्त भिन्न। यह भिन्नता शकल-सूरत की दृष्टि से नहीं अन्तर्मन की संरचना में थी। अलग-व वेश विन्यास का नहीं विचार विन्यास का था। उसे पता नहीं था कि कथा प्रवचन पल्ला झाड़ कर भी सुने जाते हैं।

सरंजाम सिमटने लगा पर विचारों के वितान फैलने लगे। 'मुझे भगवत्प्राप्ति करनी है मन में यही धुमड़न चल रही थी। यों वह पढ़ा लिखा था अभी हाल में ही एम. एस-सी. प्राणिशास्त्र में किया था। विज्ञान-आखिर सत्य की शोध ही तो है और कोई आवश्यक तो नहीं कि यह शोध प्रचलित दायरे में पूरी हो। वह सोचने लगा, प्रत्येक नयी शोध पुराना दायरा लॉंघती है नया आयाम खोलती है तो यह शोध भी..... चिन्तन की हवा में अतीत के पन्ने फड़फड़ा उठे। उसे याद आया कि विद्यालय में बिताया गया जीवन मानस पटल पर साकार हो उठा। प्रयोगशाला का वह कक्ष जहाँ वह जन्तुओं की चीर-फाड़ करते कहीं कहीं गहराइयों में खो जाया करता। साथी टोकते क्या सोचने लगे माधव ! जीवन का सार खोज रहा हूँ, डूबते मन से बुलबुलों की तरह जवाब फूट पड़ता। साथी खिलखिला पड़ते शिक्षक मुस्करा देते। साथियों की दृष्टि में वह बुद्धिमान, जुझारू पर सनकी था। शिक्षक उसे दार्शनिक वैज्ञानिक कहते थे। किसने उसे ठीक से समझा कुछ पता नहीं पर कुछ भी हो यह महाराष्ट्र वाला युवक अपने विगत में सभी से सम्मानित रहा। उसने अपनी अन्तहीन यात्रा लक्ष्य की दिशा में आरंभ कर दी।

चलते हुए उसे लगभग तीन महीने बीत गए। इन चौरासी दिनों में जैसे चौरासी लाख योनियों का अनुभव हो गया है। षटरस और नवरस में सिर्फ एक मुटु का छोड़ अन्य सभी का स्वाद वह चख चुका। भगवत्प्राप्ति तो नहीं हुई हाँ जीवन जरूर श्मशान जैसा भयावना लगने लगा। अध्यात्म साधु-मन्दिर मठ इनके बारे में सोच कर एक विरक्तिजनक मुस्करान ही उभरती। पर नहीं सब एक जैसे यह भी तो एक साधु ही हैं। मात्र देश नहीं गैरिक वस्त्रों की अग्नि मंजूषा में गुणों की अपार सम्पदा सिमटी है।

'तुम पहले स्नान भोजन करो।' गैरिक बसन से आवेष्टित परिव्राजक ने युवक की पीठ पर हाथ फेरा जो भगवान् को पाना चाहता है, भगवान् उसे स्वयं पाना चाहते हैं वह तो उन्हें पायेगा ही।

युवक ने स्नान किया और थोड़ा-सा प्रसाद शीघ्रतापूर्वक मुख में डाल कर जल पी लिया। उसे भोजन स्नान की नहीं पड़ी थी। उसकी अभीप्सा तीव्र थी लगन में प्राण थे। वह कुछ मिनटों में ही महात्मा जी के पद प्रान्त में बैठ गया।

पहले तुम यह बताओ कि "तुमने अब तक किया क्या?" साधु ने तनिक स्मित के साथ पूछा।

'बड़ा लम्बा पुराण है !' उसने अपनी बात प्रारम्भ की। बताने लगा इधर वह बहुत भटकता है। उसे एक योगी ने नेती-धौती-न्यूली ब्रह्मदातों तथा अन्य अनेक योग की क्रियाएँ सिखाईं। उन क्रियाओं के मध्य ही उसके मस्तक में भयंकर दर्द रहने लगा। बड़ी कठिनाई से एक वृद्ध सज्जन की कृपा से दूर हुआ। उन्होंने ये सभी क्रियाएँ छुड़वा दीं।

'ये मूर्ख साधु !' कुछ रुष्ट हुए— 'ये योग की कुछ क्रियाएँ सीख कर अपने अधूरे ज्ञान से युवकों का स्वास्थ्य चौपट करते फिरते हैं। आज कहाँ हैं अष्टांग योग के ज्ञाता। यम-नियम की प्रतिष्ठा नहीं हुई जीवन में और चल पड़े आसन तथा मुद्राएँ कराने। असाध्य रोग के अतिरिक्त और क्या मिलता है इस दूषित प्रयत्न में।'

'एक ने मुझे कान बन्द करके शब्द सुनने का उपदेश दिया' एक अन्य योगी मिले जिन्होंने ऐन्द्रजालिक जैसी तमाम क्रियाएँ दिखाईं।

'योगी।' इस शब्द के साथ ही साधु हँस पड़े बाजीगरी योग नहीं है। अधिकारी के अधिकार को बिना जाने चाहे जिस साधन में जोत दिया जाय वह पशु तो नहीं है। साधु कह रहे थे धारणा-ध्यान समाधि चाहे शब्द योग से हो चाहे लय-योग से किन्तु जीवन में चांचल्य बना रहेगा। समाधि कुछ क्रिया मात्र से मिल जायेगी, ऐसी दुराशा करने वालों को क्या कहा जाय।

उसने आगे फिर कहा "मैं सामान्य धार्मिक अग्रणियों के समीप भी रहा और विशाल मठों में भी। कुछ प्रख्यात पुरुषों ने मुझ पर कृपा करनी चाही। उसके स्वर में व्यंग्य नहीं केवल खिन्नता थी जो अपने आश्रय धर्म का निर्वाह नहीं कर पाते, जहाँ सोने-चाँदी का सेवन और सत्कार है, जो अनेक युक्तियाँ देकर शिष्यों का धन और शिष्याओं का धर्म अपहरण करने की कोशिश में लगे रहते हैं, वहाँ परमार्थ और अध्यात्म भी है इसे मेरी बुद्धि ने स्वीकार नहीं किया।"

'ओह !' इन अनुभवों ने साधु को खिन्न कर दिया। वह बोल पड़े "जहाँ संग्रह है, विलासिता है, वहाँ साधुता कहाँ है। जहाँ सदाचार नहीं, इन्द्रिय तृप्ति है, वहाँ से भगवान् बहुत दूर हैं। सच तो यह है कि हमें कुछ न करना पड़े कोई आशीर्वाद देकर सब कुछ कर दे, इस लोभ से जो चलेगा वह ठगा तो जाएगा ही। आज धन और नारी का धर्म जिनके लिए प्रयोजन है ऐसे वेशधारियों का बाहुल्य इसी कारण है। पर भगवान् जहाँ हैं जहाँ से उनकी पुकार उठ रही है उस ओर तो तुमने आँखें उठाकर भी नहीं देखा। तुम सिर्फ भटकते रहे और इस भटकन से उपलब्धि का क्या वास्ता ?"

"कहाँ है भगवान् ? कहाँ से उठती है उनकी पुकार ?" लगभग चौकते उसने ये सवाल पूछे। उसे लगा विषाद और आह्लाद की लगभग एक साथ अनुभूति है। विषाद समय गंवाने का और आह्लाद सही दिशा की ओर उन्मुख होने का।

'मानवता की भूमि पर बने सेवा के मन्दिर में प्रेम की भावमय मूर्ति बन कर प्रतिष्ठित है वह। उन निराकार की प्राप्ति संवेदना के

रूप में होती है। जन-मेदिनी के मध्य से उठ रहा कारुणिक रव उनकी पुकार है, उन्होंने अपना अनुभव कह सुनाया। मुझे भगवत्प्राप्ति इसी रूप में हुई है। सन्त की वाणी ने युवक के अन्तर्मन को झकझोर दिया। श्री रामकृष्ण परमहंस के इन शिष्य की बात सुनकर उन्हें लगा जैसे अनुभव साकार हो बोल रहा हो। मुर्शिदाबाद में अकाल पीड़ितों की सेवा और अपने कष्ट सहिष्णु जीवन के कारण वे प्रायः देश भर में विख्यात हो चुके थे। यहाँ सारगाछी में भी नंग-धड़ंग अनाथ बालकों को लेकर आराम में रहते। इनका व्यक्तित्व निर्माण ही उनकी उपासना थी। एक दिन तो सभी आश्चर्य में डूब गए जब उन्होंने एक काले-कलूटे नंग-धड़ंग बालक को पुरुष सूक्त के मंत्र में स्नान कराया वस्त्र आदि दिए। भोजन आदि की व्यवस्था कर अपनी पाठशाला में भरती कर लिया। इस विभिन्न किन्तु सत्य के इस अद्भुत संस्करण ने युवक के चिन्तन की चूलें हिला दीं।

“मुझे भगवत्प्राप्ति के लिए क्या करना है यह ठीक मार्ग आप बताने की कृपा करें” वह उनकी ओर ताकते हुए बोल पड़ा।

भगवत्प्राप्ति के लिए करना होगा पुरुषार्थ ऐसा पुरुषार्थ जो ललकार कर कह सके कोई भी व्यक्ति दुष्कृत्य से भरे सहयोग पर निर्भर नहीं रह सकता, कोई भी व्यक्ति मेरी उपस्थिति में निर्लज्जभाव से अनिष्ट चर्चा नहीं कर सकता। ऐसा पुरुषार्थ जब संवेदनामय हो उठेगा अथवा कारुणिक संवेदना जिस क्षण पुरुषार्थमय हो उठेगी समझो उसी क्षण भगवत्प्राप्ति हो गई।

साधु के ये शब्द उसे अग्नि मंत्र लगे। इसी अग्नि मंत्र से वह दीक्षित हुआ। ऐसी ही भगवत्प्राप्ति करूँगा युवक की वाणी में संकल्प के प्राण थे।

युवक की संकल्पित वाणी से अभिभूत होकर उन्होंने उसके मस्तक पर अपना आशीर्वाद रखा “बेटा ! इस काम के लिए बड़ी घोर तपस्या की आवश्यकता है। जीवन विघाता जिसे अपना कठोर कृपाण देते हैं उसमें उसे ग्रहण करने की शक्ति है या नहीं इसकी कठिन परीक्षा वे लेते हैं। अविचलित रहो, महान् संकल्प ही बड़ी वस्तु है।” इस बड़ी वस्तु को आजीवन धारण करने वाले युवक माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर को भारत ने गुरुजी के रूप में जाना। डॉ. हेडगेवार को उनमें अपना उत्तराधिकारी मिला। उनको मिली भगवत्प्राप्ति जिसकी उन्हें चिर अभीप्सा थी। ठीक उनके गुरु-स्वामी अखण्डानन्द की तरह जनक्रन्दन में उन्हें नियन्ता की पुकार सुनाई पड़ी।

ज्ञान और कर्म के प्रतीक— स्वामी मुक्तानन्द

महाराष्ट्र में ठाना जिले के अन्तर्गत भिवंडी तहसील में गणेशपुरी नामक ग्राम में कुटिया बनाकर रहने वाले स्वामी मुक्तानन्द महाराज

ने महाराष्ट्र शासन द्वारा अधिक अन्न उत्पादन अभियान में सक्रिय सहयोग देने का बीड़ा उठाया और कृषि-विकास के नये-नये प्रयोग कर कृषि-क्षेत्र में अभिनव क्रांति करते रहे।

आध्यात्मिक ज्ञान एवं योग-साधना द्वारा ब्रह्मालु किसानों का ध्यान आकर्षित करने वाले गणेशपुरी के स्वामी मुक्तानन्द महाराज प्राचीन ऋषि-मुनियों का आदर्श प्रस्थापित करते हुए उत्कृष्ट फलों के बाग एवं कृषि-कार्य में तन-मन से संलग्न रहे।

स्वामी जी ने अपनी कुटिया के आसपास की बंजर जमीन स्वयं अपने हाथों से खोदकर एवं उसमें खाद आदि डालकर इतनी उपजाऊ बना ली थी कि आसपास के गाँव वाले प्रतिदिन उसे देखने आया करते थे। कुटिया के चारों ओर लगभग एक एकड़ जमीन में उन्होंने पपीता, केले, नीबू, अमरूद आदि फलों के तथा टमाटर, गोभी, लौकी, कद्दू, करेला, भिण्डी आदि साग-सब्जी की इतनी सुन्दर बाग बनाई थी कि देखने वाले स्वामी जी की इस परिश्रमशीलता की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। स्वामी जी ने कुछ मोर और कुत्ते भी पाल रखे थे, जो उनके नाम से पुकारते ही स्वामी जी के पास दौड़कर आ जाते थे। उनकी गाय का एक बछड़ा तो स्वामी जी के पास आते ही उनकी पीठ चाटने लगता था और बाद में उनके चरणों के पास चुपचाप बैठ जाता था।

स्वामी मुक्तानन्द जी महाराज अपनी आध्यात्मिक साधना में संलग्न रहते हुए भी कृषि-कार्य में नियमित रूप से प्रतिदिन चार घण्टे श्रमदान करते थे तथा किसानों को अधिक से अधिक अन्न तथा फल पैदा करने के लिये प्रोत्साहित किया करते थे। स्वामी जी कहा करते थे कि “जप तप की अपेक्षा अन्न और फलों का उत्पादन करना आज परमेश्वर की महान् सेवा-भक्ति है। जितना आनन्द मुझे जप एवं ध्यान में आता है उससे अधिक आनन्द मिट्टी गोड़ने, पौधे लगाने और उन्हें खाद-पानी देने में आता था।”

स्वामी जी अपने बाग में फल एवं साग-सब्जी के विकास के लिये नये-नये प्रयोग किया करते थे जिसे देखने तथा उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त करने प्रतिदिन बाहर के किसान स्वामी जी की कुटिया में आया करते थे और उनके बाग के ४-४ किलो के पपीते, ३-३ फुट लम्बी लौकिया एवं १-१ फुट के केले देखकर आश्चर्यचकित हो जाते थे। तत्कालीन महाराष्ट्र के कृषि-मन्त्री श्री बाला साहब साधना एवं कृषि-विशेषज्ञ पद्मश्री हरिश्चन्द्र पाटील स्वामी जी का बाग देखकर चकित हो गये थे और उन्होंने कहा था कि आज स्वामी जी ने पौराणिक काल के ऋषि-मुनियों का आदर्श उपस्थित कर साधु-संन्यासियों के सामने एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।

स्वामी मुक्तानन्दजी ने धर्म शास्त्र, तत्त्वज्ञान, योग-शास्त्र एवं अध्यात्म शास्त्र का गहरा अध्ययन किया था। परन्तु ज्ञान एवं विद्वता के साथ ही उनमें लोक-सेवा की कर्मठ भावना भी उत्कटता से ओत-प्रोत थी। पांडित्य के भार से उनकी बालसुलभ निर्मल वृत्ति नष्ट नहीं

हुई थीं। हंसते-खेलते सीधे-सादे सुगम शब्दों में गहन एवं गूढ़ प्रश्नों के समर्थक, मार्मिक एवं ज्ञान गर्भ उत्तर देने वाले मुक्तानन्द जी को देखने वाला व्यक्ति प्रथम दर्शन में ही उनके प्रति आश्चर्यचकित और नत-मस्तक हो जाता था।

परन्तु इस शब्द-ज्ञान के बाह्य विस्तार से, वेदान्त के उपदेश से प्रत्यक्ष अनुभव की एक अलग दुनिया है, इस बात का स्वामी जी को हमेशा ध्यान रहता था। इसलिये उनके दर्शनार्थ आने वाले विभिन्न स्थानों के भक्तगण स्वामी जी के दर्शन के पश्चात् उनकी आदर्श कृषि एवं बाग का दर्शन कर नई प्रेरणा प्राप्त करते थे। बिल्कुल बंजर भूमि को उपजाऊ बनाकर उसे एक आदर्श बाग बनाना उनकी ईश्वर-भक्ति का ही एक सक्रिय प्रतीक है, स्वामी मुक्तानन्द जी का यह आश्रय कृषि फार्म जैसा प्रतीत होता था यहाँ प्रतिदिन दूर-दूर से अनेक किसान आकर कृषि-कार्य के नये-नये प्रयोग सीखकर जाते थे, जिनसे उनकी कृषि में कई गुनी पैदावार बढ़ जाती। स्वामी मुक्तानन्द जी प्रत्येक योजना एवं प्रयोग को पहले स्वयं सफलतापूर्वक अनुभव कर लिया करते थे।

मुख से प्रभु का अखण्ड नाम स्मरण करते हुये वे पेड़ पौधों को खाद-पानी दिया करते थे। इसका दर्शकों पर बड़ा ही अद्भुत प्रभाव पड़ता था। मानो ज्ञान-भक्ति और कर्म की त्रिवेणी-संगम में ही वे स्नान कर रहे हों।

आज भारत को स्वामी मुक्तानन्द जी, जैसे ही कर्मठ साधु-महत्माओं की आवश्यकता है, जो देश की अकर्मण्य एवं आदर्शहीन भ्रमित नई पीढ़ी को अपने ज्ञान के साथ-साथ कर्मशीलता का पाठ पढ़ाकर उसे नये युग का अग्रदूत बनाएँ।

भारतीय विद्या के साधक— सर-जान वुडराफ

ब्रिटिश शासन काल की कटु स्मृतियों के बीहड़ मरुस्थल में कुछ ऐसे मरुद्यान भी हैं जहाँ आज भी भारतीय विद्वजनों का मन कुछ क्षणों को विलमता है। अन्याय, शोषण, उत्पीड़न और स्वार्थपरता के प्रतीक इस विदेशी शासन के उच्च पदाधिकारियों में से अधिकांश अपनी नृशंसता के लिये जहाँ कुख्यात हैं वहाँ चन्द ऐसे व्यक्ति भी थे जिनका नाम बड़े आदर और श्रद्धा के साथ लिया जाता है। सर जान वुडराफ ऐसे ही एक सज्जन थे।

सर-जान वुडराफ का नाम श्रद्धापूर्वक इसलिये स्मरण नहीं किया जाता कि वे अपने समय के बहुत बड़े विधिवेत्ता और कलकत्ता हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश थे। वरन् उनका नाम चिरस्मरणीय है संस्कृत के तन्त्रशास्त्र विषयक अथाह व अनमोल लेखन के कारण।

बंगाल के एडवोकेट जनरल सर जेम्स टिडसाल वुडराफ के घर १५ दिसम्बर, १८६५ को उत्पन्न हुए सर-जान वुडराफ की शिक्षा-

दीक्षा इंग्लैण्ड के पार्क स्कूल तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुई। उनकी माता फ्लोरेस ने जो जेम्स ह्यूम की पुत्री थीं अपने इस होनहार पुत्र के निर्माण में अपना सम्पूर्ण कौशल दिखाया था। उसने जान को अन्य अंग्रेजों की तरह सोचने वाला नहीं, मनुष्य की तरह सोचने-विचारने और आचरण करने वाला बनाया। ज्युरिसप्रुडेंस और बी. सी. एल. की कानूनी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर वे बैरिस्टर बनकर भारत आये और कलकत्ता उच्च न्यायालय में वकालत करने लगे।

अपनी माँ के द्वारा दिखाये गये मानवता के पथ को उन्होंने जीवन पर्यन्त नहीं त्यागा। उन्हें अपने शासक वर्ग से सम्बन्धित होने का कोई मिथ्या दर्प नहीं था। उनके कानूनी ज्ञान को देखते हुए उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय का 'फेलो' व 'टैगोर ला प्रोफेसर' नियुक्त किया गया।

व्यक्ति चाहे वह भारतीय है या अंग्रेज यदि उसके सोचने का ढंग सही है तो उसमें मानवता का भला ही होगा। उनकी वकालत अच्छी-खासी चलती थी पर वे वकालत करने पर ही नहीं पड़े रहे, उसके साथ ही उन्होंने भारतीय कानून की पुस्तकों की कमी को पूरा करने की ओर भी ध्यान दिया। अमीर अली के सहयोग से तैयार किया गया संदर्भ ग्रन्थ 'सिविल प्रोसीजर इन ब्रिटिश इण्डिया' कानून के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है।

१९०२ में वे भारत सरकार के विधि सलाहकार, १९०४ में कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश और १९१५ में वहाँ के मुख्य न्यायाधीश बनाये गये पर उनका विनम्र और शर्मिला स्वभाव व मित-भाषण की आदत ज्यों की त्यों बरकरार रही। उनका मन कानून के दावपेचों में इतना नहीं रमता था जितना भारतीय प्राच्य विद्या के ग्रन्थों के अध्ययन में। भारतीय आर्ष ग्रन्थों को वे जिस मनोयोग से पढ़ते थे उसका चतुर्थांश भी विधि ग्रन्थों में नहीं लगा पाते थे।

वे छोटे से थे तभी पढ़ने के लिये इंग्लैण्ड भेज दिये गये थे। जैसा अपने ब्रिटिश समाज के लोगों से सुना था और भारतीय युवकों को ब्रिटेन में उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिये आते देखकर उन्होंने अनुमान लगाया था कि भारत में ज्ञान और बौद्धिक सम्पदा अत्यधिक न्यून है। किन्तु जब वे वहाँ से पढ़-लिख कर बैरिस्टर बनकर भारत लौटे और यहाँ आकर उन्होंने संस्कृत सीख कर भारतीय धर्म, दर्शन अध्यात्म तथा तन्त्र-मन्त्र साहित्य को पढ़ा तो उनकी आँखें चौंधिया गयीं। इतनी सारी ज्ञान सम्पदा यहाँ यों ही उपेक्षित पड़ी है जबकि योरोपीय साहित्य उसके सामने कुछ भी नहीं है।

सर-जान वुडराफ उसी समय से अपने व्यवसाय से बचा हुआ सारा समय हिन्दू दर्शन ग्रन्थों के पठन में लगाने लगे। तन्त्रशास्त्र उन्हें ऐसा अछूता विषय लगा जिस पर अभी किसी ने विशेष काम नहीं किया था। यह विषय उनके अपने लिये बड़ा रोचक भी था।

आरम्भ में छद्म नाम से और तत्पश्चात् प्रकट रूप में उन्होंने भारतीय तन्त्र शास्त्रों की महत्ता और उसमें वर्णित तथ्यों पर महत्त्वपूर्ण टीकाओं व तात्त्विक विवेचनों से परिपूर्ण लेख लिखने आरम्भ किये। उनका यह व्यसन दिन पर दिन बढ़ता ही गया। उसी का फल यह हुआ कि उनका यह अनमोल लेखन भारतीयों के लिये तथा तत्त्वज्ञान में रस लेने वाले पाश्चात्य विद्वानों के लिये पथ प्रदर्शक दीप सिद्ध हुआ।

सर जान वुडरफ ने तन्त्रशास्त्र पर कोई बीस-इक्कीस ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें 'कुलार्णव तन्त्र', 'तन्त्रराजतंत्र' और 'महानिर्वाण तन्त्र' में उन्होंने मूल संस्कृत संहिताओं का परिचय दिया है। 'आनन्द लहरी', 'महिम्नस्तव' 'कर्पूरादिस्त्रोत', 'देवीस्तव' आदि स्त्रोत रूप काव्यों का उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद किया।

'इन्ट्रोडक्शन टू तन्त्र शास्त्र', 'प्रिंसीपल्स ऑफ तन्त्र', 'द वर्ल्ड एज पावर' तथा 'महामाया' आदि उनके लिखे हुए शास्त्रीय विवेचना युक्त आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। 'द सप्रेट पावर' में उन्होंने कुण्डलिनी शक्ति और उसके जागरण के सम्बन्ध में तथ्यपूर्ण जानकारी दी है।

मन्त्र विद्या पर लिखा गया उनका ग्रन्थ 'द गार्लेण्ड ऑफ लेटर्स' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

सरजान वुडरफ ने इन ग्रन्थों से तन्त्र विद्या पर पड़े रहस्य का अनावरण करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उनके विवेचन में

शास्त्रसम्मत व्युत्पत्ति व तलस्पर्शी अध्ययन आने वाली स्वच्छ दृष्टि का समन्वय होने से उनके ग्रन्थ अत्यधिक बोधप्रद सिद्ध हुए और यह भावना निर्मित हुई कि तन्त्र-मन्त्र विद्या का एक सुसंगत, शास्त्रीय तात्त्विक आधार है, इसके आचार अनुष्ठानों का स्वरूप धर्माचार और साधन का है।

भौतिक शक्तियों के जागरण की विद्या में तो पाश्चात्य जगत बड़ाचढ़ा है पर आत्म विद्या के क्षेत्र में वह क ख ग भी नहीं जानता। सर-जान वुडरफ ने उसी आत्मविद्या और आत्मशक्ति के जागरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया तन्त्र व मन्त्र विद्या पर जिस गहराई और जिस मनोयोग से अध्ययन, मनन, चिंतन और लेखन किया वह विश्व के साहित्य में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इनकी इस साधना ने एक ओर तन्त्र विद्या और मन्त्र विद्या तक शिक्षितजनों की पहुँच उत्पन्न की वहीं उस पर पड़े रहस्य से भी पर्दा उठाया। इसकी आड़ में कतने ही ढोंगी तांत्रिक-मांत्रिक अपना उल्लू सीधा कर रहे थे उनकी पोल खोल कर रख दी।

तन्त्र विद्या जैसे गूढ़ विषय पर इतना अध्ययन, पैठ और लेखन कितने श्रम और साधना का परिणाम हो सकता है यह अनुमान से पारे का विषय है। इस समय-दान के लिये वे स्तुत्य हैं। उनका यह कार्य एक प्रकार से असम्भव को सम्भव बना देने जैसा ही है। उनका यह जीवन मानव इतिहास का एक स्मरणीय पृष्ठ है।

000



राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी

प्राचीन भारत का महान् वैज्ञानिक— सिद्ध नागार्जुन

पातंजलि योगदर्शन में बतलाया गया है कि योग की दिव्य विभूतियों को प्राप्त करने के कई मार्ग हैं। जिस प्रकार षटचक्रों का वेध करने से, पंचकोशों की साधना करके चेतना के उच्च स्तर पर आरूढ़ होने से, ज्ञानयोग का अभ्यास करके अपने को परमात्मा-स्वरूप अनुभव कर लेने से मनुष्य योग की चमत्कारी सिद्धियों का स्वामी बन सकता है, उसी प्रकार शक्तिशाली जड़ी-बूटियों और औषधियों का प्रयोग करके भी इस कार्य में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

भारत के प्राचीन रस वैद्यों ने पारद के सम्बन्ध में बड़ी खोजबीन की थी। जिस प्रकार आजकल के वैज्ञानिकों ने 'यूरेनियम' धातु के प्रयोग से उस 'अणु शक्ति' को प्राप्त कर लिया है, जिससे आप चाहें तो संसार की प्रलय कर दें और चाहें इस पृथ्वी को सुवर्ण मंडित बनाकर मनुष्यों को देवताओं के समान अजर-अमर बना दें, उसी प्रकार प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों ने भी पारद के ऊपर प्रयोग करके ऐसी विधियाँ निकाली थीं, जिससे ताँबे का सोना बनाना तो संभव था ही, साथ ही मनुष्य अपने भौतिक शरीर को पूर्णतः नहीं तो अधिकांश में अमर भी बना सकता था। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में तंत्र-विद्या के साधक कृपालिक ने महाराज हरिश्चन्द्र को 'पारद गुटिका' का प्रयोग करने की सम्मति देते हुए कहा था—

**याही के परभाव सों, अमर देव सम होय ।
योगीजन विहरें सदा, मेरु शिखर भय खोय ॥**

सिद्ध नागार्जुन भारतवर्ष का इसी श्रेणी का एक महान् वैज्ञानिक था। वैसे वह सन् १०५५ में सौराष्ट्रान्तर्गत 'ढांक' नामक समृद्धशाली नगर का अधिपति था, पर उसकी रुचि राज्य-शासन की अपेक्षा ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन और खोज की तरफ विशेष रूप से थी। उसने संसार की क़या-पलट कर देने के लिये 'अमृत' और 'पारस' की खोज करने का निश्चय किया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक बड़ी प्रयोगशाला बनाकर जड़ी-बूटियों द्वारा पारद-सम्बन्धी परीक्षण आरम्भ किये। साथ ही देश के विख्यात 'रस वैज्ञानिकों' और साधकों को बुलाकर उनका सहयोग भी इस कार्य में प्राप्त किया। अपनी आंतरिक लगन और कठोर साधना के कारण उसे शीघ्र ही आश्चर्यजनक सफलता मिली और किसी घटिया धातु के सोने के रूप में बदल देना उसके लिए साधारण-सी बात हो गई। मानवीय देह को अमर बनाने के प्रयत्न में भी वह बहुत कुछ सफल हुआ। उसकी इन महान् वैज्ञानिक खोजों का प्रमाण उसके बनाये 'रसोद्धार तन्त्र' नामक ग्रन्थ में मिलता है, जिसे आज भी आयुर्वेद जगत में

अद्वितीय माना जाता है। पर परिस्थितियों वंश नागार्जुन को अपने कार्य को पूर्ण करने का अवसर नहीं मिल सका और दस वर्ष तक ढांक का राज्याधिकारी रहने के बाद ही उसका अन्त हो गया।

ऊपर कहा जा चुका है कि नागार्जुन ने अपनी समस्त शक्ति और समय 'अमृत' की खोज में लगा दिया था। इस कारण वह राज्य कार्य की उपेक्षा करने लगा और देश में अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी। यह देखकर राज्य के हितैषी मन्त्रियों ने सामूहिक रूप से उसके पास जाकर प्रार्थना की कि उसकी विज्ञान रुचि के कारण राज्य की क्षति हो रही है, प्रादेशिक सामन्त स्वेच्छाचारी बनकर कर देना बन्द कर रहे हैं, उपद्रवी तत्त्व बढ़ने लगे हैं और विदेशियों के आक्रमण का पूरा भय उत्पन्न हो गया है।

मन्त्रियों की बात सुनकर नागार्जुन ने कहा— "मित्रो ! तुम्हारा यह कहना ठीक है कि मैं अमृत की खोज में लगा हुआ हूँ और इससे राज्य कार्य की उपेक्षा हो रही है। पर जिन दो विपत्तियों का भय तुमने प्रदर्शित किया, उनकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। अगर सामन्तों से कर मिलना बन्द हो जाय तब भी मेरा खजाना सुवर्ण से भरा रह सकता है और यदि कोई विदेशी मेरे राज्य पर आक्रमण करने का साहस करेगा, तो मैं सेना के बजाय थोड़ी-सी औषधि से ही उसको नष्ट करने की सामर्थ्य रखता हूँ। याद रखो कि अमृत की खोज के साथ 'मृत्यु' की खोज स्वयं होती चली जाती है। वैसे मेरा उद्देश्य किसी का विनाश करना नहीं है, वरन् मैं तो मनुष्य मात्र को अर्थाभाव और मृत्यु के भय से मुक्त करने के लिए ही इस साधना में प्रवृत्त हुआ हूँ।"

पर जब मन्त्रियों ने विशेष आग्रह किया और आंतरिक उपद्रवों का भय बतलाया तो नागार्जुन ने कहा— "राष्ट्र के हितेच्छु मन्त्रियो ! अगर राज्य को संभालने का आपका ऐसा ही आग्रह है तो युवराज को बुलाओ और मैं आज ही अपना राज-मुकुट उसके मस्तक पर रख देता हूँ। फिर आप लोग उसको शिक्षा देकर राज्य-संचालन की उचित व्यवस्था करें। मैं तो जब तक अमृत की खोज में पूर्ण सफलता प्राप्त न कर लूँ तब तक अन्य किसी बात पर ध्यान नहीं दे सकता।"

मन्त्रीगण महाराज नागार्जुन की धुन और दृढ़ निश्चय को जानते थे। उन्होंने उसी दिन एक बड़ी सभा करके उक्त निर्णय उसमें प्रकट किया और युवराज को गद्दी पर बैठाकर सर्वत्र उसकी घोषणा करा दी। नागार्जुन भी निश्चिन्त होकर पूर्ण रूप से अपने परीक्षणों में दत्तचित्त हुआ।

नागार्जुन ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूर-दूर देशों और पर्वतों से तरह-तरह की नई जड़ी-बूटियाँ इकट्ठी करनी आरम्भ कीं और अपनी प्रयोगशाला में उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रयोग करने लगा। सुवर्ण बनाने के लिये तो औषधियों का प्रयोग ताँबा आदि धातुओं पर किया जाता था, पर अब अमृत की खोज करने के लिये

तो उनका प्रयोग मानव देह पर ही किया जाना आवश्यक था। पर अज्ञात जड़ी-बूटियों का सेवन करके उनके प्रभाव की जाँच करना खतरे से खाली न था और कोई व्यक्ति इसके लिए अपने प्राण संकट में डालने के लिए प्रस्तुत नहीं हो सकता था। इसलिये नागार्जुन उनका प्रयोग अपनी ही देह पर करने लगा। इस कारण अनेक बार उसे कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था, पर जिस प्रकार कोई तपस्वी अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये तप आरम्भ करने पर प्राणों के मोह को सर्वथा त्याग देता है और अपनी समस्त शक्तियों तथा भावनाओं को एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित कर देता है, उसी प्रकार नागार्जुन अमृत की खोज के कार्य में एक सच्चे साधक के समान संलग्न हो गया। उसे न सुख-दुःख की चिंता थी, न खाने-पीने की फिकर थी और न परिश्रम, बाधाओं और विघ्नों से भयभीत था। अब वह एक राजा के बजाय एक कठोर व्रतधारी योगी या त्यागी का जीवन व्यतीत कर रहा था।

धीरे-धीरे नागार्जुन को अपने कार्य में सफलता प्राप्त होने लगी। अमृत की प्राप्ति के पहले ही उसने अपने शरीर को साधना द्वारा इस योग्य बना लिया कि वह सब प्रकार के परीक्षणों के भले-बुरे प्रभाव को निःशंक होकर सहन कर सके। उसने अपनी दैहिक स्थिति को इतना सुदृढ़ बना लिया कि न तो उस पर किसी शस्त्र आदि का प्रभाव पड़ सकता था और न किसी प्रकार के विष आदि से उसको हानि पहुँचाई जा सकती थी। उसकी सहन-शक्ति चरम सीमा तक पहुँच गई थी और वह निरन्तर अपने लक्ष्य की तरफ अग्रसर होता जाता था।

एक दिन युवराज महाराज नागार्जुन की प्रयोगशाला में उनके दर्शनार्थ आया। महाराजा ने पुत्र को आशीर्वाद देकर अपनी प्रयोगशाला के विभिन्न विभागों को दिखलाया और कहा—“बेटा, अब मैं बहुत थोड़े दिन में ही संसार से मृत्यु के भय को हटाने में समर्थ हो जाऊँगा। भगवान् धन्वन्तरि की कृपा से अमर बनाने वाली समस्त औषधियाँ मिल गई हैं और अब केवल उचित मात्रा में विधिपूर्वक उनका योग करना ही शेष रह गया है। जो कार्य प्राचीन समय में अश्विनी कुमार, लंकेश्वर रावण और आयुर्वेद के जनक चरकचार्य से पूर्ण नहीं हो सका था, उसकी विधि मेरी समझ में आ गई है। भगवान् ने चाहा तो संसार में शीघ्र ही ऐसे युग का आविर्भाव होगा जबकि दरिद्रता और मृत्यु के भय से लोग मुक्त हो जायेंगे और पृथ्वी पर स्वर्ग का दृश्य दिखलाई पड़ने लगेगा।”

अपने पिता की महान् सफलता को देखकर युवराज बड़ा प्रभावित हुआ, साथ ही उसे यह भय भी हुआ कि कहीं इस कार्य की समाप्ति हो जाने पर नागार्जुन फिर राज्य-सत्ता को लेने का विचार न करें। पर उस समय वह बिना कुछ कहे-सुने अपने महलों को लौट गया।

कहते हैं कि इसके बाद राजकुमार ने जब अपने इस भय की चर्चा अपने घनिष्ठ इष्ट-मित्रों से की तो उनमें कुछ ने, जो गुप्त रूप

से नागार्जुन के विरोधी थे, उसे इस ‘भय’ से छुटकारा पाने की सलाह दी। अन्त में सबने षड़यन्त्र रचकर ऐसी योजना बनाई जिससे छलपूर्वक नागार्जुन अपनी प्रयोगशाला सहित विनष्ट हो गया।

इस प्रकार यद्यपि नागार्जुन का ‘अमृत’ बनाने का स्वप्न साकार न हो सका, पर उसके प्रयत्नों ने पारद-विज्ञान और रसशास्त्र की इतनी अधिक उन्नति कर दी कि उसके द्वारा भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की बड़ी प्रगति हुई। विभिन्न धातुओं की भस्मों द्वारा कठिन से कठिन रोग पूर्वपिक्षा अधिक शीघ्रता से दूर किये जाने लगे। जो लोग पारद की भस्म बनाने में सफल हुये, वे उसके प्रयोग से अमर नहीं तो दीर्घजीवन की प्राप्ति में समर्थ हो सके। उसने जो साधारण धातुओं को सुवर्ण में परिवर्तित करने की विधि निकाली उसके भी कुछ चिह्न वर्तमान समय के कीमियागरों में पाये जाते हैं। आजकल भी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा रासायनिक सुवर्ण बनाने के समाचार सुनने और पढ़ने में आते रहते हैं, चाहे उनका बनाया स्वर्ण कुछ हलक़ी जाति का ही क्यों न हो।

इस प्रकार नागार्जुन ने अपने आविष्कारों द्वारा लोक-कल्याण का एक ऐसा मार्ग खोल दिया, जिस पर चल कर ज्ञान-विज्ञान के अभ्यासी उल्लेखनीय सफलतायें प्राप्त कर सकते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ‘पारस’ और ‘अमृत’ अति प्राचीन काल से अत्यन्त आकर्षक विषय रहे हैं। भारतवर्ष ही नहीं अन्य देशों में भी अनगिनती लोग कीमियामरी के पीछे पागल होकर घूमते रहे हैं। योरोप के कितने ही देशों में तो प्राचीनकाल में कीमियागरों को प्राणदण्ड देने का नियम बना दिया गया था, क्योंकि ऐसे क्रम को वहाँ ‘जादू’ समझा जाता था और यह ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध था। पर कुछ भी हो इन्हीं कीमियागरों के उलटे-सीधे परीक्षणों के फलस्वरूप रसायन-विज्ञान की बहुत बातें मालूम हो गईं जिनकी नींव पर ही आधुनिक रसायन-विज्ञान का भवन खड़ा किया गया है। उन प्राचीन कीमियागरों के लिए यह बात भी कम गौरवास्पद नहीं है कि आज उन्हीं के उत्तराधिकारी वैज्ञानिकों के प्रयत्न स्वरूप सोना बना सकना कोई असम्भव बात नहीं रह गई है। वैज्ञानिक लोग अपनी प्रयोगशालाओं में सीसे के छोटे कणों को सोने में परिवर्तित करने में सफल हो चुके हैं, यह बात दूसरी है कि अभी उसमें बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है। पर वह दिन अधिक दूर नहीं है कि यदि विज्ञान की वर्तमान प्रगति कायम रही तो सोना संसार में एक साधारण वस्तु हो जायेगा।

अटूट निष्ठा तथा अडिग विश्वास के धनी श्री देवमित्र धर्मपाल

कोई कारण नहीं कि एक लक्ष्य बनाकर अपनी सारी शक्तियाँ, यदि हम एक ही ओर लगा दें, जीवन की सारी गतिविधियाँ उधर ही मोड़ दें तो सफलता हमसे दूर रहे। होता यह है कि किसी क्षणिक उत्तेजनावश या भावुकता के वश होकर हम कोई कार्य प्रारम्भ तो कर

देते हैं किन्तु कुछ ही समय बाद मार्ग की कठिनाइयों को देखकर ही हमारी निष्ठाएँ ढीली पड़ने लगती हैं, हिम्मत टूटने लगती है और पैर बीच में ही थक कर आगे चलने से इन्कार कर देते हैं।

धर्मपाल जी उन व्यक्तियों में नहीं थे। उन्होंने अपने जीवन का जो एक उद्देश्य निर्धारित कर लिया तो उसी पर डटे रहे और बहुत अंशों में सफलता भी प्राप्त की। आपका जन्म १७ सितम्बर सन् १८६४ में कोलम्बो में हुआ। आप बौद्ध धर्मावलम्बी समाज के एक धनी मानी पिता के पुत्र थे। सन् १८७३ में इन्हीं के परिवार के लोगों द्वारा 'पाली विद्योदय कॉलेज' की स्थापना हुई। सन् १८८० में आपने मैट्रिक की परीक्षा पास की और इसी समय उनकी आयु भी आई कि स्वयं कुछ सोच-समझ सकें, जीवन को मौलिक दृष्टि से देख सकें। इसी समय भारत से सीलोन गई हुई श्रीमती ब्लैवेटस्की से आप की भेंट हुई। आप थ्योसोफिस्ट सोसायटी की जन्मदात्री थीं। इनके विचारों से किशोर धर्मपाल इतने प्रभावित हुए कि उनके साथ भारत आ गये। मैडम ब्लैवेटस्की की ही प्रेरणा से आपने पाली भाषा का गहन अध्ययन किया। पाली पढ़ते हुए बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन आपने किया।

बस, इसी समय आपके मन में यह विचार उठा कि क्यों न अपना जीवन भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार में ही लगा दिया जाय। गत ८०० वर्षों में जो महान् धर्म विलुप्त प्रायः ही हो गया है उसे फिर से जीवन देकर संप्राण कर दिया जाय तो मानव जाति की महती सेवा हो सकती है। इस समय आपकी आयु केवल २० वर्ष की थी। यही व्रत लेकर आप घर-बार की सारी मोह-ममता त्याग कर घर से चल पड़े। अड़ियार (मद्रास) में ६ वर्ष तक आपने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया। साथ ही अंग्रेजी भाषा का भी अभ्यास किया। इसी समय लेख लिखने का तथा भाषण देने का अभ्यास भी खूब किया। सन् १८९० में उन्होंने गया की यात्रा की और महाबोधि मन्दिर तथा वृक्ष के दर्शन किये। वहाँ के शैव महन्तों की अनुचित कार्यवाहियों को देखकर आपके हृदय में बड़ी वेदना हुई और आपने निश्चय किया कि महाबोधि मन्दिर को फिर बौद्ध धर्मानुयायियों के अधीन लाने का प्रयत्न करेंगे।

मन में जब जीवन का एक लक्ष्य निर्धारित हो जाता है तो सारे क्रिया-कलाप उधर ही केन्द्रित होने लगते हैं। अब उनके जीवन का भी एक ही ध्येय बन गया था। बौद्ध धर्म का अधिक से अधिक प्रचार तथा प्रसार। समस्त भारत में बौद्ध धर्म को फैलाने की लालसा मन में जम चुकी थी। मार्च सन् १८९१ में आप कलकत्ते आए। अधिकांश समय ऐशियाटिक सोसायटी में बैठकर बौद्ध धर्म का अध्ययन करते तथा शेष समय कॉलेज स्वचायों में जाकर भाषण करते थे। इसी समय आपने महाबोधि सोसायटी की स्थापना भी की और मन्त्रित्व के पद का भार भी सँभाला। गया में बौद्ध यात्रियों को ठहरने आदि की असुविधा को देखकर आप ने ही स्वयं बर्मा तथा सीलोन घूम-घूम कर चन्दा इकट्ठा किया तथा गया में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड द्वारा वह धन देकर बौद्ध यात्रियों के लिये एक सुन्दर धर्मशाला का निर्माण करवाया।

जनवरी सन् १८९३ में 'महाबोधि' नामक एक मासिक पत्र निकाला जिससे बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में वे सोई जनता को सजग

कर सकें। इस पत्र की ही एक प्रति शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन के आयोजकों के हाथ लगी और वे उससे इतने प्रभावित हुए कि वृहत् सर्व-धर्म सम्मेलन में आपको आमन्त्रित किया गया। भारत के आमन्त्रित दो प्रतिनिधियों में एक आप भी थे। अमेरिका के सभी प्रमुख पत्रों ने आपकी प्रशंसा तथा विद्वता के समाचार छापे।

बौद्ध धर्म के प्रति अपार श्रद्धा आपकी प्रत्येक गतिविधि को उसी ओर संचालित करती रही। सारा जीवन, सारे प्रयत्न इसी में लगा दिये।

और जब वे ६८ वर्ष के थे और अस्वस्थ थे, तब भी उनकी प्रत्येक श्वास अपने इसी एक उद्देश्य को प्राण देती रहती थी। सारे जीवन भर बहुत कुछ कर चुके थे किन्तु लक्ष्य इतना बड़ा था कि एक जीवन में पूरा नहीं हो सकता था। बहुत अंशों में पूरा कर लेने के पश्चात् भी उन्हें— उनकी आत्मा को संतोष नहीं था और इसी समय उन्होंने अपनी एक भेंट में श्री बनारसी दास चतुर्वेदी से कहा था कि — “भगवान् बुद्ध के धर्म प्रचारार्थ मैं २५ बार जन्म ग्रहण करूँगा।”

धन्य है ऐसी निष्ठा तथा लगन। जो इस एक जीवन और शरीर को तो अपनी उद्देश्य पूर्ति में लगाये ही रखती है किन्तु उसकी पूर्ति न हो सकने पर पच्चीस बार उसी के लिये जन्म ग्रहण करते रहने और मरते रहने के क्रम की आकांक्षा करती है।

हिन्दू-संस्कृति के सच्चे सेवक— राजा राममोहन राय

आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व बंगाल के हुगली जिले में राजा राममोहन राय उन दिनों पैदा हुए थे जबकि हिन्दू-धर्म पर अज्ञान का अन्धकार अपने प्रबल प्रकोप के साथ छाया हुआ था। देर से कोई सुधारक जन्मा न था और विकृतियों ने अविवेकपूर्ण रूढ़ियों के रूप में जनमानस को बुरी तरह आच्छादित कर रखा था। भारतीय सभ्यता के उच्च आदर्श केवल पुस्तकों में लिखने-पढ़ने भर की चीज रह गये थे, व्यवहार में अनुपयुक्त अन्ध परम्पराएँ ही धर्म का रूप बनाये बैठी थीं।

अंग्रेजी शासन की जड़ जम चुकी थी। राज्य-आश्रय पाकर ईसाई धर्म तेजी से फैल रहा था। मुसलमानी धर्म भी शताब्दियों से शासकों की छाया में पनप रहा था। इन धर्मों में बुद्धिवादी और प्रतिभाशील लोग पर्याप्त संख्या में मौजूद थे जो अपने धर्मों की विशेषता बताने और हिन्दू मान्यताओं का मखौल उड़ाने में कुछ कमी न रखते। इस प्रचार से प्रभावित होकर शिक्षित युवक तेजी से विधर्मी बनते चले जा रहे थे। विचारशील लोग अपने धर्म को छोड़ते जा रहे थे, केवल कट्टरपन्थियों पर ही उसका आधार स्थिर रह रहा था।

अरबी, संस्कृत और अंग्रेजी का अध्ययन पूरा करके राजा राममोहनराय ने हिन्दू धर्म-शास्त्रों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शों को अत्यन्त प्रेरणाप्रद एवं

प्रगतिशील पाया, पर साथ ही यह भी देखा कि उन दिनों चौका-चूल्हा, छूत-छात, भाग्यवाद, मन्दिरों में होने वाले अनाचार और अपव्यय जैसी संकीर्णताएँ जो धर्म का प्रधान अंग समझी जाती थीं, उनके लिए प्राचीन धर्म-शास्त्र में कोई स्थान नहीं है। इनके समर्थन में तो तत्कालीन संस्कृत के पण्डितों ने कुछ श्लोक गढ़कर प्राचीन ग्रन्थों में मिला देने की धृष्टता मात्र की है। जैसे-जैसे वे इस सम्बन्ध में अधिक विचार करते गये उन्हें यह ही निश्चय होता गया कि प्राचीन आदर्शों पर चलने से ही अपने समाज का कल्याण हो सकता है। वर्तमान रूढ़ियाँ तो हर दृष्टि से अहित ही करती चली जायेंगी, इसलिए उनको बदलना और सुधारना आवश्यक है।

राजा राममोहन राय को हिन्दू-धर्म से अगाध प्रेम था, वे उसे विचारशील लोगों की दृष्टि में सशक्त, प्रबुद्ध, आदर्श और आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे और जिन अनुपयुक्त रूढ़ियों के कारण अपना उपहास होता था उन्हें अशास्त्रीय और अनावश्यक समझ कर हटाना चाहते थे। वे जानते थे कि विचारशील नई पीढ़ी को हिन्दू-धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करके ही विधर्म होने से बचाया जा सकता है। उन्हें लगा कि विधर्म आक्रमणकारी हिन्दू-धर्म को भले ही मिटा न सके हों, पर उसकी मूर्खतापूर्ण रूढ़ियाँ उसे बर्बाद करके ही छोड़ेंगी, इसलिए उन्हें सुधारने और प्राचीन आदर्शों के अनुरूप हिन्दू-धर्म को बनाने के लिए प्रबल प्रयत्न किये जाने चाहिए। इस निष्कर्ष पर पहुँच कर राजा राममोहन राय ने एक समाज सुधारक के रूप में काम करना आरम्भ कर दिया।

मन्दिरों में होने वाली अपार धन राशि का अपव्यय, अलग-अलग मन्दिरों में अलग-अलग प्रकृति के देवता, मनौती मानने पर बुरे क्रम में भी देवता से सहायता पाने की मान्यता, पशुबलि जैसी नृशंसता, देवदासी प्रथा के नाम पर मन्दिरों पर वेश्यावृत्ति, पुजारियों का अहंकार और शोषण उन्हें तनिक भी पसन्द न आया। वे आस्तिक थे, भगवान् को मानते थे और उसकी उपासना की उपयोगिता भी स्वीकार करते थे पर यह नहीं मानते थे कि—उसे पूजा, प्रलोभन देकर अनुचित कार्यों में सहायता करने के लिए भी राजी किया जा सकता है। अपने विचारों को उन्होंने तत्कालीन समाचार-पत्रों में छपाया और भाषण भी दिये। फलस्वरूप रूढ़िवादी लोग उनके विरुद्ध हो गये। इन विरोधियों में एक उनके पिता भी थे, जिनकी नाराजी के कारण युवक राममोहन राय को घर छोड़ कर भागना पड़ा।

हिन्दू-धर्म में प्रचलित संकीर्णता को देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित हुए और उसका अध्ययन करने तिब्बत चले गये। वहाँ भी उन्होंने लामाओं को ईश्वर के समान अपनी पूजा कराते देखा तो बड़े खिन्न हुए। उन्हें बुद्धिवादी-बौद्ध-धर्म-से बड़ी आशा थी। पर स्वार्थपरता और संकीर्णता का वहाँ भी बोलबाला देखा तो निराश होकर वहाँ से भी लौट पड़े। मनुष्य अपने को ईश्वर बताये यह धृष्टता उन्हें सहन न हुई और खुले रूप में इसका विरोध करने लगे। लामाओं को यह पता चला तो वे उनकी जान के ग्राहक

बन गये। बड़ी कठिनाई से एक उदार तिब्बती महिला की सहायता से वे निकल भागने में समर्थ हुए और वापस भारत आ गये।

पिताजी की मृत्यु के बाद वे घर पर ही रहने लगे और शास्त्रों के अध्ययन में अधिक समय लगाने लगे। इसी बीच उनके बड़े भाई की मृत्यु हो गई। परिवार के लोगों ने उसकी भोली स्त्री को आवेश दिला कर सती होने के लिए राजी कर लिया। बेचारी डरते-डरते पति की लाश के साथ चिता पर बैठी पर जैसे ही आग जलने लगी वह मर्मन्तक पीड़ा से व्याकुल होकर चिता से उठ भागी। कुटुम्बी लोगों ने बाँस मार-मार कर उसे पुनः चिता में झोंक दिया। कोई उसकी चीत्कार सुन न सके, इसलिए जोरों से बाजे बजने का प्रबन्ध कर दिया। इस घटना को जब राममोहन राय ने देखा तो उनकी आँखों में खून बरसने लगा। उन दिनों बंगाल में सती-प्रथा का बहुत जोर था। विधवाओं का निर्वाह भार सहन न करना पड़े और उसके पति की सम्पत्ति को हड़पने का अवसर मिल जाय इस लालच में लोग बेचारी शोकाकुल विधवा को सती होने का उपदेश देते थे, जलने में कोई कष्ट न होने का बहकाव देते थे, कमजोरी दिखाने पर कटु-वचन कहते थे और स्वीकृति न सही चुप हो जाने पर भी स्वीकृति की घोषणा करके उसके सती करने की तैयारी करा देते थे। अपने वंश की नामवरी भी उन्हें उसी में दीखती थी। मरने के पूर्व विधवा को नशीली चीजें खिला देते थे ताकि वह जलते समय कुछ बोल न सके। धर्म के नाम पर चलने वाली इस नृशंसता के सम्बन्ध में राजा राममोहन राय ने पूरी खोज-बीन की और बेचारी विधवाओं को किस प्रकार सती होने के लिए उद्यत किया जाता है इस क्रूरता के छिपे रहस्यों का ऐसा खोजपूर्ण एवं दिल दहला देने वाला चित्रण पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया कि पढ़ने वाले के पत्थर हृदय को भी पसीजना पड़ा।

सती प्रथा के विरुद्ध उन्होंने घनघोर आन्दोलन किया। रूढ़िवादियों ने उनका फिर विरोध किया पर वे अपने कार्य में लगे ही रहे। जन-मत उनके पक्ष में हुआ और प्रजा के गणमान्य लोगों ने सरकार से माँग की कि इस नृशंसता के विरुद्ध कानून बनाया जाय। अंग्रेजी सरकार मान गई और कानून बना कर सती प्रथा को रोक दिया गया। इस प्रकार इस महान् समाज-सुधारक की एक बड़ी आकांक्षा पूरी हुई। उस कानून से जिन सहस्रों विधवाओं को जीवित जला डालने के षड़यन्त्र से त्राण मिला उनकी आत्माएँ इस महान् सुधारक की कितनी उपकृत हुई यह कहने की आवश्यकता नहीं।

विधवाओं की दुर्दशा का दृश्य उनकी आँखों के सामने घूमता तो एक सहृदय व्यक्ति की भाँति वे फूट-फूट कर रोने लगते। उन्होंने विधवा विवाह की आवश्यकता प्रतिपादित की और इसे प्राचीन परम्पराओं और शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल सिद्ध करने के लिए 'विधवा विवाह मीमांसा' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित कराया जिससे लोगों की आँखें खुलीं और जाना कि यदि किसी विधवा का पुनर्विवाह कर दिया जाता है तो उसमें धर्म या शास्त्र का तनिक भी उल्लंघन नहीं होता। पुरातनपंथी लोग हर नई बात को अधर्म मानने की तरह इन विचारों का भी विरोध करते रहे पर विचारशील लोगों का समर्थन दिन-दिन बढ़ता ही चला गया। अविवेकपूर्ण बातों का विरोध करने वाले लोगों

को अन्ततः परास्त ही होना पड़ता है फिर वे भले ही बहु-संख्यक क्यों न हों। अकेले राजा राममोहन राय का प्रतिपादन धीरे-धीरे जनता द्वारा एक तथ्य और औचित्य के रूप में स्वीकार किया जाने लगा और विधवाओं के मार्ग से एक बड़ी कठिनाई किसी हद तक दूर हो सकी।

नर और नारी को एक स्तर पर लाने और उनके कर्तव्य एवं अधिकार समान घोषित करने की दिशा में राजा साहब ने जो कार्य किया उससे हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता बढ़ी और इस प्रकार मानवता की एक बड़ी सेवा उनके द्वारा बन पड़ी।

वे हिन्दू धर्म के यथार्थ स्वरूप से नवयुवकों को परिचित कराना चाहते थे इसलिए उन्होंने हिन्दू कॉलेज की नींव डाली। हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापन महामना मालवीय जी की तरह राजा राममोहन राय भी यही चाहते थे कि हमारी प्रबुद्ध नई पीढ़ी हिन्दू संस्कृति की महानताओं और विशेषताओं से परिचित होकर अपने आचरणों द्वारा इस उत्कृष्ट आदर्शवाद को विश्व मानव की प्रगति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम सिद्ध करे। हिन्दू कॉलेज उन्होंने इसी उद्देश्य से स्थापित किया और बड़ी लगन से उसे चलाया भी। उन दिनों ईसाई शिक्षा संस्थाओं का जाल फैल रहा था उनके मुक़ाबले में यह प्रयास दुस्साहसपूर्ण ही था। इस प्रयास को सफल बनाने के लिए उन्हें बाधाओं से निरन्तर संघर्ष करते रहना पड़ा।

समाज सुधार आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए उन्होंने 'सम्वाद कौमुदी' और 'मीरत अल अखबार' नामक दो साप्ताहिक पत्र चलाये। उन दिनों सरकारी प्रेस प्रतिबन्ध बहुत कड़े थे, कोई व्यक्ति सरकार की मर्जी के विरुद्ध कुछ छाप नहीं सकता था। इन नियन्त्रणों के विरुद्ध राजा साहब ने बहुत आन्दोलन किया और प्रतिबन्धों को शिथिल कराया।

हिन्दू धर्म से सच्चा प्यार करने वाले, राजा साहब इस महान् संस्कृति को उसके वास्तविक रूप में परिष्कृत करने के लिए अथक परिश्रम करते रहे। उनके प्रयासों से हिन्दू धर्म पर से डगमगाती हुई नई पीढ़ी की आस्था पुनः जमी और बुद्धिजीवी वर्ग विधर्मी संस्कृति के चंगुल में फँसने से बच गया। इसका बहुत कुछ श्रेय इस महान् सुधारक को दिया जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

ऐसे थे त्यागमूर्ति देशबन्धु चित्तरंजन दास

देशबन्धु चित्तरंजन दास हमारी आजादी की लड़ाई के एक जबर्दस्त सेनानी थे। गाँधीजी के परिचय में आने से पहले वे कलकत्ते में वकालत करते थे और हजारों रुपये महावार कमाते थे। लेकिन देश की सेवा करने के लिए उन्होंने इस भारी कमाई को ठुकरा दिया और अपना सारा समय वे गरीबों की सेवा में बिताने लगे। उनकी गृहस्थी का खर्च बहुत बड़ा था, इसलिए वकालत छोड़ने के बाद उन्हें कुछ कर्ज करना पड़ता था। यह कर्ज वसूल करने के लिए एक

दिन साहूकर उनके यहाँ आया और अपना पैसा माँगने लगा। देशबन्धु के हाथ में उस समय कुछ नहीं था। अतः उसी समय उसके पैसे कैसे चुकाते? किसी मित्र से लेकर कर्ज अदा कर देने की आशा से उन्होंने साहूकर से एक दिन का समय माँगा, लेकिन वह मुँह चढ़ाकर कमरे में ही बैठा रहा, टस-से-मस नहीं हुआ।

उसी वक़्त एक बड़ा जमींदार उस कमरे में आया उसका एक बड़ा मामला अदालत में चल रहा था। पहले कई बार उसने अपने बड़े-बड़े मामलों में देशबन्धु को ही अपना वकील बनाया था। इसलिए इस मामले में भी देशबन्धु को ही अपना वकील बनाने के लिये आया था। उसने मामले की सारी तफ़सील उन्हें समझाई और एक लाख रुपये लेकर मामला हाथ लेने की विनती की। लेकिन अब तो देश सेवा करने के लिए उन्होंने वकालत छोड़ दी थी। इसलिए उन्होंने इन्कार कर दिया। जमींदार ने सोचा कि एक लाख रुपये कम मालूम होते होंगे, इसलिए वकील साहब मेरा मामला हाथ में लेने से इन्कार करते हैं। कुछ देर खामोश रह कर वह बोला—“दो लाख रुपये ले लीजिये, लेकिन मेरी इच्छा है कि यह मुकदमा आप ही लड़ें।” देशबन्धु ने हँसते हुए फिर इन्कार किया और कहा—“दो लाख का भी मैं क्या करूँ? अपने देशवासियों की सेवा से अब मुझे फ़ुरसत ही कहाँ मिलती है?” जमींदार के मन में वकील के नाते देशबन्धु की शक्ति के बारे में बड़ा ऊँचा खयाल था। वह मानता था कि एक बार अगर देशबन्धु इस मामले को हाथ में ले लेंगे तो मेरी जीत अवश्य होगी। अन्त में उसने बड़े नम्र भाव से आग्रह किया—“वकील साहब, दो लाख अगर कम हैं, तो बताइये आपको कितने रुपये चाहिये? बोलिये, आप माँगेंगे उतने रुपये मैं देने को तैयार हूँ, लेकिन मेरा मुकदमा तो आप ही लड़ें।” देशबन्धु ने फिर सर हिलाकर इन्कार कर दिया। आखिर निराश होकर जमींदार उनकी इजाजत लेकर कमरे से बाहर जाने के लिए उठा। पीछे-पीछे देशबन्धु दरवाजे तक उसे विदा करने गये।

वह साहूकर बैठे-बैठे दोनों की सब बातें सुन रहा था। देशबन्धु के इस अलौकिक त्याग से उसके अचरज का पार न रहा। खुद कैसे महापुरुष के घर कर्ज वसूल करने आया इसका उसे खयाल आया। जिसने बात ही बात में लाखों रूपयों को ठोकर मार दी, उसके यहाँ मैं पाँच हजार की वसूली करने आया हूँ? वह बड़ा लज्जित हुआ और अपनी इस उतावली, लालच और ओछेपन के लिये उसे बड़ा दुःख हुआ। देशबन्धु जमींदार को विदा करके लौटे कि वह खड़ा हो गया और रो पड़ा। हाथ जोड़कर देशबन्धु से कहने लगा—“देवता, मुझे अपने रुपये नहीं चाहिए। मैंने आपके अद्भुत त्याग को पहचाना नहीं था। मेरी असभ्यता और ओछेपन के लिये मुझे क्षमा करें।” इतना कहकर वह साहूकर आँसू पोंछता हुआ कमरे से बाहर निकल गया।

देशबन्धु चित्तरंजन दास विलायत से बैरिस्टर होकर भारत लौटे और कलकत्ता में उन्होंने वकालत शुरू की। नये वकीलों को धन्यता चलाने में शुरू-शुरू में जो कठिनाइयाँ आती हैं, वैसी ही कठिनाइयों का सामना उन्हें भी करना पड़ा, मुबकिल आते नहीं थे और खर्च

दिनों-दिन बढ़ता जाता था। उनका परिवार सम्पन्न और खुशहाल माना जाता था, परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं जिनके कारण उन्हें पैसे की बड़ी तंगी उठानी पड़ती थी।

देशबन्धु अपने पिता के बड़े लड़के थे। विलायत में उन्हें शिक्षा दिलाने के कारण तथा अपनी गम्भीर बीमारी के कारण उनके पिता पर काफी कर्ज हो गया था। उसमें एक अनसोचा आर्थिक संकट और आ गया। उससे सारा घर बिलकुल तबाह हो गया। उनके पिता स्वभाव के इतने उदार थे कि मुसीबतें उठाकर भी दूसरों की मदद करते थे। मौका आने पर खतरे का सामना करके भी अपने मित्रों की सहायता करने के लिये वे हमेशा तैयार थे। एक बार किसी मित्र की ओर से बड़ी रकम के लिए उन्होंने जमानत की। लेकिन मित्र की असफलता के कारण वह रकम अदा करने की जिम्मेदारी उनके सिर पर आ पड़ी। इतनी बड़ी रकम चुकाना उनके लिए असम्भव हो गया। इसलिये पिता को पुत्र के साथ मिली-जुली जिम्मेदारी स्वीकार करके अदालत में जाकर अपने दिवालियेपन की अर्जी करनी पड़ी। अदालत ने पिता और पुत्र दोनों को दिवालिया घोषित कर दिया। यह देशबन्धु के जीवन का कड़वे से कड़वा घूंट था, लेकिन उसे पिये बिना उनके लिए कोई चारा नहीं था।

भाग्य का चक्र रथ के पहिये की तरह कभी ऊपर कभी नीचे घूमता ही रहता है। देशबन्धु ऐसे आर्थिक संकट से दबकर निराश होने वाले नहीं थे। अनोखी प्रतिभा और कानून के गहरे ज्ञान के कारण कुछ ही दिनों में एक होशियार वकील के नाते उनकी प्रतिष्ठा जम गई। फिर तो उनके घर में पैसे की वर्षा होने लगी। अब देशबन्धु ने अपने पिता के साहूकारों को याद किया और सबको अचरज में डालने वाला महान् नैतिक कदम उठाया। कानून से उनके पिता का कर्ज बेमियाद हो चुका था, लेकिन कानून की अपेक्षा नैतिकता की कीमत बहुत ऊँची है। इसलिए नैतिक कानून का पालन करना मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है, ऐसा मानकर देशबन्धु ने अदालत की दिवालियेपन की आज्ञा रद्द कराने के लिये अर्जी पेश की। तदनुसार अदालत ने अपनी पुरानी आज्ञा रद्द कर दी। इस तरह उन्होंने पिता का सारा कर्ज चुका दिया। इस नैतिक आचरण से देशबन्धु का सारा देश में खूब नाम हुआ और उनकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये। सिर्फ कानून की निगाह से देखने वाले एक अंग्रेज न्यायाधीश पर इसका बड़ा गहरा असर हुआ और वे देशबन्धु को कीर्ति का प्रतीक मानकर उनका बड़ा आदर करने लगे।

पैसे का लोभ इतना बलवान होता है कि कोई विरला व्यक्ति ही उससे बच सकता है। कानून के रक्षण और नैतिक कर्तव्य के बीच होड़ लगने पर नैतिक कर्तव्य का पालन करके देशबन्धु चित्तरंजन दास ने अपने जीवन को उच्चता के शिखर पर पहुँचा दिया था। आज जब मनुष्य पैसा कमाने के लिये काला बाजारी, रिश्वतखोरी और ऐसे ही अनेक दूसरे पापों के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है, तब देशबन्धु का ऊँचा और साधु जीवन उसे पुण्य का मार्ग बताने वाला प्रकाश-दीप बने, यही परम प्रभु से प्रार्थना है।

करुणा और सेवा की साकार मूर्ति— ठक्कर बापा

बहुत कुछ आड़े आने पर भी ठक्कर बापा ने निर्धनता को अपनी पढ़ाई के मार्ग में अवरोध नहीं ही बनने दिया। उन्होंने अपने अध्ययन के बल पर यह प्रमाणित कर दिखाया कि जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ को छोड़कर किसी अन्य बात पर निर्भर नहीं रहता उसकी गति संसार का कोई भी अभाव नहीं रोक सकता है।

अन्य मुसीबतों की अपेक्षा ठक्कर बापा के सामने अर्थाभाव की मुसीबत सबसे बड़ी थी। फीस, पुस्तकें तथा अन्य पढ़ाई के खर्चों के लिए इनका हाथ सदैव तंग रहा करता था। किन्तु उन्होंने इस तंगी को अपनी पढ़ाई से बचे हुये समय में अन्य विद्यार्थियों को पढ़ाकर, अपने सारे खर्चे समाप्त करके और केवल एक बार साधारण भोजन करके बहुत कुछ दूर कर लिया। उनके अद्भुत पुरुषार्थ और लगन का फल यह हुआ कि धन की महान् असुविधा होते हुए भी उन्होंने इन्जीनियरिंग की परीक्षा पास कर ली।

जो काम सच्चे मनोयोग और लगन से किये जाते हैं उनके सफल होने में विलम्ब नहीं होता। अतएव इन्जीनियरिंग पास करते ही बम्बई कॉर्पोरेशन ने उन्हें अपने यहाँ इन्जीनियर के पद पर नियुक्त कर लिया। इतना शीघ्र स्थान पा जाने में कोई ऐसी विलक्षणता नहीं है, जिस पर आश्चर्य किया जाये अथवा दैव संयोग माना जाये। इसका स्पष्ट कारण है कि ठक्कर बापा के पुरुषार्थ और लगन से लोग परिचित थे। ऐसे गुणी व्यक्ति को अपने यहाँ नियुक्त करके बाम्बे कॉर्पोरेशन लाभ उठाने से भला क्यों चूकता। ऐसे लगनशील और चरित्रवान् व्यक्तियों की सब जगह तलाश रहा करती है। गुणी को किसी की तलाश नहीं करनी पड़ती, बल्कि दूसरे लोग ही उसकी तलाश किया करते हैं। बम्बई कॉर्पोरेशन ने उन्हें स्वच्छता, प्रकाश और दाम के निरीक्षण का काम सौंपा। इसके लिए उन्हें दिन-भर नगर का भ्रमण करना होता था। सफाई के सिलसिले में उन्हें मेहतरों की बस्तियों में भी जाना होता था, जिससे उन्हें उनकी दुरवस्था और दयनीयता को देखने का अवसर मिला। उन्होंने देखा कि उनके निवास अत्यन्त गन्दे और बुरी दशा में थे। उनके बच्चे असहाय, अशिक्षित और गन्दे रहा करते थे। उनकी स्त्रियाँ दिन भर लड़तीं, बच्चों से मारपीट करतीं और गालियाँ बकतीं। मेहतर शराब पीते, जुआ खेलते और घर में मारपीट करते, आपस में लड़ते और अपराध करते। जुआ और शराब के कारण सदैव कर्जदार रहते जिसे निबटाने के लिए जब-तब चोरी का भी प्रयत्न करते। नगर की पुलिस और कॉर्पोरेशन के अधिकारी उनसे जानवरों जैसा बर्ताव करते।

मेहतरों की यह दुर्दशा देख-देखकर ठक्कर बाबा को बड़ा दुःख होता। वे सोचते क्या यह भी मनुष्य है? और समाज के एक अभिन्न अंग हैं? उनकी बस्तियाँ उन्हें नरक और उनमें रहने वाले नरक के कीड़ों से अधिक कुछ न दीखते। मनुष्य जाति की यह दशा देख कर उन्हें बड़ी दया आई और उन्होंने उनके सुधार के लिए प्रयत्न करना

शुरू किया। उन्होंने कोशिश की कि कॉर्पोरेशन के कर्मचारी एवं अधिकारी उनसे मानवोचित व्यवहार करें और जितना हो सके उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न करें, किन्तु लोगों ने उनके कहने पर कोई ध्यान न दिया। मेहतारों की दशा पर उन्हें दिन-दिन परेशानी बढ़ने लगी। वे उनका जितना सुधार करना चाहते थे, नौकरी के कारण उतना न कर पाते थे। उनकी मानवता मानव जाति के एक वर्ग की इस दुर्दशा को न देख पाई और उनके सुधार करने का निश्चय करके कॉर्पोरेशन के इन्जीनियरिंग पद से त्यागपत्र दे दिया। उन्हें बहुत-कुछ समझाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु उन्हें तो मानव सेवा की लगन लग चुकी थी। वे न माने और अपने अध्यवसाय का फल परोपकार की भावना पर बलिदान कर दिया।

सामान्यतः लोग दूसरों का अहित करके अपना स्वार्थ साधन किया करते हैं और उन्हें ऐसा करने में तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं होता। पर ठक्कर बापा ने परोपकार पर अपने स्वार्थ को न्योछावर कर दिया। वे यह बात कभी न भूलते थे कि जिस समाज के सभी वर्ग समान रूप से उन्नत न होंगे वह समाज सदैव ही पतन की ओर चलता रहेगा। उन्हें भंगियों के सुधार और जनसेवा में ही सच्ची देशभक्ति के दर्शन होने लगे।

नौकरी छोड़ देने के बाद वे श्री गोपालकृष्ण गोखले की 'भारत सेवक समाज' नामक जन-हितकारी संस्था में चले गये। उन्होंने मेहतारों की दशा से द्रवित होकर भावुकतावश नौकरी का त्याग नहीं किया था, बल्कि आजीवन जन-सेवा की स्थायी भावना और देश का हित देखकर वैसा किया था, जिसके लिये उन्होंने 'भारत सेवक समाज' की आजीवन सदस्यता ग्रहण कर ली।

ठक्कर बापा भाषणों और लेखों द्वारा प्रचार करने को पसन्द नहीं करते थे। उनका कहना था कि जो सुधारक अथवा कार्यकर्ता भाषणों, आन्दोलनों एवं लेखों आदि तक सीमित रहते हैं, वे सच्चे मानों में जनसेवक नहीं हैं। जनसेवा का अर्थ है जन-जन से सम्पर्क रखना और सक्रिय रूप से उनकी सेवा करना। वस्तुतः भाषणों आदि से उनका कोई हित नहीं हो सकता और न वे सुधार के मार्ग पर चल सकेंगे। सच्चा सुधार करने के लिए अपने को उनमें मिला देना ही होगा। पहले तो मौखिक प्रयत्नों द्वारा जनसेवा में विश्वास रखने वालों में सच्ची भावना की कमी होती ही है, वह भाषणों आदि के माध्यम से सन्तुष्ट हो जाती है। अस्तु, किसी वर्ग के सुधारार्थ मौखिक प्रयत्न तक सीमित रहने में मेरा विश्वास नहीं है।

अपने इसी विश्वास के अनुसार न उन्होंने कभी कोई सभा जोड़ी और न कोई अभियान चलाया। वे मेहतारों की बस्तियों में स्वयं अकेले जाते, उपदेश करने के बजाय मार्मिक शब्दों में उनसे अपना सुधार करने की प्रार्थना करते। ऐसा लगता मानो अपना सुधार करके मेहतर अपना हित न करके उन पर ही कृपा करेंगे। वे उनके बच्चों को पढ़ाते, उनके मकानों की सफाई करते और बुरी आदतें छोड़ने के लिए समझाते। उनके इन व्यक्तिगत प्रयत्नों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि मेहतारों में बहुत कुछ सुधार प्रारम्भ हो गया। उनका यह निश्चल सेवाभाव देखकर अन्य भी बहुत से लोग मेहतारों के सुधार में लग गये।

ठक्कर बापा न केवल मेहतारों तक ही सीमित रहे, अपितु उन्होंने आदिवासी वर्ग की भी सराहनीय सेवा की। वे उनके निवासों पर भी जाते, शिक्षा का प्रचार करते, दुर्व्यसन छोड़ने की प्रेरणा देते और उनकी अपराध वृत्ति का निराकरण करते। वे दिन-रात अनवरत रूप से अपने कार्य में लगे रहते। न किसी साथी अथवा साधन की अपेक्षा करते और न कभी यह सोचते कि उनके इस काम को लोग किस दृष्टि से देखते हैं ?

इसके अतिरिक्त वे जहाँ भी मानवता को त्रस्त देखते वहीं दौड़ जाते, दुःखी लोगों की सेवा करते। उनके समय में जहाँ भी अकाल पड़ा अथवा बाढ़ से लोग पीड़ित हुए वहाँ-वहाँ ठक्कर बापा गये और पीड़ितों की सेवा की।

कच्छ के भयंकर अकाल के समय वे अकाल पीड़ितों की सेवा में दिन और रात लगे रहे। जगह-जगह से उनकी सहायता के लिए धन इकट्ठा करते। गुजरात के अनेक जिलों में पड़े दुर्भिक्ष के समय भी उन्होंने लोगों की मदद में कोई कसर न उठा रखी। गुजरात के अकाल पीड़ितों की सहायता कमेटी इन्हीं की देख-रेख में बनाई गई। पुरी के अकाल पीड़ितों की सेवा-सहायता करने के लिये ठक्कर बापा बम्बई से भाग कर गये।

अपने इन सेवा कार्यों में बापा ने भूख-प्यास, जाड़ा-गर्मी कभी किसी बात की परवाह न की। वे पागलों की तरह जनसेवा में लगे रहते। उनकी यह सेवा-भावना देखकर एक बार गाँधी जी ने कहा था—“यदि मैं भी बापा जैसी सेवा भावना पा जाता तो अपने को धन्य समझता।” गाँधी जी के इन शब्दों से स्पष्ट प्रकट है कि बापा कितने बड़े जनसेवक थे। अछूतोद्धार और जनसेवा के क्षेत्र में ठक्कर बापा अपने समय में सब से आगे थे। उनकी सेवाओं ने अछूतों और आदिवासियों का जितना हित किया उसकी तुलना नहीं की जा सकती। अछूतोद्धार के मामले में लोग उन्हें दूसरे गाँधी कहते थे।

ठक्कर बापा का पूरा नाम अमृतलाल विठ्ठलदास ठक्कर था। उनका जन्म सौराष्ट्र के भावनगर में २९ नवम्बर सन् १८६९ में हुआ था। १८९० में उन्होंने इन्जीनियरिंग पास की और १९१४ में नौकरी छोड़कर सेवा कार्यों में लग गये।

बापा ने अथक् परिश्रम करके और बड़े कष्ट उठाकर जो विद्या प्राप्त की थी उसका उपयोग अपने व्यक्तिगत लाभ में न करके जनहित में किया। वे आजीवन अछूतोद्धार, आदिवासियों के सुधार और संकट ग्रस्त लोगों की ही सेवा में लगे रहे। उन्होंने एक क्षण को भी बैठकर अपने वैयक्तिक जीवन की कठिनाइयों, अभावों और आवश्यकताओं पर नहीं सोचा। वे दूसरों के लिए आहुति दे देने में जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता और सेवा में सबसे बड़ा सुख पाते थे।

राष्ट्र-भाषा के अमर शिल्पी— महावीर प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी आज जिस परिष्कृत रूप में बोली और लिखी जाती है उसका बहुत कुछ श्रेय श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी को है। उनके समय

से पूर्व हिन्दी का प्रचलन तो हो चला था और कई मनीषी गद्य और पद्य द्वारा उसे सुविकसित करने के लिए प्रयत्न भी कर रहे थे, पर जिन्होंने भारत की भावी राष्ट्रभाषा को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए अपना जीवन ही खपा दिया हो ऐसे मनीषी उस समय तक ढूँढ़े नहीं मिल रहे थे।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी युगदृष्टा थे। वे जानते थे कि कोई देश एक राष्ट्रभाषा के बिना न तो भावनात्मक एकता प्राप्त कर सकता है और न शिक्षा तथा संस्कृति की दृष्टि से सुसम्पन्न ही बन सकता है। उन दिनों भारत की अनेक भाषाओं की तरह हिन्दी भी एक भाषा थी, उसमें राष्ट्रीय भाषा के उपयुक्त प्रखरता उत्पन्न न हो पाई थी। इस कमी को पूरा करना आवश्यक था। राजनैतिक स्वतन्त्रता उन दिनों नहीं थी, अंग्रेजी शासन अपना पंजा मजबूती के साथ जमाये हुए था। पर आशा की ऊषा अपना आभास प्रकट करने लगी थी और यह बात दिन-दिन स्पष्ट होती जा रही थी कि भारत आज नहीं तो कल राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा। तब सबसे पहली आवश्यकता एक समृद्ध राष्ट्रभाषा की पड़ेगी, यह गुण केवल हिन्दी में था। पर उसके प्रखरता प्राप्त करने में अभी लम्बी मंजिल पार करनी थी। द्विवेदी जी राष्ट्र की इस महत्त्वपूर्ण आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए एक चतुर शिल्पी की तरह लगे और आजीवन उसी व्रत को पूरा करने में एक कर्मठ आदर्शवादी की तरह अविचल श्रद्धा और परिपूर्ण उत्साह के साथ संलग्न रहे।

उत्तर प्रदेश में राय बरेली जिले के दौलतपुर ग्राम में वे संवत् १९२१ में जन्मे। उनके पिता दस रुपया मासिक की एक छोटी नौकरी करते थे। पढ़ने का कोई ठीक प्रबन्ध गाँव में न था। आटा-दाल पीठ पर लाद कर दूर के जिन गाँवों में स्कूल थे वहाँ पढ़ने जाते। १३ वर्ष की आयु में रोटी बनाना सीख न पाये थे सो पकती दाल में आटे की टिकिया पकाकर उससे भूख शान्त करते और शिक्षा की साधना में लगे रहते। इस प्रकार पुरवा, फतेहपुर, उन्नाव के स्कूलों में उन्होंने चार वर्ष कटे। घर की आर्थिक दुरवस्था ने आगे पढ़ने की सम्भावना नष्ट कर दी। स्कूली शिक्षा यहीं समाप्त हो गई।

गुजारे के लिए उन्हें नौकरी करनी पड़ी। रेलवे में उन्हें जगह मिल गई। अपने परिश्रम और अध्यवसाय से उन्होंने अपनी योग्यता बढ़ाई। प्रतिभा के साथ-साथ उनका वेतन और पद भी बढ़ता गया। सिगनेलर, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, प्लेटियर, टेलीग्राफ इन्स्पेक्टर, चीफ क्लर्क आदि छोटे-बड़े पदों पर उन्होंने संवत् १९०३ तक काम किया। इस अवधि में उनका अन्तःकरण यही कहता रहा कि उन्हें पेट भरने मात्र से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। समाज के लिए कुछ रचनात्मक काम किए बिना कोई प्रगतिशील आत्मा सन्तुष्ट नहीं हो सकती। उनकी आत्मा इस प्रकार दिन कटने के विरुद्ध विद्रोह करती रही और उस अन्तर्द्वन्द्व ने एक दिन उन्हें नौकरी छोड़कर रचनात्मक काम करने के लिये विवश कर दिया।

आठ घण्टे नौकरी और आहार निद्रा आदि नित्य कर्म के दस घण्टे निकल कर ६ घण्टे आसानी से बच जाते हैं। बुद्धिमान लोग उस समय का ठीक उपयोग करते और अपनी विशेषताओं को बढ़ाते

रहते हैं। आलसी और प्रमादी उसे बर्बाद करके जहाँ के तहाँ पड़े दिन गुजारते रहते हैं। द्विवेदी जी न तो आलसी थे और न प्रमादी। उन्होंने बुद्धिमानों की तरह अपना जीवन-क्रम बनाए रखा। बचे हुए समय में साहित्य साधना करते रहे। उन्होंने विशाल ज्ञान राशि इकट्ठी कर ली। नौकरी के दिनों में ही उनकी संचित साहित्यिक विद्वता का परिचय लोगों को मिलने लगा था। रेलवे की नौकरी छोड़ने पर उन्हें नया काम मिलने में देर न लगी। मातृ-भाषा की सेवा करना चाहते थे। हर सच्चे मन से चाहने वाले की तरह उन्हें भी उनका अभीष्ट माध्यम मिल गया। वे इलाहाबाद की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन करने लगे।

सरस्वती के सम्पादन कार्य में उन्हें हर महीने २०) वेतन और ३) डाक खर्च कुल २३) मिलते थे। रेलवे की नौकरी में उन्हें ऊँचा वेतन मिलता था। आमदनी एकदम घट जाने का उन्हें तनिक भी दुःख न हुआ। वे कहा करते मैंने रेलवे की नौकरी १५) मासिक से शुरू की थी। अब तो २३) अर्थात् ड्योढ़े मिलते हैं। मुझ जैसे मितव्ययी देहाती के लिए यह भी क्या कम है।

अधिक आमदनी और अधिक खर्च के कुचक्र में फँसे हुए लोगों के पास न तो महान् कार्यों के लिये उपयुक्त समय रहता है और न मन। उन्हें उसी गोरखधन्धे को सुलझाने से फुरसत नहीं मिलती, फिर कोई काम वे कर ही कहाँ से पावें? आवश्यकताएँ घटा कर ब्राह्मण जीवन जीने वाला व्यक्ति ही आदर्शवाद के लिए कुछ ठोस कदम उठा सकने में समर्थ हो सकता है। द्विवेदी जी बड़े थे, बड़ा काम करना चाहते थे, इसलिए उन्हें बड़प्पन की कसौटी पर खरा भी उतरना ही था, व्यक्तिगत जीवन में संयम और सादगी अपनाते हुए बची हुई शक्तियों को लोकहित में समर्पित करना यही तो किसी श्रेष्ठ पुरुष की जीवन पद्धति हो सकती है। प्राचीनकाल के ऋषियों की तरह प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने इस आदर्श को शिरोधार्य किया और गरीबी का जीवन बिताते हुए लोकमंगल के लिए सच्ची तपश्चर्या करने में लग गए। कमण्डल त्रिपुण्ड भले ही उन्होंने धारण न किया हो पर जिस निस्पृहता का जीवन वे जी रहे थे उसे देखते हुए उन्हें त्यागी ही कहा जा सकता है। उपलों की आग जलाकर वे तथाकथित तपस्या भले ही न करते हों, पर राष्ट्रभाषा का भविष्य उज्ज्वल करने के लिए जिस निष्ठा के साथ वे तत्पर हो रहे थे उसे देखते हुए उन्हें तपस्वी कहने में कोई अत्युक्ति न मानी जायेगी।

अन्य सम्पादकों की तरह इधर-उधर के लेखों को काट-छाँटकर अखबार के पन्ने भर देने की बेगार टाल देने वाले द्विवेदी जी न थे। पत्रिका में छपने को आये हुए लेखों के एक-एक शब्द को वे ध्यानपूर्वक देखते और अपने हाथों उसे दुबारा लिखते। इस प्रकार उनकी लेखनी की खराद पर चढ़कर निखरा हुआ प्रत्येक लेख भाषा और भाव की दृष्टि से राष्ट्र-भाषा के गौरव के उपयुक्त ही बन जाता। सरस्वती में छपी प्रत्येक रचना, साहित्यिक दृष्टि से सब प्रकार खरी और परिष्कृत मानी जाती थी।

उन्होंने स्वयं बहुत कुछ लिखा है। दूसरों के लिखे को संशोधित और परिष्कृत किया है। साथ ही सबसे बड़ा काम यह किया है कि

अगणित नवोदित लेखकों को मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन देकर उन्हें नौसिखिये से आगे बढ़ते हुए महान् साहित्यकार बनाया। पारस को छूकर लोहा सोना बनता है पर द्विवेदी जी ऐसे पारस थे कि उनके सम्पर्क में जो आया वह भी पारस बन गया। पटुमलाल पुन्नलाल बख्शी ने अपनी पुस्तक 'विश्व साहित्य' में लिखा है— 'यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। कुछ लेखक ऐसे होते हैं जिनकी रचना पर ही उनकी महत्ता निर्भर है। कुछ ऐसे होते हैं जिनकी महत्ता उनकी रचनाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समग्र साहित्य पर पड़ा है। मेष की तरह विश्व से ज्ञानाग्नि संचित करके और उसकी वर्षा करके उन्होंने समग्र साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया। वर्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का सुफल है।'।

उन्होंने लगातार अठारह वर्ष तक सरस्वती का सम्पादन किया। अवकाश ग्रहण करने के बाद भी वे सात-आठ वर्षों तक नियमित रूप से लेखन कार्य करते रहे। अपनी निज की रचनायें लिखने की अपेक्षा उनका प्रधान कार्य दूसरों की कृतियों को परिष्कृत कर उन्हें उपेक्षित से उत्कृष्ट बनाना रहता था। रदी में डाले जा सकने वाले लेखों को अपनी कलम से दुबारा लिखकर उन्हें साहित्य में ऊँचा स्थान मिलने योग्य बनाया करते और उनके लेखकों को व्यावहारिक रूप से यह बताया करते थे कि उनसे कहाँ भूल हुई, क्या कमी रही, और किन बातों का समावेश आवश्यक था। इस प्रकार वे बिना विद्यालय खोले हुए भी 'सरस्वती' के दफ्तर में बैठ कर सहस्रों नव-युवकों को राष्ट्र के भावी साहित्य निर्माता बनने में लगे रहे। उनकी यह देन इतनी बड़ी है कि भारत का साहित्य जगत उसे कभी भी भुला न सकेगा।

उनकी सेवाओं के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा को भी संस्थाओं के माध्यम से जनता ने समय-समय पर प्रकट किया है। काशी नागरी प्रचारणी सभा ने उन्हें हिन्दी के सर्वप्रथम 'आचार्य' की उपाधि से विभूषित किया और इसके दो वर्ष बाद ही उन्हें अपूर्व 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' भेंट किया गया। सन् १९३३ में डॉ. गंगानाथ की अध्यक्षता में प्रयाग में 'द्विवेदी मेला' का आयोजन हुआ। उनके कर्तृत्व और व्यक्तित्व पर 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' शीर्षक थीसिस लिखकर डॉ. उदयभानसिंह जी ने पी-एच. डी प्राप्त की। संक्षिप्त में यों भी कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी के समान सम्मान भारत के और किसी साहित्यकार का अभी तक नहीं हुआ। गद्य लेखकों की तरह ही उन्होंने पद्य रचयिता कवियों का भी महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन किया। यों वे कवियों में गिने नहीं जाते पर कविताओं के संशोधन में उनकी क्षमता गद्य संशोधन से किसी प्रकार कम न थी। उन्होंने अनेक कवियों को रचनात्मक कवितायें लिखने के लिए प्रबल प्रेरणा दी। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती उन्हीं की प्रेरणा का फल है।

मध्य-युग की परम्परा का अनुसरण करते हुए उन दिनों भी शृंगारी कविताओं और कवियों का बाहुल्य था। ऐसे लोगों को वे सदा

निरुत्साहित करते रहे और उस प्रवृत्ति को राष्ट्र-निर्माण के लिये अनुपयुक्त बताकर उससे दूर रहने की शिक्षा देते रहे। उन्होंने इन कवियों से पूछा है— "चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा तक मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कवितायें हो सकती हैं। सभी से उपदेश मिल सकता है। फिर क्या कारण है कि इन कवियों को छोड़कर कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता समझे?"

प्रश्न मार्मिक है। जिन्होंने निम्न स्तर की मलीन प्रवृत्तियों को ही कुरेदने को 'कला' नहीं समझा है उन्हें उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में अपनी कविताओं को रचनात्मक दिशा निर्धारित करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता।

राष्ट्र-भाषा के अमर शिल्पी—द्विवेदी जी ने— २१ दिसम्बर, १९३९ को महाप्रयाण किया पर उनकी श्रद्धा और तत्परता, त्याग और तपस्या ने हिन्दी साहित्य का जो गौरव बढ़ाया उसे देखते हुए उन्हें अजर-अमर ही माना जाता रहेगा।

देश के लिये सर्वस्व अर्पण— लाला हरदयाल

किसी महान् उद्देश्य के लिये त्याग करना एक बड़ा प्रशंसनीय कार्य है। सन्तोष की बात है कि भारत में भी गत अर्द्ध शताब्दी में ऐसे त्यागियों, आत्मदानियों की कमी नहीं। बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान्, प्रतिभाशाली, कर्मवीर इस युग में ऐसे पैदा हुये जिन्होंने अपनी योग्यता को देश और जाति के उत्थान के लिये अर्पित कर दिया। उन लोगों में इतनी विद्या और योग्यता थी कि यदि वे चाहते तो बड़ी से बड़ी पदवी तक पहुँच सकते थे और धन, यश, मान प्राप्त करके सुखी जीवन बिता सकते थे। पर उन्होंने इस प्रकार के जीवन को नश्वर समझकर परमार्थ मार्ग का अवलम्बन किया और अपने प्रयत्नों से देश को आगे बढ़ाने के साथ स्वयं भी अमर हो गये।

पर कुछ देशभक्त ऐसे भी हुये जिन्होंने अपने स्वदेश बांधवों की सेवा की, समाज के उद्धार के लिये निस्वार्थ भाव से अपनी विद्या, योग्यता और समस्त शक्तियों को अर्पित भी किया और साथ में नाम और यश से भी दूर रहे। अगर विचार किया जाय तो इस तरह की महानता अन्य महानताओं से कहीं बढ़कर है। यश और प्रतिष्ठा में भी बड़ी शक्ति है और इनको पाते हुये यदि कोई सेवा-मार्ग पर आगे बढ़ता जाय, स्वार्थत्याग करके समाज का हितसाधन करता रहे तो यह अधिक कठिन नहीं है, पर जो मातृभूमि के चरणों पर अपनी महान् विद्या और सब साधनों को निछावर करदे और बदले में कष्ट, अभाव और असुविधा के सिवा कुछ न पाये और फिर भी अन्त तक अपनी प्रतिज्ञा पर डटा रहे तो वह विवेकशीलों की दृष्टि में अवश्य बड़ा त्यागी और तपस्वी समझा जायेगा।

लाला हरदयाल (१८८५) दिल्ली के एक गरीब कायस्थ परिवार में उत्पन्न हुये थे। अपने पश्चिम और प्रयत्न से ही उन्होंने एम. ए.

तक की उच्च शिक्षा पाई और फिर विलायत में जाकर बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ पास कीं तथा गम्भीर अध्ययन किया। पर जब भारतवर्ष आकर कार्यारम्भ किया तो उसी समय यहाँ की विदेशी सरकार चौकन्नी हो गई और यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार वे राजनैतिक क्षेत्र से हट जायें। क्योंकि उनके विचार विद्वतापूर्ण होने के साथ बड़े स्पष्ट, उग्र और प्रभावशाली होते थे और जनता में उनके प्रचार से सरकार अपने लिये खतरा अनुभव करती थी। इसलिये जब उसने लाला हरदयाल को बन्धन में डालकर मैदान से हटाने की योजना की तो वे देश से बाहर चले गये और वहीं रहकर जीवन के अन्तिम समय (सन् १९३९) तक देशोद्धार की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित करते रहे। उन्होंने अमेरिका में 'गदर-पार्टी' की स्थापना की जिसने अंग्रेजों के शत्रुओं से मिलकर भारत सशस्त्र क्रांति की योजना बनाई और हथियारों से भरा एक जहाज भी इस उद्देश्य से भेजा। पर भारत सरकार के सावधान हो जाने से वह योजना पूर्ण न हो सकी। पार्टी की तरफ से 'तलवार' नाम का एक पत्र भी प्रकाशित करके भारतवर्ष में प्रचारित किया जाता था।

भारतवर्ष से चले जाने पर हरदयालजी अंग्रेजी कारागार से तो बच गये, पर विदेशों में इससे भी अधिक आपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारत में तो उनके प्रशंसकों और सहायकों का एक बड़ा दल मौजूद था, जो आवश्यकता पड़ने पर उनके कार्यों में सहयोग देते और जेल चले जाने पर भी उनके कार्यों को किसी न किसी रूप में स्थिर रखते। पर विदेशों में थोड़े-से मित्रों के सिवा और कोई ऐसा न था जो तरह-तरह की बाधाओं और कठिनाइयों से पार पाने में सहकारी सिद्ध होता।

फिर भी हरदयाल जी ने कभी देशोद्धार के प्रयत्नों में शिथिलता न आने दी और तलवार से नहीं तो कलम से वे इसके लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहे। उन्होंने विद्या प्राप्ति और अध्ययन में इतनी अधिक संलग्नता और परिश्रम से कार्य किया था कि उनकी योग्यता को विदेशों के विद्वान् स्वीकार करते थे। अमेरिका और योरोप के अनेक विश्वविद्यालयों ने उनको अपने यहाँ इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र के अध्यापक के रूप में नियुक्त किया और उन्होंने वहाँ की विद्वत् सभाओं में प्रभावशाली भाषण दिये।

वे कई भाषाओं के ज्ञाता थे और हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फ़ारसी के अतिरिक्त अंग्रेजी, फ़्रांसीसी, जर्मन और स्वीडिश भाषाओं के धाराप्रवाह भाषण देते और उनके सामयिक पत्रों में लेख भी लिखते रहते। विदेशों में उनके जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन भाषण देना और लेख लिखना ही रहा।

हरदयाल जी ने इस अगाध विद्वता का उपयोग सदैव भारतवर्ष के उत्थान के लिये ही किया और क्रांतिकारी लेखों के अतिरिक्त ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखते रहे जिससे देश में ज्ञान और कार्य-शक्ति का स्थायी रूप से विकास हो और यहाँ के नवयुवक देशोन्नति की शक्ति प्राप्त कर सकें। उनकी एक ऐसी पुस्तक का नाम 'हिन्द्स फॉर सेल्फ कल्चर' (आत्मोन्नति के संकेत) है। अनेक विद्वानों ने उसे पढ़कर यह सम्मति दी है कि—“आधुनिक काल के सामाजिक,

नैतिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए यह एक सर्वश्रेष्ठ रचना है।” इस पुस्तक की भूमिका में हरदयाल जी ने लिखा है—

“इस पुस्तक में कारणवाद या तर्कवाद (रैशनैलिज्म) के सन्देश के कुछ पहलुओं को समझाने और उनकी ओर सभी देश के युवक और युवतियों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। यदि इसके द्वारा उनके आत्मोन्नति के प्रयत्नों में किंचित मात्र भी सहायता हुई तो मैं अपने को पूर्णरूप से पुरस्कृत समझूँगा।” इस पुस्तक का हिन्दी भाषांतर 'आत्मसुधार' के नाम से हिन्दी में भी प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक के चार भाग हैं। प्रथम भाग में भौतिक-विज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र तथा धर्म समन्वय के ऊपर विद्वत् पूर्ण लेख हैं। दूसरे भाग में शारीरिक विकास और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में ऐसी अधिकारपूर्ण शिक्षा दी गई है मानो कोई सुयोग्य चिकित्सक सलाह दे रहा हो। तीसरे में सब प्रकार की कला, कविता, साहित्य की विशद व्याख्या की गई है। चौथे में व्यक्तिगत नैतिकता, सेवा, नागरिकता और राजनीति पर पूर्ण प्रकाश डाला है। इस प्रकार इसके द्वारा मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर के प्रगति के मार्ग में दूर तक अग्रसर हो सकता है।

दूसरी उल्लेखनीय पुस्तक है—‘द्वैत्व रिलीजन एण्ड माडर्न लाइफ’ अर्थात् ‘बारह मजहब और आधुनिक जीवन।’ इसमें हिन्दू, ईसाई, बौद्ध, इस्लाम, पारसी, सिख आदि मतों के वास्तविक स्वरूप को ऐसी अच्छी तरह समझाया है कि पाठक उनकी सभी विशेषताओं का ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किसी धर्म का कोई मुख्य सिद्धांत छूटने नहीं पाया है और सबकी समान बातों को एक स्थान पर एकत्रित करके उनमें समन्वय उपस्थित किया गया है।

इतने बड़े लेखक और विद्वान् होने पर भी उनको अहंकार या आत्मश्लाघा का भाव छू भी नहीं गया था। वे अपने नाम के साथ कभी एम. ए. या अन्य उपाधियों को नहीं लगाते थे और जो कोई उनके नाम के साथ एम. ए. लिख देता था तो वे उसको उत्तर देते थे कि “भाई, मैंने एक बार यह पाप किया था, अब आप हमेशा मुझे गाली क्यों लिखते हैं।” वे ऐसी सम्मान प्रदर्शक पदवियों को सचमुच एक ‘उपाधि’ ही मानते थे।

संसार के अनेक देशों में उन्होंने निवास करके वहाँ की सांस्कृतिक, नैतिक और सामाजिक समस्याओं का अच्छी तरह अध्ययन किया था और इसके परिणामस्वरूप जीवन के अन्तिम दिनों में वह समस्त मानव समाज को एक ही समझने लगे थे और सारी दुनिया को एक राष्ट्र के रूप में लाने के पक्षपाती हो गये थे। उन्होंने मानव-जीवन के उत्थान के लिये श्रेष्ठ से श्रेष्ठ विचार देकर लोगों का मार्गदर्शन करने का बहुत बड़ा काम किया।

ऐसे व्यक्ति को हम महामानव ही कह सकते हैं। जो उन्नति और अधिकार प्राप्त कर सकने की पूरी शक्ति और योग्यता रखते हुये भी उसका उपयोग दूसरों के कल्याणार्थ करे और स्वयं साधारण स्थिति में ही बना रहे वही सच्चा धार्मिक और आस्तिक कहा जा सकता है। लाला हरदयाल इसी प्रकार आजीवन कार्य करते हुये सन् १९३५ में स्वर्गवासी हो गये।

निस्पृह देशभक्त—राजा महेन्द्र प्रताप

मुरसान रियासत के राजकुमार और हाथरस राज्य के दत्तक उत्तराधिकारी राजा महेन्द्र प्रताप भारत माता के उन भक्त सपूतों में हैं, जिन्होंने उसकी स्वतन्त्रता और उसकी सन्तानों के हित साधन में अपना सर्वस्व ही नहीं जीवन भी समर्पित कर दिया। उन्होंने एक राजा होते हुए भी राष्ट्र-सेवा के लिये साधारण और कष्ट का जीवन बिताया। वे किन्हीं बड़े आदमियों की तरह वैभव के साथ रहते हुए सुख-सुविधापूर्ण देश सेवा करने वाले देशभक्त नहीं हैं। जिस दिन से उन्हें देश की दयनीय दशा का बोध हुआ, राजसी जीवन त्याग कर सामान्य-जनों-सा जीवन चलाने और समाज की सेवा में लग गये।

उनका अटल विश्वास है कि देश के सामान्य स्तर का जीवन ग्रहण किये बिना किसी को भी उसके अभावों, कष्टों और आवश्यकताओं की सच्ची अनुभूति नहीं हो सकती और जब तक सच्ची अनुभूति नहीं होती तब तक सेवा भी सच्चे हृदय से नहीं की जा सकती। समाज से सच्ची सहानुभूति तभी सम्भव है, तब उसकी सामान्य दशा की पीड़ा और वेदना की स्वयं भी अनुभूति होती रहे। इसी सच्चाई के लिये राजा महेन्द्र प्रताप ने सुख-सुविधापूर्ण जीवन को तिलांजलि दे दी।

राजा महेन्द्र प्रताप के हृदय की सच्ची देशभक्ति और अडिग निष्ठा इसी से प्रकट होती है। परम्परा के अनुसार उन दिनों देशी राजाओं की शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी ढंग से इंग्लैंड में ही अधिकांशतः होती थी। जो राजा अथवा राजकुमार इंग्लैंड जाकर जब तक अंग्रेजों की रीति-नीति से प्रभावित नहीं हो जाता था, तब तक उसे उत्तराधिकार में कठिनाई होती थी। राजा महेन्द्र प्रताप को भी शिक्षा-दीक्षा के लिये इंग्लैंड जाना और रहना पड़ा, किन्तु जो सच्ची आत्मा के विश्वस्त व्यक्ति होते हैं, वे किन्हीं भी परिस्थितियों में क्यों न रहें, अपनी मूल प्रवृत्तियों को नहीं छोड़ते और नई परिस्थितियों से नया ज्ञान लेकर और अधिक दृढ़ तथा विश्वस्त हो जाते हैं।

राजा महेन्द्र प्रताप इंग्लैंड गये, अंग्रेजों के बीच वहाँ रहे। वहाँ की सभ्यता तथा संस्कृति में व्यवहार किया, अंग्रेजों के शिष्टाचार का निर्वाह किया, किन्तु उनका मूल भारतीय स्वरूप प्रभावित न हुआ और जैसे ही वे भारत वापस आये उन्होंने सारी वैदेशिकता झाड़ फेंकी और विशुद्ध भारतीयता में आ गये। वही भारतीय वेशभूषा, वही भारतीय आहार तथा रहन-सहन और वही ज्वलन्त देशभक्ति उनकी शोभा बन गई। उनकी यह भारतीयता आचार-विचार में स्पष्ट होती रहती थी। सभी को उनकी यह गतिविधि देखकर शंका बनी रहती थी कि कहीं उनकी यह भारतीयता उन्हें राज्याधिकार से वंचित न कर दे।

बहुत बार उनके शुभचिन्तकों ने इस बात से सावधान भी किया तो पता चला कि उनको इस बात की जरा-भी चिन्ता नहीं है। वे अपनी भारतीयता और देश-भक्ति के सम्मान में कोई भी मूल्य चुकाने को तैयार हैं। वे ऐसा वैभव और ऐसा राजत्व सुरक्षित रखने को तैयार नहीं जिसके लाभ से गुलामी को इस हद तक प्रव्रय देने के लिए राजी

होना पड़े कि अपना मूल-स्वरूप ही दूसरों के स्वरूप से स्थानापन्न हो जाये।

राजा महेन्द्र प्रताप को देशभक्ति के मूल्य पर संसार का कोई भी वैभव और कोई भी सुख-सुविधा अंगीकार नहीं। १९०६ में जब उन्होंने 'कलकत्ता काँग्रेस' में जाने की इच्छा प्रकट की तो उनके अपने परिवार और सारे सम्बन्धियों में विरोध का एक ज्वार-सा आ गया और एक स्वर से सभी का परामर्श था कि काँग्रेस अंग्रेजों तथा अंग्रेजी राज्य का विरोध करती है उसमें जाना किसी प्रकार भी हितकर नहीं है। हम सब लोग अंग्रेजों के आश्रय में सुख तथा अधिकारपूर्ण जीवन बिता रहे हैं। काँग्रेस में अभिरुचि दिखलाने से वे रुष्ट हो जायेंगे और अपनी सुख-सुविधा में बाधा उपस्थित होगी। राजा महेन्द्र प्रताप को यह पराधीनतापूर्ण वक्तव्य सुन कर बड़ा खेद हुआ और वे सोचने लगे कि क्या भोग-विलास और धन-वैभव के लोभ में मनुष्य यहाँ तक गिर सकता है और अपनी उज्ज्वल आत्मा को इस सीमा तक भीरु और तेजहीन बना सकता है।

उनका हृदय उस राज-भोग की स्थिति की ओर से घृणा से भर उठा। उन्होंने कहा कि इस पराधीन स्थिति में दूषित भोग-प्रधान जीवन की अपेक्षा सामान्यता पूर्णजीवन कहीं अच्छा, पवित्र और सुखदायक है। जहाँ एक ओर सामान्य जन-देश की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष और बलिदान की वेदी पर अपने जीवन-पुष्प तक समर्पित कर रहे हैं, वहाँ हम उस पुनीत भाव को अपनी मनोपरिधि में भी लाने को तैयार नहीं हैं। जबकि वैदेशिक दासता का अभिशाप सबसे अधिक हम लोगों को ही अपमानित करता है। आप लोगों का यह विरोध अनुचित है जो मेरे इस विचार को बदल नहीं सकता।

उनकी दृढ़ता और देशभक्ति की भावना देख कर सम्बन्धी लोग यहाँ तक डर गये कि सम्बन्ध-विच्छेद की बात कहने लगे। उनके श्वसुर ने तो यहाँ तक यह दिया कि यदि ऐसा हो तो आप हमारी रियासत में आना बन्द कर दीजिए। सिद्धान्त के व्रती महेन्द्र प्रताप ने इस बहिष्कार की जरा भी परवाह न की और कलकत्ता काँग्रेस में गये।

वहाँ उन्होंने दादा भाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक और विपिन चन्द्रपाल जैसी मूर्धन्य तथा देशभक्त आत्माओं के दर्शन किए और उनके भाषण सुने, उनके विचारों पर मनन किया। उनकी देशभक्ति की शिखा को और बल मिला जिससे देश-सेवा की उनकी भावना व्रत में बदल गई। उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे देश की स्वतन्त्रता के लिये हर त्याग और बलिदान करेंगे, इसके लिये उन्हें कितना ही कष्ट और यातना क्यों न उठानी पड़े।

कलकत्ता काँग्रेस से आने पर राजा महेन्द्र प्रताप ने सबसे पहला काम यह किया कि अपने सारे विदेशी वस्त्र जला दिये और खादी धारण कर ली। इस कार्य में उनकी पत्नी तक सहयोग करने को तैयार न हुई और उन्होंने एक तौलिया का त्याग ही बड़ी भारी तपस्या समझी। किन्तु राजा महेन्द्र प्रताप ने उन पर जड़ता की छाया समझ कर बुरा न माना और सोच लिया कि सत्य का दर्शन और भक्ति की भावना सबके भाग्य में नहीं होती।

राजा महेन्द्र प्रताप केवल देशभक्त और स्वतन्त्रता के समर्थक ही नहीं बल्कि समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों तथा बुराइयों के भी कट्टर विरोधी थे। वे समाज को गिराने वाली ऊँच-नीच तथा वर्णवाद की भावना के विकट विरोधी थे। उनका कहना है कि मनुष्य का सच्चा धर्म-प्रेम में और सच्ची सुख-शांति समानता में निवास करती है। इन दोनों दिव्यात्माओं का तिरस्कार कर कोई कितना ही देवी-देवताओं का भक्त क्यों न हो, कितनी ही उनकी पूजा-अर्चना क्यों न करता रहे, न उन्हें प्रसन्न कर सकता है और न उनका प्रसाद पा सकता है। अपनी इसी भावना को प्रकट करते हुए द्वारिका के एक मन्दिर में प्रवेश के समय पण्डे के पूछने पर उन्होंने यह कह कर कि “मैं मेहतर हूँ” ऊँच-नीच और छुआ-छूत की संकीर्णता पर गहरा आघात किया था।

राजा महेन्द्र प्रताप ने एक ऐसी अजर-अमर सन्तान को जन्म दिया जिसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही समाज सेवा के लिये समर्पित हो गया और सदा-सर्वदा समाज की सेवा में ही निरत बना रहेगा। उनकी उस सन्तान का भी नाम ‘प्रेम’ ही है जो आज अपने विकसित रूप में ‘प्रेम-महाविद्यालय’ के नाम से वृन्दावन की सीमा में स्थित देश के हजारों तरुणों को कला-कौशल, इंजीनियरिंग तथा उद्योग-धन्यों की शिक्षा देकर देश के विकास मार्ग में प्रेषित कर रहा है।

राजा महेन्द्र प्रताप को अपनी इस समाज-सेवी संस्था से कितना गम्भीर प्रेम था इसका प्रमाण इस बात से ही मिलता है कि उसके जन्म के बाद उन्होंने महामना मालवीय जी को यह निवेदन भेजकर आमन्त्रित किया था कि मैं अपने एक बेटे का नामकरण संस्कार उन्हीं के हाथों कराना चाहता हूँ इसलिये कृपा कर पधारने का कष्ट करें।

महामना मालवीय जी प्रसन्नतापूर्वक पधारें और उनसे उस समाज-सेवी पुत्र का नामकरण संस्कार कराया। उसी समय राजा महेन्द्र प्रताप ने ‘प्रेम महाविद्यालय’ को अपनी जागीर का बड़ा अंश दान दे दिया। उनकी इस स्थापना तथा त्याग-भावना की महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू और विश्व कवि टैगोर जैसे लोगों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की और उन्हें एक आदर्श राजा तथा देशभक्त बताया।

राजा महेन्द्र प्रताप ने देश की दशा और राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिये तीन साल तक सम्पूर्ण भारत का दौरा किया और अपने को इस योग्य बनाया कि वे स्वाधीनता के प्रयत्नों में सक्रिय भाग ले सकें। निदान जब १९१४ का प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ, उन्होंने देश को विदेशी दासता से मुक्त करने को शांति तथा क्रांति दोनों प्रकार के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये जिससे कि अंग्रेज सरकार ने उन्हें सर्वस्व से वंचित कर देश निकाला दे दिया।

जिस देशभक्ति के मूल्य रूप उन्हें अपना सर्वस्व बलिदान करना पड़ा उनकी वह पवित्र भावना इस उत्पीड़न से घटी नहीं बल्कि बढ़ी ही। उद्देश्यवान् व्यक्ति किसी स्थिति और किसी स्थान में क्यों न रहे अपने ध्येय के लिये सतत् प्रयत्नशील रहता है। राजा महेन्द्र प्रताप भी ऐसे ही ध्येय-निष्ठ व्यक्ति थे। वे देश के बाहर विदेशों में निष्क्रिय नहीं बैठे रहे बल्कि स्वाधीनता के लिये यथासम्भव प्रयत्न करते रहे। भारतीय स्वतन्त्रता के लिए समर्थन प्राप्त करने के हेतु

उन्होंने लगभग सारे योरोप और संसार के अन्य देशों का भ्रमण किया और भारत के पक्ष में लोकमत बनाने का भरसक प्रयास करते रहे।

अनन्तर वे जर्मनी जाकर वहाँ के कैसर से मिले और उससे परामर्श कर अफगानिस्तान की राजधानी काबुल आये। काबुल में वे वहाँ के शासक अमीर को प्रभावित कर भारत के पक्ष में लाये और सहायता प्राप्त कर भारत और अफगानिस्तान की सीमा पर आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की। इस समानान्तर सरकार के अध्यक्ष पद का भार तो स्वयं उन्होंने अपने कंधों पर लिया और प्रधान तथा गृहमंत्रालय श्री मौलाना बरकतुल्ला और मौलाना उबेदुल्ला नामक दो मुसलमान भारत भक्तों को सौंपा। बाद में भारत के स्वतन्त्र होने पर जब देश में कांग्रेस-सरकार की स्थापना हो गई, तब उन्होंने वह समानान्तर सरकार भंग कर दी।

यद्यपि राजनीतिक कार्य करने के साथ-साथ वे पहले भी सत्यधर्म के प्रचार का काम करते रहे पर स्वदेश के स्वाधीन हो जाने के बाद तो वे सारे समय उसी में लगे रहने लगे। उनका धर्म किसी सम्प्रदाय, राष्ट्र अथवा जाति विशेष का नहीं। उनका धर्म ‘मानव-प्रेम’ था जिसका उद्देश्य एक अविभाजित संसार और विश्व-बन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहित करना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे एक विश्व-संघ की स्थापना के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे। धार्मिक भावना में राजा महेन्द्र प्रताप बड़े उदार और संसार के सभी धर्मों का आदर करने वाले हैं। इस प्रकार उन्होंने वर्तमान लगभग अस्सी वर्ष की आयु तक स्वदेश तथा संसार की सेवा कर एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया, जो त्याग, बलिदान तथा साहस की प्रेरणा देने वाला और सभी के लिये अनुकरणीय है।

जिस स्वदेश के लिए उन्होंने सर्वस्व त्याग कर दिया, देश-विदेश में असंख्यों यातनार्थ सहन किये और आजीवन सेवा करते रहे, उसके स्वाधीन हो जाने पर भी वे एक जनसेवक ही बने रहे। उन्होंने न कोई पद चाहा और न पुरस्कार। ऐसे महान् तथा निस्पृह देशभक्त और जनसेवी राजा महेन्द्र प्रताप निश्चय ही हम सबके लिये ब्रह्मा तथा आदर के पात्र हैं।

नारी-शिक्षा के साहसिक प्रवर्तक— महर्षि कर्वे

भारत की अनाथ विधवाओं के उद्धारक, स्त्री-शिक्षा एवं विधवा विवाह के प्रवर्तक महर्षि कर्वे का जन्म महाराष्ट्र के कोकण प्रदेश के अन्तर्गत शैरवाली नामक छोटे से गाँव में अठारह अप्रैल, अठारह सौ अठ्ठावन को अत्यन्त निर्धन परिवार में हुआ। इनके घर का नाम अण्णा साहब था।

अण्णा साहब के पिता रस्सी बट कर अपनी गुजर-बसर करते थे। एक तो उस समय लड़कों को पढ़ाने की ओर यों ही ध्यान नहीं दिया जाता था, दूसरे अण्णा साहब के पिता की स्थिति भी इस योग्य न थी कि वे उसके लिये पढ़ाई का प्रबन्ध कर सकते। निदान अण्णा साहब ने जो कुछ पढ़ा-लिखा सब अपने परिश्रम एवं अध्यवसाय के

बल पर। अण्णा साहब में पढ़ाई के लिए कितनी तीव्र लालसा थी, इस बात का पता इससे लगता है कि उन्होंने छोटी कक्षा की तैयारी घर पर की और उसकी परीक्षा देने १२० मील पैदल चल कर गये।

इस प्रकार गरीबी और कष्टों से जुड़ते हुए उन्होंने मरुदपोल, रत्नगिरि आदि के स्कूलों व कॉलेजों की परीक्षाएँ पास करते हुए सन् १८८४ में २६ वर्ष की आयु में बम्बई विश्वविद्यालय से बी. ए. किया।

बी. ए. की परीक्षा पास कर लेने के बाद उनके सामने धनोपार्जन की स्वर्ग-सम्भावनाएँ थीं। किन्तु उन्होंने अपनी परिश्रमजन्य शिक्षा-सम्पत्ति को व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के लिये काम में लाना पसन्द नहीं किया। शिक्षा के लिये १३ साल बम्बई में रहकर उन्होंने भारतीय जनता और विशेषकर नारी वर्ग की जो दयनीय दशा देखी थी उससे उनकी आत्मा अपने देश-बन्धुओं एवं बहनों के लिये कुछ करने के लिये तड़प रही थी। निदान उन्होंने पूना में लोकमान्य तिलक द्वारा स्थापित उस फर्ग्युसन कॉलेज में नाममात्र के वेतन पर गणित पढ़ाना अंगीकार कर लिया, जिसकी शिक्षा का उद्देश्य देशभक्तों का निर्माण करना था। अनन्तर वे १८९२ में देश में शिक्षा-प्रसार करने वाली संस्था 'डेकन एजुकेशन सोसाइटी' के सदस्य बन गये और केवल ७५) मासिक पर उसके कॉलेजों में लगभग २५-३० वर्षों तक पढ़ाते रहे। उनके इस त्यागपूर्ण सेवा के उपलक्ष्य में देश के प्रतिष्ठित लोगों ने उन्हें महर्षि की उपाधि दी जिससे अण्णा साहब कर्वे के स्थान पर महर्षि कर्वे प्रसिद्ध हो गये।

महाराष्ट्र में प्रचलित बाल-विवाह की कुप्रथा का शिकार कर्वे को भी होना पड़ा था। १५ वर्ष की आयु में ही इनका विवाह कर दिया गया था जिसका कुफल उन्हें ३० वर्ष की आयु में भोगना पड़ा। कच्ची आयु में विवाह हो जाने के फलस्वरूप उनकी निरन्तर रुग्ण रहने वाली पत्नी का देहान्त २६ साल की उम्र में ही हो गया। दो छोटे-छोटे बच्चे छोड़कर पत्नी के मर जाने से श्री कर्वे की जीवन-व्यवस्था बिगड़ने लगी। उनका ध्यान जनसेवा के कार्यों से हटकर बच्चों की परवरिश की ओर जाने लगा। महर्षि कर्वे के सामने एक समस्या खड़ी हो गई।

हितचिन्तकों ने उन्हें पुनर्विवाह का परामर्श दिया। परिवार वालों ने लड़की तक देख ली। किन्तु महर्षि कर्वे को अपना जीवनोद्देश्य याद था। निदान उन्होंने घोषणा कर दी कि यदि वे पुनर्विवाह करेंगे तो किसी विधवा से। महर्षि कर्वे अपने बच्चों की समस्या हल करने के साथ विधवाओं के उद्धार का भी श्री गणेश करना चाहते थे। अस्तु, उन्होंने स्वयं विधवा-विवाह का आदर्श उदाहरण समाज के सामने रखने के लिए घर वालों के प्रचण्ड विरोध के बावजूद आनन्दीबाई नामक एक सुशील विधवा से विवाह कर लिया, जिसका फल यह हुआ कि उन्हें जाति से बाहर कर दिया गया और जब वे अपनी पत्नी को लेकर गाँव में माता-पिता और भाई से मिलने गये तो उन्हें घर के बाहर जानवर बाँधने के स्थान पर ठहराया गया।

महर्षि कर्वे ने इस तिरस्कारपूर्ण व्यवहार का बुरा नहीं माना और पूना लौटकर स्त्री-उद्धार के काम में लग गये। उन्होंने विचार किया

और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विधवाओं की दुर्दशा, कन्याओं का उत्पीड़न और बाल-विवाह की कुप्रथा का मुख्य हेतु स्त्री-शिक्षा का अभाव है। यदि-विधवाएँ एवं कन्याएँ शिक्षित एवं प्रशिक्षित हो कर अपने पैरों पर खड़ी हो सकने योग्य हो जायें तो उनकी स्थिति बहुत कुछ सुधर सकती है। निदान उन्होंने हिगण बहुक नामक स्थान पर ५७ विधवाओं और १९ क्वारी अनाथ कन्याओं को लेकर एक आश्रम की स्थापना की।

इस आश्रम में अनाथ विधवाओं तथा कन्याओं को शिक्षा के साथ-साथ साधारण घरेलू-धन्धों में भी प्रशिक्षित किया जाने लगा। कुछ समय बाद उन्होंने आश्रम को दो शाखाओं में विभक्त कर दिया। एक अनाथ विधवाश्रम और दूसरा कन्या विद्यालय। अनाथ विधवाश्रम की विधवाएँ पढ़ने के साथ जो काम-धन्धा करती थीं, उसकी आमदनी बालिका विद्यालय के खर्च में काम आने लगी।

इस सत्कार्य में भी महर्षि कर्वे को कुछ कम कष्ट नहीं पड़े। इसके लिये उन्हें न जाने कितनी आलोचनाओं, लांछनाओं और विरोधों का सामना करना पड़ा। किन्तु वे सब कुछ धैर्यपूर्वक सहते हुए निरन्तर अपने प्रयत्नों तथा प्रचार में लगे रहे। विधवा-विवाह निषेध के समान ही उस समय बालिकाओं का पढ़ाना भी बुरा माना जाता था। विद्यालय चलाने के लिये लड़कियों का मिलना कठिन हो गया, पर महर्षि कर्वे हिम्मत न हारे। वे घर-घर जाकर लोगों को स्त्री-शिक्षा का महत्त्व समझाते, सभाओं में प्रवचन देते और सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा का लाभ बतलाते। धैर्यपूर्ण प्रयास फलीभूत हुआ और लोग धीरे-धीरे लड़कियों को पढ़ने के लिए विद्यालय में भेजने लगे।

प्रारम्भिक अध्यापन-काल के लिये महर्षि कर्वे ने अपनी पत्नी को शिक्षा दी थी। उसका उपयोग करने के लिये वे कॉलेज में पढ़ाने के बाद जितना समय पाते, सब लड़कियों को पढ़ाने में लगाया करते थे। धीरे-धीरे बालिका विद्यालय का विकास होने लगा और लोगों की लड़कियों के स्कूल भेजने की झिझक टूटने लगी।

लड़कियों के पढ़ने से स्कूल का खर्च बढ़ गया। आमदनी का कोई रास्ता नहीं था। स्त्री-शिक्षा के विरोध के कारण कोई सहायता देने को तैयार न था। बड़ी कठिन समस्या थी। किन्तु महर्षि कर्वे ने इसे भी हल कर लिया। उन्होंने अपनी सारी जमा पूँजी, बीमा की ५ हजार की पालिसी विद्यालय को दान कर दी। इतना ही नहीं, उन्होंने घर के अनेक आवश्यक खर्च कम कर दिये और अपने ७५) रुपये वेतन में से भी कुछ अंश विद्यालय को नियमित रूप से देने लगे।

महर्षि कर्वे का यह सराहनीय त्याग देखकर धनवानों की आँखें खुलीं, तब उन्होंने भी मीन-मेख करते हुए कुछ-कुछ सहायता देना शुरू कर दिया जिससे विद्यालय तथा विधवा आश्रम का काम ढंग से चल निकला। महर्षि कर्वे की तपस्या से अभिभावकों का अज्ञान दूर हुआ और अब उन्होंने निःसंकोच बालिकाओं को पढ़ने भेजना शुरू कर दिया, जिसका फल यह हुआ कि विद्यालय की प्रगति देखकर समाज के उदार दानियों ने आश्रम की झोंपड़ियों के स्थान पर पक्का भवन खड़ा कर दिया जो महर्षि कर्वे की यज्ञ पताका के समान समाज-विरोधी तत्त्वों तथा रूढ़िवादी प्रतिगामियों का चुनौती देने लगा।

१९१५ ई. में बम्बई काँग्रेस के अधिवेशन के समय समाज-सुधार के मंच से बोलते हुए महर्षि कर्वे ने घोषणा की — अगले वर्ष जब वे साठ साल की आयु पूरी करके अध्यापन-सेवा कार्य से निवृत्त होंगे तब इस बालिक विद्यालय को जापानी महिला विश्वविद्यालय के ढंग से महिला विश्वविद्यालय के रूप में विकसित करने का प्रयत्न करेंगे। जनता ने उनकी इस सृजनात्मक घोषणा का स्वागत किया और यथासम्भव हर प्रकार की मदद करने का वचन दिया।

निदान जब वे सन् १९१६ में सेवा-निवृत्त हुए तो विश्वविद्यालय की योजना में लग गये। उन्होंने फकीरी धारण कर ली और झोला डालकर अनुदान माँगने के लिये निकल पड़े। वे १२ वर्ष तक सम्पूर्ण भारत में भिक्षा माँगते फिरे। उन्होंने हरिद्वार से रामेश्वरम् तथा कराँची से लेकर कलकत्ता तक अनेक बार यात्रायें कीं, किन्तु जब विश्वविद्यालय को पूर्णतया आधुनिक, आदर्श, स्थायी, आत्मनिर्भर तथा सर्व विषयक बनाने के लिये देशाटन से पूरा नहीं पड़ा तो वे विदेश भ्रमण के लिये चल दिये और सात-आठ साल तक योरोप, अमेरिका, अफ्रीका, जापान, मलाया आदि देशों की यात्रा करते रहे। इस प्रकार वे निरन्तर बीस साल तक विश्वविद्यालय के लिये भिक्षा माँगते फिरे। यद्यपि इस समय तक उनकी आयु ७५ वर्ष की हो चुकी थी तथापि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये शायद और भी अनेक वर्षों तक प्रयास को जारी रखते, यदि पर्णकुटी पूना के धनीमानी समाज-सेवक श्री नानजी ठाकरासी एक मुश्त १० लाख रुपये देकर उनकी आवश्यकता पूरी न कर देते।

निदान निस्पृह समाज-सेवक महर्षि कर्वे ने समस्त प्राप्त धन-राशि लगाकर बालिक विद्यालय के साथ-साथ महिला विश्वविद्यालय की स्थापना कर दी। इतना ही नहीं, उस समय जब महामना मालवीय जी और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे विख्यात तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति भी विश्वविद्यालय का माध्यम मातृभाषा न करा पाये, महर्षि कर्वे ने बालिक विद्यालय की तरह महिला विश्वविद्यालय का माध्यम मातृभाषा स्वीकार कर ली।

इस प्रकार भारत के दलित तथा नारी-वर्ग के लिये उन्नति व विकास एवं स्वावलम्बन का मार्ग प्रशस्त कर महर्षि कर्वे एक सौ चार वर्ष की दीर्घ आयु का उपभोग कर मुक्त हो गये।

हिमालय सा विराट व्यक्तित्व पं. गोविन्द वल्लभ पंत

कुमायूँ के आँचल में खिला एक पुष्प— छोटा-सा बालक अपने घर के आँगन में बैण नगराज हिमालय की हिम धवल मेखलाओं को विस्मयित नयनों से देखा करता था। कितना विशाल और कितना उज्ज्वल है यह पर्वत भी। उसके बाल मन में सहज आकांक्षा जाग पड़ती उसे देखकर मैं भी वैसा ही विशाल, विराट और उज्ज्वल बन जाऊँ। यह बालक गोविन्द सचमुच अपने व्यक्तित्व को वैसा ही विराट और पावन बनाने में सफल हुआ। वह अपने इस विराट

व्यक्तित्व के कारण भारतीय इतिहास में अपना चिर स्मरणीय स्थान बना गया। पं. गोविन्द वल्लभ पंत के नाम से हम अपरिचित नहीं हैं।

गंगा और हिमालय भारतीय संस्कृति से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। हिमालय का उत्तराखण्ड प्रदेश ही हमारे ऋषियों-मुनियों की साधना स्थली रहा है। साम का प्रथम उद्घोष यहीं हुआ था। यहीं के तपोवनों में हमारी आध्यात्मिक संस्कृति मुखरित हुई थी। गंगा और हिमालय से हर भारतवासी का एक सहज निसर्ग सम्बन्ध है। इनका नाम सुनते ही उनके मन में एक पुलक उत्पन्न हो जाती है। इस अनूठे आकर्षण के पीछे यही भाव छिपा है कि हम भी इन्हीं की तरह विराट, उदार और पावन बनें। बालक गोविन्द ने वैसा ही प्रयास किया और वैसा ही बन गया। हमारे पावन तीर्थ हिमालय के निचले दुर्गम क्षेत्रों में इसलिए निर्मित हुए हैं कि वहाँ जाकर व्यक्ति अपने क्षुद्रत्व को त्याग कर विराटत्व को पाने की प्रेरणा ग्रहण करें।

पंत जी व्यक्तित्व के हिमालय ही थे। उनके सम्पर्क में आने वालों के मन में ही वैसा ही विकसित होने के संकल्प जागा करते थे। वे अपने पास आने वालों को भरपूर प्यार भी देते थे तो उनकी हताश कुण्ठा पर उन्हें डाँटते-डपटते भी थे।

१९३४ की बात है हरिकृष्ण त्रिवेदी नामक सज्जन १९३२-३३ के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के कारण थोड़े समय की जेल काटने के बाद उनके पास पहुँचे। उन्होंने बड़ा स्नेह दिया। आन्दोलन में भाग लेने के प्रसंग को लेकर उनकी प्रशंसा भी खूब की। पर उनके इस प्रश्न के उत्तर में कि अब क्या करने का विचार है, वे बोले— बेकारों का एक संगठन बनाने का एक विचार है तो वे उन्हें फटकारने से पीछे नहीं रहे— “क्या मूर्खों की जमात में अपना नाम लिखाओगे? जिनके पास बुद्धि होती है वे बेकार नहीं रहते।”

वे छोटे-बड़े हर किसी को पितृवत् स्नेह भी देते थे और अनुशासन में भी रखते थे। यह नहीं कि स्नेह उसके पाँव की बेड़ी बन जाय। त्रिवेदी जी को फटकार दी उसके तुरन्त बाद ही उन्होंने सहायता देने का प्रस्ताव भी रख दिया— “अल्मोड़ा जिले के उद्योग धन्धों की स्थिति का अध्ययन कर कोई योजना बना कर लाओ तब आगे की बात बताऊँगा।” वह योजना तो उन महाशय ने नहीं बनायी पर उन्हें सीख तो लग गयी। आज वे हिन्दुस्तान के सम्पादकीय विभाग में हैं।

यह एक ही उदाहरण नहीं है जिससे उनकी दूसरों की सहायता करने के सहज स्वभाव का परिचय मिलता हो। उनके पास जो भी गया, अपनी जैसी भी समस्या लेकर गया उसका हल पंत जी ने अवश्य किया। त्रिवेदी जी जैसे अनगिनत लोग उनके सहयोग, मार्ग दर्शन, आशीर्वाद और सद्भावना के सहारे आगे बढ़े हैं। उनका व्यक्तित्व ऐसा सघन तरु था जिसके नीचे कितने ही थकित चरण पथिकों ने कुछ क्षण को विश्राम कर अपनी बलान्ति मिटाकर नूतन शक्ति उत्साह पाया था। डा. पट्टाभिसितारामैया ने उनके बारे में लिखा है “पंत जी की मेधा और स्मृति दोनों ही तीक्ष्ण हैं। उनमें अपूर्व वाद-विवाद कुशलता, बात के मर्म तक पहुँचने की शक्ति और अडिग

आत्मविश्वास है। मैंने कभी उन्हें चिंतित और दुःखी होते नहीं देखा। वह सदैव प्रसन्नचित और कार्यरत रहते थे। पन्त जी की रूचियाँ भी उनके गुणों की तरह ही विस्तृत हैं। उनकी तरह मेधा और स्मृति तो कइयों को ईश्वर देता है। पर उन क्षमताओं का उपयोग पंत जी ने जिस उदार दृष्टिकोण से देश और समाज के हित में किया वह उनकी तेजस्विता का सबसे बड़ा कारण है। आवश्यकता श्रम और निष्ठा को जन्म देती है। व्यक्ति स्वयं अपने पत्नी, बच्चों और रिश्तेदारों तक सीमित रहता है। उसकी आवश्यकताएँ भी कम ही रहती हैं। वह सोचता है मेरा व्यक्तित्व काफी विकसित हो गया है इससे मैं अपना काम चला लूँगा। पर जो अपने देशवासियों के साथ वैसा ही परिवार भाव जोड़ लेता है तो फिर उसे अपने व्यक्तित्व को भी प्रखर बनाना ही पड़ता है। इस पथ का अनुसरण उन्होंने आरम्भ से ही कर लिया था।

अपनी जवानी के दिनों में वे उस क्षेत्र के प्रसिद्ध वकील थे। अपने पक्ष को इस ढंग से प्रस्तुत करते थे कि उनके मुवक्किल के विरुद्ध फैसला देना न्यायाधीश के लिए असम्भव हो जाता था। अंग्रेज जज भी उनकी इस बुद्धिमत्ता और वाक्शक्ति कौशल के कायल थे। कहना न होगा कि ऐसे वकील को मुवक्किलों की कमी नहीं रहती होगी। उनकी हजारों रुपयों महीनों की आमदनी थी।

यह सब होते हुए भी वे संतुष्ट नहीं थे। उनके इस असंतोष का कारण देश की पराधीनता थी। अतः उन्होंने अपनी इस चलती हुई वकालत को छोड़ कर सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया। उनकी उस मेधा और बुद्धि का उपयोग उनके अपने लिए ही नहीं सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये हुआ, यह त्याग करके वे घाटे में नहीं रहे। वर्षों तक वे उत्तर प्रदेश मंत्रिमण्डल में मंत्री रहे केन्द्र में भी वे वर्षों तक गृहमंत्री पद सम्हालते रहे।

कोई भी कार्य उनके लिए असम्भव नहीं था। शेर-जैसी दहाड़ती हुई समस्याएँ उनके सामने आकर कुत्ते की तरह दुम हिलाने लगती थीं। यह उनकी योग्यता और गहन आत्मविश्वास का ही फल था। विषद काल में धैर्य धारण किये रहना, ऐश्वर्य के समय में विनम्र और क्षमाशील बने रहना, सभा मण्डलों में प्रखर वक्तृत्व देना, सुयश में अभिरुचि रखना और शास्त्रों के स्वाध्याय में प्रमाद न करना आदि सदगुणों से तो उन्होंने अपने आपको विभूषित किया था। इनसे भी बड़ी थी उनकी आन्तरिक निर्मलता, उदार हृदयता, दृढ़ नैतिक आस्था, गहन अन्तर्दृष्टि और सबके लिए सहज आत्मीयता रखने की आध्यात्मिक विभूतियाँ जिनके कारण उनका व्यक्तित्व महान् बनता गया था।

प्रान्तीय एसेम्बलियों से लेकर स्वतंत्र भारत के केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल तक में महत्त्वपूर्ण पदों पर मन्त्री रहते हुए उनका व्यक्तित्व राष्ट्रव्यापी लोकप्रियता पा गया। उसका कारण उनकी राजनीतिक सूझ-बूझ भर नहीं थी। वे सच्चे नेता थे। देश के हर नागरिक को उन्होंने अपना आत्मीय स्वजन समझा था। धुआँधार भाषणों, टीका-टिप्पणियों और विरोधियों की निन्दा करना उनकी नीति कभी नहीं रही। हाँ बोलते थे तो ऐसा बोलते कि श्रोता मंत्र-मुग्ध हो सुना करते पर

उस वक्तृत्व कौशल का शायद ही कभी उन्होंने अपनी कुर्सी बनाये रखने में प्रयोग किया हो।

उनकी सच्चरित्रता, उदारता, हृदयस्पर्शी मानवता अन्य गुणों के साथ जुड़कर उन्हें सबका चहेता बना गयी थी। उनके घर के द्वार सदा सभी के लिए खुले रहते थे। जो भी उनके सानिध्य में आता वह उनकी आत्मीयता के इस वर्षण से भीग जाया करता था। उन्होंने लाखों लोगों पर पितृवत स्नेह बरसाया था। छोटे-से-छोटे और साधारण से साधारण व्यक्ति की बात भी बड़े ध्यान से सुना करते थे। चाहे दो मिनट का ही समय दें पर वे किसी को निराश नहीं लौटाया करते थे।

इस प्रकार जन-सामान्य से खुलकर मिलने तथा उनकी कष्ट कठिनाइयों को जानने के कारण उन्हें कहाँ क्या हो रहा है इसका पूरा पता रहता था। वे जनता का दुःख-दर्द जानने के लिए सरकारी अफसरों पर निर्भर नहीं रहते थे। वे जनता तक सीधी पहुँच रखते थे। इसी कारण कोई सरकारी अफसर उन्हें धोखे में नहीं रख सकता था।

पंत जी जब संयुक्त प्रान्त के प्रीमियर थे तब उन्होंने अपने सहयोगी अफसरों को निर्देश दे रखे थे— जनता के पास जाते समय अफसरी घर पर ही छोड़ कर जाया करो। हमारा काम जनता पर हुकूमत करना नहीं उसकी सेवा करना है, उनके दुःख-दर्दों को दूर करना है। सब गाँव वालों से समभाव से मिलना चाहिए। ऐसे समय में छोटे कर्मचारियों को अलग रखना चाहिए। भारत गाँवों का देश है। गाँव का आदमी क्या खाता है, क्या पीता है, कैसे रहता है, उसकी क्या समस्याएँ हैं इन्हें जाने बगैर हम राष्ट्रीय समस्या का समाधान नहीं कर सकते। जब भी गाँव में जाना हो गाँववासियों के फूस के छप्परों में दो-एक मिनट रहना चाहिए। हो सके तो उनके साथ मिल कर एक प्याला चाय-दूध पीना चाहिए।

वे स्वयं भी ऐसा ही करते थे। यही कारण था कि आम हिन्दुस्तानी की कठिनाइयों, समस्याओं का उन्हें पता रहता था। किस प्रदेश के लोग किस प्रकार की समस्याओं से जूझ रहे हैं इसका अनुमान वे सहज ही लगा लेते थे। फिर उसकी पुष्टि के लिए सरकारी अफसरों को पता लगाने के लिए भेजते थे। वे जानते थे कि अंग्रेजों ने अपना शासन तंत्र उन्हीं अफसरों के बल पर कायम रखा था। उनमें से अधिकांश के मन में अफसरशाही ठूसकर भरी पड़ी थी। समय-समय पर वे भ्रष्ट तरीकों से अपना घर भी भरते थे। अतः वे प्रशासन तंत्र पर पूरा नियंत्रण रखते थे किसी अफसर की चालाकी या धूर्तता उनके सामने टिक नहीं सकती थी।

एक बार उन्होंने एक बड़े अधिकारी से जिले की खाद्य स्थिति के बारे में पूछा। अधिकारी समझता था कि वह अपनी चापलूसी भरी बातों से वस्तुस्थिति में अपनी अनभिज्ञता उन पर प्रकट न होने देगा। किन्तु उन्होंने जान लिया कि उसे कुछ भी ज्ञात नहीं है। उन्होंने चने और गेहूँ का भाव पूछा। अधिकारी को काटो तो खून नहीं। खूब लताड़ पड़ी उस पर। आज हमारी सरकार को ऐसे ही मंत्रियों की

दरकार है। जो अफसरशाही को नियंत्रण में रख कर भ्रष्ट होने से बचा सके और राष्ट्रव्यापी समस्याओं का हल कर सके।

वे प्रकण्ड विधिवेत्ता, संसदीय विषयों के जानकार और कुशल प्रशासक थे। एक ही व्यक्ति में इतनी सारी क्षमताएँ होना एक आश्चर्य का विषय है। किन्तु यह सब उनके परिश्रम का फल है। आत्म विश्वास के साथ किसी भी क्षमता को अर्जित करने के लिए श्रम किया जाय तो वह करतलगत हुए बिना नहीं रहती। पंत जी इसके अनुपम उदाहरण थे। औपनिवेशिक जमाने में जब संयुक्त प्रान्त के शासन की बागडोर उनके हाथ में थी तब लन्दन की एक सभा में पंत— मन्त्रिमण्डल की उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हुए संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर हैरी हेग ने कहा था— “पूर्ण लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना का प्रयोग आशा से भी अधिक सफल रहा। इस मन्त्रिमण्डल में जनता की शिकायतों पर तुरन्त काम हुआ। साहस और क्षमता की नई भावना आयी। प्रयोग का उत्साह बढ़ा। इस सफलता का आधार एक ओर अनुशासित संसदीय बहुमत का और दूसरी ओर विधायकों का अपने क्षेत्रों में निकट सम्पर्क है।”

वे जब केन्द्रीय गृहमंत्री थे उन दिनों केन्द्रीय कर्मचारियों ने हड़ताल की। वे किसी भी ऐसे कदम को जो राष्ट्रीय हित के विपरीत होता था पसन्द नहीं करते थे। कर्मचारियों की हड़ताल भी एक ऐसा ही कदम था। जब समझौता का कोई मार्ग नहीं निकल सका तो उन्होंने दृढ़ता का रुख अपना कर जन-जीवन पर हड़ताल का कुप्रभाव नहीं पड़ने दिया। हड़ताल टूटने के पहले उन्होंने जो कड़ा रुख अपनाया था उसके टूटने पर उन्होंने कर्मचारियों के साथ पूर्ण सहानुभूति बरती और पारस्परिक सम्बन्धों में मधुरता लाने का प्रयास किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में प्रदेश के अल्मोड़ा जिले के एक ग्राम में जन्मे पंत जी का व्यक्तित्व आज के जन-नेताओं के लिए आदर्श है। अब वे हमारे बीच नहीं रहे पर उनका अविस्मरणीय प्रखर व्यक्तित्व और जन-नेतृत्व आने वाली पीढ़ियों का प्रदर्शन करता रहेगा।

राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी सरदार पटेल

जर्मनी के एकीकरण में जो भूमिका बिस्मार्क ने और जापान के एकीकरण में जो भूमिका मिकाडो ने निभायी उन्हें विश्व के इतिहास में आश्चर्य माना गया है। ये देश अपने एकीकरण के समय तो चार-पाँच करोड़ की जनसंख्या वाले ही थे। किन्तु सरदार पटेल द्वारा किये गए भारत के एकीकरण को क्या संज्ञा दी जाय जिसे दुनिया के अन्य देश उसके विशाल आकार और अपरिमित जनशक्ति को देखते हुए ‘उप महाद्वीप’ कहा करते हैं। निश्चय ही यह एक आश्चर्य ही कहा जायेगा।

व्यक्ति जब अपनी योग्यताओं और क्षमताओं को अपने लिए ही सीमित, संकुचित न रखकर राष्ट्र व समाज के स्तर पर नियोजित

करता है तो वह निश्चित रूप से श्रेय व सम्मान का अधिकारी बनता है। सरदार पटेल इस दृष्टि से निश्चित ही उस श्रेय तथा सम्मान के अधिकारी हैं जो उन्हें दिया जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जिन राष्ट्र नेताओं की कमी को हमारे देशवासी अनुभव करते हैं उन्हीं में से एक वे हैं। आज देश के सामने कोई समस्या आती है तो बरबस मुँह से निकल पड़ता है— “काश ! आज सरदार पटेल जीवित होते।”

१८७५ में गुजरात के एक सामान्य से कृषक परिवार में जन्मे बल्लभ भाई पटेल कैसे एक सामान्य कृषक पुत्र से भारत के महान् जन-नेता व एकीकरण कर्ता के समानास्पद पद तक जा पहुँचे यह कहानी अनेकानेक बार समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं व पुस्तकों में दोहरायी जा चुकी है और दोहरायी जाती रहेगी। यहाँ उस कहानी को दोहराना मात्र ही अभीष्ट नहीं है। कोई व्यक्ति उस स्थिति तक उस सम्मान तक पहुँचना चाहे तो उन्हें क्या रीति-नीति अपनानी होगी किन सदगुणों का संग्रह करना होगा यह भी अभीष्ट है। साथ ही यह भी देखना है कि उन्हें यह दबंगी और बुलन्दी किस महास्रोत से मिली।

कहना न होगा कि सरदार पटेल नेहरू परिवार जैसे सम्पन्न और समृद्ध परिवार में नहीं जन्मे न उनके पिता पं. मोतीलाल नेहरू की तरह एक प्रख्यात व्यक्ति ही थे। किन्तु जब थोड़े-से व्यावहारिक मतभेदों के कारण जब गाँधी जी के सामने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में नेहरू जी व सरदार पटेल दोनों में से एक को उन्होंने का अवसर आया तो वे भी एक बार जनमत की ओर देखने लगे और उन्हें पटेल व नेहरू दोनों का ही मन्त्रिमण्डल में रहना आवश्यक लगा। स्पष्ट है कि अर्जित कीर्ति और यश किसी भी प्रकार साधन-सुविधाओं युक्त परिवार में जन्म लेने और उनके सहारे पा लेने वाले यश से कम नहीं होता। वरन् साधनों के अभाव में कठिनाइयों के दुर्गम मार्ग को चीर कर निकलने वाला व्यक्ति अधिक अच्छी तरह से लोकसेवा का कार्य कर सकता है, सोच-समझ सकता है और व्यावहारिक नीति निर्धारित कर सकता है।

किस प्रकार देशी राज्यों का एकीकरण सम्भव हो सका इस बात पर विचार करते हैं तो आश्चर्य ही होता है। देशी रियासतों के शासक राज्य को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझते थे। अंग्रेज सरकार भी भारत को स्वतन्त्र करते समय इन्हें भारत या पाकिस्तान में स्वेच्छा से मिलने या स्वतन्त्र बने रहने की स्वतन्त्रता दे गयी थी। ऐसे एक-दो नहीं सैकड़ों राजा भारतवर्ष में विद्यमान थे। इनका एकीकरण सरदार पटेल जैसा दृढ़ नीति कुशल व्यक्ति ही कर सकता था। इस असम्भव दिखने वाले कार्य को सम्भव कर दिखाने के कारण ही उन्हें लौह पुरुष कहा जाता है।

गाँधीजी के नेतृत्व में छोटे-छोटे लोगों द्वारा अहिंसा के अस्त्र से लड़ा गया स्वतन्त्रता संग्राम सरल हो जाएगा और आधी दुनिया पर राज्य करने वाले अंग्रेज भारत को छोड़ जाने को विवश हो जायेंगे। राजाओं का राज्य चला जाएगा उसके स्थान पर प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधि राज्य करेंगे, यह बात आजादी के पचास वर्ष पहले सामान्य व्यक्ति सोच भी नहीं सकता था। जो थोड़े से व्यक्ति क्रान्ति या

सत्याग्रह की बात करते थे उनकी बातों को लोग शेखचिल्ली का स्वप्न समझते थे। किन्तु यह सब सत्य होकर रहा। जिन्होंने थोड़ा साहस दिखाया अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं से ऊपर उठकर राष्ट्र की स्वतन्त्रता लाने के प्रयत्नों में लगे, उन्हें श्रेय भी मिला। सरदार पटेल भी श्रेय के भागी बने। नियति का चक्र तो चलता ही रहता है चल ही रहा है। जो ईश्वरेच्छा होती है वह तो पूरी होकर ही रहती है। पर श्रेय उन्हें मिलता है जो उस इच्छा को समझकर युग धर्म पालन करने का साहस करते हैं। भारत का एकीकरण करने के समय सरदार पटेल ने जिस सूझ-बूझ, नीति कौशल व बुद्धिमत्ता का परिचय दिया वह समय की आवश्यकता को देखकर एक महान् साहस कर जाना था, ठीक वैसा ही साहस जैसा कि अब्राहम लिंकन ने अश्वेत गुलामों को मानव अधिकार दिलाने के लिए अमेरिका में गृह युद्ध स्वीकारा था।

हैदराबाद के रजाकार विद्रोह को कुचल कर उसे तीसरा पाकिस्तान बनने से बचाने के लिए भी सरदार पटेल ने बहुत बड़ी जोखिम उठायी थी। स्वयं पं. जवाहरलाल नेहरू भी उस पर हाथ डालने से हिचकिचा रहे थे। इसे साहस ही नहीं दुस्साहस भी कहा जा सकता है। कभी-कभी सत्कार्यों की सफलता के लिए ऐसे दुस्साहस की आवश्यकता अनिवार्य-सी हो जाती है।

सरदार पटेल की इस दृढ़ता का आधार उनकी आत्मा की अमरता में दृढ़ विश्वास था जो उनके अवचेतन में आरम्भ से ही विद्यमान था और जिसे आगे चलकर उन्होंने पर्याप्त विकास व पोषण दिया था। बचपन में उनकी काँख में एक भयंकर फोड़ा हो गया था। उस फोड़े को फोड़कर मवाद निकालने का देशी तरीका अपनाया गया—लोहे की सलाख को गर्म करके उसे दागने का। गर्म सलाख और कोमल बालक को देखकर सम्भावित पीड़ा की कल्पना से दागने वाले वयस्क का हाथ भी काँपने लगा पर वाह रे साहसी पटेल ! उन्होंने स्वयं ही सलाख उठायी और फोड़े में धुसा दिया। यह आत्मा की अमरता में विश्वास करने के उस अवचेतन में स्थित आध्यात्मिक गुण का ही परिणाम था कि वह बचपन में ही इतना साहस दिखा सके।

किसान के घर पैदा हुए बल्लभ भाई की पढ़ाई मैट्रिक से आगे नहीं बढ़ पायी थी कि पारिवारिक परिस्थितियों से विवश हो उन्हें मुख्तारी की परीक्षा पास करके वकालत करनी पड़ी। अपनी लगन और कर्मनिष्ठा के बल पर वे शीघ्र ही कस्बे के नामी वकील बन गये आगे पढ़ने की इच्छा फिर भी बनी रही। काफ़ी मेहनत और बचत करके उन्होंने इंग्लैण्ड जाकर बैरिस्टर की परीक्षा पास करने के लिये धन संचित किया, पासपोर्ट भी बनवा लिया किन्तु अपने बड़े भाई विठ्ठल भाई की इच्छा को देखकर उन्होंने अपना इंग्लैण्ड जाना स्थगित करके उन्हें वह धन दे दिया और अपना पासपोर्ट भी उनके नाम करवा दिया। इससे उनकी त्यागवृत्ति का अच्छा परिचय मिल जाता है।

अपने बड़े भाई के इंग्लैण्ड से लौट आने के दो वर्ष बाद १९१० में वे इंग्लैण्ड गये। वहाँ वे सब प्रकार के शौक मौज से दूर रहते हुए गहन अध्ययन में लीन हो गए। इंग्लैण्ड की कड़ाके की शीत में भी अपने आवास से कई मीलोँ दूर स्थिति लाइब्रेरी में जाकर सुबह

से शाम तक पढ़ते। इस लगन और श्रम का पुरस्कार उन्हें यह मिला कि वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

इतनी मेहनत के बाद पाई बैरिस्टर की सनद से वे अधिक दिनों तक लाभ नहीं उठा सके। इसके द्वारा अपने लिए काफ़ी धन उपार्जित कर सकने के निजी हित को उन्होंने अपने देश व देशवासियों के हित पर न्योछावर करने में देर नहीं की। इंग्लैण्ड से बैरिस्टर बनकर स्वदेश लौटे और वकालत करने लगे। इसके साथ ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया। १९१७ में वे गाँधीजी के सम्पर्क में आये उसके बाद तो उनकी वकालत कम होती गयी और देश के कार्य बढ़ते गये।

१९२० में कलकत्ता व नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव पारित हुआ तो सरदार पटेल ने बैरिस्टरी त्याग दी। अपने पुत्र-पुत्रियों का सरकारी शिक्षण संस्थाओं में पढ़ाना बन्द कर दिया। गुजरात विद्यापीठ की स्थापना उन्होंने इन्हीं दिनों की। इसके लिए वे बर्मा तक दौरा करके दस लाख रुपया एकत्रित कर लाये।

नागपुर के झण्डा सत्याग्रह की सफलता का बहुत कुछ श्रेय सरदार पटेल को ही जाता है। पं. जवाहर लाल नेहरू व चितरंजन दास आदि बड़े-बड़े नेताओं के पक्ष में नहीं होते हुए भी इसका सफल होना सरदार पटेल की कर्मठता का परिचय था। सरदार पटेल ने जो भी काम किया जी-जान से लगकर किया, आधे-अधूरे मन से नहीं। इस कारण उनके सारे ही कार्य जो पहले असम्भव दिखते थे सम्भव हो सके।

बोरसद के ग्रामीणों को डाकुओं व सरकार की पुलिस के दोहरे शोषण चक्र से बचाने में उन्हीं का हाथ था। डाकुओं का इस इलाके में भयंकर आतंक फैला हुआ था। सरकार ने रक्षा के लिए जो पुलिस तैनात की वह डाकुओं के आने पर चुप बैठी रहती थी, जबकि जनता को उनके खर्च के लिए प्रतिवर्ष हजारों रुपया टैक्स देना पड़ता था। सरदार पटेल ने ग्रामीणों को आत्मरक्षा के लिए तैयार किया—नवयुवकों का एक दल इसके लिए गठित किया गया। सरकार से टैक्स न लेने के लिए लड़ाई की गयी। इस तरह सरकार और डाकुओं की लूट से बोरसदवासियों को बचाया गया।

बारडोली के कृषक सत्याग्रह में तो सरदार पटेल ने कमाल ही कर दिखाया था। वहाँ मेहनती 'कुनवी' किसानों पर सरकार अनुचित रूप से कर भार लादती जाती थी। वे खूब मेहनत करके खूब कमाई करते थे तो भी विदेशी सरकार उनका खूब शोषण करना चाहती थी। इसे शोषण से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने सरदार पटेल से राय पूछी उन्होंने पहले उन्हें ठोक-बजाकर आन्दोलन के लिए पूरी तरह तैयार कर लिया। उसके बाद ही सरकार को कर देना बन्द कर दिया। सरकारी कर्मचारी लगान वसूलने आये तो उत्तर नकरात्मक ही मिला। उनके लिए सच्ची सरकार तो 'स्वराज्य आश्रम' में बैठे बल्लभ भाई पटेल हो गए। सरकार ने किसानों को साम, दाम, दण्ड, भेद हर नीति से झुकाने का प्रयास किया पर वे अब झुकने को किसी भी कीमत पर

तैयार नहीं थे। पुलिस, फ़ौज, कुर्की, नीलामी, लाठी, मार आदि सब शस्त्र बेकार रहे। अन्त में सरकार को झुकना पड़ा।

स्वतन्त्रता के पहले तथा स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रोत्थान में सरदार पटेल की अनूठी भूमिका रही। इस भूमिका का आधार उनका त्याग, तप, उनकी निष्ठा, भक्ति आदि थी। सरदार पटेल अब हमारे बीच नहीं रहे पर उनका यह कर्तव्य हमें सत्कार्यों में जुट पड़ने व उन्हें सफल बनाने के लिए समुचित साहस व मार्गदर्शन देना रहेगा।

भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि लालबहादुर शास्त्री

काशी विद्यापीठ का एक छात्र छुट्टियों में अध्यापक के साथ उनके गाँव गया और वहाँ कई दिनों तक रहा। अध्यापक जिस मकान में रहते थे, उसके पास ही एक संगीत प्रेमी वृद्ध व्यक्ति सन्त कबीर का यह भजन गाया करता...

झीनी झीनी बीनी चदरिया

यह चार सुरनर मुनि ओढ़ी

ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया,

दास कबीरा जतन से ओढ़ी

ज्यों की त्यों घर दीन्हीं चदरिया ॥

छात्र गीत की पंक्तियाँ सुनकर भाव-विभोर हो उठता, जैसे उसकी समाधि लग गई हो। एक बार वह ऐसी भाव समाधि में खोया हुआ था कि अध्यापक ने उसका ध्यान भंग किया— 'क्या सोच रहे हो' यह पूछ कर। सोच रहा हूँ— 'मैं भी अपनी चदरिया जतन से ओढ़ कर ज्यों घर दूँगा— गुरुजी।'

अध्यापक की आत्मा प्रफुल्लित हो गयी। और उन्होंने प्रोत्साहित हुए कहा— 'खूब जतन से ओढ़ना बेटे।'

और छात्र ने अपना वादा जीवन भर निभाया। क्षणिक भावावेश में आकर आदर्शों और सिद्धांतों की कँटीली राह पर बढ़ने का संकल्प तो कई लोग कर लेते हैं पर दृढ़ता और मानसिकता के अभाव में कितने ही लोग उन संकल्पों से विचलित हो जाते हैं। लेकिन जिस छात्र का उल्लेख ऊपर किया गया है वह उन परिस्थितियों में भी जबकि उन्हें पैसे के अभाव में तैरकर नदी पार करनी पड़ती थी तब से और जब वे भारतीय जनता के सर्वोच्च प्रतिनिधि पद पर रहे तब तक एक दिन भी अपने इस आदर्श से विचलित नहीं हुए। इस संकल्प जयी, दृढ़ इस्पात से भी अधिक कठोर और मोम से भी मुलायम व्यक्तित्व के स्वामी का नाम था— लालबहादुर शास्त्री।

लालबहादुर शास्त्री का जन्म २ अक्टूबर, १९०४ में मुगलसराय के एक साधारण परिवार में हुआ। उनके पिता श्री शारदा प्रसाद श्रीवास्तव एक साधारण से अध्यापक थे। अध्यापन की वृत्ति से जो कुछ भी वेतन मिल जाता उसी में परिवार की सभी आवश्यकताओं को पूरा करते और जरूरतमंद गरीब छात्रों की मदद भी। श्रीवास्तव जी के शिष्य उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे और वे भी अपने शिष्यों

को पुत्रवत् प्यार करते। कई बार विद्यार्थी देर रात तक भी उनके पास पढ़ा करते। ऐसे सहृदय और उदार चरित्र के श्रीवास्तव जी का प्रभाव लालबहादुर शास्त्री पर भी पड़ा। लेकिन पिता की छत्रछाया अधिक दिनों तक नहीं रह सकी। वे अपने लाड़ले को अल्पायु का ही छोड़कर इस संसार से चले गये।

घर की आर्थिक स्थिति तो पहले से ही कमजोर थी अब और कमजोर हो गई। अब वात्सल्य की मूर्ति माँ रामदुलारी का ही सहारा रह गया। उन्होंने एक और सहारा खोज लिया— पुण्यतीया गंगा का। वे घण्टों गंगा के किनारे बैठे रहते और गंगा से बातें किया करते। गंगा में ही उन्होंने तैरना सीखा— मानो जीवन के सागर में वे तैरना सीख रहे हों। गंगा के थपेड़ों से उन्होंने जीवन के संघर्षों को सहना और उन पर विजय पाना सीखा।

परिस्थितियाँ चाहे जो रही हों पर स्वाभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था, जो अपनी प्रवंचना न होने देने के लिए कभी किसी की सहायता स्वीकार नहीं करने देते। १९१८ की घटना है, तब उनकी आयु लगभग १२ वर्ष की रही होगी। एक बार गंगा पर अपने साथियों के साथ मेला देखने गये। वापस लौटने लगे तो उनके पास एक भी पैसा नहीं था, जिसे नाविक को दे कर गंगा पार कर सकें। वे किनारे पर ही रुक गये। मित्रों ने पूछा तो उन्होंने कहा मैं बाद में आऊँगा। और मित्र लोग जब वहाँ से चले गये तो गंगा के उस पार तक लालबहादुर ने काफ़ी चौड़ा पाट तैर कर ही पार किया।

शास्त्री जी के पिता का देहान्त होने पर माँ उन्हें लेकर नाना के यहाँ आयी और नाना के स्नेह संरक्षण में ही वे पढ़ने के लिए 'हरिश्चन्द्र स्कूल' में दाखिल हुए। जिन दिनों वे हरिश्चन्द्र स्कूल में पढ़ रहे थे, उन्हीं दिनों गाँधी की आँधी आयी और सारे देश में असहयोग की हवा बहने लगी। लालबहादुर के हृदय में देश प्रेम की आग उत्पन्न हुई और विदेशी सरकार से मातृभूमि को मुक्त कराने की उमंग जाग उठी। असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने के कारण वे विद्यार्थी जीवन में ही जेल यात्रा कर आये। जब जेल से छूटे तो माँ ने समझाया कि "हम लोगों को इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। तुम्हारे पिताजी तुम्हें डेढ़ वर्ष का छोड़ कर स्वर्ग सिंघार गये थे और हम निराश्रित होकर यहाँ आये हैं। तुम्हारे नानाजी की मदद से तुम्हें स्कूल में भर्ती करवाया गया। इसलिए अपना जीवन बनाने की सोचो। बिना आगा-पीछा सोचे यदि इस तरह की ऊट-पटांग हरकतें करने लगोगे तो इन तपस्याओं का कोई परिणाम नहीं निकलेगा।"

भोली-भाली माँ को लालबहादुर ने समझाया— "तुम चिंता न करो माँ। मुझे जिस प्रकार देश के प्रति कर्तव्य पालन की अभिलाषा है, वैसे ही परिवार के प्रति भी मैं अपने उत्तरदायित्वों को भूल नहीं सकता। मैं दोनों का ही अच्छी तरह पालन करूँगा।"

इसके बाद वे काशी विद्यापीठ में भर्ती हुए और वर्ष बाद शास्त्री की परीक्षा अच्छी श्रेणी में पास की। अनेक व्यक्ति इस नाम से समझने लगते हैं वे कोई संस्कृत पण्डित रहे होंगे पर सच्चाई यह है कि उस समय काशी विद्यापीठ की यह उपाधि स्नातक डिग्री के समतुल्य समझी जाती थी। इसका नाम बी. ए. न रखकर शास्त्री इसलिए रखा

गया था कि लोगों में भारतीयता की भावना को बल मिले। शास्त्री हो जाने के बाद वे अपने कई साथियों को साथ लेकर लाला लाजपत राय की 'सरवेण्ट ऑफ पीपुल्स सोसाइटी' में शामिल हो गये। लाला लाजपत राय की इस संस्था का एकमात्र ध्येय देश सेवा और समाज सेवा ही था। संस्था के समस्त सदस्य अपना सारा समय सोसायटी के कार्यों में ही लगाते और सोसायटी की ओर से उन्हें निर्वाह व्ययमात्र दिया जाता था, जिसके द्वारा वे अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे।

'पीपुल्स सोसायटी' में शामिल होकर शास्त्री जी ने सर्वप्रथम मुजफ्फरनगर जिले में हरिजन उद्धार का काम किया। वहाँ कुछ दिनों तक इस कार्यक्रम को चलाकर वे इलाहाबाद आ गये और वहाँ किसान आन्दोलन में भाग लेने लगे। इलाहाबाद में ही उन्होंने कांग्रेस संगठन में पदार्पण किया और जिला कांग्रेस कमेटी के मंत्री बनाये गये।

इससे पूर्व सन् १९२७ में उनका विवाह ललिता देवी के साथ हो चुका था। ललिता देवी उनकी जीवन साधना में अपूर्व सहयोगिनी सिद्ध हुई। उन्होंने विवाह संस्कार के समय ही एक प्रकार से अपनी अध्यात्मिकता को अपने जीवन ध्येय के सम्बन्ध में बता दिया था। परम्परा के अनुसार उन्हें जब ससुराल पक्ष की ओर से दहेज में काफ़ी सामान दिया जाने लगा तो उन्होंने दहेज लेने से इन्कार कर दिया। ससुराल वालों द्वारा बहुत आग्रह करने के बाद उन्होंने खाली की धोती और कुर्ते का कपड़ा तथा मात्र एक चरखा ही स्वीकार किया।

कांग्रेस संगठन में उनको जो भी कार्य सौंपा जाता था उसे वे पूरे मनोयोग से करते। उनके लिए जैसे वही काम ईश्वर की उपासना बन जाता। यही कारण था कि उन्हें सौंपा गया प्रत्येक कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न होने की निश्चित गारंटी बन जाता था, फलतः बड़े-बड़े नेता उन पर विश्वास करने लगे। सन् १९३७ से १९४७ के बीच का समय उनके लिए सर्वांगपूर्ण ढंग से देश सेवा के काम में ही बीता और सच्चे लोकसेवी की भूमिका वे कर्मठतापूर्वक निभाते रहे।

उनकी आवश्यकतायें बहुत ही सीमित रहीं और करावास के समय भी वे अपने लिए कोई माँग नहीं करते। जेल में उनके साथी छोटी-छोटी चीजें अधिकारियों से माँगते, प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते या ज़िद करते थे, वहीं शास्त्री जी अपनी चीजें दूसरों को दे कर प्रसन्न होते थे। एक बार उन्होंने अपना अच्छे वाला लैम्प अपने साथी को दे दिया था और कड़ुवे तेल के दिये के सामने बैठकर अपना पढ़ने का शौक पूरा करते रहे।

जब चाहे तब अपने को बिना साधनों के रख लेना और वह भी व्यवस्थित क्रम में बिना कोई व्यक्तिरेक लाये उनकी विशेषता थी। और इस विशेषता पर जेल अधिकारी बड़े आश्चर्यचकित थे। जेल में वे अपना सारा समय पढ़ने में ही व्यतीत करते और प्रायः लिखते भी रहते। जेल में उन्होंने 'मैडम क्यूरी' — की एक सुन्दर पुस्तक लिखी। आज़ादी से पूर्व गठित मन्त्रिमण्डल में उत्तर प्रदेश के गृह मंत्री बने, संसदीय सचिव बने और जब उत्तर प्रदेश में गृहमन्त्री थे

जब उन्होंने कांग्रेस का महामन्त्री पद भी सम्भाला। उनकी गणना लौह-व्यक्तित्व वाले महापुरुषों में थी। सचमुच ही दुबले-पतले और ठिगने कद के साधारण से दिखने वाले व्यक्ति में कठोर पश्चिम, निष्ठा, विश्वास को देखते हुए उन्हें लौह-पुरुष कहना उचित ही था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब संयुक्त प्रान्त का प्रथम मन्त्रिमण्डल गठित हुआ तो उन्हें पुलिस और यातायात मन्त्री बनाया गया। अगले चुनाव में वे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रेल विभाग के मन्त्री बनाये गये। इस विभाग में अपने कार्यकाल के बीच एक सामान्य रेल दुर्घटना के लिए स्वयं को नैतिक दृष्टि से दोषी अनुभव कर मन्त्री पद से स्तीफ़ा दे दिया।

सन् १९६३ में उन्होंने संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए एक बार फिर मन्त्री पद छोड़ा। उनकी निष्मृहता ने जनता को बहुत प्रभावित किया। नेहरू जी उन्हें इतना मानते थे कि अन्त समय निकट देखकर अप्रत्यक्ष रूप में शास्त्री जी पर ही अपना विश्वास व्यक्त किया। नेहरू जी के देहावसान पर शीर्षस्थ नेताओं ने भी उनमें ही अपना विश्वास व्यक्त किया और उनके ही हाथों में देश की बागडोर सौंपी।

प्रधानमन्त्री पद का भार सम्हालते हुए उन्होंने सन्देश में कहा था— "हम अपने पड़ोसी देशों के साथ मित्रतापूर्ण किन्तु आत्म सम्मान के साथ सम्बन्ध बनाना चाहते हैं।" वे थोड़े ही समय तक रहे पर उस अवधि में भी उन्होंने अपना यह कथन सिद्ध कर दिखाया। योरोप के कई देशों और अमेरिका तथा रूस जैसे प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों के साथ उन्होंने मधुर सम्बन्ध बनाये।

पाकिस्तान के साथ भी उन्होंने इसी तरह के सम्बन्ध बनाना चाहे, पर पाकिस्तान ने जब यह सोचकर भारत पर आक्रमण किया कि नेहरू जी के बाद भारत की स्थिति कमजोर हो गयी है तो उनके नेतृत्व में भारतीय सेनाओं ने डटकर मुक़ाबला किया और पाकिस्तान को बड़ी बुरी तरह हारना पड़ा। इस अवसर पर शास्त्री जी की लोकप्रियता का प्रमाण भी मिल गया। सारे देश ने शास्त्री जी के नेतृत्व में ऐसे अनुशासन और देशभक्ति का प्रमाण दिया कि पहले वैसा शायद ही दिखाई पड़ा हो।

प्रधानमन्त्री पद पर पहुँचकर भी शास्त्री जी ने अपनी साधक स्तर की सादगी को नहीं छोड़ा। मन्त्री होने के बाद कुछ शासकीय कर्मचारी उनके निवास स्थान को 'एयर कण्डीशण्ड' बनाने के लिए आये तो उन्होंने मना कर दिया। भारतीयता के वे इतने अनन्य भक्त थे कि जब कभी विदेश जाना होता तो वे विदेश में भी भारतीय भोजन ही करते।

पाकिस्तान को युद्ध में कड़ी मात मिलने के बाद उन्होंने रूस की मध्यस्थता पर सन्धि वार्तालाप करना स्वीकार कर लिया। यह वार्ता जनवरी १९६५ में ताशकन्द में हुई। शास्त्री जी और पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति अयूब ख़ाँ ने कोसीजिन की मध्यस्थता में युद्ध रोकने और जीती हुई जमीन लौटा देने तथा बाद में शांतिपूर्ण सम्बन्ध बनाने का समझौता किया।

११ जनवरी को यह वर्ता सम्पन्न हुई और संयोग उसी रात उनका स्वास्थ्य इतने गम्भीर रूप से खराब हुआ कि कुछ ही मिनटों में उनके प्राण पखेरू उड़ गये। उनकी मृतदेह पर भी ऐसी शांति थी जैसे वे कह रहे हैं कबीर के स्वरों में कि— मैंने अपनी चदरिया ज्यों की त्यों धर दीन्हीं है।

समाज को दिशा देने वाले— सातवलेकर

परिस्थितियों की प्रतिकूलता और चतुर्दिक समस्याओं को व्याप्त देखते हुए कई युवक भी अपने आप से निराश हो जाते हैं और जीवन में कोई प्रगति नहीं कर पाते ऐसे निराश और हारे हुए व्यक्तियों को यदि बताया जाय कि चालीस वर्ष का एक ड्राइंग मास्टर— जिसे केवल ५० रुपये प्रतिमाह वेतन मिलता था अचानक नौकरी छोड़ बैठा या छूट गयी। उस हालत में जबकि परिवार के पास निर्वाह के पर्याप्त तो क्या काम-चलाऊ साधन भी नहीं थे, परिस्थितियों से संघर्ष करता है, उनसे लड़ता है और न केवल परिस्थितियों पर काबू पाता है वरन् सफलता के नये प्रतिमान स्थापित करता है। चालीस वर्ष की आयु तक चित्रकला के अध्यापक और उनके बाद दस वर्ष तक इधर-उधर भटकते रहने वाले परिस्थितियों के हाथों खेलने वाले अचानक परिस्थितियों को अपने हाथ में कठपुतली की तरह नचाने वाले कैसे बन गये— उसकी एक लम्बी कहानी है।

अपने हाथों अपने भाग्य का निर्माण करने वाले श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का जन्म १९ सितम्बर, १८६७ ई. को हुआ। उनके पिता श्री दामोदर भट्ट पैतृक व्यवसाय पौरोहित्य द्वारा जीविका चलाते थे। इस कर्म से गुजारे लायक आमदनी ही हो पाती थी सो परिवार में सुख-सुविधाओं के साधनों का अभाव ही था। श्रीपाद जी से पूर्व दामोदर भट्ट के यहाँ जो भी सन्तानें जन्मीं, अल्पवयी ही रहीं। श्रीपाद जी ने अब कुछ आयु प्राप्त कर ली तो माता-पिता को यह विश्वास हुआ कि अब उनकी गोद सूनी नहीं रहेगी। अथवा दुबारा उन्हें एक सन्तान का मुँह देखने के लिए तरसना नहीं पड़ेगा।

अब वे ८ वर्ष के हुए तब उन्होंने कोल गाँव से— जहाँ कि उनका घर था दो-ढाई सौ मील दूरी पर स्थित अरसोवा की बाड़ी तक पैदल यात्रा की और वहाँ उपनयन संस्कार कराया। उपनयन के बाद श्रीपाद मराठी स्कूल में जाने लगे। चूँकि वे अपने माता-पिता के अकेले और मानगुन के बैठे थे सो उस समय उपलब्ध साधनों में जैसा भी हो सकता था अच्छा लाड़ किया जाता। लाड़-दुलार तो उन्हें भरपूर मिलता पर माता-पिता इस ओर से बेखबर नहीं थे कि बच्चों को लाड़-दुलार के अतिरिक्त भी कुछ और चाहिए। वह 'कुछ और' था बालक के व्यक्तित्व को परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाने के लिए आवश्यक पारिवारिक वातावरण। श्री दामोदर भट्ट और लक्ष्मीबाई ने इसका बराबर ध्यान रखा। इन संस्कारों से पोषित श्रीपाद विद्यार्जन की साधना में सफलतापूर्वक लगे रहे। चौदहवें वर्ष ही छठी कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने मराठी स्कूल छोड़ दिया।

अब आगे पढ़ने के लिए निश्चय किया गया कि अँग्रेजी सीखी जाय। इसके लिए श्रीपाद को अँग्रेजी स्कूल में भर्ती कराने की बात सोची गयी। जिस स्कूल में उन्हें भर्ती कराने की बात सोची गयी उसकी फीस आठ आने प्रतिमास थी। यह फीस जुटाना दामोदर भट्ट जी के लिए बड़ा कठिन लगा। पौरोहित्य कर्म द्वारा अपना गुजारा करने वाले भट्ट परिवार के लिए यह फीस बहुत ही ज्यादा थी इसीलिए उन्होंने श्रीपाद से कह दिया— "हमें अँग्रेजी की जरूरत नहीं है और नहीं हमारी शक्ति इस योग्य है कि अँग्रेजी स्कूल का खर्च बर्दास्त करें। घर की आर्थिक स्थिति ने श्रीपाद को आगे पढ़ने से रोक दिया तो उन्हें परिवार का गुजारा चलाने के लिए हाथ बँटाने को भी विवश कर दिया। वे अपने पिता के साथ पौरोहित्य का काम सीखकर लोगों के यहाँ कर्मकाण्ड करवाने के लिए जाने लगे, किन्तु उनकी ज्ञानपिपासा तो अब भी ज्वलन्त थी। सो दक्षिणा में उन्हें जो पैसे मिलते थे उससे वे किताबें खरीदते और पढ़ते।"

पुस्तकों की व्यवस्था इस प्रकार हो जाने के बाद श्रीपाद जी स्कूल में भर्ती होने के लिए उस स्कूल के हैडमास्टर से मिले और उसको अपनी सारी परिस्थितियाँ बतायीं। अँग्रेजी स्कूल के हैडमास्टर पर्णदीकर श्रीपाद की ज्ञानपिपासा से बड़े प्रभावित हुए और उनकी परिस्थितियों के बारे में सुनकर बड़े द्रवित हुए किन्तु वे अपनी परिस्थितियों, सरकारी नियमों से इतने प्रतिबन्धित थे कि वे चाह कर भी कोई सहायता नहीं कर सकते थे। हाँ, उन्होंने इतना आश्वासन जरूर दिया कि वे श्रीपाद को पढ़ने-लिखने में व्यक्तिगत सहयोग जरूर देते रहेंगे। श्रीपाद ने इस अवसर को भी अपना सौभाग्य माना और उन्होंने पर्णदीकर से अँग्रेजी सीखी। यह अध्ययन वे व्यक्तिगत रूप से ही करते रहे। संस्कृत में तो श्रीपाद जी प्रारम्भ से ही रुचि रखते थे सो इस देव भाषा में उन्होंने विशेष योग्यता प्राप्त कर ली थी।

शिक्षा पूरी करने के बाद श्रीपाद ने विचार किया कि केवल पौरोहित्य कर्म से ही तो पर्याप्त जीविका नहीं कमाई जा सकती। अतः उन्होंने चित्रकला से स्कूल में दाखिला लिया। सावन्तावाड़ी में चित्रकला सीखकर उन्होंने बम्बई जाने का निश्चय किया। इस बीच उनका विवाह भी हो चुका था। श्रीपाद जी के माता-पिता नहीं चाहते थे कि वे घर छोड़कर कहीं जायें किन्तु श्रीपाद जी का महत्वाकांक्षी मन घर में ही बँधा रहना नहीं चाहता था। अतः अपने माता-पिता को हर तरह से समझा-बुझाकर इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे उन्हें बम्बई जाने की अनुमति दे दें। श्रीपाद जी १८८० में बम्बई आ गये और वहाँ जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स में भर्ती हुए। चित्रकला सीख लेने के बाद श्रीपाद जी की नियुक्ति उसी संस्था में हो गयी, वहाँ उन्हें कुल पचास रुपये प्रतिमास वेतन मिलता था। इतने वेतन में बम्बई जैसे शहर में गुजारा चलाना बड़ा ही कठिन था। किन्तु श्रीपाद जी किसी और अच्छे अवसर की तलाश में लगे रहे।

वह अवसर भी लगभग एक वर्ष बाद आया। बम्बई छोड़कर वे हैदराबाद चले आये। इस शहर में चित्रकारों के लिए अच्छा क्षेत्र

था। श्रीपाद जी को अपनी साधना में सफलता मिलने लगी। किन्तु यहीं रहते हुए उनके जीवन में क्रान्तिकारी मोड़ आया। उन दिनों सारे भारत में स्वातंत्र्य चेतना का जागरण हो रहा था। हैदराबाद भी क्रान्तिकारियों का गढ़ बनता जा रहा था। छिपे और खुले तौर पर कितने ही क्रान्तिकारी हैदराबाद में काम कर रहे थे। श्रीपाद जी भी उनके संपर्क में आये और उन्होंने भी पराधीन राष्ट्र की सेवा का अपना धर्म कर्तव्य माना, राष्ट्र सेवा के साथ-साथ भारतीय धर्म और संस्कृति के उन्नयन की बात भी श्रीपाद जी के अन्तस् में उठी।

इसके लिए उन्होंने वैदिक और भारतीय धर्म के प्राचीन साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया। संस्कृत तो उन्हें पहले से आती ही थी—जो कुछ कमी थी उसे उन्होंने स्वाध्याय द्वारा पूरा किया। उन दिनों देश में आर्यसमाज आन्दोलन भी चल रहा था। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के इस आन्दोलन का प्रभाव श्रीपाद जी पर भी पड़ा और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ आर्य समाज से भी जुड़े। हैदराबाद में रहते हुए उन्होंने एक व्यायामशाला, पाठशाला और व्याख्यान मण्डल की स्थापना की जिसमें भारतीय धर्म और संस्कृति के विविध पक्षों और सिद्धान्तों की प्रगतिशील विवेचना की जाती थी। यही नहीं उन्होंने कई सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध भी वैचारिक आन्दोलन खड़ा किया।

राष्ट्रीय जागरण के लिए भी सातवलेकर जी वैचारिक चेतना जगाने हेतु प्रयास करते रहे। उन्होंने देखा कि राष्ट्रीयता का कोई धार्मिक या सांस्कृतिक आधार न होने से लोग उस ओर आकर्षित नहीं होते हैं तथा नहीं उनमें राष्ट्रीय भावनायें स्पंदित होती हैं इसलिए राष्ट्रीय विचारधारा को सांस्कृतिक आधार देने के लिए उन्होंने वेदों से ऐसे मंत्रों का चुनाव किया जिनसे देशभक्ति की प्रेरणा मिलती थी। उन मन्त्रों का अनुवाद उन्होंने 'वैदिक राष्ट्रगीत' के नाम से किया जो उस समय कोल्हापुर से प्रकाशित होने वाले 'विश्ववृत्त' नामक मासिक पत्र में छपा। बाद में यही लेख पुस्तक के रूप में भी छपा। पुस्तक जब छपकर तैयार हुई और उसका पता अंग्रेजी सरकार को लगा तो उसे प्रतिबन्धित कर दिया गया, कारण कि 'विश्ववृत्त' मासिक में ही जिन दिनों 'वैदिक राष्ट्रगीत' छप रहा था, उन दिनों इस लेख से कई क्रान्तिकारियों ने प्रेरणा ली थी और प्रोत्साहन पाया था। यही नहीं ऐसी पुस्तक लिखने के कारण सातवलेकर जी को दण्डित भी किया गया। हैदराबाद स्थिति अंग्रेज रेजीडेंट ने वहाँ के निजाम पर दबाव डाला और उन्हें रियासत से निर्वासित कर दिया गया।

जब इसकी खबर स्वामी ब्रह्मानन्द को लगी तो उन्होंने सातवलेकर जी को अपने पास बुला लिया और गुरुकुल काँगड़ी के छात्रों को पढ़ाने के लिए कहा। सातवलेकर जी ने यह निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया और सन् १९०८ में गुरुकुल काँगड़ी पहुँचे। वहाँ उन्हें वेदों के अध्यापक के रूप में नियुक्त किया गया। राष्ट्रीय जागरण के लिए उनकी गतिविधि यहाँ भी पूर्ववत् चलती रहीं। मासिक 'विश्ववृत्त' में उनका एक और लेख छपा जिसमें उन्होंने भारतीयों को उनकी उदासीनता पर फटकारा था और उनसे अपील की थी कि सभी भारतीय संगठित होकर शत्रुओं को कुचल डालें और मातृभूमि को स्वतन्त्र करें।

उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर राजद्रोह का मुकदमा चला। लेकिन विद्वान् न्यायाधीश ने इन पर लगाये गये आरोपों को अप्रमाणित करार देकर उन्हें मुक्त कर दिया।

सरकारी अभियोग से मुक्त होने के बाद सातवलेकर जी विभिन्न स्थानों पर काम करते हुए देश सेवा करते रहे। राष्ट्रीय चेतना जगाने के साथ संस्कृति के उन्नयन का लक्ष्य भी उनके सामने था और उन्होंने इसके लिए एक ठोस योजना बनाई तथा सन् १९१८ में उसके क्रियान्वयन का सूत्रपात किया। उनकी योजना से अवगत होकर आंध्र (महा.) के राजा ने उन्हें आठ एकड़ जमीन दी और आर्थिक सहयोग भी दिया। इस सहयोग को प्राप्त कर सातवलेकर जी ने वेदों के प्रकाशन का काम शुरू किया। उस समय वेदों की शुद्ध संहितायें कहीं नहीं मिलती थीं। शुद्ध मिलना तो दूर रहा वेद संहितायें भी बड़ी कठिनाई से मिल पाती थीं और भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने वालों को यह आधारभूत ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण एककी जानकारी प्राप्त कर ही संतुष्ट रह जाना पड़ता था। सातवलेकर जी ने वेद संहिताओं को प्रमाणित रूप में सर्व-साधारण के लिए उपलब्ध कराने का कार्य हाथ में लिया और १०१ वर्ष की आयु तक उसे सुचारु रूप से सम्पन्न करते रहे।

उन्होंने वेद संहिताओं के प्रकाशन का काम और उन्हें जन-सुलभ बनाने का कार्य ही नहीं किया वरन् जन-जागरण के लिए भी काम करते रहे। कई स्थानों पर जहाँ देवी-देवताओं के सामने पशु बलि होती थी सातवलेकर जी ने वहाँ पहुँचकर आन्दोलन किया और जनमत जगाया। फलस्वरूप उन स्थानों पर पशुबलि को बन्द किया जा सका। आंध्र में उन्होंने जिस संस्था की स्थापना की थी उसे सुविधा की दृष्टि से सातवलेकर जी १९४७ में पारडी ले आये और अब यह संस्था भारतीय संस्कृति की विलुप्त संपदा को प्रकाश में लाने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। १०१ वर्ष की आयु में भी सातवलेकर जी उसी प्रकार उत्साह से काम करते थे, जिस प्रकार कि कोई नवयुवक कार्य करता है। वे रोज सवेरे पाँच बजे उठ जाते और सात बजे तक सभी नित्यकर्मों से निवृत्त हो जाते। फिर रात्रि नौ बजे तक अपने काम में व्यवस्थापूर्वक लगे रहते। अन्तिम दिन तक उनका यही क्रम रहा। ९ जून, १९६८ को सुबह बीमार पड़े और कुछ दिनों बाद उनका देहान्त हुआ। जीवन में वे पहली बार बीमार पड़े थे और यह पहली बीमारी ही उनके लिए अन्तिम बीमारी सिद्ध हुई, जिसने उन्हें चिरकाल के लिए चिरनिद्रा की गोदी में सुला दिया। उनकी कर्मठता, उनकी निष्ठा और उनकी देशभक्ति ही वह कारण था जिसके द्वारा उन्होंने जीवन के उत्तरार्द्ध में सामान्य मनुष्य से भी अधिक कार्य किया।

सहृदय साधुपुरुष डॉ. कैलाशनाथ काटजू

सन् १९२९-३० की बात है। इलाहाबाद में कांग्रेस की कोई सार्वजनिक सभा हुई। उन दिनों स्वतन्त्रता आन्दोलन पूरे जोर पर था। सरकार ने इस सभा को गैरकानूनी करार देकर भाग लेने वाले सभी लोगों को गिरफ्तार कर लिया। आस-पास घूमते हुए नागरिक

भी पकड़े गये। सब को एक पंक्ति में खड़ा कर नामवार सजा घोषित की जाने लगी। एक युवक जो बेहद डरा हुआ था—‘घबड़ा रहा था। उसका नाम आया तो काँपते हुए बोला—‘परन्तु मैं तो निर्दोष हूँ।’

मजिस्ट्रेट इतने भर कहने से आश्वस्त नहीं हुआ, पूछ बैठ—‘निर्दोष हो तो साबित करो कि तुम पर लगाया गया अभियोग झूठ है। क्या तुम्हारा कोई वकील है?’

युवक क्या जबाब देता। ‘नहीं कहने ही जा रहा था किसी ने पीछे से आगे बढ़ कर कहा—‘जी हाँ महोदय मैं इस व्यक्ति का वकील हूँ।’

ऐसे समय में किसी व्यक्ति को आगे बढ़ते देख युवक को बड़ा आश्चर्य हुआ। खहर की शेरवानी, टोपी और चूड़ीदार पायजामा पहने स्वयं को वकील कहने वाले व्यक्ति ने आश्चर्य को कम किया—‘तुम्हें हैरत क्यों हो रही है। सचमुच मैं सभी कांग्रेस अभियुक्तों का वकील हूँ, अपने देश के नागरिकों का वकील हूँ।’

दण्डित सभासद तो निर्भय निश्चिन्त सजा भुगतने के लिए तैयार से थे परन्तु युवक को घबड़ाते देख उक्त वकील साहब ने उसकी पैरवी की। देशवासियों के, कांग्रेस अभियुक्तों के लिए हर समय तत्पर रहने वाले उक्त वकील साहब थे डॉ. कैलाश नाथ काटजू। उनकी सहृदयता के समक्ष युवक श्रद्धावनत हो गया और स्वयं को कांग्रेस अभियुक्तों की पंक्ति में गिने जाने पर ही गर्व का अनुभव करने लगा। डॉ. काटजू पेशे से वकील थे परन्तु उन्होंने वकालत को कभी अनुचित-उचित का अर्वांतर-अभेद व्यवसाय नहीं माना। साधन और जीविका की पवित्रता के कारण काटजू ने अपने इस पेशे में ईमानदारी और न्याय की रक्षा का भाव समाहित कर इसे भी परमार्थ साधना बना दिया।

उन्होंने अपने वकालत के पेशे में मिलने वाली फीस पर नहीं, अपने मुवक्किल की स्थिति और पक्ष के औचित्य पर ही ध्यान दिया। कानपुर में बच्चीसिंह का मुकदमा उनके जीवन की सर्वाधिक चर्चित घटना है। इस मुकदमे में दोनों पक्षों की एक पीढ़ी गुजर चुकी थी बताया जाता है कि दोनों के बीच सन् १९४८ से झगड़ा चल रहा था। मुकदमे की दुरावस्था को देखते हुए कोई भी वकील इसे हाथ में नहीं लेता था। वादी ने कानपुर अदालत का द्वार अपनी रेहन रखी सम्पत्ति को जिसका ऋण मूल तथा सूद सहित चुका दिया गया था, हस्तगत करने के लिए खटखटाया। कानपुर न्यायालय ने तो वादी के पक्ष में निर्णय दिया। परन्तु प्रतिवादी रेहनदार ने जिला न्यायालय में अर्जी दी। जिला न्यायाधीश ने फैसला दिया कि नियमानुसार वादी ने केवल सूद भी पूरी तरह नहीं चुकाया है।

बच्चीसिंह जो अपने पिता महाराज सिंह के बाद मुकदमा लड़ रहा था— इसी में बर्बाद हो गया। डॉ. काटजू के पास जब वह अपना मामला लेकर आया तो उस समय विवस्त्र मानव कंकाल काया ही उसके पास शेष बची थी। सारी बात सुनकर डॉ. काटजू का हृदय द्रवीभूत हो उठा बच्चीसिंह की करुणाजनक स्थिति को देखकर उन्होंने यह मुकदमा ले लिया।

उनके अदालती ज्ञान और कानूनी प्रतिभा की परीक्षा का यह चुनौती भरा अवसर था। बच्चीसिंह के पास अपनी बात का कोई प्रमाण नहीं था। १८५७ की क्रांति में कानपुर की अदालतों के निर्णय सम्बन्धी सभी रिकार्ड भी नष्ट हो गये थे। बड़ी कठिन परिस्थितियाँ थीं परन्तु परिस्थितियों से पराजित होना उनका स्वभाव नहीं था। कानून और मामले की बारिकियों का भलीभाँति अध्ययन कर डॉ. काटजू ने बच्चीसिंह का पक्ष इतनी दृढ़तापूर्वक रखा कि निर्णय उसी के पक्ष में हुआ।

फैसला सुनकर बच्चीसिंह गद्गद हो गया और उसने डॉ. काटजू के हाथ में मुकदमे की फीस के रूप में ३५ रु. रख दिये। आसपास के लोग देखकर प्रतीक्षा करने लगे कि अब वे बिफर उठेंगे। लेकिन सबकी आशा के विपरीत काटजू ने पैंतीस रुपये बड़े संतोष और आदर के साथ स्वीकार कर लिए। ऐसे व्यक्ति के लिए यह कहना कहाँ तक उपयुक्त होगा कि वकालत उनका मात्र पेशा ही था। बेशक यह पेशा तो था परन्तु उन्होंने न्याय और मानवता को ही सर्वोपरि स्थान दिया। मुवक्किल की फीस ने उन्हें कभी नहीं ललचाया बल्कि वे तो उसकी स्थिति पर द्रवीभूत होते थे। इस रूप में वकालत उन पर नहीं वे वकालत पर हावी रहते थे।

ऐसी कई घटनायें उनके सम्बन्ध में विख्यात हैं जो उनकी मानवीय आदर्शों के प्रति निष्ठा और न्याय की रक्षा का भाव व्यक्त करती हैं। भारतीय समाज, न्याय और राजनीति में अपने ढंग के अभूतपूर्व डॉ. कैलाश नाथ काटजू का जन्म सन् १८८७ ई. में मध्य भारत की एक छोटी-सी रियासत जावरा में हुआ था। उसके पिता जावरा नवाब के एक मन्त्री के निजी सचिव थे। वेतन के रूप में कोई खास पैसा मिलता नहीं था। उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी। पिता ने अपने बालक को प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद किसी तरह उच्च शिक्षा के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भेजने की व्यवस्था की।

डॉ. काटजू एक अध्यवसायी और पत्रिमी छात्र सिद्ध हुए। सन् १९०७ में ही उन्होंने एम. ए. पास कर लिया। कानून उनका प्रिय विषय था— उसी समय उन्होंने एल-एल.बी. की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। छह वर्ष तक इस विषय में एल-एल. एम. और १९१९ में एल-एल.डी. की उच्चतम परीक्षा पास की। विषय में अपनी योग्यता अर्जित कर कानपुर उच्च न्यायालय में प्रैक्टिस करने लगे। इन्हीं दिनों उन्होंने एक महानिबंध लिखकर ‘डॉक्टर आफ लॉज’ की डिग्री प्राप्त की।

कानपुर में जन्मे से पूर्व उन्हें बड़े संघर्षों का सामना करना पड़ा था। विद्यार्थी जीवन समाप्त होते ही उन्हें काम ढूँढ़ने की आवश्यकता हुई। उच्च शिक्षित लोगों के लिए उचित रोजगार का प्रबन्ध उन दिनों भी मुश्किल ही था। उन्हें सौ रुपया प्रतिमास पर भी कोई काम देने के लिए तैयार नहीं हुआ। जावरा, रतलाम, इन्दौर, ग्वालियर आदि आदि महानगरों में दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। परन्तु वे निराश नहीं हुए।

उन्हें अपनी योग्यता पर विश्वास और भविष्य की प्रतीक्षा के लिए धीरज था। प्रतिकूल परिस्थितियों में स्थिर बुद्धि और संतुलित

मन ही व्यक्ति को संतुष्ट और शान्त रखता है। सामर्थ्य, योग्यता और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति भी प्रायः प्रतिकूल परिस्थितियों में—मनोबल की कमी के कारण जल्दी घबड़ा उठते हैं। ऐसी दशा में आत्मविश्वास और धैर्य धारण आवश्यक है इन शक्तियों से रहित व्यक्ति निराश होकर अपने जीवन को नर्क बना लेते हैं। परिणाम-स्वरूप उनकी प्रतिभा का विकास और जो लाभ समाज को मिल सकता था उससे दोनों ही वंचित रह जाते हैं।

व्यक्ति किसी विशेष योग्यता से सम्पन्न है तो भी कोई जरूरी नहीं कि लोग उसे तत्काल ही जानने लगें। प्रकृति की दीर्घ क्रिया व्यवस्थाओं से हीरे का निर्माण होता है। सदियों और सहस्राब्दियों तक वह धरती की पतों में ही छुपा रहता है, तब कहीं जाकर यदा-कदा लोगों की निगाह में आता है और उसका मूल्यांकन होता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति भी उसी प्रकार बरसों तक उपेक्षित रहते हैं। शंकरलु और आत्म-निर्बल व्यक्ति इस उपेक्षा, अवमूल्यन से अपनी योग्यता को ही सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु डॉ. काटजू तो दृढ़ आत्मविश्वासी थे। धैर्य और संघर्ष की शक्ति क्षमता उनमें थी। कठिन परिस्थितियों से जूझते रहने पर भी वे हताश नहीं हुए। काफी समय तक मनोयोगपूर्वक जीवन संघर्ष में जूझने के बाद वे कानपुर के पं. पृथ्वीनाथ के संपर्क में आये।

उनकी प्रतिभा अवसर पाकर व्यक्त हुई और डॉ. काटजू की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। वे जब कानपुर के सर्वाधिक प्रतिष्ठित, कुशल और होशियार वकील बन गये थे। तभी बच्चीसिंह का मुकदमा उनके पास आया।

वकालत के पेशे में विख्यात होते ही उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेना भी आरम्भ कर दिया। नागरिक सेवाओं और आन्दोलनों के लिए सदैव उद्यत रहने वाले डॉ. काटजू इस रूप में भी बड़े लोकप्रिय हुए। कानपुर में कुछ वर्षों तक वकालत करने के बाद वे इलाहाबाद चले आये। क्योंकि यह शहर उन दिनों राजनैतिक आंदोलनों और घटनाओं का केन्द्र बना हुआ था। यहीं उन्होंने अपनी वकालत भी जारी रखी। लगातार तीन वर्ष तक वे इलाहाबाद और देश के श्रेष्ठतम न्याय-मन्दिरों में एकछत्र सम्राट वकील बने रहे। इसके साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी उसी प्रकार भाग लेते रहे। स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू द्वारा संस्थापित 'इलाहाबाद जर्नल, जो राष्ट्रवादी विचारधारा का प्रमुख पत्र था, का वे वर्षों तक सम्पादन करते रहे।'

राष्ट्रीय विचारों और सेवाभावी क्रिया-कलापों से प्रभावित होकर इलाहाबाद की जनता ने उन्हें १९३५ में नगरपालिका अध्यक्ष चुना। इसके दो वर्ष बाद स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने के लिए उन्होंने वकालत का पूर्णतया परित्याग किया। राजनीति के वे अब खुलकर खिलाड़ी बन चुके थे। जीवन में यह परिवर्तन उनके सम्मुख बहु-आयाम प्रस्तुत कर गया। कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता बन गये थे। पार्टी ने उनकी योग्यता तथा प्रतिभा को दृष्टिगत रखते हुए तत्काल संयुक्त प्रांतीय धारा सभा का सदस्य चुना और फिर न्याय एवं उद्योग विभाग के मंत्री बने। इन पदों का उन्हें कोई पूर्व अनुभव नहीं था

फिर भी लगन, परिश्रम और ईमानदारी के कारण इन पदों के महत्वपूर्ण दायित्वों को पूरा करते रहे।

कांग्रेस ने शीघ्र ही अंग्रेज अधिकारियों की अड़ंगेबाजी के कारण मन्त्री पद और सदस्यता से त्याग-पत्र देने का क्रम चलाया। तुरन्त ही डॉ. काटजू ने भी मन्त्री पद से इस्तीफा दे दिया और सत्याग्रह का मार्ग अपनाया, उनकी दृष्टि में पद नहीं अनुशासन महत्वपूर्ण था। संगठन का अनुशासन व्यक्ति की क्षमता और योग्यता को समाजोपयोगी बनाता है। अन्यथा अनुशासनविहीन प्रतिभा थोड़े अहं और अभिमान की ही जननी बनती है। सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें १९४० में डेढ़ साल के लिए जेल भेज दिया गया।

कहाँ तो वकील जीवन का ऐश्वर्य और सुखोपभोग और कहाँ जेल की यातनायें। डॉ. काटजू इन विषम परिस्थितियों में भी एक समान ही स्थिर और शान्त रहे। महानता अपने पूर्व जीवन के सुख-सुविधाओं को नहीं वर्तमान के संघर्षों को ही वरेण्य करने की प्रेरणा देती है, क्योंकि सेवा और कल्याण के मार्ग में आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही उसकी आत्मा का स्वार्थ पूरा कर उसे संतोष प्रदान करती हैं।

जेल से सजा पूरी कर लौटे अभी कुछेक ही माह हुए होंगे कि उन्हें भारत छोड़ो आन्दोलन के अन्तर्गत फिर गिरफ्तार किया गया। और पुनः जेल जाना पड़ा। जेल में उनका स्वास्थ्य ज्यादा खराब रहने लगा। इस कारण सात-आठ महीने बाद ही उन्हें छोड़ दिया गया।

१९४६ से १९६२ तक वे कई महत्वपूर्ण पदों पर रह कर देश सेवा करते रहे। जीवन के अन्तिम दिनों में मध्यप्रदेश की राजनीति में पूर्ण सक्रिय रहे। बाद में उन्हें मध्यप्रदेश की सेवाओं के अवसर छोड़ने पड़े परन्तु सेवा के लिए कोई विशेष अवसर या परिस्थिति आवश्यक नहीं होती वह तो हर समय किया जा सकने वाला अनुष्ठान है। उन्होंने जो कुछ भी कमाया वह अपने लिए कम व औरों के लिए अधिक खर्च किया। निर्धन छात्र-छात्राओं के सहयोग हेतु उन्होंने अपनी आय का अधिकांश भाग दिया और साथ ही आत्म-विज्ञापन से बचने के लिए कहीं चर्चा न करने की सख्त हिदायत भी दी। नियमित रूप से सहायता प्राप्त करने वाले छात्र बड़ी संख्या में उनके प्रति भविष्य के लिए आभारी हैं।

१९६८ में उनका देहान्त हो गया। एक ऐसे मार्ग का पथिक उठ गया जिसने जिस मार्ग पर भी कदम रखा उसमें सफलता पायी। अपनी धर्मनिष्ठा, लगन, ईमानदारी और साधुता के कारण सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपूर्व ख्याति प्राप्त की। परन्तु लोग उन्हें साधु पुरुष के रूप में ही अधिक याद रखते हैं।

एक महान् भारतीय—डॉ. अम्बेडकर

एक मेधावी युवक अमेरिका व इंग्लैण्ड से उच्च शिक्षा प्राप्त करके — बैरिस्टर की डिग्री लेकर भारत आया। उसने बम्बई हाई कोर्ट में प्रैक्टिस की। उसकी वैधिक प्रकण्डता का लोहा तो सभी ने मान लिया। उसे बड़े-बड़े मुकदमे मिले। फीस की मोटी-मोटी

रकमें भी मिलीं किन्तु नहीं मिला उसे किराये का मकान। यही नहीं कचहरी के 'भाट' ने उसे पानी पिलाने से भी इन्कार कर दिया। इसका कारण एक ही था कि वह अछूत कहे जाने वाले परिवार-महार जाति में उत्पन्न हुआ था।

कोई और युवक होता तो वह कहता कि किन जंगलियों के बीच आ गया हूँ जिन्हें मनुष्य से व्यवहार करना भी नहीं आता और चल देता अमेरिका, इंग्लैण्ड या अन्य किसी देश और वहीं वकालत करता और खूब धन अर्जन करता मजे से रहता। जैसा कि आजकल के अधिकांश विदेश में शिक्षा पाने के लिए जाने वाले युवक करते हैं। वे सदा के लिए वहीं के बन जाते हैं। किन्तु इस युवक को इस देश की धरती से प्यार था, यहाँ की संस्कृति से प्यार था। अतः यह सब सहते हुए भी यहाँ रहा। यह युवक थे डॉ. अम्बेडकर। जिन्हें अर्थशास्त्र व कानून के प्रकाण्ड विद्वान्, भारत के संविधान निर्माता, हरिजनों के प्रमुख नेता, एक सच्चे समाज सुधारक और महान् लेखक के रूप में स्मरण किया जाता है।

डॉ. अम्बेडकर का जन्म १४ अप्रैल, सन् १८९१ को वर्तमान मध्यप्रदेश तथा तत्कालीन इन्दौर रियासत में मऊ नामक स्थान पर एक महार सैनिक पिता के घर हुआ था। अछूत परिवार में पैदा होने के कारण बालक भीम को वे सब शारीरिक तथा मानसिक यन्त्रणा भुगतनी पड़ीं जो उन दिनों इस वर्ग को भोगनी पड़ती थीं। आज भी यन्त्रणाएँ कम होते हुए भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं। आगे दिन समाचार-पत्रों में उक्त आशय के समाचार प्रकाशित होते ही रहते हैं तो उस समय की स्थिति कितनी भयंकर होगी इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

जब वे स्कूल पढ़ने जाते थे तो स्कूल का पानी पिलाने वाला चपरासी उन्हें पानी नहीं पीने देता था। स्वाभिमान होने के कारण वे दिन भर प्यासे रह जाते। किन्तु अपमानित होकर पानी पीना नहीं स्वीकारते। वे अपने को अन्य बालकों की तरह मानते थे और अपने समानता के अधिकार को पाने के लिए प्रयत्नशील रहा करते थे।

अन्य बालकों की उपेक्षा तथा अपमानजनक व्यवहार ने उनके मन में पढ़-लिखकर ऐसा विद्वान् बनने का संकल्प जगा दिया जिसके बाद वे लोगों को मनवा सकें कि वे भी अन्य लोगों की तरह मनुष्य हैं। उन्हें समानता का पूरा-पूरा अधिकार है। वे उसे लेकर ही रहेंगे। इस संकल्प व उनकी कठोर साधना का परिणाम यह होता कि वे सर्वत्र कहे जाने वाले विद्यार्थियों से सदा आगे रहते। इसी प्रकार उन्होंने शैक्षणिक योग्यता बढ़ाई।

भारत में अपनी शिक्षा समाप्त कर वे विदेश गये। वहाँ उन्होंने खूब मन लगाकर पढ़ाई की। वे घण्टों लाइब्रेरी में मन लगाकर पुस्तकें पढ़ा करते थे। पुस्तकालय के अधिकारी भी उनकी इस जिज्ञासुवृत्ति व ज्ञान-पिपासा को देखकर आश्चर्य करते। अन्त में वे बैरिस्टर बनकर भारत लौटे। इतना ज्ञान, इतनी डिग्रियाँ लेने के बाद भी भारतवासियों की संकीर्णता उन्हें जीवन भर परेशान करती रही।

उनके जितनी डिग्रियाँ शायद ही किसी भारतीय ने अर्जित की हों। उन्होंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. तथा डी. एस-

सी., कोलम्बिया विश्वविद्यालय से एल-एल. डी. तथा उस्मानिया विश्वविद्यालय से डी. लिट की उपाधियाँ प्राप्त की थीं। पर बाहरे भारतवासियों की घुन खायी अक्ल कि उन्हें पग-पग पर अपमान व तिरस्कार ही सहना पड़ा।

जब वे बड़ौदा सिविल सर्विस के उच्च पदाधिकारी थे। तो उनके अधीन काम करने वाला एक चपरासी उनके द्वारा छुई गई फाइलों को चिमटे से पकड़कर रखा करता था। बम्बई में उन्हें किसी ने किराये का मकान नहीं दिया। एक पारसी ने उन्हें मकान दिया तो लोगों ने उस मकान का जला देने की धमकी दी जिससे उन्हें मकान खाली करना पड़ा।

अब उनकी सहन शक्ति की सीमा का उल्लंघन हो चुका था। उन्होंने 'शठे शादर्थ' की नीति अपनायी। महाराष्ट्र के कोलाबा जिले के मदद गाँव में इसका उग्र रूप देखने को मिला। उन्होंने इन मिथ्याभिमानियों के साथ कड़ा संघर्ष करने की नीति अपनायी। उन्होंने दलित वर्ग को इस बात के लिए आह्वान किया कि उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर संघर्ष करते हुए उन्हें प्राप्त करना चाहिए। उनके इस आह्वान पर कई स्थानों पर हरिजनों ने संगठित होकर अपने समानता के मानवीय अधिकार को पाने के लिए संघर्ष किया जिसमें उन्हें आंशिक सफलता भी मिली। सच पूछा जाय तो अपने अधिकारों के लिए सजग होना निम्नवर्गीय लोगों ने उन्हीं की प्रेरणा से सीखा।

यों दलितोद्धार का शंखनाद स्वामी दयानन्द के भगीरथ प्रयासों से ही हो गया था फिर भी वह एक सवर्णों द्वारा हरिजनों के प्रति प्रदर्शित की गई दया ही बनकर रह गयी थी पीछे वालों के लिए। महात्मा गाँधी तथा ठक्कर बापा आदि ने भी इस दिशा में बहुत कुछ किया। किन्तु अधिकार पाने के लिए संघर्षरत होने की जो अग्नि डॉ. अम्बेडकर ने जलाई वह अपने ढंग की एक ही मिसाल है।

उनके सशक्त व्यक्तित्व में अछूतों को बड़ा बल मिला। उन्होंने स्थान-स्थान पर सार्वजनिक स्थलों के समान उपयोग के लिए आन्दोलन किये। नासिक के मन्दिर में प्रवेश करने तथा महद के तालाब से पानी भरने के आन्दोलन इतिहास प्रसिद्ध हो चुके हैं।

बहुत से लोग उन्हें आज भी केवल हरिजन समाज का नेता मानते हैं। यह वास्तव में हमारी संकीर्णता का ही परिचय है। उस विराट व्यक्तित्व पर हर कोई भारतवासी गर्व कर सकता है। कितने ही विदेशी लोगों ने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। जान ग्रन्थर ने अपनी पुस्तक 'एशिया के भीतर' में उनके विषय में लिखा है— "मैं उनके दादर स्थित निवास पर गया तो उनके पुस्तकालय को देखकर चकित रह गया उसमें ३५००० दुर्लभ पुस्तकें थीं। जिनके लिए उन्होंने पृथक भवन बना रखा था। उनकी बातों से पाण्डित्य का रस टपकता था और व्यवहार से शालीनता.....।"

हाँ यह बात सही है हिन्दुओं में फैली जातीयता के विरुद्ध उन्होंने बहुत भाषण दिये, आन्दोलन किये यहाँ तक कि उन ग्रन्थों को भी जलाया जिनमें जाति का समर्थन किया हुआ था। किन्तु उनका यह आक्रोश गलत नहीं था। वे भुक्तभोगी थे। उनकी तरह पढ़े-लिखे इंग्लैण्ड रिटर्न बैरिस्टर को यदि कचहरी का 'भाट' पानी पिलाने से

मना कर देता है। एक आई. सी. एस. पदाधिकारी के नीचे काम करने वाला चपरासी फाइलों को चिमटे से उठाये, मकान न मिले, ताँगे वाला जाति पूछ कर आधे रास्ते में ही उतार दे तो भला साधारण अनपढ़ अछूत के साथ क्या व्यवहार करता होगा यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है तो उन्होंने कौन-सा अपराध कर दिया।

उन्होंने इन मान्यताओं की कटु आलोचना की। यही नहीं हरिजनों के अधिकारों के लिए माँग भी की। उन्हें हिन्दुओं से पृथक मानने के लिए भी माँग की। उनके ये कदम ठीक उस डॉक्टर की तरह के थे जो फोड़े का ऑपरेशन करता है। उसे रोगी से कोई दुश्मनी नहीं होती वह तो उसे स्वस्थ करना चाहता है। किन्तु उसका चीर फाड़ का काम रोगी को कुछ समय के लिए बुरा लग सकता है। ठीक यही काम उन्होंने किया था।

इतना करने पर भी हिन्दू समाज की आँखें नहीं खुली तो उन्होंने एक नश्वर और लगाया १४ अक्टूबर, १९५६ का नागपुर की भरी सभा में उन्होंने हिन्दू धर्म को त्याग कर बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया। यह वस्तुतः कोई धर्म-परिवर्तन नहीं था। बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म संस्कृति की ही एक शाखा है। वे इस परिवर्तन के द्वारा यह बताना चाहते थे कि यदि हिन्दू अपनी संकीर्णता नहीं छोड़ेंगे तो उनकी यह स्थिति होने वाली है। जिस संस्कृति के झंडे, कभी पूर्वी दीप समूह से लेकर उजबेकिस्तान तक गढ़े थे वह सिमटकर कुछ ही करोड़ सीमा में रह जायेगी। दो लाख अनुयायियों के एक साथ एक ही दिन धर्म परिवर्तन करने का यह झटका कम नहीं था।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर अर्थशास्त्र के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय में डी. एस.-सी. के लिए जो शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया उसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया कि विदेशी शासक किस प्रकार रुपये तथा पौण्ड का असंतुलित सम्बन्ध स्थापित करके मनमाना लाभ कमा रहे हैं। उस शोध प्रबन्ध के प्रकाश में आने पर भारतीय प्रान्तीय विधान सभाओं ने इस अर्थनीति के विरोध में आवाज बुलन्द की अन्ततः अंग्रेज सरकार को अपनी यह भेदभरी अर्थनीति बदलनी पड़ी थी।

वे पक्के राष्ट्रवादी थे। यह नहीं चाहते हुए भी कि वे अछूत 'स्थान पृथक' लें। विभाजन के पूर्व यह बात कही थी—'अगर मुस्लिम लीग की देश विभाजन की माँग स्वीकार की जाती है तो भारत की अखण्ड बने रहने की सम्भावना बिल्कुल नहीं रहेगी। और ऐसी स्थिति में अछूत वर्ग नया मोर्चा बन ले तो इसकी पूरी जिम्मेदारी कांग्रेस पर रहेगी।' उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि भारत के टुकड़े नहीं होने देना चाहते थे। अछूत स्थान पृथक लेने का उनका इरादा नहीं था वे तो पाकिस्तान बनने का विरोध कर रहे थे।

उनके मुक़बले का विधिवेत्ता भारत में न उनके समय में था न आज है। संविधान सभा की प्रारूप समिति के वे अध्यक्ष अपनी इसी योग्यता के कारण बनाये गये थे। भारत के प्रथम विधि मन्त्री के रूप में उन्होंने हिन्दू कोड बिल को एक-दो धाराओं के रूप में करके पास कर ही दिया। इस प्रकार पुरातन पंथ से निकल कर उन्होंने हिन्दुओं

को एक प्रगतिशील मार्ग पर ला खड़ा किया। नारी को समानता का वैधानिक अधिकार वे दिलाकर ही रहे।

अपने शोध प्रबन्धों के कारण उन्होंने विश्व स्तर पर ख्याति तो अर्जित की ही थी साथ ही वे अच्छे लेखक भी थे। उन्होंने अर्थशास्त्र, राजनीति, अछूतोंद्वारं, कानून तथा सामयिक सन्दर्भों पर उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखी हैं जिनमें उनकी विद्वता सर्वत्र परिलक्षित होती है।

५ दिसम्बर, १९५६ को वे सदा के लिए प्रयाण कर गए। उनका यह व्यक्तित्व सामान्यजन के लिए कम प्रेरक नहीं है कि एक साधारण स्थिति का बालक पग-पग पर अपमान, तिरस्कार पाता हुआ भी व्यक्तित्व की ऊँचाइयों को छूता रहा। समाज सुधारक और दलित बन्धु के रूप में उन्हें तो जाना जाता ही है वे भारतीय संस्कृति व भारत देश के बहुत बड़े सपूत के रूप में भी स्मरण किये जाते रहेंगे।

सामाजिक न्याय के लिये जो सतत लड़ते रहे दादा भाई नौरोजी

स्त्री शिक्षा की दृष्टि से भारत आज भी पिछड़ा हुआ है। यों तो अब हजारों लड़कियाँ विश्वविद्यालयों में पढ़ रही हैं और हाईस्कूलों में पढ़ने वालियों की संख्या तो लाखों है, पर भारतवर्ष की आबादी को देखते हुए यह नगण्य ही है। भारत के सात लाख गाँवों में से थोड़े-से ही ऐसे निकलेंगे जिनमें दस-पाँच स्त्रियाँ चिट्ठी-पत्री लिख-पढ़ सकें अथवा रामायण बाँच लें। अन्यथा अभी तक उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर ही है। वे इतना भी नहीं जानती कि शिक्षा से मानव जीवन कितना विकसित हो जाता है और मनुष्य उसका कितना लाभ उठा सकता है।

अब आज ऐसी अवस्था है, तो सौ सवा-सौ वर्ष पहले, जब देश में लड़कियों का एक भी स्कूल नहीं था और गाँवों तथा कस्बों की तो क्या बड़े-बड़े नगरों में भी कोई स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता अनुभव नहीं करता था, तब लड़कियों के लिए स्कूल स्थापित करने वालों को कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। इसकी कल्पना कर सकना भी हमारे लिए कठिन है। इस प्रकार का प्रयास करने वालों में दादा भाई नौरोजी (सन् १८२५ से १९१७) का नाम अग्रगण्य है। यद्यपि हम उनको 'स्वराज्य' की माँग सर्वप्रथम उपस्थिति करने वाले के रूप में ही जानते हैं, पर भारत में सर्वप्रथम नारी शिक्षा की आवाज उठाने वाले और उसके लिए महान् विघ्न बाधाओं को पार करके कन्या विद्यालय स्थापित करने वाले भी वे ही थे।

स्त्री-शिक्षा का आयोजन उनके लिए समाज सेवा के एक सामान्य प्रयास की तरह न था। वे आरम्भ से ही भारतीय जनता के उत्थान और उद्धार की भावना लेकर जीवन-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। यद्यपि उस युग में एम. ए. की परीक्षा पास कर लेने से ही उच्च सरकारी स्वयं ही उनको बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ देने को तैयार थे, पर उन्होंने उन बड़े वेतन तथा उच्च पदवी की नौकरियों की तरफ ध्यान न देकर

अध्यापक की एक साधारण नौकरी ही पसन्द की। उन्होंने निश्चय किया कि इस समय जबकि हमारे देशवासी एक प्रकार से सोये पड़े हैं और अपनी दुर्दशा और अधिकारों का कुछ ज्ञान ही नहीं है, तो हमारा सबसे पहला कर्तव्य उनमें शिक्षा का प्रचार करना ही है। जब तक वे पढ़ना-लिखना न जान जायेंगे तब तक उनकी उन्नति की कोई भी योजना नहीं समझाई जा सकती।

इसी शिक्षा समस्या पर विचार करते हुए दादा भाई की दृष्टि स्त्री शिक्षा की तरफ गई। लड़कों के तो कुछ स्कूल और कॉलेज सभी शहरों में खुलने लगे थे और सरकारी नौकरियों के ख्याल से लोग उनकी तरफ आकर्षित भी हो रहे थे, पर स्त्री-शिक्षा का तो कोई नाम भी नहीं लेता था। अगर कभी कोई इसका जिज्ञास भी करता तो लोग तुरन्त यही कहते कि स्त्रियों को पढ़कर क्या करना है? क्या वे नौकरी करने जायेंगी, या उनको धनोपार्जन करना है? पर दादा भाई समझते थे कि स्त्री-शिक्षा ही देशोन्नति का मुख्य आधार है। अज्ञानान्धकार में पड़ी माताओं की संतानें कैसे प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकती हैं? बस उन्होंने कॉलेज के कुछ अध्यापक तथा वरिष्ठ छात्रों को अपना सहयोगी बनाकर स्त्री-शिक्षा का अभियान आरम्भ कर दिया। इस कार्य में उनको किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा यह उन्हीं के शब्दों को सुनिये—

“जब हम लोग यह सद्विचार लेकर लोगों के पास जाते थे, तब क्या होता था? लोग सहसा आपसे बाहर हो जाते और कहते कि आप हमें बहकाने आये हैं! आप लोग हमारी बहू-बेटियों को पढ़ा-लिखाकर मेम बना देना चाहते हैं। यहाँ से तुरन्त चले जाओ नहीं धक्का देकर निकाल देंगे। कई बार तो कुछ लोग इतने क्रुद्ध हो गये कि सचमुच सीढ़ियों तक धकेलने चले आये। इस प्रकार न जाने कितने कटु अनुभव हम लोगों को हुए। बहुत-से साथी निराश हो जाते थे और कहने लगते थे कि जन-हित की बात कहने पर लोग ऐसा दुर्व्यवहार करते हैं तो हमारा क्या स्वार्थ अटका है जो द्वार-द्वार धक्के खाने जायें? तब मैंने उनको समझाया कि इतनी-सी कठिनाई से निराश नहीं हो जाना चाहिए। यह अपमान और तिरस्कार तो किसी भी सामाजिक कार्यकर्ता का स्वाभाविक उपहार है। यही तो वह कसौटी से जिस पर समाजसेवी की भावना की परख होती है। आप लोग अपने को संतुलित रखते हुए धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहिये। कुछ समय में लोग हमारे विचारों का महत्व और कार्यों का मूल्य समझेंगे और आज जो निन्दा करते हैं, कल वही प्रशंसा करने लगेंगे।”

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्त में दादा भाई का प्रयत्न और उनकी तपस्या सफल हुई और दो-चार वर्ष के भीतर ही बम्बई में एक नहीं कई कन्या पाठशालायें स्थापित हो गयीं। इसके पश्चात् उन्होंने प्रौढ़ों को पढ़ाने की योजना भी बनाई और फिर पूर्ववत् घर-घर का चक्कर लगाकर लोगों की कड़वी-मीठी फटकारें सहकर उसको कार्यरूप में परिणत कर दिखाया।

जनता में शिक्षा प्रसार का श्रीगणेश करके दादा भाई ने आगामी मोर्चे को संभाला। उन्होंने ‘बम्बई एसोसियेशन’ नाम की एक

राजनीतिक संस्था स्थापित की। उन्होंने इंग्लैण्ड की सरकार के सामने दो माँगें उपस्थित कीं। प्रथम यह कि भारत में कम्पनी शासन समाप्त करके ब्रेष्ठ शासन विधान के अनुसार कार्यारम्भ किया जाय और दूसरे ‘सिविल सर्विस’ तथा विधान सभाओं में भारतीयों को भाग लेने का अवसर दिया जाय। एक बार तो इंग्लैण्ड निवासी और खासकर वहाँ के कुछ अखबार इन माँगों पर बहुत बिगड़े और इस प्रकार की बातों को ‘छोटे मुँह बड़ी बात’ की उपमा देने लगे पर जब दादा भाई ने अपना उद्योग बन्द नहीं किया और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए ‘रास्तगुत्फार’ (सत्यवादी) नाम का पाक्षिक पत्र निकालकर देश भर में धूम मचा दी, तो अनेक न्यायप्रिय व्यक्ति उनका समर्थन करने लगे उस समय एक ब्रिटिश समाचार-पत्र ने भारतीय माँगों का समर्थन करते हुए कहा था—

“यह समझना भारी भूल होगी कि भारत में उठते हुए इस आन्दोलन को दबाया जा सकेगा या उसकी सर्वथा उपेक्षा की जा सकेगी। इससे भी बड़ी भूल यह समझ लेनी होगी कि भारतीयों की माँगों को स्वीकार करके ब्रिटेन उन पर कोई अहसान करेगा। ऐसी भूल करने के बजाय कल्याणकारी नीति यह होगी कि भारतीयों की माँगों पर उदारतापूर्वक विचार किया जाय, ब्रिटेन के प्रति अनुराग और विश्वास को मान्यता दी जाय और शासन प्रणाली में उनकी उन्नति के सिद्धान्तों को शामिल कर लिया जाय। यदि भारतीयों के साथ न्याय किया जाता है, उनकी संस्थाओं तथा माँगों को मान्यता दी जाती है तो सम्भव है कि ब्रिटेन भारत पर एक लम्बे समय तक अपना प्रभाव और प्रभुत्व बनाये रख सके। पर यदि शासक दुराग्रह करेंगे तो उसके दुष्परिणाम हमारे लिए अनिष्टकारी सिद्ध हो सकते हैं।”

इस प्रकार इतने सज्जनों की सहानुभूति अपने साथ देखकर दादा भाई के मन में आया कि इंग्लैण्ड में रहकर ही प्रचार करने का अवसर मिले तो बहुत कार्य हो सकता है। इंग्लैण्ड का शासन वास्तविक रूप से वहाँ की जनता के हाथ में है। इसलिए वहाँ की जनता के बीच रहकर उसकी सहानुभूति प्राप्त करना भारत के लिए बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। वे जब इस प्रकार विचार कर रहे थे उस समय बम्बई की ‘कामा कम्पनी’ ने उनसे इंग्लैण्ड जाकर वहाँ की शाखा की व्यवस्था संभालने का प्रस्ताव किया। वे इसके लिए तुरन्त सहमत हो गये और १८५५ में इंग्लैण्ड पहुँच गये। वहाँ कम्पनी का पूरा काम करने के बाद जो समय बचता था उसे वे देशहित के काम में लगाते थे। इंग्लैण्ड में सबसे पहले उन्होंने एक छात्रावास स्थापित किया जिसमें सिविल सर्विस तथा अन्य परीक्षाओं के लिए इंग्लैण्ड जाने वाले भारतीय छात्र निवास कर सकें। इस प्रकार दादा भाई देश के होनहार युवकों के सम्पर्क में आ जाते थे और उनको जीवन निर्वाह के साथ-साथ राष्ट्रीय हित का ध्यान रखने की प्रेरणा देते रहते थे।

भारतीयों को एकत्रित और संगठित करने के साथ ही दादा भाई ने इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध नेताओं और विचारकों से भी सम्पर्क बढ़ाया। वे ग्लैडस्टन, हर्बर्ट स्पेन्सर, कार्लाइल, जॉन ब्राइट, कण्डेन जैसे

न्यायशील और भारत हितैषी व्यक्तियों से मिलते रहते थे। कुछ समय में इंग्लैण्ड की जनता भी दादा भाई को जान गयी और उन पर विश्वास करने लगी। दो वर्ष पश्चात् उनका 'कामा कम्पनी' के संचालकों से मतभेद हो गया। इसका कारण यह था कि वे लोग पूँजीवादी मात्र थे और किसी भी तरह अपने व्यापार को बढ़ाना और अधिक धन कमाना उनका उद्देश्य था। इधर दादा भाई सत्यनिष्ठ और सेवा की उच्चतम भावना रखने वाले व्यक्ति थे। इसलिए जब उन्होंने देखा कि कम्पनी वाले १०० गज की रील में ८० गज तागा ही लपेटकर जनता को ठगना चाहते हैं तो उन्होंने इसका विरोध किया। इसके अतिरिक्त 'कामा कम्पनी' शराब और अफीम का व्यापार भी करती थी। वह भी उनको अनैतिक जान पड़ता था। इसलिए उन्होंने कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद करके कुछ समय बाद स्वतन्त्र व्यवसाय की नींव डाली। उन्होंने 'दादा भाई नौरोजी एण्ड कम्पनी' की स्थापना की जो मुख्य रूप से कपास का व्यापार करती थी।

अब वे इंग्लैण्ड की जनता को अपने पक्ष में करके भारत की माँगों के प्रति उसकी सहानुभूति प्राप्त करने की और अधिक कोशिश करने लगे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने बंगाल के राजनीतिक कार्यकर्ता डब्ल्यू. सी. बनर्जी के सहयोग से 'लन्दन इण्डियन सोसाइटी' की स्थापना की। कुछ समय बाद जब कार्यक्षेत्र बढ़ गया तो 'ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन' नाम की अन्य संस्था का निर्माण किया। इन संस्थाओं द्वारा आन्दोलन करके वे बहुत वर्षों तक अंग्रेज जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के साथ ही भारतीय जनमत को जाग्रत और संगठित करने का भी प्रयत्न करते रहे। दादा भाई का मुख्य प्रयत्न लोगों को यह बतलाना था कि भारतवर्ष की गरीबी और पिछड़ेपन के लिए अंग्रेजी शासन ही जिम्मेदार है। इसके लिए उन्होंने 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (भारत की गरीबी और अब्रिटिश शासन) नामक एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। जिसे पढ़कर इंग्लैण्ड के बहुसंख्यक व्यक्ति उनके सहयोगी हो गये। उन सबकी सहायता से वे इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट के सदस्य चुन लिये गये जो उस समय एक भारतीय के लिए एक बहुत बड़ी बात थी। पर पार्लियामेन्ट में पहुँचकर भी बजाय अपना किसी प्रकार का लाभ सोचने के उन्होंने अपनी पूरी शक्ति भारत में तरह-तरह के सुधार कराने में ही लगाई। वे पार्लियामेन्ट के सदस्यों के सम्मुख देश की गरीबी का करुण चित्र खींचते रहते थे और यह सिद्ध करते थे कि इसका कारण भारत सरकार की खर्चीली शासन प्रणाली ही है। उन्होंने बड़ी भावुकता के साथ अंग्रेज सदस्यों से कहा— "आप थोड़ी सहृदयता और त्याग से काम लें और विचार करें कि आखिर यह रुपया आखिर आता कहाँ से है?" उन्होंने भारतवासियों की आमदनी के आँकड़े पेश करके सिद्ध किया कि "प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी बीस रुपया वार्षिक से अधिक नहीं है और उसे देखते हुये सरकार जनता से जो टैक्स वसूल करती है वह बहुत अधिक है। इसी से भारतवासियों की आर्थिक स्थिति दिन पर दिन निर्बल पड़ती जाती है।"

भारतवासियों ने दादा भाई की इन सेवाओं का मूल्य समझा और वे तीन बार 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के अध्यक्ष बनाये गये।

उन्होंने जब-जब कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में सँभाली उसको एक नई दिशा और शक्ति प्रदान की। अन्त में सन् १९०६ के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने सर्वप्रथम यह घोषित किया कि भारत का एक लक्ष्य 'स्वराज्य' ही है।

इस प्रकार अपनी दीर्घायु तक अपनी समस्त शक्ति देश-कल्याण के लिए ही लगाते रहे। उन्होंने अपने सत्संकल्प का निर्वह अन्तिम समय तक किया जिसके लिए आज भी उनको भारत के स्वाधीनता आन्दोलन का 'पितामह' माना जाता है।

साधुता व समता के जीवन्त प्रतीक— बाबा रामदेव

राह चलती स्त्रियों का अपहरण, लोगों को लूटना और उन्हें जान से मार देना 'भैरव डाकू' के लिए बहुत आसान था। सारी जनता उससे बुरी तरह भयग्रस्त थी वह अकेला था फिर भी हजारों लोगों के लिए भारी और दुर्दम्य पड़ रहा था। लोग चाहे कितनी ही संख्या में क्यों न हों मनोबल की कमी हो तो एक दुष्ट व्यक्ति का दुस्साहस भी उनकी नींद हराम कर देता है। दिल्ली के राजा अनंगपाल के मामा के पन्द्रह वर्षीय पौत्र रामदेव ने जब यह सब देखा तो दुष्ट भैरव के प्रति मन में आक्रोश भर उठा। लोगों की कार्यरता पर उसे तरस भी आया। अकेले ही उसका दमन करने का संकल्प लिया। पिता अजमाल और माता ने बहुत समझाया पर रामदेव को पूरा आत्म-विश्वास था और नीति से चाहे निर्बल और बालक भी सत्य और नीति का पक्ष लेकर अनाचार का विरोध करे तो विजय सुनिश्चित है। रामदेव भैरव को परास्त करने के लिए चल पड़े। लोगों ने भी समझाया पर वे नहीं माने और लोगों के तर्कों को उनकी कार्यरता के कारण धिक्करा।

सत्य और न्याय से प्रेरित होकर आसुरी शक्तियों से संघर्ष छेड़ने का साहस औरों को भी प्रभावित करता है। जो लोग रामदेव का रास्ता रोक रहे थे वे ही उनके अनुचर बनकर 'भैरव' का संहार करने चल पड़े और अन्ततः अपने प्रयोजन में सफल हुए। आतंकवादी दानवता की साक्षत् मूर्ति 'भैरव' का अन्त हो गया और लोगों के मन में आत्म-विश्वास के प्राण संचरित हो उठे।

रामदेव ने अपने जीवनकाल में ऐसे एक नहीं सैकड़ों लोकप्रयोगी कार्य किये कि जनता उन्हें भगवान् का अवतार समझने मानने लगी। अनीति के विरुद्ध अकेले ही मोर्चा संहालने का साहस कर लिया जाय तो जन-साधारण भी अपने आप अनुगामी बन जाते हैं।

तत्कालीन समाज में जातिभेद और अस्पृश्यता की कुरीति के कारण हिन्दू समाज का आधार अंग कुष्ठित और लुञ्ज-पुञ्ज ही पड़ा हुआ था बाबा रामदेव ने ऐसे लोगों को उठाकर सीने से लगाया। यद्यपि रामदेव स्वयं एक उच्च जाति के राजपूत थे। प्रायः राजपूतों में ऊँच-नीच का ज्यादा ध्यान रखा जाता है। रामदेव ने अपने परिजनों का विरोध भी सह्य और अछूत तथा नीच कहे जाने वाले श्रमजीवी

लोगों को अपने साथ बिठाकर खिलाया। उन्हें तैयार किया और उन्होंने रोगी और दुःखियों के घर लगातार कई-कई रातें व्यतीत कर उनकी सेवा-सुश्रूषा की। रामदेव के चरित्र गायकों के लोकगीतों में ऐसी अनेकों घटनाएँ भरी पड़ी हैं।

पिता के मरने के बाद रामदेव को राजा बनाया गया। पर उनके रहन-सहन को देखकर कोई भी उन्हें राजा नहीं कह सकता था। विदेहराज जनक, नासिरुद्दीन और अशोक जिसे लोकसेवी राजाओं की तरह उन्होंने भी सदैव सादा जीवन ही लिया। श्रम की प्रतिष्ठा का एक अनुपम उदाहरण उनके राजकीय जीवन में मिलता है। राजस्थान में अनावृष्टि के कारण बहुधा अकाल पड़ा करते हैं। रामदेव के शासन काल में भी एक बार अकाल पड़ा। लोग भूख-प्यास से मरने लगे। रामदेव ने अपना कोष लोगों की जीवन रक्षा के लिए लगा दिया और स्वयं लोगों के साथ कुदाल-फावड़ा लेकर जगह-जगह कुँए खुदवाने में लग गये। अभी तक तो लोगों के सामने इस समस्या से जूझने का कोई रास्ता ही नहीं था पर अपने प्रिय राजा को अपने साथ श्रम करते हुए देखा तो उनका मनोबल कई गुना बढ़ गया और वे भी इस प्राकृतिक प्रकोप का हँसते हुए सामना करते रहे।

रामदेव के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे छोटे-से-छोटे लोगों का अपने से भी अधिक ध्यान रखते थे। यहाँ तक कि अपने महल में रहने वाले पशुओं के चारे-दाने की व्यवस्था स्वयं की देखरेख में करवाते। राज-काज से अवकाश मिलता तो वे अपने घोड़े को लेकर जंगल में चले जाते।

पुराने जमाने में राजा-महाराजाओं का एक प्रिय शौक रहा है—शिकार। प्रायः समय निकालकर राजा लोग अपने साथियों के साथ शिकार पर जाया करते परन्तु रामदेव जाते थे जंगल में अपने घोड़े को लेकर उसकी सेवा करने, प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेने। शिकार कर उन्हें किसी निरीह पशु की अकारण हत्या कर देना रती भर नहीं सुहाता। उन्होंने अपने जीवनकाल में कई दुष्कृति के लोगों को दण्डित किया, परन्तु मनोरंजन या शौक के लिए निरपराध मूक प्राणियों की हत्या में मजा आने की अपेक्षा उन्हें दुःख ही होता।

सभी धर्म ईश्वर तक पहुँचाने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं इसलिए सब धर्मों का समान रूप से आदर करना चाहिए। मुगल शासक तलवार और जोर-जबरदस्ती के बल पर हिन्दुओं का धर्म-परिवर्तन कर रहे थे। इसी कारण वे अपने राज्य के सीमावर्ती इलाकों पर राज्य विस्तार और धर्म प्रसार के लिए आक्रमण भी करते। रामदेव का राज्य भी इस नीति से अप्रभावित नहीं रहा पर उन्होंने बड़े शौर्य और साहस के साथ अपने वीर योद्धाओं को लेकर उनका मुक़ाबला किया और सदैव मुगलों को मुँह की ही खानी पड़ी।

रामदेव के मन में इतना होने पर भी मुसलमानों के प्रति हिंसा का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। उनके राज्य में इस्लाम के अनुयायियों को भी पूरी स्वतन्त्रता थी। राजघराने में चलने वाले सदाव्रत—सार्वजनिक धर्मार्थ भोजनालय में हिन्दू सन्त भी भोजन करते थे और मुस्लिम फकीर भी। मन्दिर-मस्जिद दोनों के लिए समान रूप से राजकोष द्वारा अनुदान दिया जाता। ऐसी धर्म सहिष्णुता का उदाहरण इतिहास में बहुत कम ही देखने में आता है।

उनके जीवन चरित्र के सम्बन्ध में कई चमत्कारपूर्ण घटनाएँ सुनने को मिलती हैं। किसी भी लोक-नायक और महामानव के सम्बन्ध में ऐसी अतिशयोक्ति पूर्ण घटनाओं का प्रवचन कोई विशेष और नयी बात नहीं है परन्तु बाबा रामदेव की महानता उनकी सच्ची धर्म-परायणता ही मानी जाती है। वे एक आदर्श मानव, वीर योद्धा, अछूतोद्धारक और उदार धर्मानुयायी थे।

बाबा रामदेव के व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण और अनुकरणीय पक्ष था उनकी सेवानिष्ठा। वे सदैव दुःखियों और कष्ट पीड़ितों की सेवा में तत्पर रहते। एक बार तो वे अपनी नव-विवाहित पत्नी को पहले ही दिन अकेली छोड़कर किसी दुर्घटना में 'आहत' एक गरीब आदमी की परिचर्या के लिए चले गये थे। वे जन-साधारण के हित में हर घड़ी नयी-नयी योजनाएँ सोचते और उनकी पल-पल की खबर रखते। लोगों ने उन्हें कभी अपने शासक के रूप में अनुभव नहीं किया वरन् एक अत्यन्त आत्मीय परिजन के रूप में पाया। इसी कारण वे अपनी समस्याओं को लेकर चाहे जब उनके पास पहुँच जाते। रामदेव भी स्वयं को राजा की अपेक्षा जन-सेवक अधिक मानते इसीलिए लोगों की समस्या को ध्यानपूर्वक सुनते थे और उनके निवारण के लिए सदैव सचेष्ट रहते। वस्तुतः अधिकार का क्षेत्र बहुत सीमित है और सेवा का बहुत विस्तृत। कोई चाहे कि मैं किसी उच्च पद पर रहकर सेवा कार्य करूँ तो यह दुस्साहस है परन्तु केवल कर्तव्य भाव से ही सेवा मार्ग अपनाया जा सके तो मनुष्य बहुत कुछ कर सकता है। अन्त में बाबा रामदेव ने भारतीय संस्कृति की आश्रम परम्परा का भी निर्वाह किया। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे अपनी पत्नी के साथ जंगल में चले गए और कठोर साधना के द्वारा इच्छा मृत्यु प्राप्त की। उनकी समाधि जैसलमेर (राजस्थान) जिले के रूनिजा नामक ग्राम में आज भी विद्यमान है। प्रति वर्ष हजारों लोग यहाँ आयोजित मेले में एकत्रित होते हैं।

उनके जीवन की एक मार्मिक घटना इस प्रकार है शाम का समय था। सन्त रामदेव अपने घर वापस आ रहे थे। निर्जन मार्ग में उन्हें एक अबोध बालिका पड़ी दिखाई दी। सम्भवतः वह अवैध संतान थी इसलिये किसी माँ ने अपने हृदय पर पत्थर रखकर उसे मार्ग में डाल दिया था। रामदेव ठहरे संत। उनके हृदय में भेद-भाव के लिये स्थान कहाँ से आया। वह उस बच्ची को उठाकर घर ले आये।

परिवार वालों ने रामदेव का विरोध किया। उनके घर का कोई सदस्य उस अनजान बालिका को अपने घर में रखने को तैयार न था, पर वह इन्सान की सन्तान के साथ किसी भी प्रकार का भेद-भाव पाप मानते थे। आखिर रामदेव की ही विजय हुई। आगे चल कर वह बच्ची डालीबाई के नाम से प्रसिद्ध हुई।

प्राणिमात्र को अपनी ही आत्मा का अंग मानने वाले संत रामदेव मारवाड़ के पोकरण क्षेत्र में तंवर कुल के राजा अजमाल के यहाँ जन्मे थे। उनके जन्म की कथा बड़ी रहस्यमयी है।

अजमाल के केवल एक पुत्री थी। यह समय ऐसा था जब पुत्रहीन राजा का मुँह देखना भी पाप माना जाता था। उत्तराधिकारी के रूप में उनके कोई पुत्र न था। एक बार राज्य में अकाल पड़ गया तो

अन्धविश्वासी जनता के मन में यह विचार दृढ़ होते देर न लगी कि यह दैवी विपत्ति राजा के मुत्रहीन होने के कारण आई है। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति ईश्वर की शरण ही आता है। राजा अजमाल ने भी ईश्वर की शरण ली। राजा अजमाल को भी वरदान मिला और एक वर्ष के अन्दर ही उन्हें एक राजकुमार का पिता बनने का सुअवसर मिल गया। इस बालक का नाम रखा गया रामदेव।

रामदेव बाल्यावस्था से ही एकान्तप्रिय थे। यह सदैव अपने ही विचारों में मग्न रहते थे। एक बार अमरकोट की राजकुमारी नेतल पालकी से कहीं जा रही थी। सुनसान मार्ग देखकर कुछ डाकुओं ने अंगरक्षक सैनिकों को घेर लिया और राजकुमारी का अपहरण करने की योजना बनाई। संयोग की बात रामदेव उधर से आ रहे थे। उन्होंने बड़ी वीरता के साथ डाकुओं का मुकाबला किया और उनके इरादों को असफल कर दिया। राजकुमारी रामदेव की वीरता से बड़ी प्रभावित हुई और एक दिन वह आया जब दोनों दाम्पत्य जीवन में आबद्ध हो गये।

वह पोकरण से रूणेचा चले आये और वहाँ एक नगरी की स्थापना की। उनके व्यवहार से लोग इतने प्रसन्न हुये कि वहाँ के सब लोगों ने मिलकर उन्हें उस क्षेत्र का प्रशासक घोषित कर दिया। संत और शासक का ऐसा समन्वय उनमें हुआ कि वहाँ के निवासी सुख और आनन्द में जीवन व्यतीत करने लगे। अनेक साधु-महात्मा वहाँ आने लगे।

रामदेव का अधिकतर समय सत्संग में ही बीतता था। वह सभी धर्मों को आदर देते थे, उनका कहना था, उद्देश्य एक है, सत्य एक है पर कितने ही संत इसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। धर्मों के सम्बन्ध में भी उनका यही कहना था कि मूल मान्यताएँ सभी धर्मों की एक हैं विभिन्न धर्म अलग-अलग रास्तों की तरह हो सकते हैं, पर मंजिल तो एक ही है।

वह दूर-दूर क्षेत्रों में जाकर दलितों और आभावग्रस्तों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करते थे। भेदभाव का उनकी दृष्टि में कोई स्थान न था।

जीवन के अन्तिम दिनों में राजस्थान के रूणेचा नामक ग्राम में संत रामदेव समाधिस्थ हो गये। वहाँ उनका मंदिर आज भी बना हुआ है। वर्ष में दो बार भक्तजन एकत्रित होकर उन्हें श्रद्धांजलि देते हैं। वहाँ जुड़ने वाले मेले में राजस्थान ही नहीं गुजरात, सौराष्ट्र और मालवा तक के व्यक्ति बड़ी संख्या में उपस्थित होते हैं।

हिन्दू-मुसलमान दोनों ही इस संत के प्रति आदर की भावना व्यक्त करते हैं। हिन्दुओं के लिये यदि वह सन्त थे तो मुसलमान उन्हें पीर कहकर पूजते हैं। जन-जन के प्रति समता का भाव रखने के कारण ही उन्हें यह सम्मान प्राप्त है।

साधु ऐसे चाहिए जैसे राघव दास

भारत माता के सौ में से अस्सी पुत्र गाँवों में रहते हैं भारत की गरीब जनता का कल्याण करना है तो गाँवों का उत्थान करना होगा।

ग्रामों में आर्थिक स्वतंत्रता मिले बिना स्वतंत्रता स्वराज्य और सुराज्य के लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती। यह जानने वाले बाबा राघव दास को संत विनोबा भावे का भूदान, ग्राम दान अभियान लगा। बात समझ में आ गयी। फिर विशेष सोच-विचार करने की आवश्यकता क्या थी संकल्प ले लिया पाँच लाख एकड़ भूमि माँगने का। और चल पड़े पदयात्रा पर। ग्यारह महीनों में ३०० मील की पैदल यात्रा की। इस बीच ३००० एकड़ भूमि प्राप्त हुई।

अपने कर्म क्षेत्र बिहार में विनोबा जी की पदयात्रा के दौरान बाबा राघव दास का उन्हें जो सहयोग मिला उसे देखकर उन्होंने कहा था। “भूमिदान की आवश्यकता को लेकर मैं अकेला था किन्तु बाबा राघव दास को पाकर मैं एक से ग्यारह हो गया हूँ।”

आठ वर्ष तक कठोर श्रम करके बाबा राघव दास ने बिहार और उत्तर प्रदेश में एक सौ सम्पूर्ण ग्राम; ५०,००० एकड़ भूमि; ४८,००० हथुपया; ४०,००० रुपये की अचल सम्पत्ति; २,००० मन अन्न; ४० जोड़ी बैल; १,४०० वृक्ष; २० कुएँ; ५० मकान और लगभग २०० खेती के औजार दान में प्राप्त किये। उनकी इस कर्मनिष्ठा ने भूदान, ग्राम दान जैसी कल्पना को सत्य का ठोस आधार देकर यह सिद्ध कर दिखाया कि लोगों में सद्भावनाएँ और सहृदयता अभी भी विद्यमान हैं। वे अपने अंतरंग से भी परिचित हैं अपने बन्धुओं के लिये अपनी सम्पदा में से बिना किसी दबाव के अंशदान दे सकते हैं। यह कोई छोटी बात नहीं थी। बाबा राघव दास ने लोक-मंगल के लिये निस्वार्थ भाव से यह जो तपस्या की है यह उन तपस्याओं से हजार गुना श्रेष्ठ है, जो केवल स्वर्ग और मुक्ति की स्वकेन्द्रित एषणाओं से प्रेरित हो गिरी-कंदराओं में बैठ कर की जाती है।

बाबा राघव दास के जीवन के साथ यही एक दिव्य उपलब्धि नहीं जुड़ी है। ऐसे अनेक लोकोपकारी कार्य उन्होंने अपने जीवन में किये। युवावस्था में स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ने और उसके अनन्तर संन्यास ग्रहण कर सर्वतोभावेन अपने को राष्ट्र व समाज के लिये समर्पित कर स्वतंत्रता के सक्रिय कार्यकर्ता, गोरखपुर क्षेत्र की चहुँमुखी उन्नति के लिये अपने आप को खपा देने वाले जन-नायक, शिक्षा प्रचार के अग्रदूत, पीड़ितों तथा दलितों के सेवक बन्धु आदि के रूप में उन्होंने जो यश कीर्ति अर्जित की है वह उन्हें स्मरणीय तो बनाती ही है साथ ही संन्यास का सच्चा स्वरूप भी प्रस्तुत करती है।

समाज की सेवा के दो रास्ते हैं एक जन-सामान्य के लिये है— गृहस्थ का और उन विशिष्ट व्यक्तियों के लिये जो अपना सारा जीवन ही समाज को समर्पित कर देना चाहते हैं, तप और अभ्यास द्वारा वे अपने आप को उस सम्पूर्ण समर्पण के लिये तैयार कर लेते हैं वह मार्ग है संन्यास का। गृहस्थ और संन्यास दोनों ही मार्ग हैं। पर संन्यास का मार्ग गृहस्थ की अपेक्षा अधिक कठिन, अधिक दुरूह होने के कारण विशिष्ट लोक के लिये ही है। जो यह समझते हैं कि उनके सामने सेवा सुधार व जागरण का काम इतना अधिक है कि वे अपनी सुख-सुविधाओं के लिये और विवाह करके पत्नी का भार उठाने की प्रक्रिया में जीवन का अधिकांश भाग बिता देने की सोच भी नहीं सकते उनके लिये संन्यास का मार्ग उपयुक्त है। किन्तु मठ

में पड़े रहना या अकर्मण्य बनकर समाज का भार बढ़ाना तो संन्यासी का धर्म नहीं। संन्यासी का कार्य तो समाज का भार हलकर करना है उसे बढ़ाना नहीं। संन्यासी का जीवन सतत कर्मण्यता व कष्टों का जीवन है। संन्यास को बाबा राघव दास ने इसी रूप में स्वीकारा था और जीवन भर निभाया था।

इन सच्चे संन्यासी का जन्म सन् १८९६ में एक भरे-पूरे सम्पन्न परिवार में हुआ था। ये जब सात वर्ष के थे तभी महाराष्ट्र में प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ। इनका परिवार भी उस महामारी की चपेट में आ गया। उनके अतिरिक्त परिवार में जो सात सदस्य थे वे एक-एक करके काल के गाल में समाते चले गये। अब बच रहे राघवेन्द्र। सात वर्ष के इस संवेदनशील बालक के मन पर इस घटना का स्थायी प्रभाव पड़ा। पानी के बुलबुले जैसे इस जीवन का सदुपयोग क्या हो? यह प्रश्न उसी दिन से उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा।

बहनोई के घर पालित-पोषित हुए राघवेन्द्र दसवीं कक्षा तक ही पढ़ पाये। आगे की पढ़ाई राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन का ज्वार बहा ले गया। ज्यों-ज्यों वे सज्ञान और शिक्षित होते गये और अपने पूर्व प्रश्न पर चिन्तन-मनन करते गये उनके मन-मस्तिष्क में यह स्पष्ट होता गया कि ईश्वर द्वारा इस संसार में उसके द्वारा बनाए गये प्राणियों को सेवा करना ही इस पानी के बुलबुले जैसे जीवन का सक्त्रिष्ठ उपयोग है।

यही विचार उन्हें संन्यास की मंजिल तक ले गया। बचपन की कटु स्मृति से उपजा वैराग्य उन्हें महाराष्ट्र से मथुरा, हरिद्वार, बनारस और फिर गाजीपुर के मोनी बाबा के आश्रम में ले आया। बरहज में अनन्त महाप्रभु के आश्रम में पहुँचकर वे राघवेन्द्र से राघवदास बन गये। किन्तु उनका यह संन्यास मात्र तप-साधना तक ही सीमित नहीं रहा। वस्तुतः तप-साधना का उद्देश्य तो अपने शरीर-मन और चित्तवृत्तियों को आत्मा के वश में करना होता है। ताकि वे कहीं उसे पथ भ्रष्ट न बना दें। राघव दास ने भी एक एकत्र गुफा में रहकर कुछ वर्षों तक तप-साधना की। यह साधना सम्पूर्ण हो जाने पर वे कर्मक्षेत्र में जा कूदे। यहीं गुफा में बैठ कर तप-साधना करने वाला युवक आगे चलकर स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण सेनानी बन गया। तप-साधना द्वारा तपाये गये शरीर और मन से उसने भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि से निर्लिप्त रह कर अपने संकल्प का निर्वाह किया।

गोरखपुर जिला उन दिनों एक प्रकार से सोया पड़ा था। इस क्षेत्र की जनता में स्वतन्त्रता प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई जागरण के चिह्न नजर नहीं आते। इस सोयी जनता को जगाने का बहुत कुछ श्रेय बाबा राघव दास को है। वे घर-घर, गाँव-गाँव जाकर देशवासियों को अंग्रेज सरकार को उखाड़ फेंकने के लिये उद्बोधन देते घूमते। उनका यह प्रयास सफल हुआ। वहाँ की जनता जागी। अपने अधिकारों व दायित्वों की ओर उसका ध्यान गया।

सामूहिकता की प्रबल शक्ति से कुछ भी असम्भव नहीं है। इस 'सच्चाई' को उनके मार्गदर्शन में उस क्षेत्र के निवासियों ने प्रत्यक्ष देखा।

१९३६ के चुनाव में गोरखपुर जिले में कांग्रेस के प्रत्याशियों के सामने ग्यारह राजा खड़े हुए। राजा तो सर्व प्रकार से समर्थ थे। किन्तु कांग्रेस की हालत पतली थी। उन दिनों यह जनता की अपनी पार्टी थी—जनता की तरह ही गरीब। पाँच रुपये महीने पर किराये पर लिये कांग्रेस कार्यालय का भी पाँच माह का किराया बाकी था। बनिये के सत्रह रुपये उधार थे। प्रत्याशियों से चंदा उगाहा गया तो इतने ही रुपये इकट्ठे हुए कि पार्टी का यह कर्ज उतर जाय। अब प्रचार कैसे करें। किन्तु राघव दास जी हिम्मत हारने वालों में से नहीं थे। उन्होंने गाँव-गाँव की पदयात्रा करके एक महीने में तीन सौ स्वयं सेवक तैयार किये। उन्होंने प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि गरीबों की पार्टी के ग्यारहों उम्मीदवार ग्यारहों राजाओं को हरने में सफल हुए वह भी कम नहीं ३५-३५ हजार वोटों से।

यह चुनाव ही एक उदाहरण नहीं है उनके जन-नेतृत्व का वरन् ऐसे कई उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। गोरखपुर के निकट नामक स्थान पर ४-१/२ मील लम्बा बाँध बाँधना था। ३-१/२ मील लम्बा बाँध सामूहिक जन-शक्ति के श्रम दान द्वारा मात्र छह दिन में बाँध दिया गया। सातवें दिन एक मील लम्बा बाँध और बाँधकर सप्ताह का संकल्प जो लिया गया था उसी अवधि में पूरा कर दिया। बलिया जिले की ८ हजार एकड़ भूमि को बचाने के लिये इसी प्रकार एक ४-१/२ मील लम्बा नाला केवल दस दिन के श्रमदान में पूरा खोद दिया गया। वर्षों में भीगे हुए पाँच हजार लोगों ने नित्य श्रमदान किया। अंतिम दिन तो यह संख्या दस हजार तक पहुँच चुकी थी। इस काम में केवल १५० रुपये खर्च हुए जबकि सरकार ने इस कार्य के लिये ८० हजार रुपयों की योजना बनाई थी। यह सब उनके नेतृत्व का ही फल था।

वे स्वयं मैट्रिक तक पढ़े हुए थे पर उनकी प्रेरणा से गोरखपुर क्षेत्र में हजारों लोगों ने एम. ए. पास किया। उत्तर प्रदेश के इस क्षेत्र में क्रांती को छोड़कर शेष सारा प्रदेश शिक्षा की दृष्टि से अत्यधिक पिछड़ा हुआ। राघवदास जी की प्रेरणा से वहाँ पचासों हाईस्कूल स्थापित हुए।

वे चाहते तो स्वयं कहीं सिद्धपीठ स्थापित कर सकते थे या तथाकथित संत-महंतों की तरह आराम का जीवनयापन कर सकते थे, पर उन्होंने तो कर्मण्यता को अपनाया था अकर्मण्यता को नहीं। उनके लिये तो कर्म और सेवा ही सच्ची ईश्वर भक्ति थी। एक बार उनके आश्रम के निकटवर्ती टाउन एरिया में सफाई कर्मचारियों की हड़ताल के कारण असह्य गन्दगी फैल गयी। टाउन एरिया के पदाधिकारियों का ध्यान इस ओर दिलाने का अभीष्ट परिणाम न होता देख बाबा जी स्वयं हाथ में फव्वड़ा लिये सफाई करने जा पहुँचे। ग्रामवासियों को एक संत-महात्मा को अपना मल साफ करते देख बड़ी लज्जा आयी, वे भी सफाई में जुट पड़े देखते-देखते सारा गाँव साफ हो गया।

गोरखपुर क्षेत्र के कोढ़ियों के लिये कुष्ठ आश्रम की स्थापना हो या अपने हाथों से हरिजन के गंदे मैले-कुचैले बालकों को ईश्वर

प्राणिधन भाव से सेवा करना है। धूँ-धूँ करके जलते मकान में कूद कर किसान बैलों के लिये अपने प्राण संकट में डालने हों या किसी बाढ़-प्रस्त बुढ़िया की सहायता में उसकी चक्की को सिर पर उठाना हो बाबा राघव दास सदा आगे रहते थे। उस क्षेत्र के गाँव-गाँव में उनकी सेवा की किंवदन्तियाँ प्रचलित हो चली हैं। सभी कहते हैं भई साधु हो तो बाबा राघव दास जैसे, काश ! आज के लाखों साधु उनके चरण चिह्नों पर चलते तो उनका साधु होना सार्थक हो जाता।

चोरी चोर काण्ड के १९४ में से ९५ अभियुक्तों को फाँसी के फंदे में उतार लेने का अधिकांश श्रेय राघव दास जी को ही जाता है वही वे व्यक्ति थे जिन्होंने अंग्रेजों के निर्णय को चुनौती दी थी। दिन रात दौड़-धूप करके उन्होंने अपील के लिये घन एकत्रित किया। पहले वे पं. मोती लाल नेहरू के पास गये वे व्यस्त थे तो महामना मालवीय जी का द्वार खटखटाया और उन्हें छोड़ी हुई वकालत एक बार इसी मुकदमे के लिये पुनः पकड़नी पड़ी। इसका परिणाम यह हुआ कि १९४ में से ९५ की फाँसी की सजा रद्द करके उनकी पुनः सुनवाई करनी पड़ी।

जीवन के अंतिम क्षणों तक वे सेवा कार्य में ही जुटे रहे। मध्य प्रदेश में भूदान, ग्राम दान के लिये पदयात्रा करते हुए वे शीत से पीड़ित हो चल बसे, 'जनवरी, १९५८ के दिन।' पर उनकी याद बाकी है सत्कर्मों के सेवा साधना के रूप में बाबा राघव दास का जीवन साधुओं के लिये आदर्श और जनता के लिये साधुओं की कसौटी का काम करेगा।

परमात्मा की सेवा का प्रत्यक्ष अवसर

गाँव के बाहर एक साधु आसन बिछाकर ध्यान हेतु बैठने की तैयारी कर रहे थे कि गाँव से बड़े जोरों का कोलाहल सुनाई पड़ा। कुछ सोचें तब तक लपलपाती आग की लपटें दिखाई पड़ने लगीं। लगा जैसे ध्वितिज जल रहा हो। वस्तुस्थिति को परखते देर न लगी और वे ध्यान की तैयारी छोड़कर दौड़ पड़े। न रास्ते का ध्यान था, न पाँवों में जूते-चप्पल पहनने का। ऊबड़-खाबड़ खेतों में भागे जा रहे थे। खेतों में अरहर की खूंटियाँ बार-बार उनके पैरों में चुभ जातीं, जिससे पैर लहलुहान हो गये। इसकी परवाह किसे थी। दूसरों के कष्ट निवारण में अपने कष्ट को भुला बैठना, सहते जाना ही तो तप है। वे भागते गये, जब तक कि घटनास्थल पर पहुँच न गये।

पहुँचकर देखा। एक विशाल हवेली में आग की लपटें शोले उगल रही हैं और घर के लोग बाहर खड़े छाती पीट रहे हैं। सारे जीवन की संचित कमाई को फुँकते देखकर किसकी छाती न फटेगी। घर का मालिक चिल्ला रहा था— कोई बचाओ रे, दो बैल भीतर बँधे हैं। चिल्लाने वाले और बाहर खड़े लोगों में से किसी की हिम्मत न थी कि जाकर बैलों को खोल दे।

साधु के मन में भरी करुणा छलक पड़ी। उन मूक पशुओं के प्रति हृदय दया से भर गया, जो अपनी सहायता के लिये किसी को नहीं पुकार सकते थे। उन्होंने एक कम्बल लपेटा और तेजी से मकान में घुस गये। बैलों को खोजने और खोलने में थोड़ा समय तो लगा

ही। तब तक आग ने द्वार को घेर लिया था। बाहर खड़े लोग आशंकित थे— अब क्या होगा ? पर दुबले-पतले संन्यासी ने छलांग लगायी और आग के बाहर, बैल भी बाहर आ गये। बाद में सभी के सहयोग से आग पर काबू पा लिया गया। सभी उनकी सराहना करने में जुटे थे और साधु पुनः ध्यान करने बैठ रहा था। उपासना की नियमितता में विघ्न के बावजूद उनके चेहरे पर कृतज्ञता मिश्रित प्रसन्नता थी। कृतज्ञता इसलिये कि भगवान् ने सेवा का अवसर जुटाया और प्रसन्नता इस कारण कि आज साक्षात् परमात्मा की सेवा का अवसर मिल सका।

यह संन्यासी थे— बाबा राघव दास। जिनके जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ आयीं जब उन्होंने पूजा-उपासना से अधिक महत्त्व सेवा और संवेदना को दिया। संकीर्णता की छोटी-सी काल-कोठरी में कामनाओं की बेड़ी, वासनाओं की हथकड़ी पहने सिकुड़ी-सिमटी, दबी-पिपी जा रही भाव-चेतना को उन बन्धनों से छुटकारा दिलाने का नाम वैराग्य है। इससे छूटी हुई चेतना सहज क्रम में सभी को अपनत्व के दायरे में समेट लेती है। बाबा का वैराग्य ऐसा ही था।

इसी के द्वारा उन्होंने सेवा और जन-कल्याण की सघन भावनाएँ अर्जित कीं। इसी को उन्होंने अध्यात्म साधनाओं की सफलता और साधना माना।

विश्व को गुरुमय देखने वाले— स्वामी राधारमण चरणदास

यशोहर जिले का महिषखोला गाँव। हाट का दिन। एक वृद्ध व्यक्ति ने सामान खरीदा और एक गठरी में बाँधकर इस प्रतीक्षा में खड़ा हो गया कि कोई राहगीर उस गठरी को उठावा दे। उसकी तबियत खराब थी। बुखार बढ़ता जा रहा था। किन्तु ही व्यक्ति उसे देखकर निकलते जा रहे थे, पर उनमें किसी ने भी सहायता करने की बात सोची तक नहीं। राधारमण नामक एक युवक उधर से निकला। उसके हृदय में दया का भाव उमड़ आया। वह उस वृद्ध का सारा सामान उठाकर घर तक पहुँचाने के लिये तैयार हो गया। 'नहीं बाबू जी ! नहीं !! आप मुझे न छुयें, मैं छोटी जाति का हूँ आपको फिर स्नान करना होगा। मैं स्वयं ही चला जाऊँगा।'।

उस वृद्ध व्यक्ति ने बड़ी कातरता से निवेदन किया, पर राधारमण ने उसकी एक भी बात न सुनी व सामान की गठरी लेकर उसे घर तक पहुँचा आया।

मानवता की सेवा करने के लिए जो कृत संकल्प हो उसके मन में छोटे-बड़े और जाति-पाँति का भेद आता ही नहीं।

इस मानवता के सेवक का जन्म सन् १८५३ में मोहन चन्द्र घोष के यहाँ हुआ था। यह अपने माता-पिता की तीसरी सन्तान थे। जब यह पाँच वर्ष के थे तब पिता और दोनों भाई उन्हें छोड़कर इस संसार से सदैव के लिये चले गये। कुछ वर्षों बाद इनकी माँ भी स्वर्ग सिधारी और यह अनाथ हो गये। अनाथ बालक में यदि स्वयं कुछ

बनने की महत्वाकांक्षा न हो तो समाज का दूषित वातावरण उसे आगे नहीं बढ़ने देता। इन्होंने नडाइल हाईस्कूल में शिक्षा ग्रहण की थी। बाद को सरकारी नौकरी भी मिल गई पर जो मानवता की सेवा का व्रत लेकर जन्मा हो वह दीर्घकाल तक अपने आत्मसम्मान को बेचना पसन्द नहीं कर सकता। यही हुआ, यह सरकारी नौकरी छोड़कर माँ काली को प्रेरणा से अपना घर-बार छोड़कर चल पड़े।

सरयू पर शंकराचरण्य पुरी महाराज से गुरु दीक्षा देकर राधारमण चरणदास के नाम से विख्यात हुए। गुरु का आशीर्वाद लेकर यह गया, काशी, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थों की यात्रा करने निकल पड़े। राधारमण में दयालुता, करुणा, त्याग और क्षमा जैसे देवी गुण बढ़ते ही जा रहे थे। अब वह दूसरे के दुःख को देखकर दुःखी हो जाते और उसकी सहायता के लिए भरपूर प्रयास करते। किसी विद्यार्थी को धूप में तपते देखते तो उसे अपना छाता दे देते। कोई व्यक्ति सर्दी में ठिठुरता दिखाई पड़ता तो उसे अपनी ऊनी चादर उढ़ा देते।

परदुःखकरता उनके जीवन की विशेषता बन गई थी उनके गाँव में बच्चों के पढ़ने के लिये विद्यालय न था। गर्मी के दिनों में गाँव के कुँए सूख जाते तो कई-कई मील से पानी भर कर लाना पड़ता था। गाँव वालों की इन समस्याओं को यह अनुभव कर रहे थे। उन्होंने प्रयत्न करके एक विद्यालय तथा एक पुष्करिणी तैयार करवाई और इन समस्याओं को हल किया।

अपने गुरु के द्वारा उन्हें जो आदेश मिले थे उनमें एक यह भी था कि प्रभु नाम का प्रचार सर्वत्र किया जाय। उन्होंने घूम-घूमकर व्यक्तियों को ईश्वर उपासना में लगाया। उनके सम्पर्क में ऐसे अनेक व्यक्ति भी आते थे जिन्हें ईश्वर की शक्ति पर विश्वास नहीं होता पर वह उस नाम की शक्ति से असम्भव कार्य भी सम्भव करके दिखा देते और लोगों के मन में ईश्वर के प्रति ब्रह्मा उत्पन्न करते। ऐसे कार्यों को सम्पन्न करते समय कर्तापिन की भावना उनके मन में न आती थी और सम्मान से स्वयं बहुत दूर रहते थे।

जीव दया, हरि संकीर्तन और सत्संग उनके जीवन के प्रमुख सिद्धान्त थे। इन्हीं के आधार पर उनके सारे क्रियाकलाप चलते थे। सन्त तुलसीदास जहाँ संसार को सियाराम मय देखते थे वहाँ राधाचरण इस विश्व को गुरुमय देखते थे। उनकी दृष्टि बड़ी विशाल थी वह तो चोर, डाकू और विश्वासघाती तक को अपना गुरु मानते थे और उससे भी कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण कर लेते थे। उनकी दृष्टि में गुरु दो प्रकार के हैं एक अनुकूल और दूसरे प्रतिकूल। अनुकूल गुरु सदाचारी होते हैं और ऐसे व्यक्ति श्रेष्ठ कार्य के लिये प्रेरणा देते ही हैं पर प्रतिकूल गुरु जो पाखण्डी और दुराचारी हैं वह भी अप्रत्यक्ष रूप से हमें कुछ सिखाते हैं। जैसे एक चोर हथकड़ी डाले हुए बाजार से निकल रहा है उसे हम सड़क के किनारे खड़े देख रहे हैं। दर्शकों की दृष्टि उपेक्षा तथा घृणापूर्ण रहती है पर उसका यह प्रतिकूल आचरण भी अपने मूक-भाव से सत्य मार्ग पर चलने, ईमानदार बनने की प्रेरणा देता है—‘सावधान ! कभी चोरी मत करना, यदि चोरी की अथवा अन्य कोई ऐसा बुरा कार्य किया जो कानून की दृष्टि में अपराध है तो आपकी भी वही दशा होगी जो मेरी हो रही है’ इस तरह वह प्रत्येक

दुराचारी को भी प्रतिकूल गुरु मानकर कुछ न-कुछ सीखने की इच्छा रखते थे। इस तरह उनकी उदारता और सहृदयता का स्पष्ट पता लग जाता है।

बाबा राधारमण चरणदास जीव मात्र को ईश्वर का, गुरु का अंश मानकर सेवा के लिये तैयार रहते थे।

एक शताब्दी पूर्व अंग्रेजी शासन की नींव हिलाने वाले—गुरु रामसिंह

महात्मा गाँधी से बहुत पहले अहिंसा और असहयोग आन्दोलन द्वारा ब्रिटिश सरकार की नींव को हिला देने का सर्वप्रथम प्रयास सतगुरु रामसिंह ने किया था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने सन् १९३५ में लिखे एक लेख में यह स्वीकार किया था कि असहयोग आंदोलन का सूत्रपात नामधारियों में सर्वप्रथम गुरु रामसिंह द्वारा ही किया गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू भी यह मानते हैं कि इसी मार्ग पर चलकर कांग्रेस पार्टी ने देश को स्वतंत्रता दिलाने में सफलता प्राप्त की।

गुरु रामसिंह को भक्ति और देश-प्रेम की भावनाएँ बचपन से ही प्राप्त थीं। इनका जन्म सन् १८१८ में लुधियाना जिले के भेणी गाँव में एक बड़ई के घर हुआ था। इनके पिता का नाम बाबा जस्सासिंह और माता का नाम सदाकौर था। प्रारम्भिक शिक्षा माता की गोद में बैठकर प्राप्त की और बहुत जल्दी ही इन्होंने गुरु-वाणियों तथा शब्दों को कंठस्थ कर लिया। घर से बाहर जाने का अवसर मिलता तो अपने साथियों के साथ बैठकर इन वाणियों को गाया करते थे। रात को सोते समय उनकी माँ भूत-पत्नीतों की कहानियाँ सुनाकर भयभीत नहीं करती थीं वरन् धार्मिक कहानियाँ सुनाती थीं जिससे देश प्रेम की भावना और सात्विक विचारधारा धीरे-धीरे विकसित होने लगी।

अध्यात्म का रंग उन पर गहरा होता जा रहा था। सन् १८३६ में जब वे महाराज रणजीत सिंह की सेना में भरती हो गए, वहाँ भी सैनिक कार्यों से अवकाश मिलते ही वह गुरुद्वारा चले जाते थे और गुरुवाणी तथा धर्मिक प्रवचन सुना करते थे। समाज में गिरते हुये नैतिक स्तर को देख कर उनका हृदय बड़ा दुःखी था। वह सांसारिक झंझटों से दूर रह कर अपना सारा समय समाज की सेवा में बिताना चाहते थे।

माँस-मदिरा तथा अन्य नशीली वस्तुओं के प्रयोग का वह विरोध करते थे। अधिक दिनों तक वह सेना में कार्य नहीं कर सके। एक दिन सारा सामान छोड़ कर वह घर चले आए। पर घर भी उनका कार्यक्षेत्र न बन सका। वह सन् १८४१ में हजारा गए और वहाँ गुरु बालक सिंह से दीक्षा ग्रहण की। गुरु बालक सिंह उस समय गुरु गोविन्द सिंह की गद्दी पर ग्यारहवें स्थान पर विराजमान थे। उनके सात्विक विचारों से गुरु बालक सिंह इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया और आगे चलकर वह उस गद्दी के बारहवें स्थान पर सुशोभित हुये।

वह बहुत ही उदार विचारों के व्यक्ति थे। उन्होंने समाज की नब्ज को देखा। उस समय देहेज, माँसाहार, चोरी तथा अनैतिकता का साम्राज्य व्याप्त था। सर्वप्रथम उन्होंने विधवा विवाह की स्वतंत्रता दी और कहा जब पत्नी की मृत्यु हो जाने पर पति को दूसरा विवाह करने का अधिकार है तो पति की मृत्यु हो जाने पर विधवाओं को भी दूसरा विवाह करने का अधिकार होना चाहिये। उन्होंने समाज में देखा कि विवाह के नाम पर लोगों का हजारों रुपया बरबाद होता है, कितने ही माता-पिता अपनी लड़कियों का विवाह देहेज पिशाच के कारण नहीं कर पाते। इसके विरुद्ध गुरु रामसिंह ने वातावरण निर्मित करना प्रारम्भ कर दिया। माँस, मदिरा तथा अन्य नशीली वस्तुओं, झूठ और चोरी आदि के लिये भी निषेध किया।

सूदखोर सवाया और इयोढ़ा रुपया ब्याज से कमा-कमा कर अपनी तिजोरियाँ भर रहे थे, मनुष्यों की मजबूरी का फायदा उठाते थे। ऐसे लोगों से गुरु रामसिंह ने दुःखी-दरिद्र व्यक्तियों की सेवा के लिय निवेदन किया ताकि धन कुछ मुद्रियों में जकड़ कर दुर्गन्ध न फैलाता रहे।

अँग्रेजी दासता से मुक्त कराने तथा गौ-वध के कलंक को हटाने के लिए उन्होंने कूकावीरों का आह्वान किया और कहा “अब समय आ गया है जब उन्हें देश और जाति की बिगड़ी स्थिति को सुधारने के लिए कमर कस कर तैयार हो जाना चाहिये।”

गुरु रामसिंह का उद्देश्य ग्रंथ साहब तथा गुरुगोविन्द सिंह के संदेश का प्रचार-प्रसार करना था। उस समय अनेक सिखों को सामाजिक कुरीतियों ने जकड़ लिया था। धार्मिक दृष्टि से उनकी स्थिति बड़ी डाँवा-डोल हो गयी थी। गुरु रामसिंह ने उनकी स्थिति सुधारने के लिये भरसक प्रयत्न किया। सन् १८५७ में वैसाखी के पुनीत अवसर पर खांडे का अमृत तैयार कराके स्त्री और पुरुषों को अमृतपान कराया। अब तक स्त्रियों को दीक्षा न दी जाती थी। उन्होंने कहा जब दोनों में समान आत्मा का निवास है फिर उन्हें किसी कार्य से वंचित क्यों रखा जाये। प्रथम बार उन्होंने वैसाखी के उस विशाल मेले में स्त्रियों को भी दीक्षा दी।

गुरु रामसिंह केवल धर्म प्रचारक या समाज सुधारक ही न थे वरन् सच्चे देश-भक्त भी थे। वह जानते थे कि अँग्रेजी शासन के अधीन रहकर धर्म प्रचार की बात तो दूर रही समाज सुधार का कार्य भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि अँग्रेज तो प्रत्येक कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

उन्होंने लोगों से कहा कि देश को अँग्रेजों की दासता से तब तक मुक्त नहीं किया जा सकता जब तक अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिये लोग तैयार नहीं हो जाते। उन्होंने सर्वप्रथम असहयोग आंदोलन को चलाया। उन्होंने नामधारियों से कहा कि ‘अँग्रेजों के द्वारा चलाये जाने वाले स्कूलों, न्यायालयों, रेलगाड़ियों और डाकघरों का प्रयोग न करना चाहिए।’ हम विदेशी वस्त्रों को न पहनें और न अँग्रेजों के अधीन किसी प्रकार की नौकरी स्वीकार करें।

उन्होंने आन्दोलन की दृष्टि से सम्पूर्ण पंजाब को २२ गुप्त विभागों में बाँटा था और डाक की ऐसी अच्छी व्यवस्था की थी कि गुरु रामसिंह का प्रत्येक सन्देश बहुत जल्दी ही प्रत्येक व्यक्ति के पास पहुँच जाता था। अप्रैल १८६३ तक अँग्रेज अधिकारी इस आन्दोलन को धार्मिक ही समझते रहे पर बाद में इस आन्दोलन की गतिविधियों को देखकर शंका प्रकट की जाने लगी।

अँग्रेज अधिकारी मि. डोनोवन ने सन् १८६३ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुये कहा कि “रामसिंह ने हमारे विरुद्ध दो लाख व्यक्तियों को विद्रोह करने के लिये संगठित कर लिया है और बहुत शीघ्र ही वे हम लोगों को पंजाब से बाहर निकाल देना चाहते हैं। नामधारियों की शक्ति बढ़ती जा रही है और सभी सिक्ख इस पंथ के अनुयायी होते जा रहे हैं। यह भीषण कुचक्र एक दिन आंदोलन के रूप में बदल सकता है। अतः भयानक उथल-पुथल की स्थिति से बचने के लिये हमारी सरकार को अभी से सावधान हो जाना चाहिये और उदारता की नीति को परिवर्तित कर देना चाहिये।”

अंबाला डिवीजन के कमिश्नर मि. फ़ेरेसीथ ने इससे ४ वर्ष बाद सन् १८७२ में इस आन्दोलन की गतिविधियों से भयभीत होते हुये कहा कि “नामधारियों ने अपने दूत भारत की सीमाओं से बाहर नेपाल, काबुल तथा रूस तक भेजे हैं और उनके अनुयायी इस बात का प्रचार-प्रसार बड़े जोर से कर रहे हैं कि अब अपना राज्य शीघ्र ही स्थापित होने वाला है।”

कूकापंथी अपनी गतिविधियों को और तेज करते जा रहे थे। पराधीनता के वातावरण में उनका दम घुट रहा था। गुरु रामसिंह का एक शिष्य ब्रह्मसिंह अँग्रेजी राज्य को समूल नष्ट करने के लिये कमर कस कर तैयार हो गया। उसने घोषणा भी कर दी कि हम सम्बत् १९२८ के कार्तिक और अगहन मास में युद्ध करेंगे।

इतना कहना था कि ब्रह्मसिंह अँग्रेजों का जानी दुश्मन माना गया। इस आन्दोलन को कुचलने के लिये अँग्रेज अपनी कूटनीति का सहारा लेने लगे। सबसे पहले उन्होंने गौ-वध की बात उठाकर हिन्दू-मुसलमानों में भेद डालना शुरू किया। इसके बाद बर्बरतापूर्ण ढंग से नामधारी बहादुरों को तोप के सामने खड़ा करके उड़ाया जाने लगा।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में १७ जनवरी, १८७२ का दिन शहीद दिवस के नाम से जाना जाता है। इस दिन मलिर कोटला में नामधारी वीरों ने अपने जीवन की आहुति दी थी। कूकावीर अलग-अलग टोलियों में जयघोष करते हुये आते और तोप के सामने सीना खोल कर खड़े हो जाते और दूसरे ही क्षण वह वीर सेनानी तोप से उड़ा दिये जाते।

गुरु रामसिंह भी अँग्रेजों की तोप के सामने खड़े किये गये। उन्होंने सतगुरु के चरणों का स्मरण किया और सदैव के लिये मातृभूमि पर बलिदान हो गये। उनकी यशगाथा शताब्दियों तक मातृभूमि पर मर मिटने वाले व्यक्तियों को प्रेरणा देती रहेगी।

आत्मनिर्माण के आचार्य— श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय

संसार में असंख्यों ऐसे महान् पुरुष हो गये होंगे जिनको संसार न जान सका। कहना न होगा कि ख्याति, कीर्ति, प्रशंसा और पूजा से दूर रह कर यथासाध्य समाज की सेवा कर के संसार से चले जाने वाले मौन-साधक उन तथाकथित सिद्धों से कहीं अधिक महान् होते हैं जो अपनी सेवाओं का मूल्य कम से कम प्रशंसा के रूप में तो प्राप्त करने का प्रयत्न किया ही करते हैं।

श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय एक ऐसे ही मौन साधक थे। उन्होंने अपने जीवन का अणु क्षण देश व समाज की सेवा में समर्पित कर दिया किन्तु कभी भी यह न चाहा कि लोग उनकी प्रशंसा करें। उन पर श्रद्धा के फूल चढ़ाये।

श्री मदन मोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, मोती लाल नेहरू, सी. वाई. चिन्तामणि, द्विजेन्द्र नाथ, रबीन्द्रनाथ टैगोर, प्रफुल्ल चन्द्र राय, सी. एफ. एण्ड्रूज तथा भगिनी निवेदिता के समकक्ष जैसे युग-व्यक्तित्वों के परिचित श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय कोई जन्मजात बड़े आदमी नहीं थे। उनके समय में बहुत ही कम व्यक्ति ऐसे थे जो साधारण स्थिति में जन्म लेकर अपने परिश्रम, पुरुषार्थ एवं अध्यवसाय के बल पर सम्मान उपार्जित कर सके हों। अन्यथा उस समय के लगभग सभी शिखरस्थ व्यक्ति प्रचुर साधन-सम्पन्न परिवारों में जन्मे थे। उनके जीवन विकास में कोई अभाव जैसा प्रतिरोध कभी नहीं आया। साधनों की प्रचुरता का समुचित उपयोग करके उन्नति की पराक्रांष्टा पर पहुँचना एक बात है और अभावों के बीच आशा और उत्साह का सम्बल लेकर तिल-तिल मार्ग तय करते हुये ध्यानाकर्षण स्थिति में पहुँचना एक दूसरी बात है।

जहाँ एक ओर लोग अपने अल्प ज्ञान को चातुर्यपूर्ण ढंग से सामने रखकर समाज में अपनी प्रतिष्ठा का निर्माण किया करते हैं और कोई नगण्य सेवा कार्य भी हार फूलों से सजा कर समय-समय तथा स्थान-स्थान पर लोकेषणा से प्रेरित होकर प्रदर्शित करने में तत्पर रहते हैं वहाँ श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने केवल कार्य करने की इच्छा से सदा ही आत्मगोपन किया। जिनको काम करने की लगन होती है, जो वास्तव में कर्म-योगी होते हैं वे अपनी समय, सम्पत्ति और विचार विभूति को उपासकों की निरुपयोगी श्रद्धा भक्ति से बचाने के लिए अपने को अधिक से अधिक छिपाने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत जिनको नाम की लगन होती है लोकेषणा और ख्याति-तृष्णा होती है वे काम छोड़ कर नाम के लिये स्वयं ही आत्मप्रकाशन किया करते हैं।

जिन रामानन्द चट्टोपाध्याय ने बी. ए. पास कर प्रयाग विश्व-विद्यालय में फेलोशिप प्राप्त की और लगभग एक दर्जन पत्रिकाओं का सफल सम्पादन किया, उन्होंने जब पाठशाला में पदार्पण किया उस समय वे शिक्षा-शुल्क दे सकने में असमर्थ थे। निदान एक निःशुल्क (फ्री स्कूल) पाठशाला में प्रवेश लेना पड़ा। किसी फ्री स्कूल

में प्रवेश लेना किसी के लिये भी अप्रतिष्ठा का प्रसंग था, किन्तु ज्ञान के भूखे रामानन्द चट्टोपाध्याय को प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा से क्या मतलब था। एक तो किसी शिक्षार्थी बटुक का इससे कोई सम्बन्ध नहीं होता, फिर उनका ध्येय तो शिक्षा प्राप्त करना था न कि प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा की देखभाल करना। किसी महान् उद्देश्य के लिये आवश्यकता पड़ने पर स्वाभिमान की परिधि से निकल कर दो कदम अवमान्य की ओर चल लेना कोई निन्दा का विषय नहीं है बल्कि निरहंकारिता का सूचक कार्य है जो हर प्रकार से सराहनीय है। शुभ कार्य में आड़े आया हुआ स्वाभिमान वास्तव में स्वाभिमान नहीं अहंकार अथवा दम्भ ही होता है जो माध्यमिक लगन वाले व्यक्ति को प्रायः पदच्युत कर ही देता है।

प्रारम्भिक पाठशाला में बालक रामानन्द का कार्य किसी प्रकार चलता रहा, किन्तु दस वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उसे आर्थिक कठिनाई के काँटे अधिक खटकने लगे। चेतनाशील चट्टोपाध्याय ने स्वावलम्बन का सहारा लिया। उसने अपने पाठ्यक्रम के अतिरिक्त घोर परिश्रम करके एक छात्रवृत्ति परीक्षा उत्तीर्ण की जिसके फलस्वरूप उसे चार रुपये मासिक की वृत्ति मिलने लगी।

स्वावलम्बन पूर्ण पुरुषार्थ का मीठा फल पाते ही बालक का विश्वास इस दिशा में उदीप्त हो उठा और उसने अपने जीवन में परिश्रम की प्रतिस्थापना कर ली। जिस विद्या विभूति की एक शिशु किरण ने उसके जीवन में आलोक की खिड़की खोल दी उसका मध्याह्न कितना प्रकाश पूर्ण होगा? इसका अनुमान लगाने में रामानन्द को अधिक कठिनाई नहीं हुई।

अध्ययन एवं अध्यवसाय में लगे हुए रामानन्द की आत्मा-‘विद्या-विद्या-विद्या’ का मंत्र जपती हुई उन्हें उसी ओर बढ़ाने लगी जिससे उसकी प्रतिभा उत्तरोत्तर प्रखरतम होती चली गई और वह पाठशाला का एक चमकीला छात्र गिना जाने लगा।

अँग्रेजी की दूसरी कक्षा में एक बार देश के ख्यातिनामा विद्वान् श्री रमेशचन्द्र दत्त ने रामानन्द की प्रतिभा से पुलकित होकर उसका चमत्कार देखने के लिये बड़े ही जटिल प्रश्नों से उसकी परीक्षा ली। अपने परिश्रमी स्वभाव और निष्ठापूर्ण लगन के कारण सदैव सन्नद्ध बालक रामानन्द ने वह चुनौती स्वीकार की और अँग्रेजी में पिचयानवें प्रतिशत अंक लाकर श्री दत्त को यह सोचने पर विवश कर दिया कि क्या वे अपने बाल्यकाल में कभी किसी परख परीक्षा में इतने अंक ला सके थे?

सत्रह वर्ष की स्वल्प आयु में रामानन्द ने न केवल प्रवेशिका की परीक्षा ही उत्तीर्ण की बल्कि सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में आवश्यक पुस्तकों तथा अन्य सामग्री का अभाव होते हुए भी चौथा स्थान पाया। रामानन्द की यह सराहनीय सफलता बीस रुपये मासिक की छात्रवृत्ति में फलीभूत हुई जिससे वे अपने बड़े भाई रामशंकर चट्टोपाध्याय की पीठ पर से अपना सम्पूर्ण भार हटा लेने में कृत-कृत्य हुये और मितव्ययिता के साथ अपने अध्ययन का कार्यक्रम सुविधापूर्वक चला सकने में आत्मनिर्भर हो गये।

प्रवेशिका की परीक्षा देने से पूर्व ही उनके पिता का देहावसान हो चुका था जिसके सोच ने रामानन्द का जीवन और भी सजग एवं सचेष्ट बना दिया। रामानन्द सारा काम अपने हाथ से करते थे और अपने पर कम से कम खर्च किया करते थे। वे केवल दस रुपये में अपने भोजन-वस्त्र और पढ़ाई का खर्च चलाते थे। तेल की बचत के लिए वे अपना सारा काम दिन में ही पूर्ण कर लिया करते थे।

छात्र जीवन में भी रामानन्द चट्टोपाध्याय का स्वच्छता एक विशेष गुण था। अत्यधिक अर्थाभाव के बीच भी उनके वस्त्र चाँदी की तरह स्वच्छ तथा चमकदार रहा करते थे। उनके वस्त्रों को देखकर अनेक साथियों को सन्देह हुआ कि इनके पास कई जोड़े कपड़े होंगे। उन्होंने एक दिन अवसर पाकर सन्दूक खोला तो पता चला कि एक जोड़ा कपड़ों के अतिरिक्त उनके पास कोई दूसरा वस्त्र न था। उनके साथियों ने वस्त्रों का सीमान्त अभाव होने पर भी उनकी शुभ वस्त्रता का रहस्य पूछा। उन्होंने साथियों को बतलाया कि वे नित्य प्रति अपने वस्त्रों को स्वयं ही धोते हैं और बड़ी परवाह के साथ पहनते हैं। मुझे गन्दगी से घोर घृणा है, इसमें दक्षिणा का निवास रहता है और इसलिए इससे बचने के लिए मैं नित्य घण्टा, आध घण्टा वस्त्रों पर परिश्रम किया करता हूँ। गन्दगी तथा मलीनता, बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति को मन्द बुद्धि बना देती है। गन्दगी से बचना छात्र जीवन की पहली शर्त है।

एफ. ए. पास करने पर उन्हें पच्चीस रुपये मासिक वृत्ति मिलने लगी और कलकत्ता के सिटी कॉलेज से बी. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने पर स्टेट स्कॉलरशिप देकर उन्हें विलायत भेजे जाने के प्रस्ताव होने लगे। किन्तु जब यह प्रस्ताव श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय के सम्मुख आया तो उन्होंने विनम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया। अनेक हितैषियों ने उनकी इस इन्कारी को बुद्धिमत्ता नहीं माना और विलायत चले जाने के लिये दबाव डालने लगे। विलायत हो कर आने पर एक ऊँची सरकारी नौकरी की निश्चित सम्भावना को तिलांजलि न देने के लिये अनुरोध करने लगे। किन्तु स्वाभिमानी, देशभक्त श्री रामानन्द ने यह कहकर सब का समाधान कर दिया कि मैं सरकारी छात्रवृत्ति पर विलायत जाने की कृतज्ञता रूप सरकारी दासता नहीं कर सकता। जिस पुनीत विद्या को मैंने बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया है उसे देश में विदेशी शासन की सहायता में लगा कर कलंकित नहीं करना चाहता, इसके द्वारा स्वतन्त्र रूप से मैं स्वयं अपने देश और समाज की सेवा करूँगा।

जहाँ तक ऊँचे ओहदे और घने वेतन का प्रश्न है उसकी मुझे कोई कामना नहीं है। जनसेवा को मैं सबसे ऊँचा पद और सन्तोष पूर्ण मितव्ययिता को सबसे बड़ी सम्पन्नता मानता हूँ। अपने अभाव की पराकाष्ठा में जो धन हमें लालायित न कर सका वह भला अब क्या लालायित कर सकता है, जब संसार की समृद्धियों की मूल विद्या देवी की कृपा प्राप्त कर चुका हूँ।

निदान उन्होंने आई. सी. एस. की सम्भावना को छोड़ कर सिटी कॉलेज में अवैतनिक शिक्षक के रूप में अपना सेवा कार्य प्रारम्भ किया और इस प्रकार अपने शिक्षा मन्दिर का ऋण चुकाते हुये कायस्थ कॉलेज में एक घण्टा पढ़ाकर पाये हुए सौ रुपये मासिक में अपना काम चलाने लगे, अनन्तर शिक्षा क्षेत्र में से पत्रकारिता के क्षेत्र में उतर आये। विद्यालयों में निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त वे विद्यार्थियों को अपनी ओजस्वी विचारधारा में दीक्षित न कर सकते थे। अपने विचार जन-जन तक पहुँचाने और स्वतन्त्र रूप से उनकी सेवा कर सकने के लिये अध्यापन के सीमित क्षेत्र से निकल पत्रकारिता के व्यापक, विस्तृत एवं विचार प्रधान क्षेत्र में आ गये।

सबसे पहले उन्होंने अमर चन्द्र बसु द्वारा प्रकाशित 'ब्राह्म बन्धु' नामक मासिक पत्रिका का कार्य अपने हाथ में लिया। अनन्तर 'ब्राह्मो पब्लिक ओपीनियन', 'इण्डियन मेसेन्जर' तथा 'तत्त्व कौमुदी' नामक पत्रों का सम्पादन संभाला। 'शिशु पाठ', 'इण्डिपेन्डेंट', 'मार्डन रिव्यू' आदि पत्रिकाओं का भार उन्हें अनुरोधपूर्वक सौंपा गया।

जहाँ तक इन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन का सम्बन्ध है उसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि जिस पत्र-पत्रिका को श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय का सम्पर्क प्राप्त हुआ वे अपने समय की क्रान्तिकारी पत्रिकाएँ बन गईं। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जिस समय श्री चट्टोपाध्याय के विचार प्रकाश में आये तो क्या देश और क्या विदेश के बड़े-बड़े विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो उठा।

स्वाभिमानी चट्टोपाध्याय ने अपने विचार स्वातंत्र्य के लिये अपने को किसी भी स्थिति में बेचा नहीं। जिस समय वे 'लीग ऑफ नेशनस' के कार्य निरीक्षक बन कर जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लैण्ड, चेकोस्लोविया, आस्ट्रेलिया और इटली आदि देशों के दौरे पर गये उस समय उन्होंने लीग ऑफ नेशनस से अपना भ्रमण व्यय नहीं लिया। जहाँ उनके इस त्याग में निःस्वार्थ सेवा का भाव था वहाँ यह विचार भी था कि यदि वे 'लीग ऑफ नेशनस' से अपना व्यय ले लेंगे तो एक प्रकार से उसके वेतनभोगी बन जायेंगे और तब ऐसी दशा में उसकी निष्पक्ष आलोचना न कर सकेंगे।

विश्व ख्याति और विश्व प्रतिष्ठा के व्यक्ति होने पर भी श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय बड़े ही सरल एवं निरहंकारी पुरुष थे। श्री क्षीरोद चन्द्र पाल, शरतचन्द्र राय तथा उनकी पत्नियों एवं सम्मानित व्यक्तियों ने मिलकर पथभ्रान्त तथा रोगी व्यक्तियों की सेवा-सुश्रूषा करने के लिये एक आश्रम की स्थापना की। इस आश्रम का नाम 'दासआश्रम' रखा गया। इस आश्रम के संस्थापक सभी कुलीन ब्राह्मण वंश के थे। अतएव उन पथहीनों, नीचों तथा रोगियों की सेवा करने में सबको संकोच हो रहा था।

निरहंकर चेतन तथा सच्चे सेवा भावी श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने उस समस्या का समाधान बड़ी सरलता से कर दिया। उन्होंने कहा— ब्राह्मणत्व अथवा क्षत्रियत्व का तो अधिकारी मैं नहीं हूँ। मैं

तो अपने को एक सेवक एक शूद्र समझता हूँ। अतएव आश्रम का सेवा कार्य मुझको सौंपा जाना चाहिये। श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय स्वयं भी एक कुलीन ब्राह्मण थे किन्तु अन्यो की तरह वे संकुचित तथा संकीर्ण भावना वाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने ज्ञान के प्रकाश में सेवा के महत्त्व को समझा और ऊँच-नीच, ब्राह्मण, शूद्र आदि की रूढ़ि भावना की अपेक्षा विवेक को अधिक महत्त्व दिया।

आत्मविश्वास, परिश्रम एवं पुरुषार्थ के बल पर आत्म निर्माता श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय एक साथ विद्वान् सेवक, अध्यापक, नेता और पत्रकार आदि सभी कुछ थे।

इनका जन्म बंगाल प्रान्त में बाँकुड़ा की पाइक पल्ली में सन् १८६५ की १६ ज्येष्ठ तिथि को हुआ था।

स्वामी विद्यानन्द—समाज की पीड़ा जिन्हें संन्यास से खींच लाई

विद्यानन्द जी का जन्म आन्ध्रप्रदेश के केरीगुड़ा कस्बे में सन् १९०२ में हुआ था। पिता नरहरि बलवन्त पडियार और माता अंचला साधारण गृहस्थ थे और धर्म के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था भी थी। उन्होंने अपने बच्चे की शिक्षा-दीक्षा और संस्कारवान बनाने का हर सम्भव प्रयत्न एक सच्चे अभिभावक की ही भाँति किया। लालन-पालन, लाड़-प्यार में भी बेचारों ने कोई कमी नहीं की।

तो भी २५वें वर्ष की आयु में पैर रखते ही विद्यानन्द ने बल्लभ मतानुयायी महात्मा केशव-सुत से संन्यास दीक्षा ले ली और गृह-परित्याग कर दिया। यह दोष न तो उनके संस्कारों का था न धर्मपत्नी और माता-पिता का, वरन् हमारी सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति है ही ऐसी कि कोई भी अल्प-विकसित व्यक्ति उसमें भटक ही सकता है। धर्म का एक ही स्वरूप है, अन्धी श्रद्धा और अन्ध-भक्ति—जिसमें जीवन की शुद्धता और पवित्रता को स्थान नहीं इतना ही शेष रह गया है। बालक विद्यानन्द को भी तो यही बताया गया था कि संसार मोह है, मिथ्या है, भ्रम-जाल है, इसे दुर्गन्ध की तरह परित्याग करके केवल ईश्वर भजन ही करना चाहिये। फिर यदि भरी जवानी में उन्होंने अपनी धर्मपत्नी और परिवार का परित्याग कर दिया तो इसमें उनका क्या दोष था? आज इन्हीं मूढ़ मान्यताओं के कारण सैकड़ों अपरिपक्व बुद्धि, कमजोर मानस के बच्चे तरुण और प्रौढ़ नासमझी में बाबा बनते चले जा रहे हैं और सुरसा के मुँह की तरह संन्यासियों, सन्तों, महात्माओं का परिवार बढ़ता चला जा रहा है।

विद्यानन्द जी का परिव्राजक जीवन प्रारम्भ हुआ। तीर्थाटन में उन्हें सैकड़ों सजातीय सन्तों से भेंट हुई पर उनके बिगड़े स्वभाव, बुरे आचरण और मिथ्या दम्भ को देखकर उनके हृदय में प्रारम्भ में जो ईश्वर दर्शन की जिज्ञासा उठी थी वह धीरे-धीरे विलुप्त होने लगी। एक दिन उन्होंने महात्मा गाँधी जी से भेंट की। अन्तःकरण की आकुलता उनके सामने व्यक्त की तो बापू जी ने उन्हें समाज सेवा की प्रेरणा देते हुये बताया—“परमात्मा का एक व्यवस्थित और

वैज्ञानिक स्वरूप है” उसे साधना और स्वाध्याय के द्वारा जाना और अनुभव तो किया जा सकता है, पर मनुष्य सांसारिक कर्तव्य पालन को तिलांजलि देकर उसकी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता। संसार न माया है, न मिथ्या। माया-जाल तो मनुष्य की वासनायें और तृष्णायें हैं, इन्हें जीता जा सके तो क्या गृहस्थ, क्या संन्यासी किसी को भी ईश्वर बड़े मजे से मिल सकता है।”

विद्यानन्द बापू की बातों से बहुत प्रभावित तो हुये पर उनके साथ और भी साधु थे जो अपने कथन की पुष्टि निरन्तर किया करते थे। फलस्वरूप विद्यानन्द जी का अपना कोई विचार नहीं बदला, हाँ वे यह अवसर अवश्य ढूँढ़ते रहे कि यदि संन्यास लिया ही है तो हमें सच्ची आत्मशक्ति और ईश्वर दर्शन की अभिलाषा तृप्त करनी ही चाहिये। इसके लिये वे गीता, रामायण, भागवत सब कुछ पढ़ते थे, पर उन्हें न कभी शान्ति मिली और न सन्तोष या आत्म साक्षात्कार ही हुआ।

एक दिन विद्यानन्द हरिद्वार में एक कुटी के भीतर बैठे कुछ विचार कर रहे थे, तभी एक स्त्री बाबाओं-भिखारियों को पैसा बाँटती निकली। उस स्त्री ने एक ओर बैठे पास-पास दो बाबाओं की ओर दो पैसे और एक आने के दो सिक्के फेंके। दोनों साधु पैसा उठाने को लपके। एक को इकन्नी मिली दूसरे को आध आना तो परस्पर विवाद उठ खड़ा हुआ कि उसने इकन्नी मुझे दी। दोनों ही पक्ष अपने को इकन्नी प्राप्त करने का अधिकारी बताने लगे। झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि चीमटों से मारा-मारी होने लगी जिससे एक बाबा का सिर फूट गया और उसे अस्पताल भेजना पड़ा।

इस घटना ने विद्यानन्द को वर्तमान साधु-वृत्ति से उलटा विचार करने की प्रेरणा दी। उन्होंने सोचा क्या यही श्रेयार्थी समाज के मार्ग-दर्शक महात्मा हैं, जो संसार को तो माया और मिथ्या बताते हैं, पर स्वयं एक कोड़ी के लिये सर-फुटबॉल तक कर सकते हैं। अन्तःकरण पाप दुर्वासनाओं और कुत्सित विचारों से भरा पड़ा हो तो धिक्कार है, ऐसे साधुपन को। उससे तो सीधे-सादे गृहस्थों का जीवन ही अच्छा, जो अपने परिश्रम की कमाई खाते हैं और परिवार तथा बच्चों की सेवा कर लेते हैं।

विचार की दिशा बदल ही रही थी कि एक और घटना वाराणसी में घटी। उन दिनों वे मणिकर्णिक में किसी गृहस्थ के यहाँ ठहरे थे। वहाँ पड़ोस में एक साधु के प्रवचन हुआ करते थे। विद्यानन्द कुछ जानने की अभिलाषा से कई दिन उसमें सम्मिलित हुये पर एक दिन जब साधु का वहाँ आगमन न हुआ तो उन्होंने उनकी तलाश की। पता चला कि वे जहाँ ठहरे थे, उसी घर की किसी क्वारी कन्या का शीलभंग करने के प्रयास में पकड़ गये। वहाँ उनकी खूब पिटाई हुई और वे चुपचाप रात में कहीं भाग गये।

यह सुनते ही विद्यानन्द जी का मन संन्यास के प्रति घृणा से मर गया। एक दिन वे आरा के किसी गाँव में भिक्षाटन कर रहे थे।

जिस घर में भीख के लिये आवाज लगाई, वह किसी अत्यन्त निर्धन गृहस्थ का घर था। घर की स्त्री जो निर्धनता और सामाजिक अत्याचारों के कारण अत्यन्त दुर्बल और कुशकाम्य हो रही थी, घर से थोड़े चावल लेकर निकली। पीछे उसका छोटा बच्चा भूख-भूख चिल्लाता हुआ फटी धोती पकड़े चला आ रहा था। बच्चे का करुण रुदन सुनकर भावुक विद्यानन्द अधीर हो उठे।

हाथ में भिक्षा लिये उस स्त्री की धर्म के प्रति ऐसी प्रगाढ़ आस्था देख कर उनका मन किया कि उसे धनवान होने का आशीर्वाद दे दें, पर भीतर से किसी ने कहा— विद्यानन्द आशीर्वाद से किसी की स्थिति बदल देने की शक्ति तुम साधुओं में रही होती तो आज देश की यह दुर्गति न होती, जो तुम ४ साल के देशाटन में देख चुके हो। यदि तुम किसी का भला नहीं कर सकते तो किसी पर आश्रित रहना भी पाप है।

विद्यानन्द का विचार एकदम बदल गया। अब उन्होंने निश्चय किया कि वे सच्चे हृदय से गृहस्थ धर्म का पालन करते हुये समाज की सेवा करेंगे। अपने दृढ़ निश्चय के अनुसार वे एक दिन अपने घर लौट आये और बाह्याडम्बर का जो चोला था उसे उतार कर बाहर फेंक दिया।

धर्मपत्नी की तो प्रसन्नता का पारावार न रहा। उसने परमात्मा को अपना सुहाग लौटा देने के लिये कोटिशः धन्यवाद दिया, पर गाँव वालों में विद्यानन्द के उपहास का तूफान आ गया। लोग पूछते-भाई माया-जाल में ही रहना था तो यह सब बाना क्यों बनाया था।

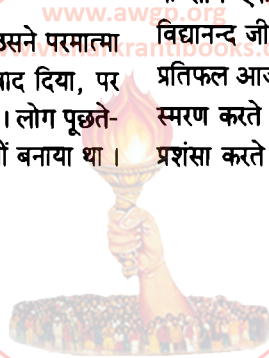
विद्यानन्द मुस्करा देते, प्रतिवाद या उत्तर देना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

शीघ्र ही लोग समझे कि उनकी वह गम्भीर मुस्कराहट तथ्य और आशयपूर्ण थी। अब तक गाँव में एक भी स्कूल न था। दो-चार ही ऐसे साधनसम्पन्न और साहसी लोग थे जो बच्चों को पढ़ाने के लिये वहाँ से १५ मील दूर भेजते थे। विद्यानन्द जी ने गाँव में एक पाठशाला चलाई। प्रारम्भ में उसमें कुल ३ विद्यार्थी थे पर उनकी मेहनत, त्याग और तपश्चर्या के फलस्वरूप अन्त में यह विद्यालय बालक-बालिकाओं की शिक्षा का उच्चतर माध्यमिक विद्यालय बना। वहाँ बच्चों को नैतिक शिक्षा, धर्म और अध्यात्म के सही स्वरूप को समझाने की भी व्यवस्था रखी गई।

इसके बाद विद्यानन्द ने कृषि कार्य से अपनी आजीविका कमाते हुये, आस-पास के गाँवों और सारे प्रान्त में सैकड़ों स्कूल खुलवाये व स्त्री शिक्षा का खूब प्रसार किया। स्वयं भी प्रतिदिन अपनी धर्मपत्नी को एक घण्टे पढ़ाते थे, उनकी योग्यता यहाँ तक बढ़ी कि गाँव में लड़कियों के स्कूल की प्राध्यापिका भी वही नियुक्त हुई।

नैतिक शिक्षण के उद्देश्य से विद्यानन्द ने प्रत्येक शिक्षा संस्था के साथ एक-एक पुस्तकालय चलाया। ६० वर्ष की आयु तक विद्यानन्द जी ने समाज की सम्पूर्ण हृदय आत्मा से सेवा की-उसके प्रतिफल आज परिलक्षित हो रहे हैं। लोग बड़ी श्रद्धा के साथ उनका स्मरण करते हैं और उनके साहस, सेवा-भाव और सूझ-बूझ की प्रशंसा करते हैं।

000



पीड़ित मानवता के अनन्य सेवक

मानवीय मूल्यों के संस्थापक— डॉ. किंग

डॉक्टर मार्टिन लूथर किंग अपनी निराशा तथा कमजोरी को छिपाये हुए भाषण दिये जा रहे थे। श्रोताओं पर आशा के अनुरूप प्रभाव नहीं पड़ रहा था। तभी अचानक गिरजाघर के द्वार पर मदर पोलाई नामक एक महिला आकर खड़ी हो गई, उन्होंने डॉक्टर किंग को बड़े प्यार से बुलाया, वह आये और भाव-विभोर होकर उनके गले से चिपट गये।

मदर पोलाई ने पूछा— 'बच्चे ! आज क्या बात है ? तुम्हारी वाणी में जो शक्ति होनी चाहिए वह अभी सुनाई नहीं दे रही थी। क्या तुम गोरों से परेशान हो गये हो अथवा हम लोगों का तुम्हें पूरा-पूरा सहयोग नहीं मिल रहा है ?'

डॉ. किंग ने अपनी झेंप मिटाते हुए कहा— 'मदर ऐसा तो कुछ भी नहीं है। मेरी वाणी तो सदैव की तरह आज भी सशक्त है।'

मदर पोलाई ने समझाते हुए कहा— 'मैं तुमको बार-बार समझाती रही हूँ कि हम लोगों का पूरा-पूरा सहयोग तुम्हें सदैव प्राप्त होगा। थोड़ी देर को यदि यह मान भी लें कि हम तुम्हारा साथ नहीं दे रहे हैं तो ईश्वर पर सदैव भरोसा रखना चाहिए, वह निश्चित रूप से हर भले काम का साथ देता है।'

ये वे शब्द थे जो डॉक्टर किंग के कानों में जीवन भर गूँजते रहे। उन्हें ईश्वर के प्रति आस्तिकता ने ही कठिन से कठिन परिस्थितियों से जूझने का साहस प्रदान किया था। ऐसे साहस के धनी डॉ. किंग का जन्म अमरीका की नीग्रो जाति में हुआ था। सन् १९५४ तक इस जाति के लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने का अधिकार न था, उनके लिए स्कूल अलग होते थे। किसी बस से यात्रा करनी हो तो उन्हें सबसे पीछे की सीट दी जाती थी। होटल और रेस्तरां आदि में वे प्रवेश नहीं कर सकते थे। अछूतों की तरह उनकी बस्तियाँ अलग होती थीं। डॉ. किंग ने जब नीग्रो जाति की इस पतित अवस्था को देखा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ और उन्होंने इस जाति के लोगों में साहस और चेतना का ऐसा संचार किया कि वे इन सामाजिक बुराइयों का मुक़ाबला स्वयं अपनी शक्ति से कर सकें।

डॉ. किंग बचपन से ही धीरे के साहित्य का अध्ययन करते रहे थे। इसी की प्रेरणा से उनके मन में यह विश्वास जम गया था कि नीग्रो जाति के लोगों को पराधीनता की स्थिति से मुक्ति दिलाने वाला यदि कोई मार्ग है तो वह है— प्रेम और अहिंसा के द्वारा प्रतिरोध

का। अब्राहम लिंकन के वे शब्द भी उन्हें अच्छी तरह याद थे कि अमरीका आधा स्वतन्त्र और आधा परतन्त्र रह कर अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सकता।

डॉ. किंग ने जब गाँधी जी के साहित्य तथा भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास को पढ़ा तो उनकी दृष्टि बदल गई, उस समय वह आर्किमिडीज की तरह चिल्ला पड़े— 'मिल गया-मिल गया।' और सचमुच उन्हें सिद्धांत ईसा से और मार्ग गाँधी से मिल गया था। वह समझ गये थे कि जब भारतवासी हिंसा और शस्त्र बल से देश को स्वतन्त्र नहीं करा सके फिर नीग्रो जाति इस मार्ग पर चलकर अमरीका में नागरिक अधिकार कैसे प्राप्त कर सकती है ? उन्होंने प्रेम के वातावरण की आवश्यकता अनुभव की। ईसा, बुद्ध और गाँधी की तरह उनका विश्वास था कि घृणा को घृणा के द्वारा नहीं मिटाया जा सकता। इससे आत्मा मलीन होती है और व्यक्तित्व कुण्ठित। प्रेम की शक्ति से ही शत्रु मित्र बन सकते हैं जब कभी शारीरिक शक्ति से, जो कि पाशविकता की प्रतीक है लोहा लेना पड़े तो हमें आध्यात्मिक शक्ति का ही आश्रय लेना होगा। क्योंकि यही शक्ति मानव-मानव के मध्य की गहरी खाई को पाटने वाली है और घृणा को मिटाने वाली है।

सन् १९५५ में जब डॉ. किंग ने नीग्रो लोगों से बसों का बहिष्कार करने के सम्बन्ध में कहा तो अन्य लोगों को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि कभी ऐसा भी हो सकता है पर जब पचास हजार नीग्रो लोगों ने बसों में बैठना बन्द कर दिया तो बस कम्पनी का दिवाला निकलने लगा। यही वह प्रमुख घटना थी जिसने संसार का ध्यान डॉ. किंग की ओर आकर्षित कर दिया।

डॉ. किंग ने सारा जीवन ईसा मसीह के सन्देश को सारी मानव जाति तक पहुँचाने में लगाया था। वह भले ही नीग्रो जाति में जन्मे हों पर उनकी कार्यक्षमता और प्रतिभा किसी गिरे व्यक्ति से कम न थी। सन् १९६४ में ६५ वर्ष की आयु में उन्होंने नोबेल शांति पुरस्कार प्राप्त किया था। उन्होंने संसार की विभिन्न जातियों के मध्य जो एक सूत्रता को जन्म दिया वह आज के युग का अपने ढंग का अनोखा कार्य ही कहा जायेगा। वे ऐसी दीन-हीन पददलित जाति के लिए जीवन-भर अपनी सेवायें समर्पित करते रहे जो अमरीका में अधिकार-हीन मानी जाती थीं। इस जाति को वाणी देने का श्रस डॉ. किंग को ही है।

डॉ. किंग ने धर्म और विज्ञान का समन्वय करने का प्रयास किया था। वह कहते थे कि विज्ञान धर्म को तार्किक आधार प्रदान करता है और धर्म विज्ञान को नैतिक अराजकता के गर्त में गिरने से बचाता है। वह स्वयं आध्यात्मिक जीवन के प्रति निष्ठावान थे और लोगों

को सत्य का अनुसरण करने का सन्देश प्रदान करते थे। वह कहते थे मानव जीवन भले ही क्षण भंगुर हो पर उसे अविवेक के साथ न बिताना चाहिये। इस संसार को जीने योग्य वे ही व्यक्ति बना सकते हैं जो सत्य के प्रति अनुरागी, न्यायप्रिय तथा त्यागी वृत्ति के हों। वह गाँधी जी की तरह जीवन भर सत्य की खोज करते रहे और उसके लिए उन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध का आश्रय लिया था। वह सही दृष्टि में ईसा के अनुयायी थे, उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि जो भी विरोधी होंगे उन्हें क्षमा किया जायेगा क्योंकि रंगभेद के आधार पर अमरीकी समाज में, दीवारें बनाई गई हैं और जो खाइयाँ खोदी गई हैं उनसे व्यक्ति अज्ञान के अभाव में भटक रहे हैं। इन्हें डॉ. किंग बुरे की संज्ञा न देना चाहते थे। उनकी नामसझी और अज्ञानता पर उन्हें तरस आता था। ऐसी स्थिति में उनके पास केवल एक मार्ग था अन्धकार को हटाना। वे नीग्रो जाति को संगठित तथा सशक्त बनाकर प्रेम का वातावरण निर्मित करने में लग गये।

डॉ. किंग कहा करते थे कि ८० वर्ष व्यर्थ जीने की अपेक्षा आधी जिन्दगी उद्देश्यपूर्ण ढंग से जीना कहीं अच्छा है और उनका यह कथन उनके जीवन पर ही लागू होते दिखाई देता है। यह केवल ३९ वर्ष का ही सार्थक जीवन जीकर महात्मा गाँधी और ईसा मसीह की तरह सत्य पर बलिदान हो गये। वह अन्धविश्वास और कुपरम्पराओं को मानव जाति की प्रगति के लिए सबसे अधिक बाधक मानते थे।

व्यक्तियों का मर्यादा-हीन जीवन देखकर उन्हें बहुत दुःख होता था। वह अपने अनुयायियों को सदैव इस बात के लिए प्रेरित करते रहते थे कि हमें अपने व्यक्तिगत आचरणों में आध्यात्मिक मूल्यों तथा सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को स्थान देना चाहिये। वह प्रायः एक प्रश्न सभी से पूछा करते थे कि अपनी आत्मा अथवा चरित्र को दाँव पर लगाकर यदि सारे संसार की दौलत हमारे सामने रख दी जाये तो उसका क्या उपयोग होगा? वास्तव में यह धार्मिक प्रश्न है जो केवल अमरीकी लोगों से ही सम्बन्ध नहीं रखता वरन् सम्पूर्ण मानव जाति के सम्मुख आज भी ज्वलन्त रूप में उपस्थित है।

उनका विश्वास प्रार्थना में तो था। वह प्रार्थना को आत्मा का भोजन कहकर पुकारते थे पर ईश्वर के द्वारा दी गई बुद्धि और कार्यक्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करना चाहते थे क्योंकि आस्तिक व्यक्ति को पुरुषार्थ करना ही चाहिये।

प्रिंस क्रोपाटकिन—जो जीवन भर अन्याय से लड़ते रहे

नाटक का पर्दा बदलता है। जार निकोलस की अँधेरी रात दूर हो गई है और सैकड़ों निरपराध व्यक्ति फाँसी पर लटक दिये गये। हजारों जेल में ठूस दिये तथा साइबेरिया में अपनी कब्र आप ही खोदने के लिए भेज दिये। सारे रूस पर आतंकवाद का साम्राज्य था। लेकिन भीतर ही भीतर रूस जाग रहा था। रूसी जार अलेक्जेंडर द्वितीय ने अपने शासन सूत्र का संचालन भार दो जालिम अफसरों—ट्रोफ और शुवोलभ को सौंप दिया था, वे चाहे जिसे फाँसी पर लटक देते

और चाहे जिसे निर्वासित कर देते। लेकिन फिर भी क्रांतिकारी गुप्त समितियों की कार्यवाही रोकने में वे सफल नहीं हो सके। ऐसे घोर अशान्ति-मय वातावरण में एक अद्भुत किसान अदृश्य भूत की तरह इधर से उधर घूम रहा है। लेकिन उसे पकड़ सकना आसान नहीं है। जिन जुलाहों और मजदूरों के बीच वह काम करता है वे उसके साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार नहीं हैं, वे सैकड़ों की संख्या में पकड़े जाते हैं। कुछ को जेल की सजा मिलती है और कुछ को फाँसी की परन्तु कोई भी उस किसान का नाम-पता बताने के लिए तैयार नहीं होता।

इन शब्दों में ए. जी. गार्डिनर ने जिस व्यक्ति का उल्लेख किया है वह बड़ी मुश्किल से पुलिस की गिरफ्त में आ सका और वह भी तब जबकि उसके साथी जुलाहों को उनके साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार नहीं कर लिया गया। पुलिस और शासन को इस क्रांतिकारी किसान के वास्तविक स्वरूप की बिल्कुल भी जानकारी नहीं थी। वह तो यह समझती थी बोरोडिन नाम कोई व्यक्ति किसानों और जुलाहों को उसके विरुद्ध तैयार कर रहा है।

सन् १८७४ की घटना है। बसन्त की सुहानी सन्ध्या थी और सेन्ट पीटर्सबर्ग में स्थानीय और दूर-दूर से आये वैज्ञानिक ज्योग्राफिकल सोसायटी हाल में एकत्र हुए थे। उन दिनों फिनलैण्ड की यात्रा के निष्कर्षों पर प्रिंस क्रोपाटकिन भाषण दे रहे थे। जब प्रिंस ने अपना भाषण आरम्भ किया तो रूस के डाइल्यू वियल-जल-प्रलय के सम्बन्ध में भूगोलशास्त्रियों ने अब तक जो मान्यतायें स्थापित की थीं वे सब निराधार सिद्ध हुईं। उन्होंने एक के बाद एक प्रमाण और तर्क उपस्थित कर इस विषय में एक नवीन सिद्धान्त स्थापित किया। भाषण समाप्त होने के बाद हाल में उपस्थित सभी विज्ञान-वेत्ता प्रिंस का अमिट और अद्भुत प्रभाव लेकर लौटे। आज तक तो उनकी धारणा रही थी कि प्रिंस क्रोपाटकिन एक महान् गणितज्ञ हैं। भूगर्भ विद्या में भी उनका कितना गहरा प्रवेश है—यह आज ही पता चल सका था। उनके व्याख्यान का इतना प्रभाव हुआ कि उन्हें फिजीकल ज्योग्राफी विभाग जो ज्योग्राफिकल सोसायटी का ही एक अंग था, का सभापति मनोनीत किया गया।

ज्योग्राफिकल हाल से अपना भाषण समाप्त कर वे बाहर आये और अपनी गाड़ी में बैठकर आगे बढ़े। अभी कुछ दूर पर ही चल पाये होंगे कि एक दूसरी गाड़ी उनके पास से गुजरती हुई उनसे आगे निकल कर रुक गयी। उस गाड़ी में बैठे एक जुलाहे ने उचक कर प्रिंस की ओर देखते हुए कहा—मिस्टर बोरोडिन! सलाम! दोनों गाड़ियाँ रोक दी गयीं और क्रोपाटकिन विस्मित नेत्रों से जुलाहे की ओर ताकने लगे। तभी जुलाहे के पीछे से गाड़ी में बैठा हुआ खुफिया पुलिस का आदमी कूद पड़ा और बोला—मिस्टर बोरोडिन उर्फ क्रोपाटकिन—मैं तुम्हें गिरफ्तार करता हूँ। उस जासूस के इशारे पर पुलिस के कुछ और आदमी भी कूद पड़े। उनका विरोध करना व्यर्थ होता और क्रोपाटकिन गिरफ्तार कर लिये गये। बाद में उन्हें देश निर्वासन की सजा दे दी गयी और उन्हें अपनी मातृभूमि तथा वहाँ फैली हुई सम्पदा

और सम्पन्नता को छोड़कर ४१ वर्षों तक विदेशों में दर-दर की ठोकें खानी पड़ीं। उनका अपराध केवल मात्र इतना था कि उन्होंने देश के लाखों-करोड़ों लोगों के दुःख-दर्द की चिन्ता की थी। तत्कालीन शासन-व्यवस्था जो जन-साधारण की समस्याओं और तकलीफों को हल करने के लिए बनायी जाती है—वास्तविक उद्देश्य से हटकर चन्द लोगों के शौक-मौज और सुख-विलास का साधन बनी हुई थी उसके विरुद्ध उन्होंने आवाज उठायी थी और इसी निर्दोष अपराध के कारण उन्हें देश निष्कासन भोगना पड़ा।

प्रिंस क्रोपाटकिन का जन्म १८४२ में रूस के एक समृद्ध, कुलीन और राजवंशी परिवार में हुआ था। उस समय जारशाही का युग था और जार का शासन अपनी विलासिता, पक्षपात, अनाचार, अत्याचार और अव्यवस्था के कारण रूसी इतिहास के पृष्ठों में सदा से एक कलंक की भाँति रहा है। प्रिंस क्रोपाटकिन आरम्भ में जार के बड़े प्रशंसक और कृपापात्र रहे। यही कारण था कि जब वे केवल आठ वर्ष के थे तो उन्हें जार ने अपना बाल पार्श्वद चुना। बारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने रूसी तथा फ्रेंच भाषा का अध्ययन किया।

उन्होंने सैनिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त की तथा गवर्नर जनरल के ए. डी. सी. बनकर साइबेरिया गये, वहाँ उन्होंने जो कुछ देखा वह उनके व्यक्तित्व के मानवीय पक्ष को जाग्रत कर देने में सफल हुआ। साइबेरिया में उन दिनों जार के कोपभाजन बने लोगों को अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए जीवन के शेष दिन नारकीय दुर्दशा में गुजारने पड़ते थे। उन दिनों रूस में भी दास प्रथा का जोर था। गुलामों की खरीद, बिक्री और उनसे पशुवत व्यवहार की परम्परा जारी थी। कोई भी गुलाम अपने मालिकों के विरुद्ध जरा भी चूँ करता तो उसे भयंकर यातनायें सहन करने के बाद साइबेरिया में जाना पड़ता। क्रोपाटकिन जब गवर्नर जनरल के ए. डी. सी. बनकर उस क्षेत्र का दौरा करने पहुँचे तो वहाँ की स्थिति देखकर उनका हृदय विद्रोह से भर उठा और उन्होंने तुरन्त शासकीय सेवा से त्यागपत्र दे दिया।

इसके बाद सेण्ट पीटर्स बर्ग यूनीवर्सिटी में पाँच वर्ष तक उन्होंने गणित और भूगोल का अध्ययन किया। जारशाही के छिद्र देखकर उनके हृदय में विद्रोह और क्रान्ति की जो भावना जागी थी उसे दिशा देने का ही साधना काल था वह। वे इन पाँच वर्षों तक लगातार सोचते रहे कि क्या किया जाना चाहिये तथा कैसे किया जाना चाहिए।

शिक्षा समाप्त करने के बाद वे अपने भविष्य जीवन के लिए निर्णायक रूप से कुछ सोच सके और निश्चित कर सके। उस समय उनकी ही-सी धारणा वाले विभिन्न लोग भी थे जो रूस में जार के शासन का विरोध कर, क्रान्ति द्वारा उसे पलट देने की योजना तैयार कर रहे थे। प्रिंस ने ऐसे लोगों से सम्पर्क किया तथा उनके दल में सम्मिलित हुए। उनकी प्रतिष्ठा, प्रभाव और सूक्ष्म बुद्धि से प्रभावित होकर क्रान्तिकारी पार्टी ने उन्हें यूरोपीय देशों में क्रान्ति की प्रक्रिया और पद्धति का अध्ययन करने के लिए भेजा। यूरोपीय देशों की यात्रा के दौरान उन्होंने अध्ययन तो किया क्रान्ति का परन्तु सरकार को चुप रखने के लिए वह बहाना भी पूरा किया जिसमें उन्होंने घोषित किया

था कि वे भूगोल और गणित के उच्च अध्ययन हेतु विदेश यात्रा पर जा रहे हैं।

स्वदेश लौटकर वे अपने विचारों का प्रचार करने लगे। क्रान्ति उनका धर्म था—अवश्य परन्तु उनकी क्रान्ति की परिभाषा कुछ विशिष्टताओं से सम्पन्न थी। क्रान्ति की सामान्य परिभाषा में उचित अनुचित का इतना सूक्ष्म अन्तर नहीं समझा था। लेकिन प्रिंस क्रोपाटकिन ने सदा ही साधन और साध्य की पवित्रता पर जोर दिया। कलम और वाणी के माध्यम से उन्होंने ऐसी ही पद्धतियों का प्रचार किया जो मानवता से सीधा सम्बन्ध रखती थीं।

यद्यपि मेल-जोल उनका सभी से आत्मीयतापूर्ण था तथापि साधनों के चुनाव के विषय में वे सदैव कठोरता से काम लेते थे। उनके एक जीवन चरित्र लेखक मेरी गोल्ड स्मिथ ने लिखा है 'जो भी व्यक्ति प्रिंस क्रोपाटकिन से मिलने जाता था उसकी बात वे बड़ी प्रेमपूर्ण मुस्कराहट और सौम्य भावना से सुनते थे। परन्तु एक बात थी कि भले ही प्रत्येक ईमानदार और उत्साही व्यक्ति के प्रति उनका व्यवहार उदारतापूर्ण रहा हो तथापि साधनों का चुनाव करते समय वे बहुत ही कठोर हो जाया करते थे। प्रचार के कुछ ढंगों को क्रोपाटकिन असह्य मानते थे। अनुचित उपायों का जिक्र करते समय वे कठोर हो जाया करते। चाहे जैसे भले-बुरे साधनों द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के सिद्धान्त से उन्हें नफरत थी। चाहे संगठन का काम हो, चन्दा इकट्ठा करने का, विरोधियों से व्यवहार करना हो या दूसरी पार्टियों से सम्बन्ध बनाना किसी भी काम में अनुचित साधनों का प्रयोग वे किसी भी दशा में सहन नहीं कर सकते थे।'।

विश्व इतिहास में इस प्रकार का एक और उदाहरण है—महात्मा गाँधी का। दुनिया के कई व्यक्तियों ने जिन्होंने प्रिंस की जीवन साधना और उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन किया है उनका साम्य महात्मा गाँधी के साथ ही स्थापित किया है। कई विषयों में महात्मा गाँधी ने भी प्रिंस क्रोपाटकिन के विचारों से प्रेरणा प्राप्त की। उनके शिक्षा, कृषि, शारीरिक श्रम और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों को महात्मा गाँधी ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया और अपनी विचारधारा तथा भारत की पुनर्निर्माण योजना का कार्यक्रम ही बना लिया। सन् १८९६ में जब टाइनसाइड के कुछ कार्यकर्ताओं ने कृषि संघ कायम कर खेती करने का निर्णय लिया तो क्रोपाटकिन ने उन किसानों को प्रोत्साहित किया और इस कार्य में आने वाले सम्भावित खतरों से भी आगाह किया।

लेकिन कहा जाता है कि किसी हिंसक डाकू से अहिंसक योद्धा अनीति और अन्याय के लिए खतरनाक होता है। यही कारण था कि उनके अहिंसक और शान्तिपूर्ण किंतु विस्फोटक प्रयासों से रूस की सरकार भयभीत हो गई और उन्हें पकड़कर देश निकाला दे दिया। सन् १८७६ से १९१७ तक के इकतालीस वर्ष उन्हें अपने देश से बाहर निकालने पड़े। जार समझता था कि इस प्रकार क्रोपाटकिन का जोश ठण्डा पड़ जायेगा। परन्तु दण्ड और दमन ने न्याय और नीति के पक्षधरों का मुँह बन्द करने में कब सफलता पाई है। कच्चे

लोगों की बात और है जो इन अत्याचारों से घबराकर पुँह बन्द कर लेते हैं वस्तुतः उन्हें तो इन सिद्धान्तों में आस्था होती ही नहीं है क्योंकि दमन तो उन चोटों की तरह है जिन्हें सहन करते-करते आभूषण में—आदर्शों के प्रति निष्ठा-भावनाओं में और भी अधिक प्रखरता आती चली जाती है।

क्रोपाटकिन ने इस अवधि में कई देशों का भ्रमण किया और क्रान्ति की जड़ें सींचीं। इन्हीं दिनों उनकी पुकर बाणी के साथ-साथ लेखनी से भी मुखर होने लगी। इस काल में उनके निर्वाह का यही मात्र साधन था। स्विटजरलैण्ड के बाद वे फ्रांस गये और वहाँ जार के इशारों पर फ्रांसीसी सरकार ने उन्हें अकारण ही ढाई वर्ष तक जेल में रखा। यह कारावास उनके जीवन की प्रमुख उपलब्धियों का काल बना। जेल में उन्होंने 'परस्पर सहयोग' और 'रोटी का सवाल' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की जिनका विश्वव्यापी महत्त्व है।

सन् १८८६ ई. में उन्होंने लन्दन से फ्रीडम पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इन्हीं दिनों एक दुःखद घटना घटी। उनके बड़े भाई जो वैज्ञानिक शोध कार्यों में रत थे ने आत्महत्या कर ली। क्रोपाटकिन द्वारा क्रान्ति का प्रचार करने के कारण उनके अग्रज से बदला लिया गया। पहले तो बारह-तेरह वर्षों तक उन्हें साइबेरिया के अन्ध-लोक में रखा गया। फिर जब उनके छुटकारे के दिन आए तो उन्हें देश निर्वासन की सजा दी गयी। इन परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर उन्होंने अपने आप को गोली मार ली।

सन् १९१७ में जब रूस की क्रान्ति सफल हुई और वहाँ समाजवादी शासन की स्थापना हुई तो वे रूस लौट आये और रूसी सरकार के प्रधान कैरैन्सकी ने उनका स्वागत करते हुए सुझाव रखा—आप हमारे सरकारी मन्त्रिमण्डल में कोई-सा भी पद चुन लीजिए।

लेकिन आजीवन सेवाव्रती प्रिंस क्रोपाटकिन ने विनम्रतापूर्वक इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। ८ फरवरी, १९२१ को उनका देहान्त हो गया। जब वे मरणसन्न हुए तो लेनिन ने मास्को से सर्वश्रेष्ठ डॉक्टर और भोजन औषध आदि सामग्रियाँ भेजी थीं। आज भी उनके जीवन की स्मृति दिलाने वाली वस्तुएँ उनके नाम पर स्थापित म्यूजियम में सुरक्षित हैं। परन्तु उससे भी अधिक उनकी स्मृतियाँ लोगों के मन मस्तिष्क पर जीवित हैं और रहेंगी।

अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक सीमांत गाँधी

हमारा देश स्वतन्त्र हुआ। अंग्रेजों की तब भी यह धारणा थी कि हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते रहे तो उन्हें पुनः शासन करने का अवसर मिल जाय। इसलिए जाते-जाते एक विक्षेप की चिंगारी छोड़ गये। वे भारत को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान—दो टुकड़ों में विभाजित करना चाहते थे। मुहम्मद जिन्ना पाकिस्तान—पृथक देश की माँग पूरी कराने हेतु अड़ गये। उन्हीं दिनों एक व्यक्ति ऐसे भी थे जो यह जानते थे कि किसी तरह देश का विभाजन रुक जाए।

वे थे खान अब्दुल गफ्फर खान जिन्होंने अपना सारा जीवन अन्याय से संघर्ष करने में लगा रखा है। वे अन्त तक कहते रहे कि देश का विभाजन किसी के हित में नहीं है। परन्तु उनकी बात उसी तरह अनसुनी कर दी गई, जैसे एक समय गाँधी जी की बात किसी ने न मानी थी।

देश का विभाजन तो हो गया किन्तु उनका यह विश्वास था कि हमारी सीमा अलग कर हमारे हृदयों को नहीं बाँटा जा सकता। हिन्दू और मुसलमान हमेशा की तरह एकता के सूत्र में बँधे रहेंगे। उनमें भाईचारे का व्यवहार सदा बना रहेगा।

भारत का विभाजन पूर्ण हुआ। कुछ हिस्सों को मिलाकर पाकिस्तान का निर्माण किया गया। उस समय यह विश्वास व्यक्त किया गया कि सीमावर्ती प्रान्तों के साथ ही पख्तूनों के अधिकार और उनकी संस्कृति सुरक्षित रहेगी। उन्हें भी उन्नति का समान अवसर दिया जाता रहेगा। उनके साथ किसी तरह का भेद-भाव नहीं बरता जायेगा। परन्तु कुछ ही दिनों में यह विश्वास हवामहल सिद्ध होने लगा। पाकिस्तान के नेतागण अपने स्वार्थ-सिद्धि में डूब गये। कुर्सी का मोह और दुरुपयोग बढ़ने लगा है तो अपने भी पराये लगते हैं। उनके अधिकार सीमित कर दिये गये। विरोध करने वाले को जेलों में ठूँसा जाने लगा। सहृदय और संवेदनशील व्यक्ति अन्याय सहन नहीं कर सकता। उसकी मान्यता तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की हुआ करती है। किसी एक वर्ग अथवा जाति पर अन्याय किया जाना उसे कभी भी सहन नहीं हो सकता। खान अब्दुल गफ्फर खान ने यह देखा तो उनका हृदय तार-तार हो गया। वे इस अन्याय के प्रति संघर्ष के लिए उठ खड़े हुए और दुर्गम परिस्थितियों में आज भी अपने ध्येय पर डटे हुए हैं।

खान ने परतन्त्रता का वही फन्दा पुनः गले में लिपटा हुआ अनुभव किया। वे सत्य, अहिंसा और शांति के पुजारी हैं, उनका विश्वास है कि बिना धार्मिक एकता के कोई भी देश आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिए पख्तूनों की पृथक पख्तूनिस्तान की माँग का नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया। पाकिस्तान ने उन्हें देशद्रोही करार दिया। उन्हें जनता को भड़काने वाला व्यक्ति कहकर सताया जाने लगा। यहाँ तक कि उन्हें जनता से अलग रखने के उद्देश्य से कठिन यातना सहित कारावास में रखा गया। वे चाहते थे कि जेल की चहारदीवारी में चीख-चीख कर उनका मनोबल टूट जाए। तानाशाही शासन के नृशंस अत्याचारों के विरुद्ध उनकी आवाज कभी न खुल सके। न उन्हें भरपेट भोजन दिया जाता, न बीमार होने पर उनका उपचार किया जाता, उन्हें पत्र-व्यवहार की सुविधा से वंचित रखा गया। परन्तु इसका परिणाम कुछ उलटा हुआ। कठिनाइयों में मुड़ जाना कच्चे लोहे का काम है, फौलादी इस्पात टूट सकता है पर कठिनाइयों से समझौता करना उसे नहीं आता।

शक्ति नहीं व्यक्ति की निष्ठा लोगों को झुकती है और अनुगामी बनाती है। आखिर उन्हें इलाज हेतु लन्दन भेजा गया। ज्यों-ज्यों दवा की गई, बीमारी बढ़ती गई। उनकी आँखों के सामने पख्तूनों

पर किये गये नृशंस व्यवहार का दृश्य चलचित्र की तरह दिखलाई पड़ता तो वे सहिर उठते । वे अन्याय के प्रति संघर्ष करने का बीड़ा उठा चुके थे । अतः यह संघर्ष जारी रखना चाहते थे । पाकिस्तान वापस आने पर पुनः बर्बरतापूर्ण व्यवहार के शिकार हो सकते थे । अतः विदेश में ही रहकर अपना आन्दोलन जारी करने का निर्णय ले लिया । वे लन्दन से काबुल चले गये । वहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया । यह स्वागत किसी व्यक्ति का नहीं वरन् सिद्धान्तों का था । संघर्ष ही जिनका जीवन हो, ऐसे स्वतन्त्रता के पुजारी का सम्मान-स्वागत कौन नहीं करेगा । अपने निजी स्वार्थों की अपेक्षा सामाजिक स्वार्थ को ऊँचा समझने वाला व्यक्ति सचमुच अभिनन्दनीय होता है । वे यदि निजी स्वार्थ में डूबे रहते तो पख्तूनों को कभी सिर ऊँचा करने का अवसर नहीं मिलता और स्वतन्त्रता भी नहीं मिल पाती ।

सत्य और अहिंसा के पुजारी तथा स्वाधीनता आन्दोलन के इस तपस्वी नेता का जन्म सन् १८९० ई में हुआ था । इनके पिता बहराम खाँ सीमान्त स्थित उतमनजई गाँव के रहने वाले थे । इसकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के मकतब में हुई । उच्च शिक्षा प्राप्त करने को विदेश जाने के इच्छुक थे । बड़े भाई साहब द्वारा वहाँ जाकर एक अंग्रेज महिला से विवाह किये जाने के फलस्वरूप वहाँ नहीं भेजा गया । इस तरह वे उच्च शिक्षा से वंचित रहे । वे उर्दू की उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु अलीगढ़ गये । वहाँ 'अलहिलाल' और 'जमींदार' नामक पत्रों के देशभक्ति पूर्ण विचारों से प्रभावित होकर राजनीति की ओर अग्रसर हुए । सीमान्त क्षेत्र में अनेक शालाओं की स्थापना कर उनके द्वारा देशभक्ति का शंखनाद करना प्रारम्भ कर दिया । पिताजी मना करते रहे क्योंकि उन्हें ब्रिटिश शासकों का भय बना हुआ था । उन्हें बारम्बार यह समझाते रहे कि वे प्रत्येक कदम सोच-समझ कर उठा रहे हैं । हम जिस देश तथा समाज में रहते हैं उसकी समस्याओं से आँख मूँदना आत्म प्रवंचना और कायरता है । पड़ोस में लगी आग से अपना भी घर जल सकता है अतः समझदार व्यक्ति विषम परिस्थितियों में अपने आप ही उठ खड़े होते हैं । गम्फर खाँ ने वही किया । देश, जाति और धर्म हित की भावना कैसे कुचल जाती । अन्त में उन्हें पिताजी की आज्ञा मिल ही गई । जिनके बच्चे देश की रक्षा और समाज की उन्नति में काम आ जाएँ, ऐसे अभिभावक धन्य हो जाते हैं ।

अब खान साहब खुलकर देश सेवा में लग गए । महात्मा गाँधी की तरह अपने आपको मानव जाति की सेवा में अर्पित कर दिया । हिन्दू और सिक्ख ग्रन्थों का गहन अध्ययन करने के बाद यह पाया कि परमात्मा एक है । 'मन्दिर में पूजा करो, मसजिद में माथा टेके, गिरजा में बाइबिल पढ़े । ब्रह्म एक ही है दो नहीं । सभी जातियों और मनुष्यों को एक ही पिता ने उत्पन्न किया है । अतः उनके बीच किसी तरह का भेदभाव उचित नहीं ।' उनकी इस विचारधारा का मौलवियों ने जोरदार शब्दों में खण्डन किया । वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रचार को इस्लाम धर्म के विरुद्ध मानते थे । हिन्दुओं के अनेक देवी-देवता हैं तथा ये पत्थर की मूर्ति की पूजा करते हैं । इस्लाम धर्म निराकार

उपासना करता है । खाँ साहब उनके तर्क काटते गए । उन्होंने कहा कि मुसलमान भी पत्थरों से बनी मस्जिदों में नमाज पढ़ते और कब्रों में संगमूसा को प्रणाम करते हैं । हिन्दू भी बिना किसी प्रकार के निराकार ईश्वर की भी पूजा करते हैं । अतः दोनों में किसी भी तरह का भेदभाव किया जाना उचित नहीं है । उन्होंने कभी भी साम्प्रदायिकता की आँधी को नहीं बढ़ने दिया । अपने जीवन भर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्नशील रहे । इसके विरोध में उन्हें कठिन कारावास दिया गया । उनका १७ वर्ष का जीवन पाकिस्तान की काल कोठरी में व्यतीत हुआ उनके साथ ही उनके परिवार वालों के साथ भी वैसा ही व्यवहार जेल के बाहर किया जाता था । एक बार तो उनके छोटे पुत्र हिदायतुल्ला बम्बई से जैसे ही घर पहुँचे वैसे ही गिरफ्तार कर लिये गए । यही हाल उनके दो पुत्रों का भी हुआ । उन्हें अस्वस्थ होते हुए भी कठिन कारावास दिया गया । श्री ओबेदुल्ला खाँ ने तो इसके विरोध में ७८ दिन की भूख हड़ताल की जो अपने आप में रिकार्ड था ।

आज हमारे बीच गाँधी जी तो नहीं रहे परन्तु उनके सिद्धान्तों की विरासत लिये खान साहब आज भी प्रस्तुत हैं । उन्हीं नैतिक, मूल्यों और सत्य, अहिंसा की धरोहर के रूप में सीमान्त गाँधी आज भी भारत और पाकिस्तान के जनमानस में स्थापित हैं । संसार में जब तक ऐसे महामानव उपस्थित रहेंगे जब तक अन्याय और दमनपूर्ण चेष्टायें कुचली जाती रहेंगी ।

सत्य के लिए लड़ने वाले— वाल्टेयर

३० मई सन् १७७८ को फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्यकार वाल्टेयर की मृत्यु हुई । उनकी मृत्यु के समय उनके सचिव ने एक व्यक्तव्य प्रसारित किया जो वाल्टेयर ने मरने से पूर्व उसे दिया था । व्यक्तव्य में कहा गया था— 'मैं ईश्वर की उपासना करते हुए, अपने मित्रों से प्रेम करते हुए, शत्रुओं के प्रति किसी भी तरह का घृणा भाव मन में न रखते हुये तथा अन्धविश्वास से किसी भी मूल्य पर समझौता न करते हुए मृत्यु का आलिंगन करता हूँ ।'

वाल्टेयर ने आजीवन इन आदर्शों को अपने जीवन में उतारने की चेष्टा की थी और सफल भी हुए थे । उनके जीवन के अध्येता इस तथ्य को एकमत से स्वीकार करते हैं कि वाल्टेयर वस्तुतः सच्चे ईश्वरवादी थे । पर जब उनकी मृत्यु हुई तो पेरिस के धर्म-पुरोहितों ने उनकी अन्त्येष्टि क्रिया ईसाइयों के कब्रिस्तान में न होने दी और उन्हें शहर से बाहर एक गाँव में दफनाया गया इसका कारण था कि वाल्टेयर ने अपनी लेखनी से हमेशा धर्मान्ध पुरोहितों, शोषण, अत्याचार और धार्मिक लूट पर जमकर प्रहार किया था । उनके जीवन काल में उनसे बैर और शत्रुता रखने वालों को तो तौल कभी का भुला चुके हैं पर वाल्टेयर की ख्याति आज भी देदीप्यमान है । यही नहीं उन्हें फ्रांस की राजक्रान्ति का प्रमुख आधार स्तम्भ भी समझा जाता है तथा उसके लिए सबल वैचारिक पृष्ठभूमि निर्माण करने वाला महामानव माना जाता है ।

५.६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

वाल्टेयर का जन्म सन् १६९४ ई. में पेरिस के एक सामान्य परिवार में हुआ था। जन्म के कुछ समय बाद ही माँ की मृत्यु हो गई, वाल्टेयर काफ़ी कमजोर थे साथ ही रुग्ण भी। पिता सोचते थे इतना रुग्ण और कमजोर बालक क्या जीवित बचेगा ? अतः उन्होंने इस धारणा के अनुसार कि परिवार का कोई भी सदस्य गैर ईसाई नहीं होना चाहिए— वाल्टेयर का बपतिस्मा करा दिया, पर प्रकृति के विरुद्ध वाल्टेयर जीवित बच गए और स्वाभाविक रूप से विकसित होने लगे।

बचपन से रुग्ण और स्वास्थ्य से दुर्बल वाल्टेयर पढ़ने-लिखने के मामले में बड़े तेज थे तथा किसी भी विषय का अवलोकन करते हुए उनके मन में जिज्ञासाओं के प्रश्न खड़े होते थे। ज्ञानार्जन के लिए उनके मन में तीव्र लगन थी। जब वे युवावस्था में प्रवेश करने लगे तो एक दिन वाल्टेयर के पिता ने उन्हें बुलाकर कहा— 'देखो फ्रांकी (वाल्टेयर के बचपन का नाम था) मैं समझता हूँ तुम्हें अब अपने कार्यक्षेत्र का चुनाव कर लेना चाहिए।'

वाल्टेयर ने कहा कि 'मैंने अपने जीवन का क्षेत्र चुन लिया है।' स्वाभाविक ही उत्सुकता हुई पिता को, उन्होंने पूछा— 'क्या ?' तो वाल्टेयर ने बताया कि वे साहित्य लेखन को अपने पेशे के रूप में अपनाना पसन्द करते हैं। इससे पिता को कोपित हुआ क्योंकि वे चाहते थे वाल्टेयर एक वकील के रूप में अपना जीवन व्यतीत करे। उस समय वाल्टेयर ने अपने पिता की बात मान ली और कानून की पढ़ाई करने लगे। कानून की शिक्षा उन्होंने शीघ्र पूरी कर ली पर इसके बावजूद भी वे वकील न बन सके। कारण स्पष्ट था— इस दिशा की ओर उनका जग भी झुकान नहीं था।

तत्काल तो उन्होंने फ्रांस के एक कूटनीतिक विभाग में नौकरी कर ली और इस नौकरी के सिलसिले में हालैण्ड चले गये। उस समय फ्रांस में लुई चौदहवें का शासन था जो स्वेच्छाचारी और बहुत ही क्रूर शासक था। यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार राज कर्मचारी भी बड़े भ्रष्ट थे और वाल्टेयर ने कदम-कदम पर चतुर्दिक व्याप्त भ्रष्टाचार के कटु अनुभव किए। इस विषाक्त वातावरण ने ही उन्हें भ्रष्टाचार और स्वार्थपरता के विरुद्ध कलम उठाने के लिए प्रेरित किया और वे हालैण्ड से शासकीय सेवा छोड़कर वापस पेरिस आ गये। पिता ने नौकरी छोड़ने का कारण पूछा तो उन्होंने एक ही उत्तर दिया कि वे अब साहित्य को ही अपनी जीविका का आधार बनायेंगे। पिता ने दुनियादारी के दृष्टिकोण से समझाया कि लेखक बनने पर भूखों मरना पड़ेगा और मुझसे तुम कोई आशा न कर सकोगे। वाल्टेयर ने अपने पिता की धमकी को चुनौती के रूप में स्वीकार किया तथा साहित्य क्षेत्र में समर्पित भाव से उतर आये।

तब से लेकर वाल्टेयर मृत्युपर्यन्त तक लिखते ही रहे। एक दिन के लिए भी उन्होंने अपनी कलम को विश्राम नहीं दिया। उन्होंने लगभग सौ पुस्तकें लिखीं जिनमें कविता, नाटक, इतिहास ग्रन्थ आदि सभी कुछ हैं। उनकी पुस्तकें आज भी फ्रेंच साहित्य का गौरव समझी जाती हैं। उनके लेखों में जहाँ ज्वालामुखी की-सी विस्फोटक शक्ति है वहीं नम्रसुजन का प्रेरक धवल उज्ज्वल प्रकाश भी है।

सन् १७७५ में फ्रांस के सम्राट लुई चौदहवें की मृत्यु हुई। उस समय वाल्टेयर की आयु मात्र इक्कीस वर्ष की ही थी पर वैचारिक दृष्टि से वे प्रौढ़ लेखकों से भी आगे थे। लुई के मरने पर बेतहासा खर्च किया गया और उस कारण राज्य कोष में काफ़ी कमी आई। उसी कमी को पूरा करने के लिए लुई के उत्तराधिकारी ने राजकीय घुड़साल के आधे घोड़े बेच दिये। अन्य सभी लेखकों ने तो राज प्रतिनिधि की सूझ-बूझ और मितव्ययिता बताकर सराहना की। पर वाल्टेयर ने राज प्रतिनिधि के इस कृत्य पर व्यंग्य करते हुए कहा— यदि राजा घुड़साल के उन घोड़ों को न बेचकर उन गधों को विदा कर देता जो राजसभा में भरे हुए हैं तो अच्छा रहता। सचमुच उस समय फ्रांस के शासनतन्त्र पर चापलूसों और अवसरवादी तत्वों का आधिपत्य था। जो काम तो कुछ नहीं करते और वेतन के रूप में राजकोष से मोटी रकमें वसूल किया करते हैं।

तत्कालीन राज्य व्यवस्था को लेकर उन्होंने एक व्यंग्य प्रधान नाटक भी लिखा। यह नाटक जब अभिमंचित हुआ तो राज्य-व्यवस्था की कई दूषित परम्पराओं का पर्दाफाश हुआ। खासकर उन अवसरवादी तत्वों को अपने स्वार्थों पर आधारित पहुँचने का भय सवार होने लगा जो राजा के इर्द-गिर्द जमे हुए थे। उन्होंने राजा के कान भर के वाल्टेयर लोगों को उसके खिलाफ भड़का रहा था। बस फिर क्या था ? वाल्टेयर को गिरफ्तार कर लिया गया और एक वर्ष के कारावास की सजा हो गई।

कारागार में भी वाल्टेयर चुप नहीं बैठे रह सके। यहाँ भी वे कविताएँ लिखते रहे और जेल में बैठे-बैठे ही उन्होंने एक महाकाव्य की रचना कर डाली। वर्ष भर बाद वाल्टेयर की सजा समाप्त हुई तथा जेल से छूटकर आये तो आते ही उन्होंने 'विरह का अन्त' नामक एक नाटक लिख डाला। इस नाटक ने वाल्टेयर को काफ़ी ख्याति दे डाली। 'विरह का अन्त' पेरिस में लगातार डेढ़ माह तक खेला जाता रहा तथा प्रतिदिन इसे देखने के लिए सैकड़ों लोग आते रहे। जिन दिनों यह नाटक खेला जा रहा था उन दिनों चारों ओर वाल्टेयर ही वाल्टेयर की चर्चा थी। अपने पुत्र की इस प्रसिद्धि को सुनकर उनके पिता स्वयं नाटक देखने के लिए आये और वाल्टेयर— उसे उन्होंने कभी आवाज कहकर दुत्कार दिया था— की पीठ थपथपाये बिना न रहे।

वाल्टेयर को सर्वाधिक ख्याति उनके द्वारा लिखे गए नाटकों से ही मिली तथा उनकी आमदनी का अधिकांश भाग इन नाटकों के अभिमंचन से ही प्राप्त होता था। नाटक लिखकर उन्होंने काफ़ी पैसा कमाया पर उस पैसे का न उन्होंने दुरुपयोग किया तथा न ही उसे खर्च करने में कृपणता बरती। बल्कि वे और अधिक उदार बनते गए। उनके कई बन्धु-बान्धव समय पड़ने पर सहायता के लिए उन्हीं का सहारा लेते थे। वाल्टेयर ने इस बात को भुलाकर कि तंगी के दिनों में इन्हीं बान्धवों ने उनका तिरस्कार किया था— उदारतापूर्वक अपने सम्बन्धियों को सहयोग दिया।

उनके लिखे नाटक तथा कवितायें न केवल जनसाधारण में ही लोकप्रिय हुए वरन् अभिजात्य वर्ग में भी बड़े चाव के साथ अपनाये

गये। पेरिस के कुलीन और सम्पन्न व्यक्तियों ने वाल्टेयर को बड़ा सम्मान तथा प्रोत्साहन दिया। लेकिन इस वर्ग में ऐसे लोग भी थे जो वाल्टेयर की प्रतिष्ठा तथा उनके बढ़ते हुए सम्मान को किसी प्रकार सहन नहीं कर सकते थे। इस तरह के लोगों में प्रायः वैसे ही परिवार थे जो यह अनुभव करते थे कि वाल्टेयर से उन्हें किसी प्रकार का खतरा हो सकता है।

इसी कारण कुछ व्यक्तियों ने वाल्टेयर की हत्या करवाने का षड़यन्त्र रचा। एक रात्रि, जब वाल्टेयर कहीं जा रहे थे तो उन पर गुण्डों ने हमला किया। ये पेशेवर बदमाश थे जो पैसे लेकर हर किसी के साथ मार-पीट या खून-खराबी कर सकते थे। लेकिन गुण्डों ने उनको जान से नहीं मारा, थोड़ी बहुत मार-पीट के बाद यह कहकर छोड़ दिया कि अमुक व्यक्ति के बारे में अब कुछ मत कहना।

वाल्टेयर समझ गए कि उस व्यक्ति ने इन गुण्डों को भेजा है। वह व्यक्ति एक उच्च अधिकारी था, जिसने वाल्टेयर से एक भोज में बहुत ही बेहदा प्रश्न पूछा था और वाल्टेयर ने उस प्रश्न का उत्तर बेहद शालीन किन्तु करारा दिया था इसी से वह अधिकारी के पास गए और कहा—“तुम गुण्डों का सहारा क्यों लेते हो? दम हो तो खुद मेरे सामने आओ और मुझ से युद्ध करो।”

वह व्यक्ति समझा कि वाल्टेयर ने उन गुण्डों को परास्त कर दिया है। अतः वह और भी ज्यादा भयभीत हो गया साथ ही वाल्टेयर का मुँह बन्द कराने के लिए बिफर उठा। उसने एक झूठा आरोप लगाकर वाल्टेयर को जेल भिजवा दिया। कुछ महीने तक जेल में रखने के बाद न्यायाधिकारियों ने वाल्टेयर को इस शर्त पर रिहा कर दिया कि वे फ्रांस छोड़कर अन्यत्र चले जायें। वाल्टेयर ने यह शर्त स्वीकार कर ली तथा वे इंग्लैण्ड चले आये। इंग्लैण्ड में भी उनका साहित्यिक कार्य अनवरत चलता रहा। प्रवास के दौरान उन्होंने अंग्रेजी भाषा का अच्छा अध्ययन किया तथा न्यूटन, शेक्सपीयर और लॉक की रचनाओं को मनोयोगपूर्वक पढ़ा। इसके बाद उन्होंने एक पुस्तक लिखी ‘लेटर्स ऑन द इंग्लिश’ और इस पुस्तक को हाथ से लिखवाकर अपने मित्रों में बाँटा।

सन् १९२९ में उन्हें फ्रांस लौटने की अनुमति मिल गई। वापस आने पर उन्होंने फ्रांस के जन-जीवन का निकट से अध्ययन किया तथा वहाँ की दुर्व्यवस्था के कारणों को विश्लेषित कर उन पर प्रहार करना आरम्भ किया। उन्होंने पाया कि अभिजात्य वर्ग धर्म-पुरोहितों को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं तथा धर्मजीवी उस वर्ग के हाथों अपने आपको बेच डालते हैं। वाल्टेयर ने इस दुरभिसन्धि का भण्डाफोड़ करने की ठानी तथा अपनी लेखनी का अस्त्र समूहला और आग उगलने लगे। इससे बड़ी खलबली मची। इन्हीं दिनों एक प्रकाशक ने उनकी पुस्तक ‘लेटर्स ऑन द इंग्लिश’ प्रकाशित कर दी। जिसमें निहित स्वार्थी तत्वों पर कड़ा प्रहार किया गया था। पेरिस की पार्लियामेन्ट ने निर्णय दिया कि—‘यह पुस्तक सरेआम जला दी जाय।’ पार्लियामेन्ट के इस निर्णय को वाल्टेयर ताड़ गये। अब जेल जाना पड़ सकता है। इसलिए वे पेरिस छोड़कर अन्यत्र चले गये।

साथ ही उन्होंने अन्धविश्वासों तथा कुव्यवस्थाओं पर व्यंग्य वाणों की बौछार करना आरम्भ कर दिया। उनके द्वारा छेड़ी गई विचार क्रान्ति से पुरोहित वर्ग तिलमिला उठा। पहले उन्हें धन का प्रलोभन दिया गया पर वाल्टेयर कोई धन के भूखे थोड़े ही थे। उधर एक और साहित्यकार का उदय हुआ—रूसो का। इन दोनों ने मिलकर जन-साधारण में एक नई चेतना जगाई। ८३ वर्ष की अवस्था में पेरिस देखने की इच्छा से वे पेरिस में आये और फिर उन्होंने अपनी जीवन-लीला वहीं समाप्त कर दी। लेकिन उन्होंने विचारों के जो बीज बोये उन विचारों का एक-तिहाई संसार अनुयायी है। वह विचार है—प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का।

महान् प्रेरक—वाल्टेयर

वाल्टेयर ८४ वर्ष की आयु में मरा तो उसका अन्तिम संस्कार कराने के लिए पेरिस का कोई पादरी तैयार नहीं हुआ। इसलिए उसकी लाश को नगर से बाहर एक छोटे गाँव में दफनाना पड़ा। पादरी उसे धर्मद्वेषी कहते थे। क्योंकि उसने जीवन भर धर्म के नाम पर चल रहे पाखण्डों का विरोध किया यद्यपि वह आध्यात्मिक नहीं था—वास्तविक धर्म के प्रति उसकी गहरी आस्था थी, तो भी वह धर्म के नाम पर चल रहे अनाचार को सहन न कर सका, और उसने उसका जीवन भर विरोध किया।

वाल्टेयर को अपने लक्ष्य के लिए यात्रा करते रहने में कठिन जीवन बिताना पड़ा और कितनी ही आपत्तियों का सामना करना पड़ा फिर भी वह विचलित नहीं हुआ और अपने मार्ग पर धैर्यपूर्वक जीवन के अन्त तक चलता रहा।

उन्ने अपने जीवन में लगभग एक सौ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। उन सभी में उन्होंने धर्म के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया और धर्म के नाम पर प्रचलित भ्रान्तियों और अनीतियों का खण्डन किया। भारत में जो कार्य विवेकानन्द, दयानन्द, गान्धी, राममोहन राय आदि ने किया वही कार्य वाल्टेयर ने फ्रांस में किया। इस प्रकार का कठिन कार्य अपने जिम्मे लेने वाले प्रत्येक सुधारक को निहित स्वार्थी तथा रूढ़िवादियों के विरोध का सामना करना पड़ता है। वाल्टेयर को भी वह आपत्तियाँ सहनी पड़ीं।

एक पुस्तक लिखने में उन्हें जेल की सजा मिली। छूटकर आये और अन्य पुस्तकें लिखीं तो वह भी जब्त हो गई। उनके लिखे हुए नाटकों को दिखाने में कानूनी प्रतिबन्ध लगाये गये। उन पर आरोप लगाया गया कि वे जनता को नीतिभ्रष्ट करते हैं। उन दिनों राजशासन या प्रचलित परम्पराओं की आलोचना करनी—नीतिभ्रष्टता मानी जाती थी। इतने प्रतिबन्ध होते हुए भी उनकी पुस्तकें में जो तथ्य होता था, उससे जनता बहुत प्रभावित थी। लुक-छिप कर उनकी पुस्तकें खूब पढ़ी जाती थीं और जब तक प्रतिबन्ध नहीं लगता था तब तक उनके लिखे नाटकों को देखने के लिए लोग टूट-टूट पड़ते थे।

जीवन के आदि से लेकर अन्त तक उसे अगाधित आपत्तियों का सामना करना पड़ा। पर उसने वह सब कुछ हँसते-हँसते सहन

किया। उसे अनेकों बार बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये कि अपना विरोध कार्य बन्द कर दे पर वह उससे भी विचलित न हुआ। उनकी लेखनी में व्यंग्य और कटाक्ष भर रहता था। नीत्से ने उन्हें हँसता हुआ सिंह कहा है। उनका हँसना इस युग के अनाचारों के लिए एक सांघातिक वज्र प्रहार के समान था। उनकी लेखनी ने न केवल धार्मिक वरुणजनैतिक और आर्थिक क्रान्ति के लिए भूमि तैयार की जिसके फलस्वरूप निहित स्वार्थों का आसन ही डगमगा गया और फ्रांस ही नहीं सारे योरोप की जनता में स्वतन्त्र विचारों की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति का उदय हुआ।

विक्टर ह्यूगो ने लिखा है—“वाल्टेयर का नाम लेते ही अठारहवीं सदी में जो कुछ श्रेष्ठता है वह मूर्तिमान होकर हमारी आँखों के सामने आ खड़ी होती है।” जान्स वेले ने लिखा है—“भगवान् ने उन्हें एक बौद्धिक चिकित्सक के रूप में भेजा, जो क्षयग्रस्त और गलित स्थिति में पड़े हुए युग की जीवन भर चिकित्सा करते रहे। वे एक अधिक सैनिक थे जो अनवरत रूप से बुराइयों के विरुद्ध लड़ते रहे। मानसिक दासता और आदर्शों की दुर्बलता को मिटाने के लिए वे एक साहित्यिक विद्रोही के रूप में अवतीर्ण हुए और इस संग्राम में जूझते हुए ही उन्होंने वीरगति प्राप्त की। वे मानव मन को अन्धविश्वासों और कुसंस्कारों से विरत करना चाहते थे, जो उन्होंने चाहा उसके लिए असीम बलिदान और असाधारण त्याग और अधिक श्रम किया।”

वाल्टेयर घोर पश्चिमी थे। उन्होंने अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने दिया। वे कहा करते थे—आलसी को छोड़कर दुनिया के और सब लोग अच्छे हैं। कुछ काम न करना और मृतक होना एक ही बात है। मेरी आयु ज्यों-ज्यों बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों जीवन के शेष थोड़े से क्षणों का और भी अधिक सदुपयोग करने का मैं प्रयत्न करता हूँ। कर्मनिष्ठा का अभ्यास होने पर वह स्वयं एक आनन्द बन जाती है। जो आत्महत्या नहीं करना चाहता उसके लिए यही उचित है कि निरन्तर कार्य संलग्न रहे। उन्होंने अपने इन आदर्शों को कार्यरूप में परिणत किया फलस्वरूप वे मानव-जीवन का वास्तविक लाभ प्राप्त कर सके।

सभी महापुरुषों की भाँति वाल्टेयर का महत्त्व उसके जीवनकाल में नहीं समझा गया। लोग उसका विरोध और तिरस्कार ही करते रहे। पर एक समय ऐसा भी आया जब उसका महत्त्व स्वीकार किया गया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति जब हो गई तो क्रान्तिकारी दल ने वाल्टेयर की मरी मिट्टी को १३ वर्ष बाद कब्र में से निकाला और एक विराट जुलूस के रूप में उसे राजसी सम्मान के साथ नगर में घुमाया गया। उनकी शव यात्रा में ६ लाख नर-नारी सम्मिलित थे। उनकी अर्शों पर मोटे अक्षरों में लिखा हुआ था—“वह वाल्टेयर जिसने—हमारे मन को बड़ा बल और साहस प्रदान किया, जिसने हमें स्वाधीनता संग्राम के लिए उन्मोदित किया।”

विश्वशान्ति और मानवता के पुजारी रोमांरोलां

सन् १९१४ में पहला विश्वयुद्ध छिड़ा तो युद्ध की लपटें धरती से उठकर लोगों के दिमागों में भी घघकने लगीं। कल तक जो लोग शान्ति और प्रेम के गीत गा रहे थे आज वे ही एक-दूसरे के प्रति आक्रामक बन रहे थे। माना कि विश्व युद्ध में सभी राष्ट्र दो गुटों में बँट गये थे और उनका नेतृत्व एक-दूसरे का जानी दुश्मन बना हुआ था। किन्तु इसके लिए सम्बन्धित देशों की जनता का क्या दोष हो सकता था? वह तो जैसी पहले थी वैसी ही तब भी थी। किन्तु लोग एक-दूसरे देश के निवासियों को भी अपना दुश्मन घोषित कर रहे थे और तमाम बुद्धिजीवी उनके प्रति घृणा, वैमनस्य जगाने में जोर शोर से लगे हुए थे।

वैसी परिस्थितियों में फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक और साहित्य कलाकार रोमांरोलां ने योरोप के कलाकारों को एक मंच पर एकत्रित करने का प्रयास किया ताकि जिन देशों के निवासी एक-दूसरे के गले काट रहे थे उनमें शान्ति और प्रेम की सदभावनायें जगायी जा सकें। रोमांरोलां ने योरोप के बुद्धिजीवियों का शान्ति और प्रेम के भाव जागरण में संलग्न करने के लिए अधिक प्रयास किये, किन्तु वे सभी विफल हुए। क्योंकि उनके मन-मस्तिष्क में तो युद्धोन्माद छाया हुआ था। उनके अपने देश के ही संकीर्ण बुद्धिजीवियों और देशभक्ति का गुमान रखने वालों ने रोमांरोलां को देशद्रोही करार दिया तथा उनके विरुद्ध एक अभियान-सा छेड़ दिया।

उस समय सारा फ्रांस जैसे रणोन्मत हो रहा था। हर कोई यह सोच रहा था कि यदि मौका मिले तो हम स्वयं जाकर सीमा पर लड़ें। सारा फ्रांस जब युद्ध की चर्चाओं में मशगूल था तो रोलां लोगों को युद्ध के दुष्परिणाम समझाने में लगे हुए थे। शान्ति और प्रेम का वातावरण बनाने में लगे हुए रोमांरोलां को जब फ्रांस के बुद्धिजीवियों का विरोध सहना पड़ा तो वे निराश नहीं हुए। उनका कहने का आशय यह नहीं था युद्ध में पराजय स्वीकार कर ली जाय, बल्कि वे तो यह कह रहे थे युद्ध में जन-धन की जो क्षति पहुँचती है उसे यथासम्भव रोकेँ। जब उन्होंने अपने प्रयासों का बुद्धिजीवियों पर परिणाम होते नहीं देखा तो वे अकेले ही शान्ति प्रयासों में जुट गये और जेनेवा जाकर रहने लगे। वहाँ उन्होंने ‘इन्टरनेशनल रेडक्रस’ को अपनी सेवायें अर्पित कर दीं और योरोप का यह महान् कलाकार, मनीषी रेडक्रस के दफ्तर में और क्षेत्र में काम करने लगा।

एक ओर जहाँ सभी राष्ट्र और उनके निवासी युद्धोन्मत थे वहीं अपने ढंग से अपनी सामर्थ्य के अनुसार शान्ति प्रयासों में जुटे थे। रोमांरोलां का जन्म सन् १८६६ ई. में एक वकील के घर हुआ था। उनका परिवार एक कस्बे में रहता था। रोमांरोलां के परिवार में सभी व्यक्ति संगीत के प्रति रुचि रखते थे और वहाँ प्रायः संगीत कार्यक्रमों का आयोजन होता रहता था। रोमांरोलां पर भी परिवार के इस संगीतमय वातावरण का अच्छा प्रभाव पड़ा। वे भी बचपन से ही

संगीत का अभ्यास करने लगे। मनुष्य की भावनाओं को संगीत के माध्यम से किस तरह व्यक्त किया जा सकता है संगीत के इस पक्ष को उन्होंने गहन अध्ययन भी किया और संगीत आराधना भी आरम्भ की। बचपन में ही संगीत की ओर झुककर मिलने तथा आगे चलकर उसी क्षेत्र में प्रयत्न करते रहने के कारण रोमांरोलां युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते संगीत कला और संगीत विद्या दोनों में ही इतने निष्णात हो गये कि उनकी ख्याति योरोप भर में फैल गयी।

यद्यपि आगे चलकर रोमांरोलां की जीवन धारा साहित्य के क्षेत्र में बहने लगी किन्तु उनके जीवन पर संगीत का प्रभाव हमेशा बना रहा। फ्रांसीसी भाषा के महानतम उपन्यास 'ज्या क्रिस्टोफ' जिसकी टक्कर की एक भी कृति पूरे फ्रांसीसी वांगमय में नहीं है— पर उनके इस प्रभाव की छाया मौजूद है। संगीत विद्या से उनका सम्बन्ध तो नहीं टूटा पर साहित्य क्षेत्र में पदार्पण करने पर उनका सम्बन्ध पहले जैसा नहीं रह सका। फिर साहित्य ही उनकी मुख्य साधना बन गयी। इस माध्यम से उनकी प्रतिभा नये व्यक्त होने का भी अच्छा अवसर मिला। रोमांरोलां ने जब लिखना प्रारम्भ किया तो वे टॉल्स्टॉय के विचार सम्पर्क में आये। टॉल्स्टॉय के सम्पर्क से वे बहुत प्रभावित हुए। सन् १८८७ में उन्होंने टॉल्स्टॉय को एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें रोमांरोलां ने उन्हें अपना साहित्यिक गुरु माना था, बड़े ही भावविभोर होकर लिखा था कि आप मुझे आशीर्वाद दें। टॉल्स्टॉय ने इस पत्र के उत्तर में लिखा था— 'प्यारे भाई! तुम्हारा पहला पत्र मिला। इससे मेरी आत्मा बहुत ही अभिभूत हो उठी है। आँखों में आँसू भर गए पढ़ते-पढ़ते। तुम भावनाओं के माध्यम से लोगों में मानवीय आदर्शों के प्रति निष्ठा का जागरण करो। इससे प्रभु के उपवन की सुन्दर सेवा होगी।'

टॉल्स्टॉय की इन पक्तियों को रोलां ने गुरुमन्त्र की तरह गॉठ से बाँध लिया और एक महान् साहित्यकार को ही अपना आदर्श बनाया। उन्होंने अपनी पहली ही रचना में अपनी सारी करुणा और अभिलाषा उड़ेल दी थी और लिखा था— 'संसार का गला घुट रहा है— संकीर्णता और संकुचितता के बन्धनों से अपनी-अपनी खिड़कियाँ खोल दो ताकि ताजी हवा अन्दर आ सके और हम बीरों की तरह इस दुनिया में साँस लेने लगे।'

इसके बाद रोलां फ्रांस की क्रान्ति पर लिखने लगे। घटनाक्रमों के माध्यम से नए मनुष्य और नए समाज के निर्माण की दशा में वे ऐसे प्रतिपादन करते थे कि पढ़ने वाला मुग्ध रह जाता और प्रतिपादित आदर्शों को आत्मसात करने के लिए कसमसा उठता। यह उनका मानवता के प्रति प्रेम ही था कि उन्होंने संसार के महापुरुषों पर भी लिखा। महान् विचारकों और महान् नेताओं के जीवन की ओर इंगित करते हुए उन्होंने समकालीन समाज के सदस्यों से कहा है— 'ये रहे मानवता के आदर्श, यह है मानव की महानता। क्या तुम्हारा सड़ा समाज इन महान् मानवों के योग्य है? क्या ये दिव्य आत्माएँ तुम्हारे दमघोंटू समाज में दो क्षण भी जीवित रह सकेंगी? नहीं! तो फिर ढह जाने दो ये दीवारें— और इस नींव पर एक ऐसे नये समाज की रचना करो कि हमारी परम्परा, सभ्यता और संस्कृति का भाव उन्नत

हो। नया संगीत, नयी कला, नया साहित्य और नया मानव अतीत के कल की नींव पर बने, आज के भव्य प्रासाद में पनपे और आगामी कल के लिए महान् विरासत छोड़ सके।'

मनुष्य समाज में सुख-शान्ति का अवतरण प्रेम, सदभाव और सहकर के आधार पर ही किया जा सकता है— उनकी समरूप रचनाओं की केन्द्रीय प्रेरणा यही रहती थी। इसी आस्था से प्रेरित होकर रोलां ने प्रथम विश्वयुद्ध का विरोध किया और दूसरे विश्वयुद्ध में तो उन्होंने इसके लिए संगठित अभियान भी चलाया था। जब द्वितीय विश्वयुद्ध के मेघ आच्छादित होने लगे थे तो रोलां ने आने वाले संकटों को पहचान कर 'शान्तिवादियों के नाम एक अपील' प्रकाशित की थी। उस अपील में जो विचार प्रकट किये थे और जो सम्भावनाएँ व्यक्त की गयी थीं उनकी कल्पना भी कोई नहीं कर सका था। इस बार योरोप के बुद्धिजीवियों ने भी प्रथम महायुद्ध के अनुभवों से सबक लेकर हठधर्मिता का परित्याग किया और रोलां के अभियान का साथ दिया।

आज पूर्व और पश्चिम के नाम पर मनुष्य परिवार में एक गहरी खाई है। किन्तु रोलां के लिए जैसे यह खाई असह्य थी और उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम के दर्शन और साहित्य के समन्वय का प्रयास किया। यह ठीक है कि यूरोपीय देशों ने एशियायी देशों का दोहन और शोषण किया। रोलां ने यूरोपियों के इन अवांछनीय कृत्यों की भर्त्सना के साथ-साथ उन्हें प्रायश्चित्त का मार्ग भी सुझाया और कहा कि उन्नत देश पिछड़े और विकसशील देशों के साथ सहयोग करें और मानवीय सभ्यता की प्रगति के लिए समन्वित प्रयास करें। उनके उदार विचार और तथ्यपूर्ण प्रतिपादन का ही परिणाम था कि स्टॉलिन जैसे उग्र और नास्तिकतावादी राजनेता तथा महात्मा गाँधी जैसे अहिंसावादी सन्त-दोनों ही रोलां से प्रभावित रहे। रोमांरोलां के प्रयास और उनका दर्शन सम्पूर्ण मानव सभ्यता को एकता के सूत्रों में आबद्ध करने के लिए ही गतिशील रहा।

रूसी क्रान्ति के अग्रदूत—हर्जेन

एन. जेल्शन (रूस) विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी अपने जीवन की असफलताओं से निराश होकर आत्महत्या का निश्चय कर बैठा। एकत्रन्त स्थान में जाकर उसने विषपान के लिए जहर की शीशी निकाली तभी उसकी निगाह पास पड़े रहीं अखबार के पन्ने पर गयी। उस लेख में आशा और निराशाओं के दिन-रात, प्रकाश-अन्धकार की इतनी प्रभावशाली विवेचना की गई थी कि पढ़कर युवक छात्र ने अपने हाथ की शीशी को दूर फेंक दिया। बड़े-बड़े अक्षरों में शीर्षक और उसके लेखक का नाम पढ़कर ही युवा छात्र में लेख को पढ़ जाने की उत्पुङ्गता जागी थी।

इस लेख को पढ़कर वह युवक निराशा छोड़कर लेखक हर्जेन का अनुयायी बन गया और आगे चलकर रूसी क्रान्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। हर्जेन की लेखनी में इतनी प्रभावोत्पादकता, उन्मत्त विचारों की प्रखरता और हृदय के उत्साह की ही परिचायक है।

स्वयं एक जमींदार परिवार में जन्मे थे फिर भी उस शासन व्यवस्था को बदल देने की ललक लेकर जीवन में आगे बढ़े जिसमें देश की लाखों-करोड़ों मेहनतकश जनता निर्धन और फ़क़रक़शी के दिन गुज़ार रही थी।

उन्नीसवीं शताब्दी की उदय वेला में रूसी समाज बेशक अन्धाकरपूर्ण दशा में जी रहा था। ज़ार को अपनी गद्दी और विलासिता के साधन सुरक्षित रहें—यही चिन्ता और ध्यान रहता था। देश की आम जनता किस तरह अपने दिन क़ाट रही थी न तो उसे इसकी परवाह थी और न ही ध्यान।

चादुकार और चापलूसी से काम निकालने वाले लोग अपनी चाँदी बना जाते थे और जो सच्चे अर्थों में पश्चिमी और ईमानदार होता उसे भूखों मरना पड़ता। अठारह वर्ष की आयु में हर्ज़ेन ने भावी जीवन की रूपरेखा निर्धारित कर ली और कष्ट पीड़ितों के लिए दुःख सहने की इच्छा व्यक्त की। इस आशय का एक लेख उन्होंने सन् १९०० में प्रकाशित करवाया। उस लेख में हर्ज़ेन ने अपनी भावनाओं को जिस कुशलता से व्यक्त किया था वे लेखन कला की कसौटी पर भले ही खरे सिद्ध न हों परन्तु उनकी भावनाओं पर तो विश्वास करना ही पड़ेगा कि उन्होंने बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय को अपना जीवन लक्ष्य चुना था।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद हर्ज़ेन मास्को विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। यहाँ भी उन्होंने पूर्व निर्धारित लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अध्ययन किया। उनके प्रयासों से मास्को विश्वविद्यालय में एक छात्र मण्डल का गठन हुआ। जो स्वतन्त्र ढंग से सोचता था और ज़ारशाही की आलोचना करता था।

व्यक्तिगत रूप से हर्ज़ेन बाहर के लोगों से सम्पर्क साधने में भी लगे हुए थे। उन दिनों पश्चिमी योरोप में क्रान्ति की हवा बह रही थी जिसके स्पर्श में सर्वप्रथम रूस के स्वतन्त्र चिन्तक छात्र हर्ज़ेन ही आये। यदि उन्हें रूस का पहला समाजवादी व्यक्ति कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। योरोप की समाजवादी विचारधारा के अनुसार अपने देश की नई व्यवस्था का विकल्प उन्होंने देखा और तदनुसार अपने सहपाठी छात्र मण्डल के सदस्य विद्यार्थियों को उससे परिचित कराया।

युवक तो वैसे ही उत्साही और आतुर होते हैं। उन्होंने एक बार यूनिवर्सिटी के हाल में लगी ज़ार निकोलस की मूर्ति का अपमान कर दिया। इसकी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई, ज़ार और पुलिस पर, पुलिस ने कई छात्रों को पकड़ लिया। हर्ज़ेन भी गिरफ़्तार हुए। यद्यपि वे इस अपमान काण्ड में शामिल नहीं थे। उनका दोष इतना था कि वे छात्र मण्डल के संयोजक और सदस्य थे। उनके घर की तलाशी हुई और वहाँ पर समाजवादी साहित्य बरामद हुआ। स्वतन्त्र विचारधारा को आतंकवादी अधिनायकवाद का पहला प्रहार सहना पड़ा। हर्ज़ेन मास्को से निष्कासित कर दिये गये।

करीब छह-सात वर्ष तक निर्वासित जीवन व्यतीत करके पुनः १९४० में मास्को आये। परन्तु वे अधिक दिन तक ठहर नहीं सके। इसका कारण था कि रूस उस समय बुद्धिवादियों का केन्द्र था और

ज़ार नहीं चाहता था कि हर्ज़ेन के स्वतन्त्र और अन्याय पर प्रहार करने वाले विचारों की आग के सम्पर्क में वे लोग भी आये। सत्य और न्याय को मिथ्या और अनाचार के हाथों आरम्भ में इसी प्रकार प्रपीड़ित होना पड़ता है। ज़ार ने उन्हें पुनः एक साल के लिए मास्को से निर्वासित कर दिया।

अब वे सोचने लगे कि किस प्रकार विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की जाय और इस अनाचारपूर्ण शासन व्यवस्था को समाप्त किया जाय। सन् १८४७ में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया और वे रूस छोड़कर पेरिस चले गये।

निर्वासन— उनके लिए वरदान के रूप में परिणत हुआ। पेरिस में पहुँचते ही उन्होंने वहाँ के विख्यात और प्रतिभाशाली व्यक्तियों से सम्पर्क किया। उनके सहयोगियों में एक क्रान्तिकारी विचारक प्राऊधन का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्हें लुई नेपोलियन ने क्रान्तिकारी विचारों के कारण कठोर कारावास का दण्ड दिया था।

हर्ज़ेन के स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी पर-दुःख-कातरता। प्राऊधन के परिवार का दायित्व उसके कारावास के दौरान हर्ज़ेन ने भी अपने सिर पर ओढ़ा था। प्रतिदिन उनके पास अभाव पीड़ित और दुःखी व्यक्ति आया करते थे। जिन्हें हर प्रकार की सान्त्वना देने के साथ-साथ हर्ज़ेन सहायता भी दिया करते थे। बीस-पच्चीस भूखे लोगों के साथ भोजन करना उनकी नियमित दिनचर्या का अंग बन गया। उन दिनों हर्ज़ेन लेखन व्यवसाय के माध्यम से अच्छा उपार्जन कर लिया करते थे।

फ़्रांस में रहते हुए भी उन्हें अपने देश के करोड़ों निवासियों की चिन्ता थी। वे उनकी स्थिति में सुधार के लिए सतत प्रयत्नशील रहा करते थे। सन् १८५२ में वे लन्दन आ गये। यहाँ उनका परिचय मैजिनी और गैरीवाल्डी जैसी महान् विभूतियों से हुआ। शीघ्र ही वे उनके मित्र बन गये।

हर्ज़ेन ने १८५७ में एक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया जो छिपे रूप से रूस में पहुँचाया जाता था। यह पत्र 'कोल-काल' बड़ा लोकप्रिय हुआ। ज़ारशाही की तीखी आलोचना और कठोर प्रहार पूर्ण लेखों से भरा हुआ यह पत्र उनके आवेश, आक्रोश और लोक व्यथा का सच्चा प्रतिनिधित्व करता था। इस पत्र को स्वयं ज़ार भी खरीद कर पढ़ करता था। पेरिस की तरह लन्दन में भी उन्होंने अपने समान विचारों वाले स्वतन्त्रता प्रेमी सुधारवादियों की मित्र मण्डली तैयार कर ली। गैरीवाल्डी और मैजिनी के अतिरिक्त विक्टर ह्यूगो, लुई ब्लाक, कर्लाइल आदि महापुरुष उनके निकट सम्पर्क में रहने वाले मित्र बने।

रूस में उनके पत्र-पाठकों का एक वर्ग तैयार होता जा रहा था, जो उस समय की समाज व्यवस्था को बदलने के लिए आकुल था फिर भी हर्ज़ेन ने अपने विचारों में कटुता न आने दी। उनके लेख पढ़कर कभी ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि हर्ज़ेन आक्रोश की सीमा पार कर आवश्यकता से अधिक उग्र बन गये हैं। इस सौम्य आक्रोश के कारण मार्क्स और एंजिल जैसे साम्यवादी विचारक भी उनके विरोधी बन गये थे।

१८५४ में लन्दन स्थित अमेरिकन कौंसिल जनरल ने एक भोज दिया और इसी अवसर पर अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी समिति की स्थापना का निश्चय किया गया। भोज में कार्ल मार्क्स भी आमन्त्रित किये गये और हर्जेन भी। हर्जेन की उपस्थिति पर एतराज करते हुए मार्क्स ने कहा था कि वे कभी समाजवादी नहीं हो सकते क्योंकि जरूरत से ज्यादा नम्र हैं।

एक अवसर पर एंजिल ने कहा था— 'मैं कभी वहाँ नहीं आऊँगा जहाँ कि हर्जेन होंगे क्योंकि उनके और मेरे विचारों में कोई भी समानता न होने पर भी हम दोनों को समाजवादी कहा जाता है।' सौम्य और शिष्ट क्रान्तिवादी होने के कारण उन्हें अपने समय के कई विचारकों का विरोध सहना पड़ा था।

२९ जनवरी, १८७० को उनका देहान्त हो गया। तीस-चालीस वर्ष बाद उन्होंने जो सम्भावना व्यक्त की थी वह सत्य सिद्ध हुई। जन-आक्रोश फूट पड़ा और देखते-देखते जार का शासन ध्वस्त हो गया, समाजवाद, सहकारिता और सहयोग के आधार पर रूस की जनता ने एक नया जीवन आरम्भ किया जिसका विचार हर्जेन ने वर्षों पूर्व दिया था।

आजीवन संघर्षरत प्रजा-पुत्र मैक्सिम गोर्की

“एक छोटे से अंधेरे कमरे में, खिड़की के नीचे फर्श पर मेरे पड़े थे मेरे पिता। उनका कद बहुत लम्बा था, कपड़े सबके सब सफेद थे। पाँवों की अँगुलियाँ सब एंठकर फैल गयी थीं। हाथों की अँगुलियाँ भी ऐसी ही एंठ गयी थीं। हाथ छाती पर एक-दूसरे के ऊपर तिरछे पड़े थे। उनका शान्त प्यारा चेहरा निर्जीव था लेकिन भिची हुई दाँतों की चमक को देखकर डर लगता था और मेरी नानी ने मुझ से कहा—अपने पिता से विदा ले लो। तुम उन्हें फिर कभी न देखोगे—मैक्सिम गोर्की के इन शब्दों में उनके बाल्यकाल की उस घटना का चित्रण है, जो उन्हें सचमुच ही व्यथित कर गयी।”

यों जन्म से ही सुख-सुविधायें क्या होती हैं उन्होंने जाना नहीं था। जिस समय वे जन्मे पिता बेरोजगार, माता निराश्रित और उनका स्वयं का जीवन अन्धकारमय था। गोर्की के पिता मैक्सिम एक सैनिक अफसर के स्वाभिमानि पुत्र थे। अपने पैरों पर खड़े होकर सम्मान पूर्ण जीवन जीने के लिए कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करते रह कर भी उन्हें किसी का आश्रय या उपकार नहीं चाहिए था। स्पष्टवादी होने के कारण परिवार के अन्य सदस्य उनसे नाराज ही रहते थे। यहाँ तक कि उनके पिता और ससुर भी। अपनी बेटी को प्रसव के समय मैक्सिम की सास किसी तरह अपने पति को समझा-बुझाकर दामाद और पुत्री को अपने घर ले आयी।

सास-ससुर ने मैक्सिम दम्पति को सामने का मकान दे दिया और वहीं पर पियैश्कोव ने जो आगे चलकर मैक्सिम गोर्की के नाम से प्रसिद्ध हुआ २८ मार्च, १८६८ को जन्म लिया। गोर्की का पिता

मैक्सिम बड़ा ही सदाचारी और स्पष्टवादी व्यक्ति था। न कभी शराब पीता और न ही किसी प्रकार के दुर्व्यसन में समय बिताता। इससे पियैश्कोव का मामा—बड़ा जलने लगा। मैक्सिम के पिता का उत्कृष्ट चरित्र और परिवार में उसका बढ़ता हुआ सम्मान पियैश्कोव के मामा-मामी के लिए ईर्ष्या का विषय हो गया।

नियत ने स्वयं ही मैक्सिम को—पियैश्कोव के जन्म के चार वर्ष बाद ही उठा लिया। यहीं से उनकी कष्ट-कठिनाइयों का दारुण अध्याय आरंभ होता है। अभी तक तो सभी अभाव पिता के सौम्य स्वभाव और लाड़-प्यार के कारण बिल्कुल भी खटकते न थे, परन्तु अब पियैश्कोव को ऐसे दिन देखने को मिले जब उसके सिर से पिता की छाया दूर हो गयी। वह अपनी नानी के पास ही रह गया। माता-पिता के लाड़-प्यार में पले पियैश्कोव को ननिहाल का अनुभव बड़ा ही कड़वा लगा। मामा झगड़ालू और क्रोधी थे। परिवार के सभी बच्चों की पीठ उनके करारे घूसों और तमाचों से बजती रहती थी।

नाना-नानी का विशेष प्रेम-पात्र होने के कारण पियैश्कोव कुछ समय तक तो बचा रहा परन्तु एक दिन असावधानीवश वह कोई गलती कर बैठा। फलस्वरूप पियैश्कोव को मामा के हाथों तो नहीं नाना के हाथों जरूर पिटना पड़ा। मार खाने का यह पहला अनुभव था। पियैश्कोव ने रोते हुए कहा—मेरे पिता होते तो कौन मुझे पीट सकता था? माँ सहित नाना-नानी को आँसू आ गये। नानी ने अपने नाती को छाती से लगा लिया और कहा—“बेटा मैंने तुम्हें पीटा इसका बुरा मत मानना। मेरी बात याद रखो अपनी के हाथ पिटने में कोई हर्ज नहीं है। इसे शिक्षा समझना चाहिए लेकिन किसी गैर आदमी की क्या मजाल जो तुम्हें हाथ भी लगा ले।”

पियैश्कोव के नाना एक कारखाने के मालिक थे। बचपन में उन्हें बड़ी गरीबी और अभाव के दिन देखने पड़े थे। उनका विवाह भी एक गरीब कन्या से हुआ था, जो बड़ी ही उदार, स्नेह और ममता की प्रतिमा तथा करुणा की मूर्ति थी। वे स्वयं कठोर, श्रमशील, अनुशासित और व्यवस्थित जीवन पसन्द करने वाले व्यक्ति थे। दोनों के विशिष्ट स्वभाव जब एक बिन्दु पर आकर मिल गये तो स्वाभाविक ही समृद्धि और सम्पन्नता उनके चरण चूमने लगीं। बचपन में पियैश्कोव के नाना को अपने ही क्या गैरों के हाथों भी पिटना पड़ा था। वे अक्सर अपने अतीत के संस्मरण सुनाया करते। इस घटना के बाद उन्होंने कभी पियैश्कोव को हाथ नहीं लगाया।

नानी उन्हें अपने पिता और नाना के संघर्षपूर्ण जीवन की घटनायें तथा कहानियाँ सुनाया करती थीं। यद्यपि उन्हें किसी पाठशाला में पढ़ने के लिए नहीं भेजा जा सका परन्तु नानी की कहानियों ने पियैश्कोव को समाजपरक यथार्थ जगत की व्यावहारिक जानकारी और शिक्षण दिया। इन कहानियों ने उन्हें जागरूक तथा विचारशील वृष्टि दी। इधर उनकी माँ भी अधिक दिनों तक साथ नहीं रह सकी। वह अपने पुत्र को अपने माता-पिता के पास छोड़कर कहीं चली गई और दूसरी शादी कर ली। पियैश्कोव का हृदय टूट गया।

एक दिन गोर्की के नाना के कारखाने में आग लगी और सारी सम्पदा नष्ट हो गई। नाना विक्षिप्त से हो गए और उन्होंने पियैश्कोव

से कह दिया— एलेक्सी मेरे लिए यह मान लेना कठिन होगा कि मैं तुम्हें सदैव तमगे की तरह गले में लटकवाये रहूँगा। अब तुम्हारे लिए मेरे पास कोई जगह नहीं है। तुम दुनिया में अपने लिए अलग जगह बनाओ।

पियैश्कोव को तनिक भी रंज नहीं हुआ न ही उन्हें बुरा ही लगा। बूढ़ी नानी के हृदय में अभी भी अपने नाती के लिए ममता का सागर हिलोरें मार रहा था। वे नाना का घर छोड़कर बाहर गाँव चले गये और कभी मोची के गुमास्ते का काम किया तो कभी माली का। सोडा-वाटर बेचने से लेकर रसोई बनाने और माल ढोने तक उन्होंने हर पेशा अपनाया परन्तु हर जगह दुर्भाग्य आड़े आ गया।

एक दिन उन्होंने कहीं दूर जाकर अपना भाग्य अजमाने का विचार किया और नानी के पास जाकर बोले मैं वोल्गा के पार जा रहा हूँ नानी।

‘वहाँ क्या करेगा बेटा ? यहाँ कोई काम नहीं मिला क्या ?’ एक साथ नानी ने कई प्रश्न पूछ लिए। परन्तु पियैश्कोव ने तो जाने की ठान ही ली। उस समय उनकी आयु कुल बारह वर्ष की थी। और वोल्गा तट पर जो उस गाँव के पास ही था आने-जाने वाले स्टीमरों में माल ढोने का काम करने लगे। एक दिन उन्होंने अपना समय निर्धारित कर लिया। नानी विदा देने आयी— ‘अब तुम्हें फिर कभी न देख पाऊँगी बेटा ! तुम न जाने कहाँ-कहाँ भटकोगे। कहकर उसने आँसू पोंछ लिए।’

नानी का बस चलता तो वह अपने नाती को यों न जाने देती। परन्तु क्या करे बेचारी ! पति इतना कंजूस और स्वार्थी बन गया था कि उसकी कुछ भी न चल पाती। कारखाने में जब आग लगी तो सब लोगों को स्वाभाविक ही बड़ा दुःख हुआ परन्तु उसने यह कर सन्तोष मनाया कि यह कंजूसी और खुदगर्जी का दण्ड है।

स्टीमर में पियैश्कोव को दो रूबल (रूसी रुपया) प्रतिमास वेतन पर तश्तरियाँ धोने के काम में लगा दिया। अभी वे बालक ही थे परन्तु परिस्थितियों ने उनके मस्तिष्क को वयस्क और आत्मविश्वास को परिपक्व बना दिया था।

तीन-चार वर्ष तक, इसी प्रकार अपने दिन गुजारते हुए पियैश्कोव को आखिर उसी स्टीमर में रसोइए का काम मिल गया। अब तो वेतन भी बढ़ गया। पियैश्कोव ने अपने घुमकड़ जीवन में कई लोगों का सम्पर्क और सान्निध्य प्राप्त किया। उन्होंने देखा कि अधिकांश लोग तुच्छ और ध्रुव जीवन व्यतीत कर रहे हैं। घृणित से घृणित निन्द्य कर्मों में लोगों को तनिक भी संकोच नहीं होता। परन्तु वे इन नृशंस लीलाओं से अप्रभावित ही रहे। बचपन से सुनी कहानियों और आदर्शों ने सदैव उनकी रक्षा की।

१५-१६ वर्ष की आयु में वे एक ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आये जो उनसे बड़ी सहानुभूति रखता था। वह भी एक रसोइया ही था जिसे सभी लोग स्मिडरी कहा करते थे। एक दिन स्मिडरी ने कहा पियैश्कोव तुम थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना जानते हो क्या ?

‘मुझे कभी मौका ही नहीं मिला’— पियैश्कोव ने कहा— ‘हालांकि जी तो बहुत होता है।’

स्मिडरी जवान रसोइये की इच्छा को समझकर वर्णमाला सिखाने और पढ़ाने लगा। यहीं पर उन्होंने थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना सीखा। उनकी बुद्धि तो जीवन के अनुभवों ने पहले ही विकसित कर दी थी। स्टीमर के यात्रियों में कई लोग ऐसे भी आते जो पियैश्कोव से प्रभावित होते। पियैश्कोव अब गोर्की के नाम से अपना परिचय देते जिसका अर्थ होता है— कटु। वास्तव में अभी तक उन्होंने अपने जीवन में जो कुछ भी भोगा था वह कटु ही था।

एक और कड़वा अनुभव उन्हें स्टीमर के जीवन में भोगना पड़ा। स्टीमर के कर्मचारी अक्सर यात्रियों से भोजन का पैसा लेकर अपने पास रख लेते थे। पियैश्कोव ने ऐसे कर्मों में कभी उनका सहयोग नहीं किया। इस कारण अधिकांश भ्रष्ट कर्मचारी उनसे नाराज और चिढ़े हुए रहते। आखिर एक दिन स्टीमर के अधिकारी को यह सब पता चल गया और पूछताछ हुई। सभी लोगों ने गोर्की को दोषी ठहराया। प्रमाण न होने पर भी बहुमत को सत्य समझा गया और उन्हें नौकरी से अलग कर दिया। ईमानदारी और मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था को पाशविक्ता का यह पहला दण्ड था। कोई भी सामान्य आदमी तात्कालिक लाभ के लिए परिस्थितियों से समझौता कर लेता परन्तु गोर्की तो आदर्शों के प्रति दृढ़ निष्ठा रखते थे। लाभ नहीं उत्कृष्टता उनका अभीष्ट था।

मैक्सिम गोर्की ने परिस्थितियों से समझौता नहीं किया और न उनके सामने घुटने ही टेके परन्तु उनके अन्तःकरण में मनुष्य को सभ्यता और नैतिकता की मर्यादाओं का उल्लंघन करते देख एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई और वे विद्रोही बन गये। उन्होंने जो कुछ देखा, सुना और अनुभव किया उसे कालान्तर में शब्द देना आरम्भ किया। इसकी प्रेरणा और मार्गदर्शन उन्हें एक दूसरे रूसी लेखक करोनिन से प्राप्त हुई थी। स्टीमर की नौकरी छोड़ देने के बाद भी वे स्थाई रूप से टिक न पाये।

गोर्की ने अपने जीवन में जो अनुभव प्राप्त किये थे, वे सब के सब कटु और वेदना से भरे हुए थे। इस प्रकार के जीवन ने उन्हें जो अमूल्य रत्न कण दिये उनसे प्रेरित होकर गोर्की ने दुःख-दाखिय के सागर का अवगाहन किया। करोनिन से प्रोत्साहन प्राप्त कर उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया। उस समय रूस में प्रधानतया दो विचारधारायें चल रही थीं नीत्से का मत्स्य न्याय सिद्धान्त जिसके अनुसार महत्वाकांक्षी व्यक्ति को अपने से निम्न स्थिति के लोगों की टांग खींचकर ऊँचा उठने की बात कही गयी थी। दूसरे विचारकों ने खुशामद और अतिनम्रता का प्रचार किया जो मनुष्य को आत्माभिमान से एकदम गिरा देती है। गोर्की को ये दोनों जीवन दर्शन अनुपयुक्त लगे और इस सिद्धान्त का प्रचार किया जो उठने को उत्सुक है उसे सहारा दो और खड़े होने में मदद करो। यद्यपि उन्हें अपने जीवन में करोनिन और स्टीमर के बावर्ची को छोड़कर कभी किसी का सहयोग नहीं मिला फिर भी मानवता में उन्होंने अटूट विश्वास व्यक्त किया।

यह युग जारशाही का था। तत्कालीन स्थिति का उल्लेख करते हुए स्वयं गोर्की ने लिखा है— ‘इस देश में अच्छे और भले कर्मों

का नाम अपराध है, ऐसे मन्त्री शासन करते हैं जो किसानों के गुँह की रोटी का टुकड़ा तक छीन लेते हैं और ऐसे राजा राज्य करते हैं जो हत्यारों को सेनापति और सेनापति को हत्यारा बनाने में प्रसन्न होते हैं। तब तक मैक्सिम गोर्की की ख्याति और प्रतिष्ठा लोक प्रसिद्ध बन चुकी थी। अब छोटा, गरीब और मध्यम वर्ग उनके साहित्य में अपनी प्रतिच्छाया देखने लगा था क्योंकि वे स्वयं उसी में से आये थे।

सन् १९०५ में मैक्सिम गोर्की और उनके जैसे ही कई लेखकों, जागरूक जन-नेताओं के प्रयासों से रूस में कुछ सुधार हुए जिन्हें अपर्याप्त ही कहा जाना चाहिए। गोर्की ने इन सुधारों पर यथार्थ टिप्पणी की तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। प्रबल जन-विरोध के कारण जार को उन्हें छोड़ना पड़ा। आतंक और दमन की लीलाओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा— “रूस की आग बुझी नहीं है वह दब गई है। इसलिए कि दस गुनी शक्ति के साथ उमड़ पड़े।” बारह वर्ष बाद उनका यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ।

इस उक्ति को चरितार्थ करने के लिए उन्होंने बारह वर्षों तक अथक परिश्रम किया। इसके लिए वे देश-विदेश में घूमे, अपने यहाँ की विभूतियों से मिले। टॉल्स्टॉय तो उनसे मिलकर बड़े प्रभावित हुये थे और उनके लिए ‘सच्चे प्रजा पुत्र’— का सम्बोधन दिया था।

धार्मिक क्रान्ति के सूत्र संचालक—

मार्टिन लूथर

आज से कोई साढ़े चार सौ वर्ष पहले जर्मनी के ऑगस्टिनन साधु संघ के एक सामान्य पादरी ने तत्कालीन धार्मिक अन्धविश्वास के विरुद्ध एक समर्थ क्रान्ति प्रारम्भ की और उन सड़ी-गली प्रथा-परम्पराओं को तोड़ फेंका जो धर्म के नाम पर पाखण्ड व कुछ लोगों के स्वार्थ सिद्धि का हेतु बनी थीं। इस क्रान्ति दृष्टा का नाम था मार्टिन लूथर। आज सैकड़ों वर्ष बाद भी ईसाई जगत में उनका नाम सम्मान व आदर के साथ लिया जाता है।

मार्टिन लूथर का जन्म संवत् १४९४ में जर्मनी के एक समृद्ध परिवार में हुआ। उनके पिता एक लौह परिद्रावक के मालिक थे। धार्मिक संस्कार उन्हें अपने ईश्वर विश्वासी माता-पिता से मिले थे। अपने सात भाइयों में वे सबसे बड़े थे। अतः उन्हें ही अपने पिता का व्यवसाय सम्हालना चाहिए था किन्तु लोक-कल्याण की प्रबल उमंगों ने उन्हें अर्थ की ओर से उदासीन ही बनाये रखा।

स्थानीय प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् तेरह वर्ष की आयु में किशोर मार्टिन को मेडल वर्ग के एक विद्यालय में धर्म तथा जीवन सम्बन्धी सामान्य शिक्षण प्राप्त करने के लिए भेजा गया। उन्होंने बाइबिल तथा अन्य धर्म ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। उसी समय से उनके मन में धर्म प्रचारक बनने का संकल्प परिपुष्ट होने लगा। १५०१ में ईर्फूर्ट विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा पाने के लिए प्रविष्ट हुए। वहीं से उन्होंने बी.ए. व एम. ए. की परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण की।

उनके पिता की इच्छा थी कि वे कानून पढ़कर उनके व्यवसाय में मदद करने लग जायें। पिता का मन रखने के लिए उन्होंने कानून पढ़ाये जाने वाले विद्यालय में प्रवेश भी लिया। किन्तु कुछ ही महीनों में उन्हें यह पढ़ाई बन्द ही कर देनी पड़ी क्योंकि जिस कार्य में रुचि नहीं, अन्तःकरण कुछ दूसरे ही काम को सिर पर उठाने की मनुहार कर रहा है तो वे इस सच को झूठ व झूठ को सच करने वाली विद्या को कब तक बेमन से पढ़ते रहते। अतः उन्होंने अपने पिता से अपने मन की बात कह दी— “पिताजी ! मेरे अतिरिक्त छह और हैं उनमें से किसी अन्य को वकील बना लेना, मेरी इच्छा तो धर्म प्रचारक बनकर समाज सेवा करने की है। अपने परिवार से इतना अनुदान तो मानवता को मिलना ही चाहिए।”

मार्टिन के धर्मपरायण पिता को अपने पुत्र का यह निश्चय उचित ही लगा और उन्होंने मार्टिन को धर्म-प्रचारक बनने की इजाजत दे दी। अब वे ईर्फूर्ट के आगस्टिनन साधु संघ में प्रविष्ट हुए। इन साधु संघ की परम्परा नवागन्तुक पादरी के संयम की कड़ी परीक्षा लेने की थी। अतः उनकी परीक्षा भी ली गयी। उन्हें षण्ठों तक कड़ी शीत में बिना कम्बल ओढ़े सुलाया गया। षण्ठों धूप में निरुद्देश्य बिठाये रखा गया। वे उन कड़ी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए तथा उन्हें साधु संघ में प्रविष्ट कर लिया गया। इसके पश्चात् १५१२ में उन्होंने विटन वर्ग विश्वविद्यालय से ‘डॉक्टर आफ थियोलोजी (ब्रह्म विद्या) की उपाधि प्राप्त की।’

मार्टिन लूथर पक्के आस्तिक तथा मनुष्य जीवन की गरिमा से परिचित थे अतः वे ‘शुभकार्य जितना शीघ्र हो सके हो जाना चाहिए’ की रीतिनीति को ही श्रेष्ठ मानते थे। यही कारण था कि उन्होंने आरम्भ में ही अपने जीवन के उस पथ को चुना जो महानता के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाला था।

जहाँ मनुष्य में योग्यता भी हो और वह उसका सदुपयोग करने के लिए तत्पर भी हो तो उसे आगे बढ़ते हुए देर नहीं लगती। मार्टिन लूथर के साधु संघ में प्रविष्ट होने से कुछ वर्षों बाद ही उन्होंने संघ में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

उनके जिम्मे अनेकानेक काम थे। वे ग्रामों के गिरजाघरों में उपदेश देने जाते। बाहर के ग्यारह साधु संस्थानों की भोजन व प्रार्थना आदि की देख-रेख भी वे करते थे। छोटे पादरियों को पढ़ाने का काम भी उन्हें करना पड़ता था। साधु होने का अर्थ वे अकर्मण्य होना नहीं वरन् रात-दिन निःस्वार्थ भाव से काम करना मानते थे।

इतने काम करने के बाद भी वे अपनी नियमित दिनचर्या में से लेखन के लिए समय निकाल लेते थे। वे पत्रों, पुस्तकों, प्रश्नोत्तरों व लेखों में धर्म के शाश्वत सत्यों का सरल-सुगम भाषा में निरूपण किया करते थे। उन्होंने पुस्तककार के कोई ३०,००० पत्र अपने जीवन-काल में लिखे थे।

धर्म के गूढ़ अध्ययन तथा साधु का संयमित जीवन जीते हुए वे धर्म की उस शक्ति से परिचित हो चुके थे जो मनुष्य को सद्मार्ग पर चलाया करती है जिससे इस धरती पर सुख-शांति की अभिवृद्धि होती है। किन्तु वे देख रहे थे कि ईसाई जगत में धर्म के नाम पर

कुछ और ही काम हो रहा था। धर्माचार्यगण जनता को भ्रमित कर धर्म के नाम पर आशीर्वाद और वरदानों की दुकानें लगाये बैठे थे और दोनों हाथों से सोना-चाँदी लूट रहे थे।

उस समय की दशा का चित्रण जर्मनी के कैथोलिक लेखक काली आदम ने लिखा था— “धर्माचार्य के उच्च पद इटली के राजकुमारों तथा उनके निकट सम्बन्धियों के लिए लगभग सुरक्षित से हैं। इन महत्त्वपूर्ण पदों पर जो राजसत्ता से भी ऊँचे माने जाते थे, पर व्यक्ति की योग्यता, भावना तथा चार्ित्रिक तथा परमार्थ परायणता के मानदण्ड से नियुक्तियाँ नहीं होने के कारण ऐसे लोगों का एकधिकार हो गया है जो उन आसनों पर बैठकर लोगों से धन ले-लेकर ‘पापों से मुक्ति’ व ‘ईश्वर की कृपा’ बेच रहे हैं।

छोटे पादरियों का हाल भी बड़े पादरियों की देखा-देखी बिगड़ चुका है। वे अपने चरित्र व संयम की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते। क्रूरता, शराबखोरों, जुआ तथा अन्धविश्वास के पंक में डूबकर हीन हो चुके हैं। उनका ध्यान धर्म कृत्यों व संस्कारों में निहित भावना पर नहीं रहता। वे तो यह देखते हैं कि कब कोई अमीर आदमी संस्कार कराने आये और उन्हें धन मिले। गरीब परिवारों के शव कई दिनों तक पड़े भी रहते तो वे अन्तिम संस्कार कराने नहीं जाते क्योंकि वहाँ उन्हें अधिक कुछ मिलने वाला नहीं होता।”

मार्टिन लूथर इस भयंकरता को देखकर चिन्तित हो उठे। इस प्रकार धर्माचार्यों को धन देकर स्वर्ग का टिकिट या ईश्वर की कृपा खरीदने वालों को न तो पापों से ही मुक्ति मिल सकती है न उसका परलोक ही सुधर सकता है। किन्तु धर्माचार्यों व पादरियों के इस आचरण का कुप्रभाव जनमानस पर पड़े बिना नहीं रहता। वे भी धर्म को कहने-सुनने की बात मानने लगते हैं। आचरण की नहीं। इस प्रकार लोगों की पाप, पुण्य की मान्यतायें ही विमृशित हो जाती हैं।

मार्टिन लूथर ने जनता को इस धार्मिक अन्धविश्वास से मुक्ति दिलाने का संकल्प ले लिया। वे जानते थे कि पोप और बड़े-बड़े पादरियों के आगे इनकी स्थिति नगण्य-सी है। किन्तु उन्हें यह भी विश्वास था कि सत्य की शक्ति सर्वोपरि है उसके आगे बड़ी-बड़ी ताकतों को भी झुकना पड़ता है। महात्मा यीशु के पास यही शक्ति तो थी। ईश्वर सदा सत्य और न्याय के पीछे रहता है।

उन्होंने चल रही धर्म-व्यवस्था के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द करनी आरम्भ कर दी। बाइबिल को ही आधार मानकर चले। उन्होंने अपने उपदेशों, प्रवचनों में जोरदार शब्दों में यह बात कहनी आरम्भ कर दी— “व्यक्ति के कर्म प्रमुख हैं। कर्मों के अनुसार ही दयालु—न्यायकारी ईश्वर दण्ड उपहार देता है। स्वर्ग व पापों से मुक्ति शुभ कर्मों के द्वारा ही मिल सकती है पैसों से खरीदी गयी ‘ईश्वर की कृपा’ व ‘पापों से मुक्ति’ कुछ काम देने वाली नहीं है।”

पोप ने स्थान-स्थान पर अपने एजेण्ट पादरियों की नियुक्ति ‘ईश्वर की कृपा’ व ‘मुक्ति’ बेचने के लिए कर रखी थी। इस विवेक सम्मत तथा युक्तियुक्त प्रतिपादन का उन दुकानों पर प्रभाव पड़ा।

लोग उनकी सच्चाई समझने लगे थे। इन्हीं दिनों १५१७ में पोप लियो दसवें ने सेंट पीटर्स सभा भवन के निर्माण के नाम पर जॉन टेनलित मुनेज नामक एक प्रतिनिधि को ‘कृपा’ बेचने के लिए नियुक्त किया।

मार्टिन लूथर ने इसके विरोध में अपने लिखे हुए धर्म विषयक ९५ शोध ग्रन्थों के विटन बर्ग केस्टिल चर्च में भिजवा दिया तथा उन पर धर्मविदों का वाद आयोजित कर इस ‘ईश्वरीय कृपा बेचने के निर्णय’ के औचित्य को चुनौती दी। तब तक मुद्रण कला का शुभारम्भ भी हो चुका था। इस सुविधा का लाभ भी उन्होंने उठाया और अपने शोध ग्रन्थों को छपा-छपाकर गिरजाघरों, विश्वविद्यालयों तथा धार्मिक केन्द्रों को भेजकर पोप के निर्णय के खोखले-पन को उजागर कर दिया।

धर्म के आसनों पर डेरा जमाये हुए स्वार्थी तत्त्वों पर इसकी कड़ी प्रतिक्रिया हुई। इन्हें अपने आसन हिलते हुए दिखाई देने लगे। तत्कालीन पोप तथा उसके समर्थकों ने मार्टिन लूथर को ‘धर्मद्विषी’ की संज्ञा दी तथा उनके कृत्यों को नितान्त धर्म विरोधी तथा भ्रामक ठहराया। पोप ने मार्टिन लूथर से इसका कारण स्पष्ट करने को कहा। इस पर उनका उत्तर था कि इसका निर्णय धर्मविदों की कौंसिल में किया जाय।

पोप इसके लिए तैयार नहीं हुआ क्योंकि वहाँ हार जाने की पूरी आशंका थी। अतः उसने राजा चार्ल्स पाँचवें के दरबार में मार्टिन लूथर पर धर्मद्रोह का अपराध लगाया। यहाँ भी मार्टिन लूथर का पलड़ा भारी रहा। फिर भी पोप ने अपने प्रभाव के बल पर न्यायाधिकारियों की बेंच के अधिकांश न्यायविदों की अनुपस्थिति में मार्टिन लूथर को निर्वासन का दण्ड दिलवाया।

मार्टिन को जर्मनी छोड़ना पड़ा फिर भी उन्होंने जो आवाज बुलन्द की थी वह तो रुकी नहीं। धर्म के नाम पर होने वाली लूट समाप्त होकर रही। वे योरोप में भ्रमण करके शाश्वत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहे। उनके पक्षधरों की संख्या बढ़ती ही गयी तथा प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय के रूप में समृद्ध होती चली गयी।

कुछ वर्षों के बाद जर्मनी के राजा ने उन्हें ससम्मान अपने देश बुलाया, वे यहाँ वटन बर्ग विश्वविद्यालय में आचार्य पद पर अपनी सेवाएँ अर्पित करते रहे। उन्होंने अपने इस सेवा काल में कई धर्म ग्रन्थों का अनुवाद किया, प्रार्थना पुस्तकें लिखीं तथा भक्ति संगीत लिपिबद्ध किये। बयालीस वर्ष की आयु में उन्होंने केथरीन बानबोरा नामक महिला से शादी की जो पहले किसी धर्म संस्थान में ‘नन’ थीं। दोनों संयमी थे। उनका पारिवारिक जीवन बड़ा सुखपूर्ण था।

मार्टिन लूथर का यह जीवन वृत्त ईसाई मतावलम्बियों के लिए ही नहीं सब धर्मावलम्बियों को यह दिग्दर्शन कराने के लिए पर्याप्त है कि धार्मिक आस्था तो अनिवार्य है किन्तु अंध श्रद्धा, अन्धविश्वास नहीं। धर्म पर जब भी स्वार्थी तत्त्व छाने लगे, अन्धविश्वास उसे विकृत करने लगे तब उसमें सुधार-क्रांति भी आवश्यक है।

पेरू के यातून पापा— डॉ. थियोडोर वाइडर

स्विटजरलैण्ड की एक आम-सभा में डॉ. श्वाइत्जर का भाषण हो रहा था। विषय था— मनुष्य जाति की सेवा। डॉ. श्वाइत्जर उन दिनों अफ्रीका के घने जंगलों में जहाँ सूर्य का प्रकाश भी पैर रखने से डरता था, आदिवासी हबियाओं की चिकित्सा सेवा करते थे। भाषण में वे उन कठिनाइयों का उल्लेख भी कर रहे थे और सेवा से प्रसुप्त मन को मिलने वाली शान्ति और आत्म-सुख की प्रशंसा भी करते जाते थे।

मंच से ५० फीट की दूर पर एक ११ वर्षीय बच्चा बैठा ध्यान से भाषण सुन रहा था। आध घण्टे का भाषण आध घण्टे में समाप्त हो गया। सब लोग अपने-अपने घर चले गये, पर बच्चा अब भी किसी ध्यान में खोया हुआ-सा चुपचाप बैठा था। अन्तर्दशी श्वाइत्जर की भावनाओं से बालक का अन्तर्क्रन्दन छिपा न रहा। वे मंच से उतर कर उसके पास गये और स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरते हुये बोले, बच्चे ! सब लोग चले गये, तुम यहाँ अभी तक किसलिये बैठे हो ?

बच्चे का ध्यान भंग हुआ, उसने श्वाइत्जर को प्रणाम निवेदन किया और बोला— मैं भी गरीबों और पिछड़े हुआँ की सेवा करने के बारे में सोच रहा था, क्या आप मुझे भी अपने साथ ले चलेंगे ? श्वाइत्जर ने उसी पीठ थपथपाते हुये कहा— तुम बड़े होनहार हो, जरूर सेवा करोगे पर अभी तुम डॉक्टरी पढ़ो। पढ़-लिख लोगे तो सेवा के लिये तुम्हें स्वतः राह मिल जायेगी।

स्नेह आशीर्वाद का जो प्रभाव कोमल चित्त बच्चे पर होता है वही उस बालक पर हुआ। वह श्वाइत्जर का निष्ठावान भक्त बन गया। उसने वहीं प्रतिज्ञा की कि मैं डॉक्टरी पढ़ूँगा और बड़ा होकर दीन-दुःखियों की तन, मन, धन से सेवा करूँगा।

आज आपको पेरू जाने का अवसर मिले तो आप उस बालक के संकल्प को चरितार्थ हुआ देख सकते हैं। वही बालक आज डॉ. थियोडोर वाइडर नाम से विख्यात है। पेरू के अधिकांश आदिवासी कबीले भारतीय वंशज हैं वे लोग वाइडर को प्यार से यातून पापा (सबका पिता) कहकर पुकारते हैं। उस व्यक्ति की सेवा-साधना का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि पेरू के कोने-कोने से मरीज इलाज के लिये यहाँ पहुँचते हैं। एक बार शेपीबों का सरदार अपने १६ वर्षीय पुत्र को चिकित्सा के लिये डॉ. वाइडर के पास लाया। इस अस्पताल तक पहुँचने में सरदार को १८ दिन लगे थे।

सेवा-सहयोग और सहानुभूति की बात किसी के मन में आती भी है तो वह साधन और सुविधाओं की बात पहले उपस्थित कर देते हैं तथा मूल्य और मान अर्जित करने की। यह सेवा-भावना का महत्त्व कम कर देती है। सेवा का यथार्थ रूप और उसकी कसौटी तो अभाव, कष्ट और संघर्ष हैं। संघर्षों में भी अपने जीवन का भाग, अपनी योग्यता, क्षमता और समर्थता का लाभ औरों को, पिछड़े, दीन, हीन

गरीब, गलीजों को देने वाले ही सच्चे जनसेवक कहलाते हैं। डॉ. वाइडर उन्हीं में से एक हैं।

डॉ. श्वाइत्जर का आशीर्वाद पाकर डॉ. वाइडर जो तब बच्चे थे विज्ञान और डॉक्टरी पढ़ने लगे। बड़े परिश्रम से उन्होंने आगे काम आने वाली योग्यता को बढ़ाया। इन दिनों उनका अपने मार्गदर्शक से बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा। उसका एक लाभ यह हुआ कि वह मानव जाति की उत्कृष्ट सेवा की प्रेरणा ग्रहण निरन्तर करते रहे।

वाइडर ने पेरू के गरीब आदिवासियों के विषय में पहले से ही सुन रखा था। उन्हें जिस दिन मालूम हुआ था कि वहाँ के निवासी भारतीयों को चिकित्सा की जरा-भी सुविधायें उपलब्ध नहीं, उनके ५० प्रतिशत से भी अधिक बच्चे बचपन में ही मर जाते हैं, निर्धनता, अज्ञानता का ही उन पर दुष्प्रभाव नहीं, वे लोग संस्कारविहीन भी हैं, तभी से उन्होंने निश्चय कर लिया था कि यही उनकी सेवा का उपयुक्त क्षेत्र है।

अभी उन्होंने शिक्षा साधना पूरी की थी। एक आवश्यकता और भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी, वह थी— धन की आवश्यकता। वाइडर जानते थे जो लोग अपनी आजीविका की कठिनाई से चला पाते हैं, जो स्वतः मूर्छित हैं, उनकी सेवा और उनकी मूर्छा तोड़ने के लिये ज्ञान, दान और सेवा भावना का ही महत्त्व नहीं, व्यावहारिक साधन— धन की भी उतनी ही आवश्यकता है। ऐसे विषम विचार स्थल पर भी वाइडर ने संकल्प डिगाया नहीं वरन् उनकी इच्छा शक्ति और भी दृढ़ हो चली।

जर्मनी की लड़ाई छिड़ने पर वे मेडिकल आफिसर के रूप में काम करने लगे। नाजी विरोधी संस्था में भी काम किया। इसके बाद वे स्विटजरलैण्ड गये। वहाँ उन्होंने डॉक्टरी का शेष अध्ययन भी पूरा कर लिया।

अब तक मन की तुष्टि नहीं हुई थी। आत्मा को अपना अभीष्ट नहीं मिला था, इसलिये वे सदैव बेचैन रहा करते थे। जब कभी कोई परिचर्या होती, डॉ. वाइडर कहते जब तक संसार में गरीब हैं हमें धनवान कहलाने का, जब तक अशिक्षित हैं शिक्षित कहलाने का और जब तक पृथ्वी का विशाल भू-भाग अज्ञान, कुसंस्कार, दीन-दुर्दशा ग्रस्त है तब तक अपने आप को सभ्य कहलाने का अधिकार नहीं हो सकता। पिछड़े हुआँ को समान स्तर पर लाना प्रबुद्ध व्यक्तियों का धर्म है।

एक दिन आपने अपनी सहधर्मिणी कारमन के सामने अपनी योजना प्रस्तुत की। उन दिनों वाइडर की लिमानगर में अच्छी प्रैक्टिस चलती थी। पेरू का जीवन बड़ा ही दुर्गम है यह जानते हुये भी श्रीमती कारमन ने अपने पति की योजना का समर्थन किया और पूरा सहयोग देने का वचन देकर पत्नीत्व को सार्थक किया।

फिर क्या था। आमेजन के जंगल में २५ एकड़ जमीन खरीद कर उसे साफ कराया गया। डेनमार्क की इन्जीनियर श्रीमती वर्थे सिमिलोव ने अस्पताल का नक्शा तैयार किया और भवन निर्माण भी उन्होंने कराया। जहाँ अच्छे संकल्प होते हैं वहाँ सचमुच सहयोग

और साधनों की पूर्ति के लिये भी अच्छे लोगों का अभाव नहीं रहता। उन्होंने अपने साथियों के कुछ ऐसे संगठन भी बनाये हैं जो इस चिकित्सालय और उसकी योजनाओं के लिये आर्थिक सहायता किया करते हैं।

१४ जनवरी, १९६० को डॉ. श्वाइत्जर के हाथों इस अस्पताल का उद्घाटन हुआ। स्थानीय नर्सों की आवश्यकता हुई उसके लिये श्रीमती वाइडर ने अधिक परिश्रम किया और उन्होंने पेरू की ही उनसे प्रशिक्षित कर लीं। ३० चारपाइयों, प्रयोगशाला और मरीजों के लिये झोपड़ियों की व्यवस्था थी उन्होंने मनोयोगपूर्वक सम्पन्न की।

चिकित्सा की व्यवस्था हो जाने पर पिछड़ी हुई जनता को नया जीवन मिला। पर काम बड़ा कठिन है। यहाँ के लोग अन्धविश्वासी भी कम नहीं। एक दिन डॉक्टर ने एक मरीज बालक को दवा की गोलिएँ दीं। माँ दवा लेकर घर गई। दो-तीन गोलिएँ खाने के बाद बच्चे ने दवा लेने से इन्कार कर दिया क्योंकि वह कड़वी थी। दवा तो किसी न किसी को खानी ही चाहिये इस मिथ्या विश्वास के कारण उस स्त्री ने बच्चे की दवा उसकी बहिन को दे दी और बहिन की दवा बच्चे को। फल यह हुआ कि बच्चा मर गया। ऐसी कठिनाइयाँ प्रारम्भ में आये दिन आती थीं तो भी वाइडर निराश नहीं हुये, उन्होंने अपना व्रत और भी लगनपूर्वक जारी रखा।

डॉ. वाइडर ने अनुभव किया कि इन लोगों की चिकित्सा ही काफी नहीं वरन् स्वस्थ और स्वच्छ वातावरण बनाना उससे भी अधिक आवश्यक है। गरीबी और भूख का मुक्तबला करने के लिये खेती-बाड़ी की भी योजना बनाई और वहाँ के लोगों को कृषि, पशुपालन का काम सिखाना भी प्रारम्भ किया। कबीलों में परस्पर झगड़े हुआ करते थे उसमें उनकी शक्ति का बहुत बड़ा हिस्सा नष्ट होता था, डॉ. वाइडर ने उसे दूर किया। उनमें परस्पर मेल-भाव पैदा किया। इन कार्यों में उन्हें बड़े तीव्र संघर्ष करने पड़े, विरोध और बाधाओं से लड़ना पड़ा है, तब आज ऐसी स्थिति बन सकी है कि अब वहाँ नया जीवन, नई दिशा, नये उद्योग, नये विश्वासों को जन्म मिला है। पेरू के आदिवासी सभ्य और सुसंस्कृत जीवन की ओर उन्मुख हुये हैं। पिछड़े हुए लोगों की सेवा डॉ. वाइडर की तरह करने, संघर्षों से न डरने और अपने ध्येय की पूर्ति के लिये सतत प्रयत्न करने से ही नव-निर्माण सार्थक होते हैं। ऐसे साहस, लगन की आज हमें और इस देश को बड़ी आवश्यकता है।

सेवा के मूर्तिमान प्रतीक— सन्त विनोबा भावे

अपने व्यक्तित्व विकास का रहस्य बतलाते हुए एक बार सन्त विनोबा भावे ने कहा कि “मैंने अपने शिक्षा काल में कभी एक क्षण भी खराब नहीं किया और न कभी निरर्थक अथवा निरूपयोगी श्रम किया। जो पूँजी मैंने उस समय प्राप्त की है वह मेरे आज तक काम आ रही है। परिश्रम करने से परिश्रमशीलता का विकास होता है और

जीवन की सारी सुख-शान्ति का निवास परिश्रम की गोद में ही होता है।”

सन्त विनोबा का मूल नाम विनायक नरहरि भावे था। इनका जन्म बम्बई प्रान्त के कुलावा जिले में ग्यारह सितम्बर अठारहसौ पचानवें में हुआ। विनायक नरहरि के माता-पिता बहुत ही धर्मात्मा और ईश्वर-भक्त थे। ब्राह्मणोचित गुणों से परिपूर्ण यह मराठा परिवार मध्यवर्ग का था।

विनोबा के जीवन पर माता-पिता के आचरण का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि धार्मिकता उनके रोम-रोम में बस गई। बहुत कुछ धार्मिक होने पर भी इनकी माता के विचार बड़े परिमार्जित एवं प्रगतिशील थे। हानिकर रूढ़ियों तथा निरर्थक परम्पराओं से उन्हें बहुत घृणा थी। जिन रीति-रिवाजों में वे कोई लाभकर तत्व न देखती थीं उनका पालन करना वे आवश्यक नहीं समझती थीं। माता की इस वैचारिक प्रगतिशीलता ने पुत्र की विचारधारा पर बड़ा ही वांछित प्रभाव डाला जिससे उनमें बाल्यकाल से ही किसी विषय पर मौलिक रूप से विचार करने और उनकी उपयोगिता, अनुपयोगिता की विवेक बुद्धि का विकास हो गया। माता के दिए हुए यह संस्कार आगे चलकर उनके जीवन में ज्योति बनकर चमके, जिससे आज वे धर्म के युगीन व्याख्याकार के रूप में सम्मानित हैं।

आचार्य विनोबा भावे को बाल्यकाल से ही सामूहिकता में बहुत विश्वास रहा है। समय की पाबन्दी उनके माता-पिता की एक विशेष देन थी। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही पाकर विनोबा ने बड़ौदा हाई-स्कूल में कक्षा चार में प्रवेश लिया। घर पर माता-पिता द्वारा पढ़ाई में जगाई रुचि के कारण विनायक-विनोबा कक्षा के पाठ से सदैव आगे-आगे चलते थे। अपनी पाठ्य-पुस्तकों के साथ वे अन्य ज्ञानवर्द्धक पुस्तकें भी पढ़ा करते थे जिससे दिनों-दिन उनके ज्ञान की जिज्ञासा बलवती होती गई। मनुष्य जिस विषय के प्रति अपना हृदय समर्पित कर देता है वह समयानुसार उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है, फिर वह कितना ही कठिन क्यों न हो।

कठिना अथवा दुरुहता का अपना कोई मौलिक अस्तित्व नहीं है। ये वास्तव में मनुष्य की असुचि तथा अलग्नता के ही बदले हुए रूप होते हैं। तन्मयता, लगन, रुचि और परिश्रम किसी भी कठिन से कठिन कहे जाने वाले कार्य को सरल बना देते हैं। सुरुचिपूर्ण संलग्नता में एक विशेषता है कि वह मनुष्य को कठिन एवं श्रमसाध्य विषयों की ओर ही झुकाती है, उन्हीं में रुचि उत्पन्न करती है। मस्तिष्क की अन्तिम सीमा तक पहुँचकर किसी विषय का निष्कर्ष निकालने पर ही किसी सच्चे अध्यवसायी को सन्तोष होता है। जिन कार्यों अथवा जिन विषयों में मन-मस्तिष्क को अपना पूरा कर्तव्य निभाने का अवसर न मिले ऐसे हल्के-फुल्के विषय में ज्ञानान्वेषक की रुचि कम ही रहती है और सुरुचिपूर्ण संलग्नता की प्रवृत्ति ही मनुष्य के व्यक्तित्व को ज्ञान के प्रकाश से जगमगाकर पूर्ण बना देती है।

बालक विनायक—विनोबा को अन्य विषयों की अपेक्षा गणित में अधिक रुचि थी। प्रश्नों के अन्तराल में प्रवेश कर उनका हल निकालने में उसे वैसा ही आनन्द आता था जैसा किसी गोताखोर को

समुद्र से मोती पाने में। गणित के विषय में अन्य सारे विद्यार्थी विनायक-विनोबा को अपना नेता मानते थे। दूसरों के दुरुह प्रश्नों को हल करने, उन्हें उसकी रीति बतलाने, नई विधियाँ सिखाने के कारण विनायक-विनोबा में एक उत्तरदायित्वपूर्ण गुरुभाव का उदय हो जाने से उसमें प्रारम्भ से ही एक अपेक्षित गम्भीरता का समावेश हो गया जिसने उसके आचरण पर बड़ा ही अनुकूल प्रभाव डाला। अब वह प्रयत्न एवं परिश्रमपूर्वक अपनी योग्यता को निरन्तर तरो-ताजा बनाये रखने के लिये अधिकाधिक अध्ययन करते और नये-नये विषयों में अपना पथ प्रशस्त करते। जिसके परिणामस्वरूप उनका मस्तिष्क प्रखर से प्रखरतर होता गया और वे बड़ौदा हाईस्कूल के विशेष विद्यार्थी बन गये।

अपनी लोकप्रियता के कारण हाईस्कूल तक पहुँचते-पहुँचते विनायक-विनोबा विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या से घिरे रहने लगे। अपनी लोकप्रियता का उपयोग उन्होंने एक ऐसी मित्र-मंडली बनाकर किया जो अवकाश के समय में दूर-दूर तक भ्रमण करने जाती और देश, राष्ट्र तथा समाज की तत्कालिक समस्याओं के समझने के लिये विचार-विमर्श करती और आगे चलकर उसके समाधान के उपाय सोचती। माता-पिता के दिए संस्कारों के कारण विनायक-विनोबा ने अपनी रुचि के अनुसार अपनी मित्र-मंडली में भी आध्यात्मिक रुचि उत्पन्न कर दी जो उनके चरित्र-निर्माण में बहुत दूर तक काम आई।

मैट्रिक के बाद कॉलेज के प्रथम वर्ष में विनायक-विनोबा ने अपनी मित्र-मंडली को 'विद्यार्थी-मंडल' नामक संस्था में बदल दिया और सुव्यवस्थित कार्यक्रम के साथ शिक्षा-प्रसार तथा समाज सेवा का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसकी बैठकों में सामाजिक कुरीतियों तथा नैतिक पतन की कड़ी आलोचना की जाती। लोगों को सुधार की प्रेरणा दी जाती और प्रगतिशील नये विचारों की प्रतिस्थापना की जाती थी। जन-जागरण के लिये विनायक-विनोबा के इस विद्यार्थी-मंडल ने 'शिवाजी जयन्ती,' 'हनुमान जयन्ती,' 'गणपति-उत्सव' तथा 'दास नवमी' जैसे उत्सव इस प्रकार से मनाने प्रारम्भ किये, जिससे लोगों में धर्म के साथ राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना भी जागने लगी। इसके अतिरिक्त विनायक-विनोबा के नेतृत्व में इस विद्यार्थी-मंडल में जनता से एक-एक पैसा तथा पुस्तकें माँगकर एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना की जिसमें भोल-स्वर्ध, क्यान्डी के अप्राप्य क्लेश भी प्राप्य हो गये।

किन्तु पराधीनता की गन्ध देने वाली स्कूली शिक्षा से विनायक विनोबा को सन्तोष न हो सका, अस्तु वे दूसरे वर्ष ही कॉलेज छोड़कर सच्चे ज्ञान की तलाश में काशी चले गये और वहाँ से महात्मा गाँधी के साबरमती आश्रम।

महात्मा गाँधी के साबरमती आश्रम के वातावरण तथा गाँधी जी के सम्पर्क में पहुँचने पर विनायक नरहरि भावे को जिनका कि नाम गाँधी जी ने विनोबा भावे रख दिया था, हार्दिक शान्ति मिली। वहाँ जाकर उन्होंने अनुभव किया कि यही वह जगह है जहाँ संयमपूर्ण स्वावलम्बी तथा सच्ची सेवा भावना से ओत-प्रोत जीवन अपनाकर पूर्ण मनुष्य बनने का अवसर मिल सकता है।

मनुष्यता की पूर्णता प्राप्त करने के लिये विनोबा भावे ने अपना सम्पूर्ण जीवन आश्रम की सेवा तथा उसके कार्यक्रमों को समर्पित कर दिया। लोक-कल्याण की भावना से जनसेवा के प्रति सच्चा आत्म-समर्पण किये ही बिना किसी विशेष प्रयास से विनोबा जी का आत्मिक स्तर स्वयं ही कुछ ऊँचा उठ गया और उनमें काम करने की एक अद्भुत शक्ति भर गई। कहना न होगा कि मानवता की मंगल कामना करने वाले को अन्य मनुष्य की शक्ति का एक अंश स्वतः प्राप्त हो जाता है। इस विषय में जिसका दृष्टिकोण जितना व्यापक, जितना निःस्वार्थ और जितना ऊँचा होगा उसे दूसरों की शक्ति का अंश उसी अनुपात से अधिक प्राप्त होगा।

आश्रम में रहकर विनोबा जी सूत कातते, आध्यात्मिक अध्ययन करते, बच्चों को पढ़ाते, उन्हें दैनिक आचरण की शिक्षा देते, स्वावलम्बन, उद्योग तथा शारीरिक श्रम का अभ्यास कराते। उनकी इस परिश्रमपूर्ण शिक्षण कला से प्रभावित होकर आश्रमवासियों ने 'वर्धा-शिक्षण-योजना' के नाम पर शिक्षा की एक पद्धति का ही श्रीगणेश कर दिया।

पर्याप्त समय तक आश्रम में रहकर जब प्रयत्नपूर्वक विनोबा जी ने अपने पवित्र आचरण को पूर्ण परिपक्व बना लिया और संयम की आँच में अपने को तपाकर शुद्ध मानवत्वं के दर्शन कर लिये तब वे एक साल की छुट्टी लेकर देशाटन के लिये आश्रम से चल पड़े। जिस अपने पूर्व गीता ज्ञान को उन्होंने गाँधी जी के सम्पर्क में विस्तृत किया था उसे अब व्यापक बनाने के लिए प्रकाण्ड विद्वान् नारायण शास्त्री मराठी के पास गये और प्राज्ञ पाठशाला में निरन्तर छह माह तक ब्रह्मसूत्र का अध्ययन किया। अनन्तर नगर-नगर, ग्राम-ग्राम गीता का ज्ञान वितरित कर और देश की सामाजिक अवस्था को अध्ययन करते हुये अवकाश समाप्त हो जाने पर पुनः आश्रम वापस आ गये।

अपने अनुभव, अध्यवसाय, अध्ययन, परिश्रम तथा सेवा भाव से विनोबा जी ने जो पात्रता अपने में उत्पन्न की थी उसके सम्मान में गाँधी जी द्वारा ग्राम सेवा मंडल, सेवा ग्राम आश्रम, तालीमी संघ, चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, गौ सेवा संघ, महिला आश्रम आदि संस्थाओं के संचालन एवं प्रबन्ध का दायित्व उन्हें सौंप दिया, जिसे उन्होंने निस्पृह भाव से महात्मा गाँधी की सन्तोष-सीमा तक पूरा कर दिखाया।

इसके अतिरिक्त भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष में वे हर आन्दोलन तथा हर योजना के अन्तर्गत जेल गये और अनेकों यातनायें सहँ। विनोबा जी के जीवन का प्रमुख लक्ष्य दरिद्र नारायण की सेवा करना रहा है। अपने जीवन में उन्हें दो ही बात पसन्द है—आध्यात्मिक चिन्तन और दरिद्र नारायण की सेवा।

यद्यपि राजनैतिक आवश्यकता के समय भी विनोबा जी राजनीतिक व्यक्ति नहीं थे तथापि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से तो वे देहातों तथा गरीबों को आर्थिक स्वतन्त्रता दिलाने के लिए दिन-रात पैदल चलकर गरीबों के लिए भूमि माँगते हैं। उनकी यह सेवा भूदान तथा ग्राम दान के नाम से प्रसिद्ध है और वे महात्मा गाँधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी की भाँति भारत में पूजे जाते हैं।

सत्यमाप्यते

माँ ने कहा— “बच्चे, अब तुम समझदार हो गये हो। स्नान कर लिया करो और प्रतिदिन तुलसी के इस वृक्ष में जल भी चढ़ाया करो। तुलसी की उपासना की हमारी परम्परा पुरखों से चली आ रही है।”

बच्चे ने तर्क किया— “माँ तुम कितनी भोली हो। इतना भी नहीं जानती कि यह तो पेड़ है? पेड़ों को भी कहीं पूजा की जाती है। इसमें समय व्यर्थ खोने से क्या लाभ है?”

लाभ है मुझे! ब्रह्मा कभी निरर्थक नहीं जाती। हमारे जीवन में जो विकास और बौद्धिकता है, उसका आधार ब्रह्मा ही है। ब्रह्मा छोटी उपासना से विकसित होती है और अन्त में जीवन को महान् बना देती है, इसलिये यह भाव भी निर्मूल नहीं।

तब से विनोबा भावे जी ने प्रतिदिन तुलसी को जल देना प्रारम्भ कर दिया। माँ की शिक्षा कितनी सत्य निकली उसका प्रमाण अब सबके सामने है।

सत्याग्रह का परिणाम

काशी में विद्याध्ययन कर रहा एक छात्र एक दिन एक दुकान पर ताला खरीदने गया। एक ताले की कीमत पूछने पर दुकान वाले ने बताया इसकी कीमत दस आने है। लड़के ने देखा ताला बहुत हलका है सो वह बोला— श्रीमान “ताले की कीमत तो तीन आने लगती है पर आप कहते हैं तो आपकी बात ही सच माननी पड़ेगी— यह कहकर उसने दस आने चुकाये और वहाँ से ताला लेकर चला आया।”

लड़का प्रतिदिन उसी दुकान के सामने से होकर घूमने के लिये निकला करता— एक दिन दुकानदार ने स्वयं ही सामने आकर कहा— बेटा! तुम्हारे, सत्य आग्रह के सम्मुख नतमस्तक हूँ, ताला सचमुच ही तीन आने का था। “यह लो अपने सात आने” — कहकर उसने पैसे लौटा दिये। यह बालक और कोई नहीं विनोबा जी थे दुकानदार ने फिर किसी ग्राहक को न ठगने की प्रतिज्ञा कर ली।

राणा की जयन्ती

बच्चों ने अपने नायक विन्या (अब विनोबा भावे) के नेतृत्व में प्रताप जयन्ती पाठशाला में न मनाकर वन में मनाई। दूसरे दिन अध्यापक जी ने बालकों से पूछा— “क्या महाराणा प्रताप की जयन्ती पाठशाला में नहीं मनाई जा सकती थी?” “आप भी क्या कहते हैं गुरुजी! स्वतंत्रता के पुजारी की जयन्ती इस कैदखाने में कैसे मनाई जा सकती थी।”

छोटे-से बालक विन्या के हृदय में भारत को स्वतन्त्र कराने हेतु धधक रही अग्नि को देखकर अध्यापक निरुत्तर हो गये।

गज का गीत—प्रेम

विनोबा उन दिनों बड़ौदा में रहते थे। उनके निवास स्थान से कोई दो फर्लांग पर एक मंदिर था। विनोबा प्रतिदिन मंदिर जाते और उसमें कुछ देर बैठकर भजन गाकर लौटते।

मंदिर के समीप ही एक रईस रहा करते थे सम्पतराव गायकवाड़। उनके पास एक हाथी था। विनोबा जब भजन गाते हाथी बड़े ध्यान से उनका भजन सुनता। विनोबा भावे के मंदिर में नियमपूर्वक जाने की तरह प्रतिदिन भजन सुनना हाथी का नियम बन गया।

एक दिन किसी काम की जल्दी थी। विनोबा मंदिर गये, भगवान् के दर्शन भी किये किन्तु रुके नहीं। एक मिनट में ही बाहर आ गये।

उन्हें बाहर आते देखकर हाथी चिल्लाने लगा। विनोबा को फिर मंदिर जाना पड़ा। कुछ क्षणों के लिये वे भीतर जाकर बैठ तो गये पर फिर शीघ्र ही बिना भजन गाये लौट पड़े।

हाथी फिर जोर-जोर से चिल्लाने और क्रोध प्रकट करने लगा। इस बार विनोबा मंदिर में फिर गये और पहले की तरह भजन गाया तब लौटे।

अब की बार हाथी प्रसन्न था, विनोबा को लगा जैसे उसके अन्तःकरण से आवाज आ रही है— “भगवान् का भजन किये बिना कोई काम शुरू नहीं करना चाहिये।” उस दिन से विनोबा जी हाथी को अपना गुरु समझने लगे।

शुभ संकल्प

‘भूदान’ के लिये देश के कई प्रान्तों का भ्रमण करते हुए विनोबा भारतवर्ष के अन्तिम छोर ‘कन्याकुमारी तक जा पहुँचे।’ यहाँ जब वे प्रातःकाल समुद्र के किनारे खड़े सूर्योदय की शोभा देख रहे थे तो अकस्मात् उनको अनुभव हुआ कि उनकी अन्तरात्मा को कोई एक सन्देश दे रहा है। उनको स्मरण आया कि ठीक इसी स्थान पर आज से अनेक वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने ‘देशोद्धार’ और ‘दरिद्र नाशयण’ की सेवा की प्रतिज्ञा की थी। उसको पूरा करने के लिये वे देश और विदेशों में निरन्तर फिरते रहे और एक ऐसा पौधा लगा गये जिसकी छाया में बैठकर आज भी सब तरह के तापों से आश्रय प्राप्त करते हैं। उस समय मानो विवेकानन्द की आत्मा ही उनकी आत्मा से कह रही थी कि मैंने ‘देश-सेवा’ का जो बीजारोपण किया था वह लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी के नेतृत्व में वृद्धि करता हुआ फल-फूल देने की अवस्था में पहुँच गया है। अब उसकी रक्षा करना तुम्हारा काम है। विनोबा जी ने उसी समय समुद्र का जल हाथ में लिया और सूर्य भगवान् को साक्षी करके संकल्प किया कि “जब तक भारतीय ग्रामों में कष्ट सहन करने वाले असहाय गरीबों की दशा का सुधार नहीं हो जायेगा तब तक मैं विश्राम नहीं करूँगा।”

साधन का साथ

कुछ दिनों विनोबा भावे प्रतिदिन अपने पवनार आश्रम से लगभग तीन मील दूर स्थित सुरगाँव जाते थे, एक फव्वड़ा कन्धे पर रखकर।

एक बार कमलनयन बजाज ने उनसे पूछा कि आप फव्वड़ा रोज इतनी दूर अपने साथ क्यों ले जाते हैं। उस गाँव में ही किसी के यहाँ आप फव्वड़ा क्यों नहीं छोड़ आते?

विनोबा जी बोले, “जिस काम के लिए मैं जाता हूँ उसका औजार भी मेरे साथ ही होना चाहिए। फौज का सिपाही अपनी बन्दूक या

अन्य हथियार लेकर चलता है, उसी प्रकार एक 'सफैया' को भी अपना औजार सदा अपने साथ लेकर ही चलना चाहिए। सिपाही को अपने हथियारों से मोह हो जाता है उसी तरह हमें भी अपने औजारों को अपने साथ ले जाने में आनन्द और गौरव का अनुभव होना चाहिए।''

श्रम का मूल्य

पवनार में विनोबा जी प्रतिदिन आठ घण्टे कुँआ खोदने का काम करते थे। आसपास की संस्थाओं के लोग भी इस कार्य में उनकी मदद करते थे। कोई नेता या मन्त्री विनोबा जी से मिलने आते तो उन्हें भी यह काम करना पड़ता था। श्रीमती जानकी देवी बजाज भी कुछ दिन वहाँ रहीं और उन्होंने नियमित रूप से एक घण्टा चक्की पीसने, एक घण्टा रहट चलाने और छह घण्टे खाली-भरी टोकरी कुँए पर इधर-उधर देने का काम किया।

प्रसिद्ध उद्योगपति परिवार की इन सरल, निरभिमानी व सेवानिष्ठ महिला का यह उदाहरण निश्चित रूप से हमें प्रेरणा प्रकाश देने को पर्याप्त है। जो यह सोचते हैं कि हम सम्पन्न हैं पश्चिम क्यों करें वे बड़ी भूल करते हैं। पश्चिम और वह भी किसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर किया वह कम पुण्य नहीं।

आठ घण्टे काम करने वाले कर्मकर्ताओं को १३ आने पाश्चिमिक और भोजन मिलता था, जिसमें दाल, ज्वार की रोटी, मूँगफली का मक्खन और सब्जी होती थी। विनोबा जी कहते थे कि दूध, दही, घी, तेल तो सब मिले, जब कुँआ खुदे, उसमें से पानी निकले, पानी से खेती हो, खेती से घास-दाना हो जिससे गाय रखी जायें। तब तक इसी से काम चलाना होगा।

पक्षपात से दूर

विनोबा जी के साथ-साथ बहुधा कोई सम्बन्धी या मित्र बालक भी उनके घर में रहा करता था। उस बालक को भी घर में विनोबा के समान ही सुविधायें मिला करती थीं। भोजन आदि भी साथ-साथ समान स्तर का मिलता था। कभी-कभी घरों में बासा भोजन बचा रहना भी स्वाभाविक है। उनकी माता भोजन फेंके जाने के विरुद्ध थीं अस्तु वह भोजन मिल-जुल कर थोड़ा-थोड़ा खा लिया जाता था। ऐसे अवसर पर माता विनोबा को बासी भोजन देकर दूसरे को ताजा खिलाने का प्रयास करती थीं। विनोबा को इस पर कोई आन्तरिक विरोध नहीं था सहज सद्भावना का शिक्षण उन्हें प्रारम्भ से मिला था। किन्तु परिहास में एक दिन उन्होंने माँ से कहा — “माँ, आपके मन में अभी भेद है।” माँ प्रश्नवाचक दृष्टि से उनकी ओर देख उठीं। विनोबा ने हँसते हुए कहा “हाँ देखो न, आप मुझे बासा भोजन देती हैं तथा अमुक साथी को ताजा।”

माँ की उदारता को पक्षपात की संज्ञा देकर विनोबा ने परिहास किया था किन्तु माता ने उसे दूसरे ढंग से लिया। बोली— बेटा तू ठीक कहता है। मानवीय दुर्बलतायें मुझमें भी हैं। तू मुझे अपना बेटा दीखता है तथा अभ्यागत अतिथि। इसे ईश्वर रूप अतिथि मानकर सहज ही मेरे द्वारा यह पक्षपात का व्यवहार हो जाता है।

तुझे बेटा मानने के कारण तेरे प्रति अनेक प्रकार का स्नेह मन में उठता है। जब तुझे भी सामान्य दृष्टि से देख सकूंगी तब पक्षपात की आवश्यकता कहीं रह जायेगी।

विनोबा को प्रसन्नता हुई। माता का एक और उज्ज्वल पक्ष उनके सामने आया था। समाज के सन्तुलन तथा आध्यात्मिकता की पकड़ का महत्त्वपूर्ण सूत्र उन्हें मिल गया था। लोग सन्तुष्टि के प्रयास में असंतुष्ट होते क्यों दिखाई दिया करते हैं। इसका कारण वह खोजा करते थे। आज उन्हें उसका एक विशिष्ट पक्ष दीखा। पक्षपात मनुष्य के अन्तःकरण को सहन नहीं होता। व्यक्ति अभाव स्वीकार कर लेता है, पक्षपात नहीं। अपने को पक्षपात से मुक्त अनुभव करने वाला अन्तःकरण ही सन्तोष का अनुभव करता है विनोबा ने माता की शिक्षा गाँठ में बाँध ली।

समस्या का समाधान

लॉर्ड मैकले की शिक्षा योजना का एकमात्र उद्देश्य था अंग्रेजी शासन तन्त्र को चलाने के लिए आफिसों में क्लर्क और छोटे-बड़े कर्मचारी तैयार करना। स्वतन्त्र भारत के लिए यह शिक्षा पद्धति अव्यावहारिक और निरुपयोगी ही नहीं, अहितकर भी लगी। तो महात्मा गाँधी ने शिक्षा में नये प्रयोग करने के लिए डॉ. जाकिर हुसैन, विनोबा भावे जैसे कर्मठ समाजसेवियों को नयी शिक्षा योजना तैयार करने के लिए कहा।

बड़े पश्चिमपूर्वक यह योजना बनी और इस योजना के अनुसार व्यवहार में लायी जाने वाली शिक्षा पद्धति को नाम दिया गया, नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा। विभिन्न स्थानों पर नयी तालीम के केन्द्र और पाठशालायें खोली गयीं। एक पाठशाला गुजरात प्रान्त के सूरत जिले में बेड़छी ग्राम में भी खुली। इस पाठशाला के अध्यापक बने श्री नारायण भाई देसाई। एक बार आचार्य विनोबा भावे इस पाठशाला को देखने आये और उन्होंने देसाई जी से पूछा— कोई दिक्कत तो नहीं।

नारायण भाई ने अपनी परेशानी बताते हुए कहा— इस शाला में कुछ बालक तो ऐसे आते हैं जो पढ़ने में बहुत तेज होते हैं। कुछ मध्यम श्रेणी के होते हैं और कुछेक एकदम कच्चे। अब समस्या यह है कि कच्चों को पक्का कराने लगे तो कुशाग्र छात्र यह समझने लगते हैं कि उनकी उपेक्षा हो रही है। होशियार छात्रों पर ध्यान दें तो कच्चे पिछड़ने लगते हैं तो आप ही बताइये कि मध्यम बुद्धि वालों को ध्यान में रखकर पढ़ाया जाये।

विनोबा भावे ने समस्या का समाधान करते हुए कहा— तत्त्व ज्ञानी लोग सबसे आगे चलने वालों के साथ चलते हैं। समाजशास्त्री मध्यम स्तर वालों के साथ परन्तु जो सेवक होता है उसे तो सबसे पीछे चलने वालों के साथ ही चलना पड़ता है।

वाणी का संयम

एक बार विनोबा से किसी ने पूछा कि “जब आपको एक घण्टा या अधिक व्याख्यान देना पड़ता है, तब किस प्रकार उसकी तैयारी

करते हैं, कितना सोचते हैं ?” विनोबा का उत्तर था— “जब घण्टे भर बोलना ही है तो सोचना क्या ? कुछ भी कहा जा सकता है । किन्तु जब मुझे पंद्रह मिनट बोलना पड़ता है तब परिश्रम करना पड़ता है । गिने-चुने शब्द ही चुनने व बोलना होते हैं ।” पूछा गया— “यदि पाँच मिनट ही बोलना हो तो ?” “तो सारगर्भित क्या है, उस पर भली-भाँति चिन्तन कर फिर बोलता हूँ । ऐसे में अनावश्यक विचारों की कट-छाँट करके मात्र विषय की परिधि तक सीमित रह बोलना पड़ता है ।” सच ही है— अनावश्यक बकझक से समयक्षेप अवश्य होता है, कोई सुधराव व बदलाव नहीं आता । सधी, संयमित वाणी से निकले प्रभावोत्पादक विचार कुछ क्षणों में ही जनमानस को बदल देते हैं ।

अपने लिये निर्धन समाज के लिये समृद्ध—हेनरी मेनकेन

बालजाक की पुस्तक खोलकर पढ़ी— लिखा था— “जब तुम्हें यह स्पष्ट हो जाये कि लौकिकता, भौतिकता, धन-सम्पत्ति में सुख-सार नहीं । साधन और सुविधाओं के होते हुए भी अशान्ति हो तब कुछ समय के लिए निर्धन, अपाहिजों, रोगियों, अशिक्षित और पद-दलितों के पास जाकर देखना वहाँ तुम्हें शान्ति मिल सकती है क्या ? अन्तःकरण को उनकी सेवा के लिए प्रेरित करना तुम देखोगे शान्ति के द्वार खुलते जा रहे हैं, प्रसन्नता के भाण्डागार अनायास ही उपलब्ध होते जा रहे हैं ।”

पुस्तक उठाकर एक तरफ रख दी । हेनरी मेनकेन बाहर निकला । कार निकली और एक अस्पताल के लिये चल पड़ा । पूरा नाम हेनरी-एल-मेनकेन अमेरिका का सुप्रसिद्ध साहित्यकार था, जिसने पत्रकारिता के व्यवसाय में लाखों की सम्पत्ति कमाई पर उससे उसे तब तक आत्मसन्तोष न मिला जब तक उसने अपने-आपको पिछड़े हुये लोगों के उत्थान-अभियान में उत्सर्ग नहीं कर दिया ।

मेनकेन अस्पताल पहुँचा । बिस्तरों पर पड़े मरीजों को देखकर उसकी वैभव-विलासनी आत्मा रो पड़ी । संसार में कितने प्राणी हैं जो दुःख और पीड़ाओं के अन्तर्गत में जकड़े पड़े हैं । उसके हृदय में कहुना का ज्वार फूट पड़ा । उनके लिये कुछ करने की इच्छा जाग पड़ी ।

कई मरीजों से उसने बातचीत की । उनकी आर्थिक स्थिति से लेकर पारिवारिक अवस्था तक की पूछ-ताछ की । फिर जब उसने परिस्थितियों का विश्लेषण किया तो उसने पाया मनुष्य के दुःख और अभाव (१) सामाजिक विषमता, (२) व्यक्तिगत व चारित्रिक दोष, (३) अन्धविश्वास और कुरीतियों के कारण हैं । कुछ लोगों के पास धन है वह सुविधायें अपनी ओर खींच लेते हैं और लोग निर्धन रह जाते हैं फिर निर्धनता में उनके व्यक्तिगत दोष, आलस्य, असंयम और अपराध उन्हें और भी कष्टपूर्ण यातनाओं में घकेल देते हैं । उन्हें शिक्षा, श्रम, उद्योग और उपार्जन के लिए योग्य परिस्थितियाँ नहीं

मिलतीं । इसी से एक वर्ग तो उन्नतशील हो गया दूसरा दलित । यह भेद तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक साधनसम्पन्न और विकसित लोग स्वयं पीछे नहीं मुड़ते और हाथ का सहारा देकर दलित वर्ग को ऊपर नहीं उठाते । इस तरह की कल्पना ने मेनकेन के जीवन में एक नया मोड़ उत्पन्न कर दिया ।

वह बाहर आए और अपनी कार यह कहकर बेच दी— जब हजारों को अच्छा भोजन, शिक्षा और चिकित्सा की सुविधायें भी न हों, कुछ लोग कार पर क्यों चलें ? क्यों अधिकतम सुविधाओं का उपभोग करें ? कार की बिक्री से आया धन अस्पताल को दान कर दिया । उस दिन से वह समृद्धि में भी निर्धनता का जीवन किस प्रसन्नता से जिया इसकी सैकड़ों घटनायें अमेरिका में पढ़ीं, बात-चीत की जातीं और उदाहरण दी जाती हैं । तब से उसने प्रतिदिन दो घण्टे रोगियों, अपाहिजों और अविकसित लोगों के बीच जाने और उनकी सेवा करने के लिये आजीवन समय निकालना प्रारम्भ कर दिया ।

अब उसकी पत्रकारिता भी समाज सेवा के शब्दों में जुड़ गई । उसने समाज सुधार के लेख चुटीली भाषा में लिखने और छापने प्रारम्भ किये उससे अमेरिकन बहुत प्रभावित हुये । ऊँच-नीच, वर्ग-भेद अति भौतिकता, जीव-हिंसा और बढ़ते हुये विज्ञानवाद पर उसने करारी चोटें कर जीव दया, समता और ईश्वर परायणता पर बहुत जोर दिया । सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध उसने एक विचारेतेजक पुस्तक लिखी जब इसका पता कुछ पूँजीपतियों और भेदभाव की नीति वालों को चला तो उन्होंने पुस्तक की चोरी करा ली और उसे जलवा दिया । मेनकेन की जान तक संकट में पड़ गई पर उसने ‘सत्य के लिये संघर्ष’ के सिद्धान्त को साँस चली तब तक छोड़ा ही नहीं । ‘स्मार्ट सेट’ और ‘दी अमेरिकन मरकरी’ नामक उसकी दो पत्रिकायें सारे देश को निरन्तर उक्त विचारों से अनुप्राणित करती रहीं । उसी का फल है कि भौतिकता के घने अंधकार में आज अमेरिका में मानवोचित सदगुणों, आस्तिकता और प्राणिमात्र के दया का प्रकाश जगमगाता बच सका है ।

उसने स्वयं कभी चमड़े के जूते नहीं पहने न जीव हिंसा वाली कोई औषधि ली । अपने लिये तो वह इतना निर्धन था कि घर टेलीफोन तक नहीं था पर समाज के लिये इतना उदार कि उसकी सारी सम्पत्ति लोकसेवा में ही खर्च हो गई ।

फ्रांस का शान्ति-दीप—शांतिदास

शांतिदास— लांझडिल वास्नो— एक इटालियन राजकुमार थे । वे कवि, कलाकार और गाँधी-विचार के एक सच्चे अनुयायी भी थे । फ्रांस का यह इटालियन राजकुमार दक्षिण फ्रांस में एक आश्रम की स्थापना कर अपना तन-मन उसी में समर्पित कर रहा है ।

१९३७ में शांतिदास प्रथम बार भारत में आये । उस समय उनकी अवस्था ३० साल की थी । पहले विश्वयुद्ध के बाद शांति की चाह निर्माण हुई । उन्होंने बापू के बारे में काफी सुना था, तो भारत आकर बापू से मिले । हिमालय पर भी गये । वे कहते हैं— “हिमालय में

बैठ कर मैंने ध्यान किया और हिमालय ने मुझे प्रेरणा दी। मैं वापस बापू के पास आया, बातें कीं और बापू ने मुझे फ्रांस वापस जाने की इजाजत दी। आशीर्वाद भी दिया।

हिमालय और हिमालय से बापू, दोनों से प्रेरणा लेकर शान्तिदास जी फ्रांस गये पर सात साल तक उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ी। फ्रांस का आधुनिकतम वातावरण, युद्ध की विभीषिकायें सहन किया हुआ मानस ऐसी परिस्थिति में अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करना आवश्यक ही था। दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हुआ और कुछ नवयुवक शान्तिदास जी के पास आये उनके सहकार से दक्षिण फ्रांस में आश्रम की स्थापना हुई। शान्तिदास की पत्नी ने भी पूरे उत्साह से और भावना से इस कार्य में योगदान दिया।

इस आश्रम में जिसका नाम 'आर्क कम्युनिटी' है सब भाई-बहिन सामूहिक जीवन का सफल प्रयोग कर रहे हैं। सभी लोग शरीर श्रमनिष्ठ के आधार पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। खेत में बिना ट्रैक्टर के खेती की जाती है। खेती के अतिरिक्त यहाँ बर्दईगिरी, कताई-बुनाई आदि कार्य भी चलते हैं। आश्रमवासी इन प्रवृत्तियों द्वारा ही अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं।

इस आश्रम में बटन दबाते ही प्रकाश करने वाली बिजली नहीं है। प्रतिदिन हाथ से साफ किये हुए लालटेन आश्रम में रोशनी फैलाते हैं। कहीं भी टेबिल, कुर्सी की बैठक नहीं। नीचे जमीन पर बैठकर जमीन पर ही थाली रखकर भोजन किया जाता है। फ्रांस जैसे वैज्ञानिक सुविधा-सम्पन्न देश में भी आश्रम का वातावरण प्राचीन भारतीय आश्रम जैसा है। यहाँ के आश्रमवासियों ने संकल्प किया है कि संसार के अविक्सित देशों में जो रहन-सहन और खान-पान का स्तर है वही हम अपनायेंगे। मशीनी युग का सम्पर्क यथासम्भव न होने देंगे।

आश्रम में रोज आठ घण्टे शरीरश्रम करने के बाद रात्रि में प्रार्थना होती है जिसमें ध्यान एवं आत्म-चिन्तन पर अधिक बल दिया जाता है। शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि के लिये समय-समय पर उपवास किये जाते हैं। यों प्रति सप्ताह एक दिन सामूहिक उपवास और सामूहिक मौन का नियम है। स्नेह, सहयोग और समानता के आधार पर आश्रमवासी अपना जीवन जीने का प्रयत्न कर रहे हैं।

आश्रम में काम आने वाली प्रायः हर चीज वहीं तैयार की जाती है। पूर्णान्न की ब्रेड, दूध, पनीर, सब्जी, फल आदि सामान सब आश्रम के सदस्यों द्वारा ही तैयार किया जाता है। यद्यपि आज के समुन्नत व्यस्त जीवन में बाजार से मुक्ति पूर्णतया सम्भव नहीं, फिर भी आश्रम स्वावलम्बन की दृष्टि से अधिक से अधिक आत्मनिर्भर बनने में प्रयत्नशील है। आश्रम के सामूहिक जीवन की दूसरी बुनियादी बात है, सर्वसम्पत्ति के सत्य का स्वीकार। आश्रम की योजना सर्वानुमति से बनायी जाती है। किसी भी प्रश्न पर निर्णय लेते समय सामूहिक चर्चा होकर सर्वानुमति से निर्णय लिया जाता है। चर्चा का वातावरण जब भी शुभ होता है तब कुछ समय के लिये मौन रखा जाता है ताकि मानसिक शान्ति के वातावरण में चर्चा आगे बढ़ सके। यदि किसी प्रश्न पर सर्वसम्पत्ति निर्णय न हो सका तो बैठक स्थगित की जाती है और दूसरे सप्ताह में फिर उस पर पुनर्विचार होता है। कभी

ऐसा भी अवसर आता है कि किसी निर्णय पर पहुँचना असम्भव-सा लगता है। तब प्रार्थना, ध्यान आदि का अवलम्बन लिया जाता है। यदा-कदा सामूहिक उपवास भी किये जाते हैं।

मनुष्य से भूलें तो होती ही हैं पर आश्रम में गलतियों के लिये कोई दण्ड नहीं दिया जाता। अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूल के लिये स्वयं ही प्रायश्चित्त कर ले और भविष्य में गलती न करने का संकल्प करे। परन्तु कभी-कभी एकाग्र व्यक्ति यह अपेक्षा पूरी नहीं कर पाता, तब उसका साथी उसके सुधार के लिये प्रार्थना तथा उपवास करता है। यह माना जाता है कि आश्रम के किसी व्यक्ति की गलती केवल उसी व्यक्ति की नहीं उसकी जिम्मेदारी सारे आश्रम पर है। इसलिये उसके सुधार की जिम्मेदारी भी सब आश्रमवासियों पर है।

आश्रम में आध्यात्मिक, अहिंसक जीवन-प्रणाली का एक आदर्श प्रयोग यहाँ हो रहा है। सामाजिक जीवन में भी इसका दर्शन कैसे हो सकता है इसकी प्रेरणा यहाँ से लोग लेते हैं। आश्रम में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी या संन्यासी कोई भी आश्रम के नियम और अनुशासन का पालन करते हुए रह सकता है।

आश्रम में ही बच्चों के लिये माटेसरी स्कूल है। बड़े बालकों को अन्यत्र विद्यालयों में भी भेजा जाता है। यहाँ बालकों को उनकी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती है। इसके पीछे दृष्टि यह है कि उन पर कोई भी चीज लादी न जाय। बालक अपनी इच्छानुसार शिक्षा का माध्यम चुन लेते हैं।

इसके अतिरिक्त आश्रम के लोग समाज-सेवा का कार्य भी करते हैं। विचार-प्रचार और विश्व-बन्धुत्व की भावना उनके प्रमुख कार्य हैं। समाज में अशान्ति को रोकने एवं शान्ति की स्थापना करने में आश्रम की सेवायें अग्रणी रही हैं। आज के विज्ञान के निरन्तर बढ़ते हुए कदम, भौतिकता की विपुलता एवं यन्त्र-युग के दिमाग बिगड़ने वाले कोलाहल-मय वातावरण में हिंसा की भायनक लपटों के बीच शान्तिदास के रूप में यह शान्ति-दीप पश्चिम की एक अनोखी शान्तिमय अहिंसक राह है। इसलिए इस इटालियन राजकुमार-लांझा-डेल-वास्नो का विनोबा जी ने शान्तिदास नामकरण किया है। फ्रांस में इन्हें गाँधी का पक्का अनुयायी एवं फ्रांस का शान्ति-दूत माना जाता है।

नवयुग के सन्देश-वाहक— महात्मा बहा

ईरान की एक अदालत के सामने कुछ अभियुक्त लाकर खड़े किए गए जिन पर राज-विद्रोह और धर्म-विद्रोह का इल्जाम लगाया गया था। न्याय का यह तमाशा कई महीने से चल रहा था और 'धर्म' का नाम लेकर नर-राक्षसों की एक टोली ने सैकड़ों आत्म-बलिदानी वीरों की जीवन-लीला घोर-यंत्रणायें देकर—जिनका वर्णन करना मानवता को लज्जित करना है—समाप्त कर दी थी। इस समय अदालत में खड़े अभियुक्तों को भी पूर्णरूप से इसी फैसले की आशं

५.२२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

थी। पर यहाँ एक विपरीत दृश्य यह देखने में आ रहा था कि अभियुक्तों के मुखों पर वीरता, प्रसन्नता, तेज भाव फूटे पड़ते थे और न्यायाधीश को कुर्सीयों पर बैठकर उनका फैसला करने वालों के चेहरों पर मलीनता, कायरता, हीनता छाई हुई दिखाई देती थी।

वे आत्मदानी वीर बाबी-बहाई-समाज के अनुयायी थे और आज उनके आराध्य—एक मात्र नेता महात्मा बहा भी उनके साथ खड़े किये गए थे। महात्मा बहा अभी ३५ वर्ष के युवक ही थे और एक बहुत प्रसिद्ध वैभवशाली परिवार के प्रधान व्यक्ति थे। पर इस समय शत्रुओं द्वारा एक कल्पित और अन्यायपूर्ण अभियोग में फँसाकर अदालत में लाकर खड़े किए गए थे और उनकी मौत सिर के ऊपर मंडराती दिखाई दे रही थी। तो भी सत्य, न्याय, परोपकार के लिये प्राण देने में नाम-मात्र का भी भय प्रतीत नहीं हो रहा था और उनके इस आत्म-तेज को सहज न करने से अदालत के अधिकारी कायरता और लज्जा का अनुभव कर रहे थे।

प्राण दण्ड का हुक्म सुनाया ही जाने वाला था कि अचानक दरवाजा खुला और रूस का रजदूत भीतर दाखिल हुआ। उसे देखकर सब छोटे-बड़े उठ खड़े हुए और अदालत के न्यायाधीश भी चौंक उठे। रजदूत ने चारों ओर निगाह डालकर इस दृश्य को देखा व वास्तविकता को समझा और न्यायाधीशों की तरफ देखकर कहा—

“मेरी बात सुनिए। मेरे पास आपको सुनाने के लिए एक बड़ा ही महत्वपूर्ण सन्देश है। क्या आप अभी तक जितनी निर्दयता कर चुके हैं उससे आपको संतोष नहीं हुआ? क्या आप इन निरीह और निर्दोषों में से अनेकों को पहले ही मौत के घाट नहीं उतार चुके हैं? क्या आपकी खून को प्यास की शान्त करने के लिये पहले ही पर्याप्त खून-खराबी नहीं हो चुकी है? कुछ भी हो अब और अधिक अत्याचार नहीं होने चाहिये। इस निरपराध महापुरुष की रक्षा के लिये मैंने अपने देश की सरकार की सहायता लेने का निश्चय कर लिया है। इसलिए मैं आपको सावधान किये देता हूँ कि आज और इस समय के बाद इस राजपुत्र का बाल भी बाँका हुआ तो इस अपराध की सजा में आपके शहर में खून की नदियाँ बहा दी जायेंगी। आप मेरी बात को जान लें कि अगर मेरे कहने के विरुद्ध आपने कुछ भी किया तो आपके लिए वह उचित न होगा।”

महात्मा बहा (जन्म १८१७) ईरान के एक बहुत बड़े वंश में जन्मे थे और अपने देवोपम गुणों के कारण वे छोटी अवस्था में जनता के प्रिय बन चुके थे। सन् १८४४ में जब ईरान के एक बड़े धर्म-सुधारक ‘बाब’ ने उस देश में फैले हुए राजनीतिक और धार्मिक भ्रष्टाचार को मिटाने के लिये आन्दोलन उठाया और यह प्रकट किया कि ‘मेरा आविर्भाव न्याय, समता, भ्रातृभाव की स्थापना के लिये ही हुआ है, तो शासक-वर्ग और धर्मजीवी लोगों (मुल्लाओं) का कोप उन पर फट पड़ा और उनको ६ वर्ष तक विभिन्न जेलों में तरह-तरह से पीड़ा देकर सन् १८५० में गोलियों से उड़ा दिया। महात्मा बहा आरम्भ से ही बाब के सिद्धान्तों की सच्चाई को समझकर उनका प्रचार करने लग गये थे। अब जब बाब को इस लोक से हटा दिया गया तो उनका स्थान महात्मा बहा ने ग्रहण किया और अपनी पूरी शक्ति

से बाबी-समाज की वृद्धि और संरक्षण में लग गए। पर उस समय ‘बाबी’ होना ईरान में मौत को निमन्त्रण देना था। सरकारी अधिकारी ही नहीं अनेक धर्मान्ध कठमुल्ला और गुण्डे भी दिन या रात में चाहे जब और चाहे जहाँ निर्दयतापूर्वक बाबियों की हत्या कर सकते थे, उनके घरों को लूट सकते थे, स्त्रियों को बेइज्जत कर सकते थे। सरकार उनको रोकने का कोई प्रयत्न नहीं करती थी, वरन् उल्टा प्रोत्साहन देती थी।

ऐसी दशा में महात्मा बहा ने दो वर्ष तक शत्रुओं के आक्रमणों को सहन करते हुये इस कार्य को चलाया और सब प्रकार के दमन का मुकाबला करते हुए बाबी-समाज की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि की।

इसके पश्चात् ईरान की सरकार ने इनको देश निकाले का दण्ड दिया और वे बगदाद, एड्रियानोपल और अक्क में ४० वर्ष तक कैदी के रूप में रखे गए। यद्यपि इस बीच में इनको सरकारी नाराजगी तथा अपने ही कुछ साथियों की दुरभिसंधियों के कारण बहुत तकलीफें उठानी पड़ीं, पर तो भी इस बात का सन्तोष था कि ईरान से बाहर रहकर वे लिख कर और भेंट करके अपने सिद्धान्तों का बराबर प्रचार कर सके और उसके लिए पर्याप्त साहित्य का निर्माण कर दिया। सब प्रकार के विघ्न, बाधाओं और संकटों का सामना करके उन्होंने नवयुग और विश्व-धर्म के दैवी सन्देश को संसार के कोने-कोने में पहुँचा दिया इसलिए बहाई-समाज के सदस्य उनको दैवी-पुरुष मानते हैं।

महात्मा बहा के उपदेशों में सबसे महत्व की बात यह है कि उन्होंने मनुष्य मात्र की एकता का प्रतिपादन किया है। यह नहीं कि वह अपने अनुयायियों अथवा किसी विशेष सम्प्रदाय की एकता का प्रयत्न करते हों, वरन् उन्होंने मनुष्य मात्र को परमपिता की सन्तान बतलाकर भाइयों के समान रहने का आदेश दिया। इस सम्बन्ध में उनके कुछ उपदेश इस प्रकार थे—

“हम एक ही संसार में रहने को आये हैं, एक ही ईश्वरेच्छा के वशीभूत होकर उत्पन्न हुए हैं, सौभाग्यशाली है वह जो सभी मनुष्यों के साथ कृपा और स्नेह की भावना रख कर धुल-मिल जाता है। तुम जातीय भेद-भावों की ओर से नेत्र बन्द कर लो और एकता के प्रकाश का स्वागत करो।”

महात्मा बहा के पश्चात् उनके पुत्र श्री अब्दुल बहा ने बहाई-समाज का प्रचार किया और बहाई शिक्षाओं को युग के अनुकूल रूप देकर संसार में व्याप्त कर दिया। उन्होंने धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन किया, जिससे उनके नाम पर होने वाले अन्याय, अत्याचारों से निर्दोष लोगों की रक्षा हो सके। उन्होंने कहा—

“धर्म का काम तो यह है कि वह हृदयों को मिलाये और लड़ाई-झगड़ों को संसार से दूर करे। धर्म के द्वारा आध्यात्मिक भावों का उदय होना चाहिये और प्रत्येक अन्तरात्मा को प्रकाश और जीवन प्राप्त होना चाहिये। यदि धर्म ही बैर, घृणा और भेदभाव का कारण बनता है तो अच्छा है कि ‘धर्म’ ही न हो और ऐसे धर्म से परे रहना ही सच्चा धर्म है।”

एकता की वृद्धि के लिये महात्मा बहा ने एक विश्वधर्म, विश्वभावना और एक-सी न्याययुक्त आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता बतलाई है। इसी का परिणाम है कि आज विपरीत परिस्थितियों के होने पर भी बहाई समाज अपने उदाहरण से यह सिद्ध कर रहा है कि यदि मनुष्य हृदय से चाहें तो आज भी धार्मिक भाई-चारे का व्यवहार कायम कर सकते हैं। वे लोग विश्व शान्ति के भी दृढ़ उपासक हैं और उन्होंने महात्मा बहा के उपदेशों के सार रूप इस शताब्दी उत्सव पर यह नारा दिया है—

“धरती एक देश है और मनुष्य जाति उसकी नागरिक।”

सचमुच इससे बढ़कर आदर्श इस समय दूसरा नहीं हो सकता। राजनीतिज्ञों की भूलों और स्वार्थपरता के फलस्वरूप आज दुनिया महानाश की तरफ दौड़ती जा रही है। उसकी रक्षा अध्यात्म और राजनीति के समन्वय द्वारा ही हो सकती है और महात्मा बहा का उपरोक्त आदर्श हमको यही शिक्षा दे रहा है।

कर्मयोगी संत—श्री सावेज

फ्रांस के श्री सावेज, एक साधारण गृहस्थ होते हुए भी किसी संत से कम नहीं थे।

श्री सावेज ने एक निर्धन परिवार में जन्म लिया। यह शायद ईश्वरीय नियम ही है कि महान् विभूतियाँ—प्रधानतः आत्मबल सम्पन्न व्यक्तित्व—अभावों की सीमा रेखा के अन्दर जन्मती तथा विकसित होती हैं।

सावेज बचपन से ही शांत प्रकृति के थे। न किसी सहपाठी से उनका कभी झगड़ा हुआ और न घर में अथवा अध्यापक वर्ग को ही कभी उनसे अवज्ञा करने अथवा निर्देशित कार्य न करने का अवसर मिला।

यद्यपि उनकी स्वयं की अनिवार्य आवश्यकताएँ ही पूर्ण हो पाती थीं—तथापि वे किसी भी सहयोगी को किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता में देखते जो उनके पास होती—तो उसे तुरन्त दे डालते अथवा मिल कर कार्य करने को आमंत्रित करते।

यों तो बचपन बीता। युवावस्था आई तो सभी को यही आकांक्षा रही कि सावेज पढ़-लिख कर एक उच्च अधिकारी बने। किन्तु व्यक्तित्व के निर्माण में वहाँ तो पत्थर और चूना दोनों ही भिन्न प्रकार के लगे थे।

उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त करके भी अध्यापक बनना पसंद किया, पर वह तो मात्र जीविका का साधन था। उद्देश्य तो उनके जीवन का कुछ और ही था।

वे एक कमरे में स्वयं रहते, एक कमरा अन्य सदस्यों के काम आता तथा शेष स्थान को उन्होंने एक छोटे-से आश्रम का रूप दे दिया।

राह में कोई भी असहाय, दीन-दुःखी, घायल अथवा निराश्रित व्यक्ति मिलता उसे वे ले आते और प्रेम से उसकी सेवा-सुश्रूषा करते। घर वाले मना करते, बाहर वाले हँसी उड़ाते किन्तु उन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

उनकी इसी धुन के कारण उनका अभी तक विवाह भी नहीं हुआ था। सभी कन्या पक्ष वाले सोचते कि “इसी धुनी से कौन अपनी लड़की ब्याहे? उसे भी इन भिखारियों की सेवा टहल करनी पड़ेगी।”

किन्तु पृथ्वी सद्भावना तथा सद्विचारों के घनी व्यक्तियों से रिक्त नहीं है। पामेला नाम की एक युवती ने इनके उद्देश्यों की सराहना की तथा इनके साथ विवाह कर लिया।

अब तो सावेज की शक्ति जैसे दुगुनी होने के बदले दस गुनी हो गयी। उनकी तत्परता अपने कार्य में और भी बढ़ गयी। अब आश्रम का विस्तार बढ़ाया गया तथा व्यय के लिये नगर के धनीमानी व्यक्तियों की उदारता करके सहयोग लिया गया।

सुबह-शाम दोनों मिलकर आश्रम के आवश्यक कार्य निबटाते, दोपहर को सावेज अपने स्कूल जाते और पामेला घर पर ही कुछ उद्योग करके आय में वृद्धि करती।

कुछ दिन पश्चात्, सावेज ने नौकरी भी छोड़ दी और उनका सारा समय आश्रम की व्यवस्थाओं में ही लगने लगा। दोपहर के खाली समय में पामेला जो अपना घरेलू उद्योग का कार्य करती थी उसी में वे भी हाथ बँटाने लगे। उदरपूर्ति में कोई कठिनाई न हुई।

आश्रम में अब कई कमरे बन गये। स्वच्छता तथा व्यवस्था भी बढ़ा दी गई। रोगी तथा अनाथ आते और आश्रय पाते। सावेज दम्पति उनकी सेवा तथा देख-भाल बड़े ही स्नेह से करते। जो ठीक हो कर जाता—वही दुआएँ देता।

जिन व्यक्तियों के पास ये आर्थिक सहायता के लिये जाते थे भी इनकी सेवा-भावना तथा कर्तव्य-निष्ठा से प्रभावित होते और यथा शक्ति सहयोग देते।

धीरे-धीरे आश्रम का स्वरूप पर्याप्त विकसित हो गया। लगभग सौ निराश्रितों का वह आश्रयस्थल तथा चालीस-पचास रोगियों का चिकित्सालय बन गया। कुछ अन्य वैतनिक सहायक भी रखे गये। तथा आश्रमवासियों में जो काम करने योग्य व्यक्ति थे उन्हें भी घरेलू उद्योग में लगाने से आश्रम की मासिक आय में पर्याप्त वृद्धि हुई। लोग परस्पर बढ़ा ही स्नेहपूर्ण तथा सद्भावना से भरा हुआ व्यवहार करते। पामेला सभी को अपने स्नेह से सिकत रखती। सभी उसकी वात्सल्यपूर्ण सेवा-सद्भावना को पाकर अपने आप को धन्य मानते।

सावेज ने भी अपना जीवन और जीवन की समस्त सुख-सुविधाएँ तथा समस्त क्षमताएँ—इसी एक प्रयोजन की पूर्ति में होम दीं।

वृद्धावस्था में तो उनका घर किसी प्राचीन भारतीय ऋषि की ही याद दिलाता था। उन्होंने अन्न का प्रयोग बहुत ही कम कर दिया था। केवल फल या फिर दूध से ही काम चलाते। जब सावेज तथा पामेला—प्रातः-सायं ईश्वराभन करते तो लगता कि स्वयं ही दरिद्रों के लिये नारायण के समान हैं। फिर किस नारायण की आराधना कर रहे हैं?

उनने कोई संतान भी उत्पन्न नहीं की। किन्तु जब कोई उनसे पूछता “आप एक बच्चा गोद ही क्यों नहीं ले लेते?” तब वे सहज

स्थिति के साथ उत्तर देते— “ईश्वर ने हमें इतनी अधिक संतानें दे रखी हैं— फिर एक संतान की क्या कामना करें ?”

और सचमुच ही— आज न सावेज हैं और न पामेला— किन्तु वह आश्रम— उनके नाम को उससे कहीं अधिक दीप्त कर रहा है— जितना कि उनका कोई पुत्र अथवा पुत्री कर पातीं। उन्हें आदर्श संत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

पिछड़ों को गले लगाने वाले— महाप्रभु जगद्बन्धु

सन् १८९० के नवम्बर महीने की बात है। बंगाल के फरीदपुर शहर में एक विशाल जलूस हरि-कीर्तन करता हुआ निकला। उसमें बहुसंख्यक व्यक्ति करताल, घण्टा, मृदंग, ग्रांथ, बिगुल आदि बजा रहे थे। जलूस शहर के विभिन्न प्रमुख मार्गों में घूमकर लोगों को हरिनाम का अमृत पिलाता हुआ ‘बूना पाड़ा’ में जा पहुँचा। ये बूना या बांदी जाति के लोग अत्यन्त कुसंस्काराच्छन्, मद्य-मांस का व्यवहार करने वाले और घोर-अन्धविश्वासी थे। इनके स्त्री-पुरुषों का चरित्र अत्यन्त पतित और भ्रष्ट था। उस समय हरबर्ट साहब फरीदपुर के मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने पादरी मिडसाहब को संलाह दी थी कि इन बूना लोगों को ईसाई बनाकर उनका चरित्र सुधारा जाय। बूना भी इसके लिये राजी हो गए थे और उनके ईसाई धर्म में दीक्षित होने की तारीख भी नियुक्त कर दी गई थी। पर अकस्मात् प्रभु जगद्बन्धु को अपने बीच में पाकर बूना मगन हो गये और बड़े उत्साह से कीर्तन में भाग लेने लगे। उस दिन प्रभु ने बूना लोगों से कुछ बातचीत नहीं की केवल कुछ समय तक कीर्तन करके वापस चले आए। पर इसी के प्रभाव से उन लोगों के हिन्दू-धर्म को छोड़कर ईसाई बनने की बात समाप्त हो गई। इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध लेखक ने बंगाल के सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र ‘भारत-वर्ष’ में एक लेख में कहा था—

‘बूना पाड़ा अश्लील नाच-गान, व्यभिचार और शराब के लिए बदनाम था। अकस्मात् एक दिन मौन-साधक जगद्बन्धु इस घृणित बस्ती में पहुँच गए। उस प्रेम मूर्ति के अदभुत तेज को देख वे चकित रह गये। उनके अपूर्व सौन्दर्य ने उनको मोहित कर लिया। फरीदपुर के अनाचारी बूना शुद्धाचारी होकर हरिनाम में लीन हो गए।’

जिन प्रभु जगद्बन्धु ने बूना और डोम जैसी अस्पृश्य और पददलित जातियों को गले लगा कर एक दिन में दुराचारी से सदाचारी बना दिया, वे स्वयं बहुत उच्च कुल के चक्रवर्ती बंगाली ब्राह्मण थे, उनके पिता दीनानाथ न्यायरत्न के बहुत बड़े विद्वान् तथा मुर्शिदाबाद की संस्कृत विद्यापीठ के मुख्य पण्डित थे। इन्हीं के घर सन् १८७९ में जगद्बन्धु का जन्म हुआ था और बाल्यावस्था से ही उनमें भक्ति और ज्ञान के अपूर्व लक्षण दिखलाई देने लगे। जिस समय वे पवना नगर के स्कूल में पढ़ते थे, अपनै सहपाठी विद्यार्थियों को दो बातों का उपदेश दिया करते थे— “ब्रह्मचर्य का पालन करो और भगवान् के नाम का कीर्तन करो।”

वे भली प्रकार समझते थे कि ये विद्यार्थी कुछ समय पश्चात् समाज और देश के आधार बनेंगे। यदि वे नैतिक दृष्टि से उन्नति नहीं करेंगे, उनका चरित्र उच्च नहीं बनेगा तो भविष्य के लिए कुछ भी आशा करना निरर्थक है। नैतिकता और चरित्र की नींव पर ही सच्चे धर्म की स्थापना की जा सकती है। वे प्रायः छोटे विद्यार्थियों से कहा करते थे—

“चैतन्य बनो, नैष्ठिक बनो, धर्म में स्थिर रहो। आत्मसंयम ही आत्मरक्षा है। पवित्रता और निष्ठा का सदैव ध्यान रखो। निष्ठा ही आरोग्य है और अनिष्ठा ही रोग तथा मृत्यु है। जो निष्ठावान, होगा उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं डाल सकता। व्यर्थ की बातें मत करो, इससे हानि होती है। अहंकार-वश अपने को बड़ा मत समझना, नहीं तो कुछ भी न कर सकोगे। शरीर, मन, प्राण, धर्म की रक्षा करते हुये चाहे कैसी भी कठिनाइयाँ आयें उनसे भयभीत न होना चाहिये। धर्म ही भगवान् है और उससे बढ़कर संसार में और कुछ भी नहीं है।”

जगद्बन्धु के ये उपदेश बहुत सामयिक और आवश्यक थे। उस समय बंगाल में विदेशी शिक्षा के प्रभाव से धर्महीनता का भाव बहुत फैल रहा था और स्कूलों के लड़कों में चरित्र दोष भी बहुत बढ़ता जाता था। ब्रह्मचर्य नष्ट करना साधारण बात हो गई थी और धर्म तथा भगवान् को लोग व्यर्थ की चीज समझने लगे थे। जगद्बन्धु ने इस प्रवृत्ति के घातक परिणामों को समझा और अपने मधुर उपदेशों तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व से विद्यार्थियों का सुधार करने लगे। लड़के भी बुरी आदतों को त्याग कर संयम और धार्मिकता की तरफ ध्यान देने लगे। पर यह बात अनेक लड़कों के माता-पिताओं को अच्छी नहीं लगी। इनमें खासकर जो छोटे-मोटे जमींदार थे वे कहने लगे कि इस प्रकार जगद्बन्धु लड़कों का ध्यान अपनी लिखाई-पढ़ाई की तरफ से हटा देगा और वे संसारी बनने के बजाय वैरागी बनने की तरफ आकर्षित होने लगेंगे। इसलिए वे इनको दण्ड देने का विचार करने लगे और एक दिन जब ये नदी में स्नान कर रहे थे कई दुष्टों ने वहाँ पहुँचकर इन्हें जल के भीतर डुबा दिया कुछ देर बाद निकल कर देखा तो इन्हें बेहोशी की-सी अवस्था में पाया। यह देखकर इनकी मृत्यु हो जाने के भय से वे कुछ उपचार करने लगे जिससे कुछ देर बाद ही उनको होश आ गया।

पर जब इस पर भी इन्होंने बालकों को सदुपदेश देने का काम बन्द नहीं किया तब एक दिन अंधेरे में इनको मार्ग में पकड़ लिया और खूब मारा। वे बेसुध होकर भूमि पर गिर पड़े और मारने वाले भी भाग गए। एक सज्जन व्यक्ति ने इस प्रकार मार्ग में पड़ा देखकर इनको उठाया और घर ले जा कर सेवा-सुश्रूषा करने लगे। कुछ देर पश्चात् इनको होश आया और ये भगवान् का नाम लेते हुए उठ बैठे। जब इन उपद्रवों का समाचार थोड़ी दूर एक अन्य गाँव में रहने वाले बड़े जमींदार, राजर्षि वनमालीराय को मालूम पड़ा, तो उन्होंने इनको अपने यहाँ बुला लिया। उन्होंने अत्याचार करने वालों का नाम पूछा ताकि उन्हें दण्ड दिलाया जा सके, पर इन्होंने उनको क्षमा कर दिया और यही कहा कि यह मेरे किन्हीं अदृष्ट कर्मों का फल था। फिर अन्याय-अत्याचार का दण्ड भगवान् स्वयं देंगे।

इसके पश्चात् जब उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र को बढ़ाने का निश्चय किया तो वे स्वयं देश की दशा देखकर भावी कार्यक्रम की रूपरेखा बनाने के उद्देश्य से ब्रह्मचारी के भेष में भ्रमण के लिए निकल पड़े। डेढ़ वर्ष में उन्होंने भारत के एक बड़े हिस्से की यात्रा पूरी कर ली और घर आकर भगवद्भक्ति तथा कीर्तन द्वारा आत्म-सुधार तथा परोपकार का प्रचार करने लगे। बूना जाति वालों के उद्धार की घटना इसी समय घटी थी।

इसके पाँच-छह वर्ष बाद उनको मालूम हुआ कि कलकत्ता में रहने वाले डोमों को ईसाई धर्म में सम्मिलित करने की तैयारी की जा रही है तो वे कलकत्ता पहुँचकर डोमों की बस्ती—रामाबागान में ठहर गए।

इससे वहाँ बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति, राजा, जमींदार, धनी और उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति आने लगे और डोम जाति में एक नई चेतना पैदा हो गई। जगद्बन्धु का उद्देश्य उन्हें ईसाई लोगों के फन्दे से बचाकर हिन्दूधर्म का दृढ़ अनुयायी बनाना था। डोम लोग आरम्भ से ही मृदंग बजाने में सिद्धहस्त थे। इसलिए जब प्रभु जगद्बन्धु ने उनमें कीर्तन का प्रचार किया तो वे बंगाल भर में उच्च श्रेणी के कीर्तनकार बन गये।

इसी समय कलकत्ता में प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ और हजारों व्यक्ति शहर को छोड़कर भागने लगे। उस समय जगद्बन्धु ने अनुयाइयों सहित जनता को सान्त्वना देने के लिये बड़े मैदान में विशाल हरिकीर्तन का आयोजन किया और वहाँ से एक बहुत लम्बा जलूस कीर्तन करता जगद्बन्धु के रामबाग स्थित निवास स्थान तक आया। इसके पश्चात्, प्लेग का जोर घटने लग गया और एकत्र सप्ताह में पूर्ण शान्ति हो गई।

इस प्रकार प्रभु जगद्बन्धु सन् १९२० तक हिन्दू जाति को जाग्रति और एक्य का सन्देश सुनाते रहे। जिस समय बंगाल के बहुसंख्यक उच्च वर्णों के हिन्दुओं का झुकाव ब्रह्मसमाज अथवा ईसाई धर्म की ओर होता जाता था, जब आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों में विदेशियों की नकल करने का भाव तीव्र गति से बढ़ता जाता था, जब वर्णाश्रम धर्म का झण्डा उठाने वाले सनातनी छोटी-छोटी जाति-पाँति की रूढ़ियों में फँसे हुए थे उस समय प्रभु जगद्बन्धु ने सच्चे ब्राह्मण की तरह डोम और बूना आदि जैसी अस्पृश्य जातियों के बीच में अपना पतितोद्धारक रूप प्रकट किया। उनका मिशन अभी भी हिन्दू जाति के संगठन में संलग्न है।

मानवता के पुजारी—जीन हेनरी दूनाँ

प्रथम शांति नोबेल-पुरस्कार पाने वाले जीन हेनरी दूनाँ स्विटजरलैंड के निवासी थे। उनका जन्म सन् १८२८ ई० में जेनेवा के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके माता-पिता बड़े ही धार्मिक विचारों वाले शिक्षा-प्रेमी व्यक्ति थे। हेनरी दूनाँ पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा फलस्वरूप उसकी प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ से ही धार्मिकता की ओर उन्मुख हो उठीं। उसके जीवन में करुणा तथा सेवा-भाव के ऐसे श्रेयपूर्ण

बीजों को अंकुरित होने का अवसर मिल गया जो आगे चलकर दूनाँ के यश के रूप में पल्लवित होकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान के साथ प्रथम शांति नोबेल पुरस्कार के रूप में फलीभूत हुए।

शिक्षा समाप्त कर हेनरी दूनाँ व्यावसायिक क्षेत्र में उतरे। अनेक वर्षों तक उन्होंने जेनेवा की एक बैंक के एजेन्ट रूप में भी कार्य किया। किन्तु उन्हें इस काम में सन्तोष न मिला। उन्होंने देखा कि नौकरी कितनी ही अच्छी क्यों न हो, आखिर नौकरी ही है। उसमें निजी विकास का अवसर पर्याप्त नहीं रहता। निदान अपनी क्षमताओं तथा साहस की परख कर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि उनमें इतनी लगन, कार्यशीलता तथा साहस अवश्य है कि यदि वे अपना कोई स्वतन्त्र कार्य करें तो सफलता प्राप्त कर सकते हैं। विचार की पुष्टि होते ही उन्होंने नौकरी छोड़ दी और फ्रांसीसी-अलजीरिया में एक जमीन यह सोच कर खरीद ली कि वे खेती तथा पशुपालक का काम करेंगे जिससे शारीरिक श्रम तथा पशुओं की सेवा के साथ ही वे मानव जाति के लिए पोषक पदार्थों की वृद्धि करने में सहायक बनकर एक प्रकार से समाज की सेवा ही कर सकेंगे।

दूनाँ की वह जमीन मिट्टी तथा स्थिति की दृष्टि से अच्छी थी किन्तु सिंचाई की दृष्टि से उसमें कुछ बाधा थी। इसका हल यह था कि यदि उसके ऊपर वाली सरकारी जमीन में लगे नलों से पानी मिल सकने की व्यवस्था हो सके तो सारी कठिनाई दूर हो जाये। दूनाँ ने हल समझते ही अधिकारियों से लिखा-पढ़ी शुरू कर दी। किन्तु जब ऊँचे से ऊँचे अधिकारी को लिखने पर भी कोई सुनवाई न हुई तब दूनाँ को खेद होना तो स्वाभाविक ही था साथ ही वह यह भी समझ गये कि शासन-तन्त्र शिथिल है। अधिकारीगण जनता के आवश्यक कामों में भी उपेक्षा बरत रहे हैं। इससे निस्सन्देह जन-जीवन बड़ी कठिनाई का अनुभव कर रहा होगा। दूनाँ का व्यक्तिगत कार्य बन गया और उन्होंने शासन-व्यवस्था की स्थिति से अवगत कराने के लिये फ्रांस के तत्कालीन सम्राट नेपोलियन तृतीय से मिलने का विचार बना लिया।

व्यापक दृष्टिकोण से बात बड़ी थी किन्तु सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से सरकारी नलों से पानी मिलने की बात तो इतनी बड़ी नहीं थी कि जिसे लेकर सम्राट जैसे व्यक्तित्व का समय लिया जाये। साधन मन्तव्य के अनुरूप होना आवश्यक है। ध्येय के धनी हेनरी दूनाँ ने शासन-व्यवस्था, कृषि-विकास की आवश्यकता और सम्राट के प्रशंसनीय अधिकारों तथा कर्तव्यों को विषय बनाकर एक पुस्तक ही लिख डाली और इस प्रकार एक छोटे किन्तु आवश्यक प्रश्न को महान् बनाकर अपनी विद्या का ही उद्घाटन नहीं किया बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि वह सम्राट से मिल सकने के सर्वथा योग्य है।

पेरिस पहुँचकर दूनाँ को पता चला कि सम्राट राजधानी में नहीं हैं, वे उत्तरी इटली में आस्ट्रिया तथा इटली के बीच चल रहे लोमबाड़ी युद्ध में इटली की सहायता के लिये गये हैं। हेनरी दूनाँ इटली के लिये रवाना हो गये। दूनाँ ने इटली जाने वाले जिस संक्षिप्त मार्ग

का अवलम्बन किया था उसने उसे ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया जो युद्धक्षेत्र और कुछ ही दूरी पर घमासान लड़ाई हो रही थी। वह वहीं पर—ब्रेसिया नामक स्थान पर ठहर गया। आगे बढ़ सकना कठिन था। सड़कें टूट गयीं और पुल ध्वस्त हो चुके थे। तब दूनों ने यह सोचकर हिम्मत न हारी कि लक्ष्य-पथ पर बाधायें तो आती ही रहती हैं। उन्होंने एक गाड़ी किराये पर ली और जैसे-तैसे कैस्टलगलियोन नामक गाँव में जा पहुँचे। यह गाँव सोल्फेरीनो नामक उस मैदान से बिल्कुल निकट ही था जहाँ पर फ्रांस, इटली और आस्ट्रिया के सिपाही पंक्तिबद्ध होकर लड़ रहे थे।

दूनों वहीं ठहर गये और युद्ध का दृश्य अपनी आँखों से देखने के लिये अपनी दूरबीन लेकर पास की एक पहाड़ी पर चढ़ गये। हेनरी दूनों ने अपनी दूरबीन की सहायता से जो कुछ देखा उस दर्दनाक दृश्य ने उनका जीवन ही बदल दिया। उनके हृदय की करुणा और सेवा-भावना जाग उठी। उन्हें विस्मरण हो गया कि वे किसी क्रम के लिये इटली आये थे? और जैसे याद हो आया कि उन्होंने जिस कर्तव्य के लिये जीवन धारण किया है वह अब उनके समक्ष मूर्तिमान हो उठा है।

जून की भीषण गर्मी और लूलपटों के दिन थे। दूनों ने अपनी दूरबीन से देखा कि दोनों पक्षों के सिपाही कतार की कतार आगे बढ़ते और मरकर गिरते, पीछे हटते और फिर आगे बढ़ते। चारों ओर मृत्यु का नृत्य हो रहा है। घायल और थके हुए सिपाही नायक की आज्ञा पाकर फिर बढ़ते और देखते ही देखते मृत्यु के मुख में चले जाते। बन्दूकें, गोलों, गोलियों और घायल सैनिकों के हाहाकार व चीत्कार से दिशाएँ भर जातीं। संगीनों चमकतीं, मशालें जलतीं, मनुष्य मरते और मृत्यु अट्टहास करती। विनाश की उस विभीषिका को जून की गरम आधी और संध्या का अन्धकार और भी भयानक बना देता। हेनरी दूनों बड़ी देर तक उस विनाश-लीला को किंकर्तव्यविमूढ़ से देखते रहे।

अन्त में रात होने तक चालीस हजार निरपराध सैनिकों के प्राण लेकर लड़ाई खत्म हो गई। हेनरी दूनों आह भरकर और करुणा का भार लेकर पहाड़ी से नीचे उतर आये किन्तु नीचे आकर जो दृश्य उन्होंने देखा वह उस युद्ध के दृश्य से भी अधिक असहनीय और पीड़ाप्रद था। उन्होंने देखा कि मरे हुए सैनिकों को तो गीध, कौवों, स्यार तथा कुत्तों को खाने के लिए छोड़ दिया जाता था। घायल, अश्वमेरे तथा अपंग सैनिकों की दशा और भी खराब थी। वे उलटे-सीधे गाड़ियों में भूसे की तरह भरकर अनेक स्थानों पर लाकर डाल दिए जाते थे, जहाँ उनके उपचार अथवा सेवा-सुश्रूषा की कोई व्यवस्था न होती थी।

हेनरी दूनों की मानवता, मनुष्यता की यह दुर्दशा न देख सकी। तुरन्त ही घायलों, रोगियों तथा मरणासन्न सैनिकों की सेवा में लग गए। क्षेत्र के एक बड़े गिरजाघर में पाँच सौ घायल सैनिक लाकर लापरवाही से डाल दिए गए थे। दूनों ने उनकी सँभाल और देखभाल का काम अपने जिम्मे ले लिया। वे अपने हाथ से सैनिकों के घाव धोते, मरहमपट्टी करते और दवा देते। लापरवाह डॉक्टरों को

प्रयत्नपूर्वक बुलाकर लाते, सैनिकों को दिखलाते और अपने योग्य सेवा बतलाने की प्रार्थना करते।

इटली के युद्ध की यह अव्यवस्था समाप्त हो गई और जन-जीवन की दशा सामान्य हो चली। किन्तु दूनों को शान्ति न मिली।

सबसे पहले उन्होंने 'सुवेनिरद सोक्षफेरिनो' नामक एक पुस्तक लिखकर प्रसारित की जिसके माध्यम से लोगों में युद्ध के प्रति घृणा और घायल सैनिकों के प्रति करुणा का जागरण किया। अखबारों, भाषणों तथा लेखों द्वारा प्रचार किया। जिसका फल यह हुआ कि लोग उनके विचारों से सहमत हो गए और सैकड़ों और लाखों की तादाद में स्त्री-पुरुष सेवा करने के लिये आगे निकल आये। उन्होंने अपने विचारों को एक आन्दोलन का रूप दिया और 'रेडक्रस' नाम की एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई जो युद्धकाल में भी तटस्थ समझी जाती है। उसमें दो शत्रु देशों के स्वयं सेवक दोनों ओर के घायलों तथा बीमारों की सेवा-सुश्रूषा करते और मित्र माने जाते थे। युद्ध-क्षेत्र में भी उन पर आक्रमण नहीं किया जाता था।

जब हेनरी दूनों को शान्ति नोबेल पुरस्कार की बीस हजार डालर की धनराशि देना घोषित किया तब उन्होंने वह सब राशि घायल सैनिकों तथा दुःखी जनों के हितार्थ दान कर दी।

आज भी संसार में विश्व रेडक्रस-दिवस—दूनों का जन्म दिवस आठ मई को मनाया जाता है और आज भी जूरिख में उनका स्मृति स्मारक मानवता के उस पुजारी को जीवित रखे हुए है। कहना न होगा कि जब तक संसार में मानवता का अंश रहेगा—जीन हेनरी दूनों का नाम अपने पुण्य कार्यों, संस्थाओं और संस्मरणों के रूप में भी अजर-अमर बना रहेगा।

महान् पुत्र के महान् पिता— एबरम गारफील्ड

जेष्ठ-वैशाख के दिन और अमेरिका का ओरेज गाँव। सूर्य देवता आसमान पर चढ़े ही थे गाँव के जंगल में आग लग गई। इधर लू का वेग बढ़ा उधर लपटें धू-धू करती हुई गाँव की ओर बढ़ चलीं। ऐसा दिखाई देता था कि कुछ ही क्षणों में आग सारे गाँव को लपेट लेगी और जलाकर खाक कर देगी। भयाकुल ग्रामवासियों को जो मिला, लेकर भागे, बाकी सब अग्नि देव की स्वाह के लिए शेष पड़ा था, उतने ही वेग से आग की लपटें दौड़ी चली आ रही थीं।

एबरम गारफील्ड को उसकी पत्नी एजिला एक पुत्री, एक पुत्र तीनों घेरे कह रहे थे—“पापा! सारा गाँव सूना हो गया अब हमें भी जल्दी गाँव छोड़ देना चाहिये।” पर उस मेहरबान की आँखें उस ओर लगी थीं जिधर आग भड़की हुई थी। उसने कहा—“बच्चो! आओ, हम सब मिलकर प्रयत्न करें और उस आग को बुझा डालें, देखो न यह लाखों की ग्रामवासियों की सम्पत्ति पल-भर में जल कर राख हो जाएगी, बच्चे भूखों मरेगे, किसान ऋणग्रस्त हो जायेंगे, बेचारी बहू-बेटियों की सारी खुशहाली नष्ट हो जायेगी। ऐसे समय गाँव छोड़ना ठीक नहीं हमें इन खूँखार लपटों से लड़ना चाहिए।”

पुत्र युवापन की पहली सीढ़ी पर पाँव रख रहा था, खून में थोड़ी तेजी थी—सबसे आगे बढ़ कर बोला—“पिताजी, पागल हुये हो, जिनके घर दौलत, जायदाद थी वह सब पहले ही भाग गये, फिर हमें किसी के सामान की क्यों चिन्ता हो। हमारे पास तो कुछ है भी नहीं, घर है तो सबके साथ जल जायेगा, दूसरा बना लेंगे पर इस मौत की आफत में नहीं फँसेंगे। चलिये अब देर न करिये यहाँ से हम सभी लोग चलते हैं।” पत्नी और पुत्री ने भी बेटे की बात का समर्थन किया।

किन्तु—देवपुरुष पर कुछ असर न पड़ा, एक बार गाँव की ओर देखकर दृष्टि फिर लपटों में अटक गई। शान्त-भाव से उसने कहा—‘बेटे ! यह जो तुम कह रहे हो वह मनुष्यों की भाषा नहीं है। मनुष्य अपने लिए नहीं औरों के लिये जीता है। स्वार्थ नहीं परमार्थ को पूजता है, अपनी कम औरों की खबर अधिक रखता है। हम भी संकीर्ण स्वार्थ की दृष्टि से समस्याओं पर विचार करें तो बौद्धिक प्राणी का क्या अर्थ निकला। हम सब एक-दूसरे के दर्द को अपना दर्द अनुभव कर सके होते तो आज संसार का स्वरूप ही कुछ दूसरा होता। न यहाँ कलह होती न उत्पात, सब लोग मिल-जुल कर धरती माता के अपार सुखों का उपभोग कर रहे होते। इसलिए बेटे ! यदि दूसरे अपने उद्देश्य से गिर जायें तो हमें उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये जो संकट की घड़ी में अपने पड़ोसी, अपने गाँव, अपने राष्ट्र की सेवा नहीं कर सकता वह भी कोई इन्सान है ? महानता की रक्षा के लिये हमें अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये।’

फिर क्या था, दृष्टिकोण बदला और दिशा भी बदल गई। चारों परवाने हाथ में कुदाल, कुल्हाड़ी और फावड़ा लेकर बढ़े और आग की लपटों से जूझ पड़े। सारा दिन यह संग्राम चला। किसी का हाथ झुलसा, किसी का मुँह। कपड़े फटे और पाँवों में कंठे घुसे पर प्रकृति और पुरुषार्थ का युद्ध बराबर चलता रहा। आखिर साहस की विजय हुई। सूर्य डूबने तक सारी आग काबू में आ गई।

दिन की ज्वाला शान्त हो गई और सारे ग्रामवासी घर लौट आये। लपटों में झुलसा एबरम गारफ़ील्ड हवा में धक्का मिटाने लेट गया पर लोगों को क्या पता था कि कल अब भी धोखे से हमला कर जायेगा। ठण्डक बरदाश्त न हुई, गारफ़ील्ड की दशा बिगड़ गई, दिन भर साहसी योद्धा की तरह लड़ने वाला विजेता आखिर आधी रात को इस संसार से विदा हो गया। पर उसकी गाथा न तब मिटी न अब, भविष्य भी गौरव के साथ उसका स्मरण करेगा। इस एबरम गारफ़ील्ड का पुत्र जेम्स गारफ़ील्ड एक दिन अमेरिका का राष्ट्रपति बना।

परोपकार धर्म के अनुयायी— महापुरुष एण्ड्रूज

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में फिजी, मारीशस आदि कितने ही टापुओं में “शर्तबन्ध कुली प्रथा के नाम से मजदूरी कराने की ऐसी प्रणाली प्रचलित थी जिसके अन्तर्गत मजदूर को दस-पाँच वर्ष तक

अनिवार्य रूप से खेतों पर काम करना पड़ता था। अगर कोई ठीक से काम न करता तो निगरानी रखने वाला ओवरसियर उसे मनमाने ढंग से पीटता था। अगर कष्ट सहन न करने से वह काम छोड़कर भाग जाता तो उसे पकड़कर जेल की सजा दी जाती और फिर उसी जगह काम करने को भेजा जाता था। इनमें अधिकांश मजदूर भारतवर्ष के ही होते थे।”

कहने को तो ये मजदूर शर्तनामे पर हस्ताक्षर करके नौकरी करने जाते थे, पर वास्तव में उनको ‘आरकट्टी’ (कुली भरती करने वाले) तरह-तरह से बहकाकर और बड़े-बड़े लालच दिखाकर साथ ले जाते थे और साम-दाम-दण्ड-भेद से काम लेकर शर्तनामे पर दस्तखत करा लेते थे। जब एक बार जहाज पर बैठकर वह मनुष्य फिजी पहुँच जाता था, तो फिर सब तरह से बेबस हो जाता था। अपने देश से तीन-चार हजार मील दूर, विदेशी और विधर्मी लोगों के मातहत हो कर वह न कुछ बोल पाता था और न किसी अन्याय का प्रतिकार कर सकता था। उसकी हालत गुलामों के समान होती थी और जग-सी गफलत हो जाने पर उसे गोरे लोगों के बेंत और हण्टर खाने पड़ते थे।

इन कष्टों से भी बढ़कर एक भयंकर बात वहाँ यह थी कि शर्तबन्दी के अनुसार जितने मजदूर भेजे जाते थे उनमें पुरुष अधिक और स्त्रियाँ कम होती थीं। ये सब लोग जगह-जगह से बहकाकर भेजे जाते थे इसलिये वहाँ न किसी का कोई पति होता था न पत्नी। खेतों के मालिक तीन-तीन पुरुषों के पीछे एक-एक स्त्री बाँट देते थे और वह चाहे राजी हो या नाराज, उसे जबरन उन तीनों के साथ पत्नी की तरह रहना पड़ता था। जब फिजी प्रवासी भारतवासियों की दुर्दशा की इस प्रकार की अनेकों शिकारयें सुनकर उनकी जाँच करने के लिये महामानव एण्ड्रूज वहाँ पहुँचे तो उन्होंने देखा कि इस अनैतिक प्रथा के कारण उन लोगों का चारित्रिक और धार्मिक स्तर अत्यन्त गिर गया है और वे महाभ्रष्ट जीवन व्यतीत करने को विवश हो रहे हैं। इन स्त्रियों की चर्चा करते हुए एण्ड्रूज साहब ने लिखा—

“फिजी की भारतीय स्त्रियाँ एक ऐसी किशोरी के समान हैं जिसमें पतवार नहीं है, जिसका मस्तूल टूट गया है और जो चट्टानों की ओर बही चली जा रही है। अथवा वे एक ऐसी डौंगी के समान हैं जो एक बड़ी नदी की तेज धारा में नीचे की ओर चक्कर खाती चली जा रही हैं और जिसका कोई खिवैया नहीं है। ये स्त्रियाँ फौरन एक व्यक्ति को छोड़कर दूसरे के साथ चली जाती हैं और इस पति-परिवर्तन में उनके तनिक भी लज्जा मालूम नहीं देती। वहाँ हिन्दुओं का सामाजिक संगठन बिल्कुल नष्ट हो गया है, जाति-पाँति बिल्कुल समाप्त हो गई है और उसका खाली स्थान भरने को कोई अन्य संस्था उत्पन्न नहीं हुई है। स्त्रियों को खुले तौर पर खरीदा और बेचा जा सकता है। लोग उनके लिये लड़ते हैं, परस्पर ईर्ष्या करते हैं और हत्या तक कर डालते हैं।”

पतिव्रत पालन के लिए प्रसिद्ध भारतीय नारियों की यह दुर्दशा देखकर एण्ड्रूज साहब की आत्मा तड़प उठी और उन्होंने प्रण कर लिया कि चाहे जान रहे या जाय पर इस अमानुषी प्रथा का अन्त

जरूर करायेंगे। इसलिये भारत लौटने पर उन्होंने नगर-नगर में घूम-फिरकर इस घृणित प्रथा के विरुद्ध इतना जोरदार आन्दोलन छेड़ दिया कि सरकार भी डर गयी। उस समय (सन् १९१५-१६) प्रथम महायुद्ध चल रहा था और सरकार 'भारत रक्षा कानून' के अन्तर्गत किसी को भी नजरबन्द कर सकती थी। अतः श्री एण्ड्रूज को स्वयं अंग्रेज होते हुए भी धमकी दी गई कि अगर वे इस प्रकार आन्दोलन उठावेंगे तो नजरबन्द कर दिये जायेंगे। पर वे इस कार्य को छोड़ने को तैयार न हुए, वरन् महात्मा गाँधी, मालवीय जी, ऐनीबेसेंट, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि बड़े-बड़े नेताओं को भी इसमें शामिल करके देश भर में ऐसी हलचल मचा दी कि अन्त में सरकार को झुकना पड़ा और 'भारत रक्षा कानून' के अन्तर्गत ही एक विशेष आज्ञा जारी करके इस प्रथा का अन्त कर दिया गया।

दुर्दशाग्रस्त और असहाय भारतवासियों के लिए इस प्रकार आत्म त्याग करने वाले श्री एण्ड्रूज का जन्म सन् १८७२ में इंग्लैंड के एक धार्मिक दम्पति के घर में हुआ था। उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी, इसलिये उनके विद्याभ्यास कठिनाइयों के बीच रहकर ही करना पड़ा। पर न मालूम क्यों बहुत छोटी आयु से ही आपको भारतवर्ष से सहानुभूति पैदा हो गई थी और आप उसी समय माताजी से कहा करते "माँ, मैं हिन्दुस्तान जाऊँगा।" उन्होंने किसी से सुन लिया था कि हिन्दुस्तानी चावल बहुत खाते हैं। इससे वे कभी-कभी अपनी माँ से भात बनाने को कहते थे। उनकी माँ उन्हें चावल खाते देखकर बहुत हँसती और कहती— "चाली! तुम किसी दिन हिन्दुस्तान जरूर जाओगे।" उस समय कौन जानता था कि एण्ड्रूज भारत जायेंगे ही नहीं करोड़ों भारतवासियों से भी बढ़कर सच्चे 'भारत भक्त' बन जायेंगे।

तेईस वर्ष की आयु में आपने कॉलेज की पढ़ाई समाप्त की और पादरी बनने की इच्छा से दीन-दुःखियों की बस्तियों में रहकर सेवा कार्य करने लगे। वहाँ उन्होंने अनेक चोर, उचक्का लोगों का भी सुधार किया। इसके पश्चात् जब उन्होंने भारतवर्ष आकर मिशन की नौकरी करने का निश्चय किया तो उनके सभी मित्रों और हितैषियों ने इसका विरोध किया कि इतनी दूर अनजान देश में जाने की क्या जरूरत है, तुम यहीं रहकर बहुत उन्नति कर सकते हो और कहीं अधिक आराम का जीवन व्यतीत कर सकते हो। पर एण्ड्रूज को तो प्रभु ईसा की तरफ से प्रेरणा हो रही थी कि ऐसी जगह जाकर काम करो जहाँ मानवता पद-दलित हो रही है। इसी प्रकार के सेवा कार्य से जीवन सार्थक हो सकेगा। खाना, पीना, आराम से रहना तो स्वार्थी और घटिया लोग भी कर सकते हैं।

२० मार्च, १९०४ को श्री एण्ड्रूज ने जहाज से बम्बई बन्दरगाह पर उतर कर प्रथम बार भारत भूमि का स्पर्श किया और उसी दिन से इसे दूसरी मातृभूमि बना लिया। मिशन का मुख्य कार्यालय दिल्ली में था और वहीं सेंट स्टीफेंस कॉलेज में उनके अध्यापन कार्य करना था। जब आपका परिचय दिल्ली के अन्य अंग्रेजों से हुआ तो सबने यही सलाह दी कि "भारतवर्ष में रहते हुये आप किसी 'नेटिव'

(भारतवासी) के दिल में यह ख्याल मत आने देना कि वह तुमसे ऊँचा है। यद्यपि आप 'मिशनरी' (पादरी) हैं, तो भी पहले अपने को 'अंग्रेज' समझना होगा। अगर आप किसी 'नेटिव' को अपने साथ मेल-जोल बढ़ाने देंगे या बराबरी का व्यवहार करने देंगे तो आप बेशुमार हानि पहुँचायेंगे।"

पर एण्ड्रूज साहब ने ऐसी 'नेक सलाह' पर कभी ध्यान नहीं दिया। वे सदा यही उत्तर देते रहे कि "यदि हम ईसा के कुछ भी सच्चे अनुयायी हैं तो हमको अवश्य ही भारतवासियों के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिए।"

एण्ड्रूज साहब आजीवन अपने इसी सिद्धान्त पर चलते रहे, यद्यपि इसके कारण उनको मिशन की नौकरी छोड़नी पड़ी; अंग्रेजों का साथ त्यागना पड़ा और खद्दर पहनकर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में अध्यापन कार्य करना पड़ा।

भारतवासियों की उन्होंने आजीवन जो सेवाएँ कीं उनमें से अगर सबको छोड़कर फिजी के भारतवासियों के उद्धार के कार्य पर ही विचार किया जाये तो वे हमारे सबसे बड़े 'देश-भक्त' के सम्मान के अधिकारी हो जाते हैं, पर उन्होंने तो यह एक ही नहीं सदैव एक से बढ़कर अनेक ऐसी ही सेवाएँ कीं। सन् १९१३ में जब दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों के आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा और महात्मा गाँधी सहित हजारों भारतीय जेलों में ठूस दिये गये तो मानवीय गोखले ने आपको ही वहाँ जाकर उनकी सहायता करने को कहा। जब तक आप दक्षिण अफ्रीका पहुँचे तब तक समझौते की बात-चीत शुरू हो चुकी थी और उसके लिये गाँधी जी तथा मुख्य नेताओं को छोड़ दिया गया था। जहाज से उतरने पर जब आपने बन्दरगाह पर स्वागतार्थ आये गाँधी जी के दर्शन किये तो भारतीय प्रथा के अनुसार उनके चरण स्पर्श किये। यह देखकर वहाँ के गोरों ने, जो सब हिन्दुस्तानियों को 'कुली' मानते थे और गाँधी जी को 'कुली बैरिस्टर' कहते थे, बड़ा शोर मचाया, कि इतने बड़े अंग्रेज पादरी ने एक हिन्दुस्तानी के पैरों की धूल अपने मस्तक पर लगा ली, पर आपने इस तरफ कुछ ध्यान न देकर वहाँ के शासकों से समझौते की बात-चीत करना प्रारम्भ किया और कुछ ही समय में बड़े परिश्रम और युक्ति से दोनों पक्षों को राजी कराके समस्त कैदियों को छुड़वा दिया और भारतवासियों की अनेक माँगों को स्वीकार करा दिया।

इसी प्रकार रौलेट-एक्ट आन्दोलन के अवसर पर जलियाँवाला हत्याकाण्ड और मार्शल-ला होने पर अपने पीड़ितों की बड़ी सहायता की। उस समय फौजी अधिकारियों ने किसी भी बाहरी व्यक्ति का पंजाब में प्रवेश रोक दिया था। आपने शिमला पहुँचकर बड़ी कठिनाई से वायसराय की आज्ञा प्राप्त की और अमृतसर पहुँचे, पर उसी समय जनरल डायर के आदेश से आपको गिरफ्तार कर लिया गया। तब कहा गया कि मार्शल-ला के अवसर पर वायसराय की आज्ञा से नहीं केवल प्रधान सेनापति की मंजूरी से वहाँ कोई आ सकता है। अन्य अंग्रेजों की निगाह में तो इस तरह रोक कर गिरफ्तार कर लिया जाना बड़ा अपमान था, पर आपने इसे 'देश-सेवा' का पुरस्कार समझकर प्रसन्नता ही व्यक्त की।

जब कुछ महीने पश्चात् मार्शल-ला समाप्त हो गया और मोतीलाल जी, सी. आर. दास, मालवीय जी आदि नेता वहाँ के निवासियों पर होने वाले अत्याचारों की जाँच करने गये तो आपने अत्याचार पीड़ितों की बड़ी सेवा की और सैकड़ों लोगों को जेल और जुर्माने से बचाया। गुजरानवाला जिला पर हुआ भारी जुर्माना आपने बहुत कुछ कम करा दिया तथा विधवाओं और असमर्थों को उससे बिल्कुल मुक्त करा दिया। इसके बाद आप सेना द्वारा पीड़ित किये गये लोगों को सान्त्वना देते हुए गाँव-गाँव घूमने लगे। वे लोगों से कहते थे कि “चूँकि अंग्रेजों ने तुम पर जुल्म किया है इसलिये मैं उसके लिये क्षमा माँगने और सेवा करने आया हूँ।” इसका लोगों पर इतना प्रभाव पड़ता था कि वे अपना सब दुःख भूल जाते थे। सैकड़ों स्त्री-पुरुष उनके पैर छूकर कहने लगते “तू सादा रव है” (तू तो हमारा भगवान् है)। पंजाब में उन्होंने कितना काम किया और लोगों को कितनी अधिक सहायता पहुँचाई इसका पूरा हाल किसी को मालूम न हो सका। क्योंकि एक तो आपका स्वभाव परोपकार का कार्य बिना किसी को बताये करने का है और दूसरे उस समय वहाँ जो कठोर सरकारी नियन्त्रण लगे हुए थे उनके कारण बहुत से कार्य चुपचाप ही करने पड़ते थे। उनको देखकर ही महात्मा गाँधी ने लिखा था “श्री एण्ड्रूज ने पंजाब की जो सेवायें की हैं उनका अनुमान कर सकना कठिन है। उनके सम्बन्ध में यह कहावत पूरी तरह चरितार्थ होती है कि ‘उनका दाहिना हाथ नहीं जानता कि बायें हाथ ने किसके साथ क्या भलाई की है?’”

श्री एण्ड्रूज का समस्त जीवन ही सेवामय रहा। उन्होंने इसी को सबसे बड़ा धर्म समझकर जब जैसा भी मामला सामने आया उसी में सहायता की। लाहौर में उन्होंने भाई परमानन्द की स्त्री को बड़े कष्ट में जीवन व्यतीत करते देखा। भाई परमानन्द को कई वर्ष पहले एक षडयन्त्र के मामले में आजन्म कारावासी की सजा हुई थी। एण्ड्रूज ने छुटकारे के लिये प्रयत्न आरम्भ किया और पंजाब के छोटे लार्ड सर एडवर्ड मैकलेगन की विशेष आज्ञा से उनको मुक्त करा दिया। भाई परमानन्द उनका दर्शन करने शान्तिनिकेतन में आये और उन्होंने कहा—“एण्ड्रूज सचमुच एक तपस्वी हैं, उन्होंने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है।” मालवीय जी ने भी पंजाब में उनके कार्यों की सराहना करते हुए कहा—“श्री एण्ड्रूज भारत के सच्चे बन्धु हैं। इस विपत्ति के समय उन्होंने हमारी बड़ी सहायता की है।”

वे इसी प्रकार जीवन के अन्त एक जगह-जगह पहुँच कर पीड़ितों को सेवा करते रहे। शेष समय में वे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में रहकर विद्यार्थियों को अंग्रेजी पढ़ाते रहते। वहाँ पर वे बंगालियों की तरह धोती-कुर्ता पहनकर ही रहते थे।

अपराधी और दण्ड

बालवर्ष में ही एक दिन एक आदमी एण्ड्रूज साहब के घर पर आया। चेहरा से वह भला आदमी जान पड़ता था और बहुत भूखा था। इन्होंने उसे अपने कमरे में बैठाया और स्वयं उसके लिए कुछ खाना और चाय का प्याला लेने दूसरे कमरे में चले गये। खाना खाकर

वह चला गया। कई दिन बाद इनको ध्यान आया कि चाँदी के दो बर्तन जो गिरजाघर के थे और प्रार्थना के समय काम आते थे, घर से गायब हो गये हैं। इनको किसी पर शक भी नहीं हुआ। पर एक दिन रात के १२ बजे वही आदमी एक चाँदी का बर्तन लिये इनके पास आया। वह बर्तन उसने बिल्कुल खराब कर डाला था और दूसरे बर्तन को बेचकर शायद शराब पीली थी। चूँकि बर्तन इनके निजी नहीं थे इन्होंने बहुत सोच-विचारकर उसे पुलिस के पास भेज दिया। दूसरे दिन मुकदमा चला जिसमें इनकी गवाही हुई और इन्होंने मेजिस्ट्रेट से कहा कि इसको कम से कम सजा दी जाय। उसे एक महीने की सादी कैद तथा जुर्माने की सजा दी गई। जुर्माना इन्होंने अपने पास से जमा करा दिया और जब तक वह जेल में रहा उसे बराबर देखने को जाते रहे। उसने इनको अपनी पूरी कथा बतलाई कि “मैं एक भले आदमी का लड़का हूँ और जुआ खेलने का व्यसन लग जाने से मेरी यह दशा हो गई है। घुड़दौड़ के जुए ने मेरा सत्यानाश कर दिया और वहीं से मुझे शराब पीने की भी आदत पड़ गई। मैंने एक बार बैंक के चेक पर अपने पिता के जाली दस्तखत बना लिये थे, इस पर उन्हें मेरी दुश्चरित्रता का पता लग गया और मुझे घर से निकाल दिया गया। इसके बाद अनेक जगह चोरी भी की जिसके लिये कई बार जेल की सजा भोगनी पड़ी है। पर अब मैं ज्यादा दिन जीवित नहीं रहूँगा क्योंकि डॉक्टर ने बतलाया कि तुम्हारे दोनों फेफड़े खराब हो गये हैं।” एण्ड्रूज साहब को उस पर बड़ी दया आई और बहुत दौड़ धूप करके उसे लन्दन के एक प्रसिद्ध अस्पताल में, जहाँ क्षयरोग का इलाज विशेष रूप से किया जाता था, भरती करा दिया। वहाँ वह दो वर्ष जिन्दा रहा। वह इनसे कहा करता था कि जब से मैंने अपनी माता का घर छोड़ा था, तब से तीस वर्ष बाद इस अस्पताल में मेरे दिन बड़े आनन्द से बीते हैं। उसने अपने सम्बन्ध में सब बातें बड़ी स्पष्टता से इनको बतला दीं, पर मरते दम तक वह अपने पिता का नाम और पता बतलाने से इन्कार ही करता रहा।

गरीबों का हمدर्द

“माँ देखना, मैं कितनी अच्छी चीज लाया हूँ।”

“अरे यह क्या ले आया। यह तो किसी चिड़िया के अंडे हैं। मुझे ऐसा लगता है कि तू चिड़िया के तीनों अंडे उठा लाया है। जब वह अपने घर लौटेंगी तो बहुत रोयेगी बेटा !”

“अच्छा माँ ! यह चिड़िया के अंडे हैं। मुझे क्या मालूम था ?”

वह बालक लंगड़ाते-लंगड़ाते उस पेड़ तक गया क्योंकि चोट के कारण उसके पैर में दर्द हो रहा था। वह पेड़ पर चढ़ा और उसने सब अंडे उसी घोंसले में रख दिये। और पेड़ के नीचे बैठा तब तक रोता रहा जब तक कि वह चिड़िया पेड़ पर न आ गई। चिड़िया को देखकर उसका सारा दर्द जाने कहाँ चला गया और हँसता-कूदता अपनी माँ के पास लौट आया। यह बालक कोई और नहीं वरन् दीनबन्धु एण्ड्रूज थे, जो जीवन भर दीनों को अपना भाई समझ कर प्यार करते रहे।

ईश्वर-दर्शन

दीनबन्धु एण्डूज टहलने निकले तो मार्ग में उन्हें एक नवयुवक मिला। उन्हें रोक कर बोला— “क्या आप मुझे ईश्वर के दर्शन करा सकते हैं या आप लोगों का ईश्वर एक कल्पना ही है। पहले तो वे प्रश्नकर्ता की ओर बड़ी देर तक देखते रहे किन्तु उसकी अल्पज्ञता और जिज्ञासा को देखकर उत्तर देने के लिए बाध्य होना पड़ा। उन्होंने नवयुवक से कहा ठीक है। कल मिलना। तुम्हें ईश्वर के दर्शन अवश्य करायेँगे।

नियत समय पर आकर युवक उसी स्थान पर बैठ गया। दीनबन्धु आये और युवक से बोले चलो मित्र तुम्हें परमात्मा के दर्शन करायेँ और वे उसे लेकर अछूतों की बस्ती में गये और एक हरिजन की झोंपड़ी पर जाकर खड़े हो गये। झोंपड़ी के भीतर एक किशोर बालक टी.बी. से पीड़ित पड़ा था। बूढ़ा बाप उसकी सेवा में लगा था। उन्होंने इशारा किया देखो यही भगवान् है जो अशक्त असहाय को सहारा देकर आशा के दीप को टिमटिमाने का अवसर दे रहा है।

दीन-दुःखियों की सेवा

दीनबन्धु एण्डूज भारत जाने की तैयारी में व्यस्त थे। घर में सारा सामान बिखरा पड़ा था। किसी के द्वार खटखटाने की आवाज सुनाई पड़ी। उन्होंने दरवाजा खोला।

अरे! आप आ गये। इस समय बहुत ‘आवश्यक कार्य’ था। एण्डूज ने अन्दर आ जाने का संकेत करते हुए कहा।

‘पर आपने यह समय घूमने के लिए निर्धारित किया था और मुझे बुलाया भी इसी उद्देश्य से था। आगन्तुक ने पास ही पड़ी एक कुर्सी पर बैठते हुए कहा।

दीनबन्धु जैसे पूर्व निश्चित कार्यक्रम को भूल ही गये हों। कुछ विचारते हुए बोले ‘अब चलना सम्भव नहीं है। आपको जो कष्ट हुआ उसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। मुझे भारत शीघ्र ही पहुँचना है। बात यह है कि मैं जब वहाँ होता हूँ तो इंग्लैण्ड की याद आती है और यहाँ आ जाता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है मानो सात समुद्र पार बैठे भारत के दीन-दुःखियों का स्वर मेरे कानों से टकरा रहा है।’

उन्हें मेरी सेवाओं की आवश्यकता है यहाँ तो मेरी कुछ जरूरत भी नहीं है।

सच्ची प्रार्थना : सदज्ञान संवर्धन

उन दिनों दीनबन्धु एण्डूज शान्तिनिकेतन में रहते थे। एक दिन एक पादरी प्राध्यापक उनसे मिलने आये। वार्तालाप के बीच पादरी ने पूछा— क्या यहाँ कोई गिरजाघर है। एण्डूज के मना करने पर उन्होंने कहा— तब आपको रविवार को प्रार्थना करने में बड़ी कठिनाई पड़ती होगी। रविवार का दिन था। उस दिन विद्यार्थी वर्ग कुछ विशेष धर्म चर्चा करने आ गया। दीनबन्धु उसी ज्ञान विनोद में लगे रहे।

जब पादरी चलने लगे तो एण्डूज ने कहा— ‘मेरी असली प्रार्थना सदज्ञान संवर्धन की सेवा साधना में लगे रहना ही है। रविवार की पूजा भी मैं इसी तरह पूरी कर लेता हूँ।’

व्यावहारिक सहानुभूति

स्टेशन मास्टर के कार्यालय के सामने भीड़ एकत्रित होती जा रही थी। स्टेशन मास्टर का क्रोध देखते ही बनता था। किन्तु बेचारी बुद्धिया ठण्ड के मारे अँगीठी पर हाथ सेकना चाहती थी। स्टेशन मास्टर उसे दुत्कारने में लगा था। जो भी आता वहाँ रुकता। पूछता बाबूजी क्यों झल्ला रहे हैं? एक समझदार व्यक्ति भीड़ में से आया और बोला यदि इस बेचारी ने ठण्ड में हाथ सेक लिए तो क्या जुर्म हो गया? मास्टर साहब आपने तो बाइबिल पढ़ी होगी। ईसा ने भी ऐसे गरीबों की हिमायत की है। फिर भी आप में सहानुभूति का बीजारोपण नहीं हुआ। इतना कहकर उस व्यक्ति ने अपने कंधे से ऊनी चादर उतारी और उस वृद्ध के कंधों पर डाल दी। ये सज्जन थे दीनबन्धु एण्डूज।

विवाह न करने का कारण

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सी. एफ. एण्डूज से कहा— “विवाह जीवन की पूर्णता है। प्रगति के मार्ग में पत्नी से पूरी सहायता मिलती है और दोनों के सहयोग से विपत्तियाँ दूर होती हैं। सच्चा जीवन जीने के लिए मनुष्य को विवाह अवश्य करना चाहिए और आपने विवाह न करके बड़ी भूल की है।”

दीनबन्धु ने कहा— “हाँ, आपकी बात बिल्कुल सत्य है पर दाम्पत्य जीवन के सुख की जब मैं कल्पना करता हूँ तो मेरा मन मुझे एक अन्य दिशा की ही ओर ले जाता है। वह कहता है कि तुम अपनी सेवायें राष्ट्रीय आन्दोलन को समर्पित कर चुके हो। जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता तब तक तुम्हारा कुछ नहीं, सब राष्ट्र का ही होगा। तुम मिशन में सर्विस करते हो इसका भी क्या भरोसा? फिर नौकरी छूट जाने पर घर-गृहस्थी के बोझ को सम्हालने के लिए नौकरी तलाश करोगे या राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लोगे। मेरे मन में उठने वाले यही विचार दाम्पत्य जीवन के रेशमी सूत्र में बँधने नहीं देते।”

प्रभु का निरादर

दक्षिण अफ्रीका के एक गिरजे में पादरी एण्डूज प्रार्थना और प्रवचन करने गये। गाँधी जी उन दिनों वहीं थे। वे भी उसी गिरजे में एण्डूज का प्रवचन सुनने जा पहुँचे।

गाँवों ने उन्हें काले होने के कारण गिरजे में जाने की अनुमति नहीं दी। उदास बापू वापस लौट आये।

भेंट होने पर बापू ने अपनी निराशा व्यक्त की। एण्डूज आँखों में आँसू भर लाये और बोले मैंने तो ईश्वर और उसमें सच्चे रूप में आपकी ही चर्चा प्रवचन में की थी। कितने दुःख की बात है कि प्रभु को ही उसके मन्दिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं मिली।

परोपकार की भावना

श्री एण्डूज का समस्त जीवन ही सेवामय रहा। उन्होंने इसी को सबसे बड़ा धर्म समझकर जब जैसा भी मामला सामने आया उसी

में सहायता की। लाहौर में उन्होंने भी परमानन्द की स्त्री को बड़े कष्ट में जीवन व्यतीत करते देखा। भाई परमानन्द को कई वर्ष पहले एक षडयंत्र के मामले में आजन्म काले पानी की सजा हुई थी। एण्ड्रूज ने छुटकारे के लिये प्रयत्न आरंभ किया और पंजाब के छोटे लार्ड सर एडवर्ड मैकलेगन की विशेष आज्ञा से उनको मुक्त कर दिया। भाई परमानन्द उनका दर्शन करने शांतिनिकेतन में आये और उन्होंने कहा— “एण्ड्रूज सचमुच एक तपस्वी हैं, उन्होंने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है।”

वसुधैव कुटुम्बकम् का भाव

सर्दों के दिन थे। बर्फ गिर चुकी थी। रास्तों तक पर बर्फ जम गई थी। सड़क फिसलनी हो गई थी। दीनबन्धु एण्ड्रूज के साथ अल्बर्ट श्वाइत्जर भी घूमने जा रहे थे। जमी हुई बर्फ का दृश्य देखते हुए वे आँखें नीची रखे हुए चल रहे थे।

श्वाइत्जर की दृष्टि ठण्ड में सिकुड़ते एक कीड़े पर पड़ी जो बेचारा अधमरा हो रहा था। वह रुक गये उन्होंने उसे वहाँ से उठाकर एक झाड़ी के नीचे सूखी जमीन पर रख दिया और दीनबन्धु से बोले ‘एण्ड्रूज ! यह कीड़ा यहाँ सुरक्षित रह सकेगा। यदि सड़क पर ही पड़ा रहता तो अवश्य कुछ घंटों के बाद ईश्वर को प्यारा हो जाता।’

आत्मवादी चिकित्सा पद्धति के जन्मदाता—डॉ. हैनीमैन

सबसे कम समय में विकसित होकर सारे विश्व में सम्मान प्राप्त करने वाली चिकित्सा पद्धति— होम्योपैथी— अपने आप में उतनी चमत्कारपूर्ण और प्रेरक भले ही न हो उसके जन्मदाता का जीवन-इतिहास ऐसी प्रेरणाओं से अवश्य भरा है, जो किसी भी मनुष्य को दार्शनिक सत्यों की प्राप्ति के लिए सुव्यवस्थित कर्मयोग का शिक्षण कर सकता है।

डॉ. हैनीमैन— होम्योपैथी के जन्मदाता— का जन्म लिस्बन (पुर्तगाल) के एक निर्धन परिवार में हुआ था। उनमें बौद्धिक प्रखरता प्रारम्भ से ही थी उसे देखकर प्रायः सम्बन्धी और पिता के मित्रगण कहा करते— ‘लगता है हैनीमैन इस जन्म में आने से पूर्व भी बहुत कुछ पढ़ चुका है। उसकी बौद्धिक प्रतिभा इस जन्म की कमाई नहीं हो सकती क्योंकि अभी उसे उसके लिए अवसर ही कहाँ मिला। सचमुच पूर्वजन्मों की योग्यता, साधना, ज्ञान का भी कोई अर्थ है। यह दूसरे किसी के मस्तिष्क में न उतरे, उनके सम्बन्धी को इस पर विश्वास हो गया इसलिये उन्होंने निश्चय किया— “इस आत्मिक प्रतिभा को विकास के लिए हम सहयोग देंगे” और सचमुच उन्हीं के सहयोग से हैनीमैन इंग्लैण्ड में उच्च डॉक्टरी शिक्षा प्राप्त कर सके।

हैनीमैन एलोपैथी के डॉक्टर बनकर जर्मनी आ गये और वहाँ एक सरकारी अस्पताल में सिविल सर्जन हो गये। उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी हैनीमैन की दो विशेषतायें कभी नहीं छूटीं— (१) यह है कि सारे मनुष्य समान हैं सबके साथ सेवा, प्रेम और

आत्मीयता का व्यवहार करना, (२) संसार में और भी कुछ सत्य है उसकी प्राप्ति के लिये अपनी बौद्धिक क्षमताओं का छोटा मान कर निरन्तर ज्ञानार्जन करते रहना।

सेवा और ज्ञानार्जन की तीव्र इच्छा शक्ति के द्वारा उनका व्यक्तित्व निखरता ही गया।

और अंब उनके जीवन में प्रत्येक अध्यात्मवादी के सामने आने वाली ईश्वरीय परीक्षाओं का श्रीगणेश होता है। उनके दो पुत्र दोनों एक दो-दिन के अन्तर से बीमार पड़े। हैनीमैन स्वयं बड़े डॉक्टर थे इसलिए बच्चों की चिकित्सा उन्होंने स्वयं की। अच्छी से अच्छी औषधियाँ दी गईं। प्राण-प्रिय पुत्रों की सेवा सहृदय पिता ने रात-रात भर जाग-जाग ऐसे की जैसे महापुरुष समाज सेवा में अपने सुखों को भूल जाते हैं। लेकिन ईश्वरीय सत्ता के आगे मनुष्य का वश क्या ? दोनों पुत्र एक ही साथ एक ही साँझ मृत्यु के घाट उतर गए। प्यारे बच्चों की मृत्यु ने हैनीमैन के अन्तःकरण में तूफान बरपा कर दिया।

उन्होंने ईश्वरीय इच्छा को प्रणाम कर लिया और जो हुआ उसे शाश्वत जीवन की अपनी प्रक्रिया मानकर सन्तोष कर लिया किन्तु उन्हें अपने भौतिक ज्ञान से ही अविश्वास हो गया। उन्होंने सोचा जो एलोपैथी जीने योग्य बच्चों को नहीं बचा सकी वह मरणोन्मुख मनुष्य को तो सम्भाल ही कैसे सकती है।

दुःख में मनुष्य की ईश्वरीय आस्थाएँ तीव्र हो पड़ती हैं। हैनीमैन के साथ भी वही हुआ। वे सोचने लगे सुख-दुःख है क्या ? और उसका मनुष्य से क्या सम्बन्ध है ? इन तथ्यों को सुलझाने के लिए विशेष शोध और साधना की आवश्यकता थी। डॉक्टरी में वह समय कहाँ मिलता सो उन्होंने चिकित्सक का पद छोड़ दिया। महान् उद्देश्य के लिए अपने छोटे से सांसारिक हित को शहीद कर देने की परम्परा का पालन करने वाले लोग ही संसार में महापुरुष हुए और मानवता को योगदान देने वाले काम कर सके। जो केवल स्त्री, बच्चे, पद, प्रतिष्ठा, धन और ऐश्वर्य की विडम्बना से चिपका रहा वह तो संसार में व्यर्थ ही जिया और मरने वालों की एक संख्या बढ़ा गया।

अध्यात्मवादी के लिये जिस तरह धन और पुत्रों से मोह एक बाधा है उसी तरह लोकयश और अहंकार की रक्षा भी। सम्मान की भावना पर विजय पाने वाले अध्यात्मवादी नहीं हो सकते। इस तथ्य को समझ कर डॉ. हैनीमैन ने एक सम्मानित डॉक्टर का पद त्याग दिया और एक सरकारी लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन हो गये। यहाँ उन्हें संसार के सभी महापुरुषों के अनुभवों का लाभ उठाने का अवसर मिला। किन्तु उन्होंने देखा कि विराट विश्व का ज्ञान उसकी यथार्थता जानने के लिये केवल अंग्रेजी भाषा और पुर्तगाल या जर्मन के मनीषियों का अन्तःकरण और ज्ञान टटोलना काफी नहीं है सभी देशों व धर्मों के महापुरुषों के अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करने में एक बाधा यह थी कि वे केवल फ्रेंच, अंग्रेजी और जर्मन भाषा ही समझते थे जबकि ज्ञान का क्षेत्र तो उतना ही विशाल है जितना यह संसार। सो उन्होंने एक और तपश्चर्या शिरोधार्य की। वह था अन्यान्य भाषाओं

का अध्ययन। दिन-रात एक करके हैनीमैन ने दुनिया की ९ भाषाएँ सीखीं और यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य के पश्चिम के आगे संसार की कोई भी वस्तु असम्भव नहीं। मनुष्य चाहे और पूरा न हो तो यह उसके भाग्य का नहीं कर्म का दोष है। उद्यमी मनुष्य तो पहाड़ काटकर दूध की धारा भी निकाल सकता है।

व्यक्तित्व के विकास की इस साधना के साथ डॉक्टर हैनीमैन ने यह अनुभव किया कि संसार के सब शरीरों में एक ही तरह की चेतना काम करती है। वह मन की शक्ति से भिन्न है। मन स्वयं सूक्ष्म है फिर उस शक्ति की—सूक्ष्मता का तो कहना ही क्या? सूक्ष्म मन की शक्ति की तौल उन्होंने अपने जीवन में ही कर ली थी। आत्म-शक्ति के अकूत-भण्डार को अभी पाना था। उनको प्राप्त करने में उन्हें भले ही बिलम्ब लगा हो पर उन्होंने यह अवश्य जान लिया कि मन एक ऐसी शक्ति है जो आत्मा का उपयोग करती है। पागल का मन काम नहीं करता पर आत्मा काम करती है। आत्मा चुम्बकत्व शब्द विद्युत जैसी कोई शक्ति है जिसमें छल, कपट, भेदभाव आदि विकास नहीं होते क्योंकि पागल मनुष्य में भी ऐसा कुछ नहीं होता।

उन्होंने यह भी पाया कि रोग आत्मा का गुण या विकृति नहीं मन के दोष से रोग उत्पन्न होता है। प्रत्येक रोग या मानसिक विकार मुख मण्डल पर छा जाते हैं, इससे उन्होंने रोगों की सूक्ष्मता का अध्ययन किया। उन्हें एक महत्वपूर्ण बात सूझी चूँकि मन एक अत्यन्त सूक्ष्म शक्ति है और उसी के विकार से शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं इसलिये औषधियाँ भी सूक्ष्मतरंग रूप से अधिकतम प्रभावशाली होनी चाहिए।

अपनी इस धारणा की पुष्टि के लिए उन्होंने भारतीय आयुर्वेद पढ़ना प्रारम्भ किया। आयुर्वेद में उनकी दृष्टि चिरायता (जिससे कुनैनी बनती है) पर जम गई। मलेरिया की संसार में एक ही दवा है कुनैन और यह रोगी का देने से तुरन्त अच्छा कर देती है लेकिन यदि कोई स्वस्थ आदमी उसे खाले तो वह बीमार हो जाता है। इस जानकारी से उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ उन्होंने इसका अपने ऊपर ही प्रयोग किया क्योंकि वह जानते थे कि मनुष्य शरीर के अनुकूल कोई भी प्रयोग मनुष्य शरीर में हो सकता है। निर्दोष जीव-जन्तुओं पर प्रयोग से किसी भी रूप में वास्तविक सत्य का पता नहीं लग सकता। आंशिक सत्य की ही जानकारी उससे होती है और यह मनुष्य के लिए अहितकारक भी हो सकती है।

डॉ. हैनीमैन ने चिरायते का कई प्रकार से विभिन्न आयु के कई व्यक्तियों पर कई तरह से प्रयोग किए और यह पाया कि उस दवा को जितना हलका (डायल्यूट) किया जाता है उसकी शक्ति उतना ही बढ़ जाती है। उन्होंने दवा को एक पौटैन्सी तक सूक्ष्म किया तब उसकी शक्ति परमाणु की शक्ति की तरह अत्यधिक तीव्र थी (१०० बूँद रेक्टोफ्राइड स्प्रिट में १ बूँद घुली हुई दवा डालकर हिलाया जाय और फिर उसमें से एक बूँद दवा ली जाये तो यह एक पौटैन्सी होती है। यदि इस एक पौटैन्सी बूँद को फिर १०० बूँद रेक्टोफ्राइड स्प्रिट से मिलाकर हिलायें और एक बूँद उसमें से निकाल लें यह दो पौटैन्सी

दवा हुई यदि ऐसे ही एक लाख पौटैन्सी शक्ति की १ बूँद निकालें और किसी स्वस्थ मनुष्य को दें तो उसकी शक्ति को बर्दाश्त करना कठिन हो जाता है।) इस तरह उन्होंने संसार को एक नई मान्यता दी कि जो जितना अधिक सूक्ष्म है वह उतना ही अधिक शक्तिशाली है। स्थूलता शक्ति का आधार नहीं। होम्योपैथी चिकित्सा पद्धति का विकास इसी सिद्धान्त पर डॉ. हैनीमैन ने दिया। इसी आधार पर डॉ. हैनीमैन भारतीय धर्म के सूक्ष्म आत्मिक तत्त्वदर्शन से प्रभावित हुये।

मानव सेवा की भावनायें और उमंगें डॉ. हैनीमैन में पहले से ही थीं। उनके ज्ञान और आत्म-विकास का क्षेत्र जितना बढ़ा उतनी ही उनकी सेवा की भावना प्रबल हुई अतएव उन्होंने अनेक सहयोगी ढूँढ़कर अनेक तरह के रोगों के शारीरिक लक्षणों का अध्ययन किया साथ ही साथ उन्होंने उन औषधियों के प्रभाव को भी पढ़ा। डॉ. हैनीमैन ने स्वास्थ्य की खराबी के तीन कारण (१) चर्म रोग (शोरा), (२) सुजाक (सिफिलिस), (३) प्रमेह (साइकोकिस) माने हैं और उनका मूल कारण मनुष्य का स्वभाव एवं आचरण माना और दवा देने से पूर्व उन्होंने मनुष्य को अपने आचरण अपने मनोभावों को सुधार की शिक्षा दी।

आज होम्योपैथी का विस्तार सारे संसार में हो चुका है। वह मनुष्य समाज के लिए कितनी उपयोगी चिकित्सा पद्धति साबित होगी उस पर कुछ कहना व्यर्थ है। पर यदि उनके जीवन दर्शन को एक औषधि की भाँति मनुष्य सेवन कर सकें तो निःसंदेह वह अपने मन को, जीवन को शुद्ध और स्वस्थ अवश्य बना सकते हैं और अपनी आत्मिक प्रगति के अवरुद्ध दरवाजे अवश्यमेव खोल सकते हैं।

एक लाख आँखों का दाता— हेनरी हालैण्ड

एक बार तो वह स्वयं चपेट में आ गया। जिसने आजीवन पीड़ितों की सेवा, दीन-दलितों के उत्थान की ही बात सोची, ईश्वर के प्रति अटूट निष्ठा ही जिसे अनवरत काम करने की प्रेरणा देती थी, था न यह ईश्वरीय विधान के प्रतिकूल कि ईश्वर ने उसकी भी रक्षा नहीं की। जोर का पत्थर सिर पर गिरा। अचेत अवस्था में उसे अस्पताल पहुँचाया गया।

और जब बेहोशी दूर हुई तब उसके मुख से यही निकला भाई जल्दी करो, मेरी मरहम-पट्टी कर दो तो मैं अपने काम से लगूँ। देखते नहीं हजारों की संख्या में लोग घायल पड़े हैं और तुम सबने मुझे रोगी बनाकर पकड़ रखा है।

डॉक्टर की पीड़ितों की सेवा करने की यह अद्भुत दीवानगी देखकर वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति स्तब्ध रह गये। कोई दूसरा होता तो कराहता और भगवान् को दोष देते हुए कहता—वाह रे नियन्ता! भूलकर भी तेरी प्रार्थना न छोड़ी, तुझे कभी भूला नहीं, किसी के साथ अन्याय और विश्वासघात भी नहीं किया और तैने यह फल दिया कि मुझे भी कुचल कर रख दिया ?

सचमुच वह सच्चा इन्सान था जो कहता था। परमात्मा ! अपनी तरह से प्रबन्ध करता है, उसका कार्यक्षेत्र सारा संसार है, उसकी व्यवस्थाएँ समय की सीमा से अनुबद्ध नहीं फिर मनुष्य उस पर टीका टिप्पणी करे तो यह उसका पागलपन ही है। थोड़ा कष्ट हो गया। उतने भर से क्या ईश्वर का भजन बन्द कर दिया जाय, क्या संसार की सेवा से मुख मोड़ लिया जाय। उपासना का उद्देश्य आत्मबल सम्पादन है मनोकामनाओं की पूर्ति नहीं।

पट्टी बँध गई और वह फिर उठ खड़े हुए। लोगों ने कहा— इतनी सेवा भावना नहीं होती, काम करने की ऐसी उत्कृष्ट लगन नहीं होती तो ५६ वर्ष की आयु में १,००,००० लाख व्यक्तियों की आँखें कैसे ठीक कर देते। हिसाब लगायें तो प्रतिदिन लगभग ५ ऑपरेशन तो उन्होंने किये ही किये होंगे। कोई आराम नहीं, कोई छुट्टी नहीं।

यह घटना उस समय की है जब १९३५ की एक रात क्वेटा (उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त) में जबर्दस्त भूकम्प आया था। प्रातःकाल देखा तब मालूम हुआ कि साठ हजार की आबादी वाले नगर में अब कुल चौबीस हजार लोग जीवित बचे हैं। एक रात में एक शहर में छत्तीस हजार व्यक्तियों की मृत्यु इतिहास की सबसे अधिक रोमांचकारी मानसिक दुर्घटना थी और वैसा ही रोमांचकारी था तब इस व्यक्ति का साहस जो प्रकृति की इस भयंकर चुनौती के बीच भी अपना सन्तुलन खोये बिना चोट खाकर फिर काम में जुट गया। लोग उन्हें हेनरी हालैण्ड के नाम से याद करते हैं। जन्म से वे डरहम के थे पर अपनी आत्मा को उन्होंने विश्वात्मा में इस तरह घुला दिया था कि वे जहाँ भी गये वहीं के हो गये। सारा संसार एक ही पिता की सन्तान और सारा विश्व एक ही परिवार है यह उनका नारा था और अपने इसी सार्वभौम सिद्धान्त के आधार पर वह संसार की सेवा में आजीवन जुटे रहे।

हेनरी हालैण्ड की शिक्षा ईडनवर्ग में हुई। वे आँख के विशेषज्ञ के रूप में पढ़-लिखकर तैयार हुए तब सब घरवालों और सम्बन्धियों को वैसे ही प्रसन्नता हुई थी जैसी किसी भी सांसारिक महत्वाकांक्षाओं में डूबे व्यक्ति को यह सोचकर होती है कि अब मेरा बच्चा, मेरा भाई, मेरा सम्बन्धी अथाह धन कमायेगा, हम सबको सुविधाएँ देगा, आदि आदि। पर जब हेनरी ने अपना निर्णय व्यक्त करते हुए कहा— मैं धर्म और ईश्वर में महान् आस्था रखता हूँ और ईश्वर का आदेश है कि मेरे भक्त को संकीर्ण स्वार्थों में बँधा हुआ एकदेशीय नहीं होना चाहिये इसलिए मैं अपने ही परिवार तक सीमित न रहकर संसार की सेवा करूँगा। तब तो उनके कुटुम्बियों, सम्बन्धियों की लालसायें ऐसे टूटकर गिर पड़ीं जैसे मतवाला हाथी मस्ती में आकर पाँव बढ़ाता है तो सड़ी हुई रस्सी का बन्धन अटक से ही लटक कर रह जाता है।

परिवार के दुःख-सुख, धन के अभाव, स्थानान्तर की दिक्कत इन सबको एक तरफ रखकर हेनरी संसार की सेवा करते हुये एक ऐसे स्थान की खोज में पादरी बने और लोकसेवा को निकल पड़े जहाँ कष्ट ही कष्ट हों, कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हों ताकि ईश्वर-भक्ति

की, धर्म मर्यादा की परख भी इस जीवन में हो जाय और भगवान् को यह कहने का अवसर न मिले कि हे मनुष्य ! मैंने तुझे जो सम्पूर्ण विभूतियों से सुसज्जित करके इस संसार में भेजा था तूने उनका उचित मूल्य नहीं चुकाया ?

हेनरी हालैण्ड १९०० ई. में क्वेटा आये। यह स्थान सेवा का सबसे बड़ा अधिकारी दीखा। यहाँ अशिक्षा और अन्धविश्वास की भरमार थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सामाजिक बुराइयों से ग्रस्त और दकियानूस थे। आये दिन कलह और रक्तपात होता। जंगली आदिवासियों की स्थिति तो और भी खराब थी। गन्दगी के कारण बीमारियों ने घेर रखा था और सामाजिक बुराइयों के कारण निर्धनता ने। हेनरी हालैण्ड ने इसी स्थान को अपना कार्यस्थल चुना और उन धर्म का नाम लेने वालों को लज्जित कर दिया जो ईश्वर की उपासना साधनों के लिये, सुविधाओं के लिये करते हैं।

जैसी कि आशा थी उनकी गोरी चमड़ी देखते ही उस क्षेत्र के अनेक लोग बिगड़ खड़े हुये। रीति-रिवाज और अन्धपरम्पराओं में धर्म की मूरत देखने वालों को उन्होंने समझाया भी कि धर्मपरम्पराओं और प्रथाओं में नहीं वरन् उपासना, आस्तिकता के साथ सेवा भावी, कर्तव्यपरायण, साहसी, संघर्षशील, परिश्रमी, उदार, स्वच्छ और सद्गुण परायण होने का नाम ही सच्ची धार्मिकता है पर जड़ बुद्धि व्यक्ति भला विचार और भावनाओं की महत्ता क्या जानें। कई लोग उन्हें मारने की ताक में रहने लगे। पठानों के बादशाह 'बाली' भी उनके खिलाफ हो गये पर यह सब हेनरी हालैण्ड के लिये जैसे साधारण-सी कठिनाइयाँ थीं।

एक दिन वे एक सड़क पार कर रहे थे। उन्होंने देखा-एक स्त्री कराह रही है, उसकी आँखें खराब हो गई थीं। उन्होंने वहीं रुक कर उसका ऑपरेशन किया और तब तक उसी गन्दे स्थान में रहे जब तक उस रोगिणी की आँख की पट्टी नहीं खुल गई। इस घटना से लोगों के दृष्टिकोण बदल चले। फिर उन्होंने क्वेटा, शिकरपुर आदि कई स्थानों में अस्पताल खोले, नर्सिंग स्कूल चलाये। प्रौढ़ पाठशालायें स्थापित कीं, पैदल चले, खच्चरों पर चढ़े और दिन-रात एक करके सारे क्षेत्र की, गन्दगी, अन्ध-विश्वास, अन्ध-ब्रह्म को ही नहीं धोया, रोग-शोक दूर करने में अपने सभी साधनों को गला दिया। अफगानिस्तान के राजा और 'बाली' की भी आँखें ठीक करके उन्होंने दिखा दिया कि संसार में कोई किसी का दुश्मन नहीं सब अपने ही हैं जो इस विश्वास के आधार पर काम करते हैं वही सच्चे ईश्वर भक्त और सच्चे इन्सान होते हैं।

शांति और सच्चाई के साधक— डॉ. लाइनस-पाउलिंग

मास्को में जिस दिन रूस, अमेरिका और ब्रिटेन ने एंटीमि विस्फोटें समाप्त करने की संधि पर हस्ताक्षर किये उस दिन सारे संसार ने एक नये संतोष और शांति की सांस ली। भले ही यहाँ भी कुछ राजनीति बरती गई हो पर इन देशों की सबने प्रशंसा की।

५.३४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

किन्तु यदि गहराई में घँस कर देखे तो पता चलेगा कि यह सम्पन्नता एक महान् व्यक्ति के कठिन परिश्रम और प्रयत्नों से ही सम्भव हुआ। सत्य को पूर्वाग्रह से विमुक्त रखने वाले इस शांति के पुजारी को डॉ. लाइनस पाउलिंग के नाम से जाना जाता है। उन्हें दो बार शांति के लिये नोबेल पुरस्कार दिया गया पर जिस तरह सामान्य व्यक्ति पुरस्कार को अपने लाभ की वस्तु बनाते हैं डॉ. पाउलिंग ने वैसा नहीं किया। उन्होंने दोनों पुरस्कार विश्वशांति के प्रयत्नों में समर्पित कर दिये।

एक सम्पन्न अमरीकी परिवार में जन्मे डॉ. पाउलिंग की प्रयोगशाला प्रशांत सागर के तट पर लास एंजिल्स शहर के समीपवर्ती पासादेना नामक स्थान में है। उनके अन्वेषण विज्ञान जगत के अलौकिक उपहार हैं। अणुविद्या पर उन्होंने अनेक नई जानकारीयाँ दी हैं। यह वह देश है जहाँ वैज्ञानिक स्पर्धा में अग्रणी रहने के लिये करोड़ों पाउण्ड केवल परीक्षाओं में फूँक दिये जाते हैं। वैज्ञानिक बादशाहत की जिन्दगी बिताते हैं पर डॉ. पाउलिंग जहाँ रहते हैं वहाँ जाकर कोई यही कहेगा “कोई शिक्षित और स्वच्छताप्रिय किसान यहाँ रहता होगा।” कोई बड़ा बँगला नहीं साधारण-सा स्वच्छ मकान जिसमें न टेलीफोन न आधुनिक उपकरण। किसी ने पूछा— “आप इतने महान् वैज्ञानिक हो कर भी इतनी सामान्य जिन्दगी क्यों बिताते हैं?” तो उन्होंने गम्भीर होकर कहा— “विज्ञान हमें मनुष्यता की सेवा करना सिखाता है और सेवक को किस तरह होना चाहिये वह आप समझ सकते हैं। बस इसीलिये इस सामान्य-सी जिन्दगी से मुझे प्रयोजन रह गया है।”

विचारों से बालकों की तरह सरल इसी व्यक्ति ने सर्वप्रथम पण्डित जवाहरलाल नेहरू की एटमी धमाकों को समाप्त करने की अपील का समर्थन किया। डॉ. पाउलिंग ने बताया— “एटमी शक्ति को मानवीय कल्याण, रसायन, चिकित्सा, उद्योग और उत्पादन में लगा कर उसका सदुपयोग किया जाना चाहिये। एटमी धमाकों से जो जहरीली गैस पैदा होती है, इससे सारे संसार के बच्चे निर्बल होंगे। रोग और नई बीमारियाँ फैलेंगी, अकाल और अनावृष्टि से वीभत्स दृश्य उपस्थित होंगे।” इस गम्भीरता को लोग पढ़ कर भी अनुभव नहीं करते। पर विज्ञान के पंडित पाउलिंग ने देखा कि यह तो मानव-संस्कृति के साथ महान् धात होगा इसलिये वे एटमी धमाकों के विरोध में एकत्र की प्रयत्नों में जुट गये।

जब किसी ने साथ न दिया तो उन्होंने अकेले ही एक दिन वाशिंगटन में ह्वाइट हाउस के सामने राष्ट्रपति के घर पर धरना दिया। यद्यपि वह अकेले थे पर एक विद्वान् व्यक्ति की शक्ति लाख अनपढ़ों से अधिक होती है। उनके अकेले के धरने से ही बुद्धिमान लोग चौक पड़े और उन्होंने अनुभव किया कि आज का शिक्षित समुदाय यदि मानवता की सुरक्षा के लिये कटिबद्ध नहीं होता तो विश्व का सर्वनाश ही हो सकता है। स्वयं राष्ट्रपति ने भी उस बात को डॉ. पाउलिंग के समक्ष ही माना और उस एकत्र की पत्रिणी को आवश्यक उपाय करने का आश्वासन दिया।

डॉ. पाउलिंग जानते थे कि जब तक संसार के जनमत समस्या के समाधान के लिये एकजुट खड़े नहीं होते तब तक सफलता सम्भव नहीं। विज्ञान की प्रगति के कारण संसार एक कुटुम्ब की तरह समीप आ गया है। इसलिये जब तक सभी देशों के प्रबुद्ध व्यक्ति इस आवश्यकता को अनुभव नहीं करते तथा मानव-संस्कृति को विनाश से बचाने के लिये कुछ प्रयत्न नहीं करते तब तक कोई अच्छा हल निकल नहीं सकेगा। इस विश्वास से प्रेरित होकर इन्होंने सारे संसार का दौरा किया। उनकी धर्मपत्नी ने महिलाओं को तथा आपने स्वयं पुरुषों का मोर्चा बनाने का अभियान जारी किया। विश्व के ११ हजार प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों, साहित्यिकों, शिक्षा-शास्त्रियों के हस्ताक्षर लिये और एक संयुक्त अपील की कि संसार को इन एटमी धमाकों के प्रति सजग हो जाना चाहिये। विद्वान् व्यक्तियों के प्रयत्न जब गलत दिशाएँ होने पर भी समर्थन पा जाते हैं तो शान्ति और सच्चाई की दिशा में समर्थन क्यों न मिलता? पढ़े-लिखे लोग बराबर उनके पक्ष में होते गये और अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस को उस तरह के समझौते के लिए राजी होना ही पड़ा। यद्यपि अभी संसार अणु-युद्ध के खतरों से पूरी तरह मुक्त नहीं है, पर यह प्रयत्न किसी बड़े अनिष्ट और विभीषिका को निरन्तर टालते जा रहे हैं। यदि संसार के और भी शिक्षित और प्रभावशील व्यक्ति इस तरह राजनीति, समाज, अर्थनीति, उद्योग, शिक्षा आदि में मानव कल्याण की दृष्टि से परिवर्तन लाने के लिये कटिबद्ध हो जायें तो सारे संसार का नक्शा ही बदल सकता है। युद्ध की विभीषिका, राजनीति-बाजी, छल, धोखा, अहंकार, दम्भ और प्रपंचपूर्ण दुनिया को शान्ति, सहयोग, सहअस्तित्व, नेकरी, ईमानदारी आदि व्यक्ति सदाचार में बदल कर मानव जाति का भारी हित सम्पादित किया जा सकता है।

शर्त यह कि लगन, दृढ़ता और सेवानिष्ठा वैसी ही हो जैसी डॉ. पाउलिंग की। यह वह व्यक्ति है जो सच्चाई के लिये आत्मोलोचन को भी त्याग नहीं सकते।

अणु-आयुधों के प्रसार को रोकने के लिये डॉ. पाउलिंग ने अपने प्रयत्नों में उन सभी शक्तियों को जुटाया जिन पर वे विश्वास कर सकते और जिन पर अपना अधिकार व्यक्त कर सकते। अपनी धर्मपत्नी को उन्होंने हास-विलास का जीवन जीने की सुविधायें नहीं दीं वरन् उन्हें अणुअस्त्रों की विनाश क्षमता और धमाकों से होने वाली हानि को समझाया और जब बात उनके मन में बैठ गई तो उन्हें भी इस महान् कार्य में जुट जाने की प्रेरणा दी। श्रीमती पाउलिंग ने भी डॉ. पाउलिंग की तरह अनेक देशों का भ्रमण कर प्रभावशील और राजनीति में हस्तक्षेप रखने वाली महिलाओं पर इस दिशा में आवश्यक कदम उठाने का प्रभाव डाला। अनेक महिलाओं ने उनके इस आह्वान पर राजनीतिक भविष्य की चिन्ता किये बिना अपने आपको उस दिशा में लगा दिया।

डॉ. पाउलिंग और उनकी धर्मपत्नी के जीवन की यह प्रेरणा है कि विश्व शान्ति के लिए हर प्रबुद्ध व्यक्ति को पूर्ण निष्पक्षता, सच्चाई और ईमानदारी से सामने आना चाहिये। यदि उन प्रयत्नों को अब

छोड़ा गया तो आज का विज्ञान और उसकी भटकती दिशाओं से संसार का सर्वनाश ही हो सकता है।

वनस्पति-विज्ञान के जन्मदाता— डॉ. बसु

“बसु महोदय ने वनस्पति विज्ञान के जो अमूल्य तथ्य संसार को दिये हैं, उनमें से एक-एक के लिए भी विजय-स्तम्भ स्थापित करना उचित होगा” ये वे शब्द हैं, जो विश्व-विख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने वनस्पति-विज्ञान के जन्मदाता सर जगदीश चन्द्र बसु के सम्बन्ध में कहे थे।

वैज्ञानिक श्री बसु का जन्म ३० नवम्बर, १८५८ को विक्रमपुर जिला ढाका में हुआ था। पिता श्री भगवान् चन्द्र बसु उस समय फरीदपुर में डिप्टी मजिस्ट्रेट थे। उनमें देश-प्रेम और स्वाधीनता के विचार कूट-कूट कर भरे हुए थे। ऐसे आदर्श पिता ने अपने बेटे को शहर के किसी बड़े स्कूल में अध्ययन के लिये न भेजकर गाँव के ही स्कूल में किसानों और मछुओं के बेटों के साथ पढ़ाया। गाँव की पाठशाला में ही उन्होंने सच्ची मानवता का पाठ पढ़ा तथा प्रकृति से प्रेम करना सीखा। बसु स्वभाव से बहुत जिज्ञासु थे और बचपन से ही साहसपूर्ण कार्यों की ओर उनका बहुत झुकाव था।

गाँव की पाठशाला की पढ़ाई समाप्त कर सेंट जेवियर कॉलेज कलकत्ता से इन्होंने बी. ए. की परीक्षा पास की। उनकी इच्छा इंग्लैण्ड जाकर आई. सी. एस. परीक्षा पास करने की थी परन्तु उनके पिता उन्हें अफसर न बना करके ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ाकर देश सेवा के योग्य बनाना चाहते थे। परिणामस्वरूप श्री जगदीश चन्द्र बसु ने इंग्लैण्ड जाकर लन्दन विश्वविद्यालय से बी. एस.सी. की परीक्षा उत्तीर्ण की और स्वदेश वापस आ गये।

स्वदेश लौटने पर उन्हें कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में भौतिकशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। इस समय उनकी आयु २५ वर्ष की थी। उन दिनों अंग्रेज और भारतीय प्राध्यापकों के वेतन में बड़ा भेदभाव बरता जाता था। एक अंग्रेज को जितना वेतन मिलता था। एक भारतीय को उसका केवल एक-तिहाई दिया जाता था। स्वाभिमानी और राष्ट्र प्रेमी बसु को यह नीति बहुत अखरी। उन्होंने इसके विरुद्ध शान्त आन्दोलन छेड़ दिया। अपना पढ़ाने का कार्य वे नियमित रूप से करते रहे, किन्तु तीन वर्ष तक वेतन नहीं लिया। अनेक आर्थिक कठिनाइयाँ आईं पर वे विचलित नहीं हुए। अन्त में उनकी विजय हुई नियुक्ति के दिन से अंग्रेज अध्यापकों के बराबर तीन वर्ष का पूरा वेतन दिया गया। अपने सीमित साधनों द्वारा ही अनवरत परिश्रम से उन्होंने विज्ञान जगत को बहुत कुछ दिया।

मारकोनी से पूर्व ही जगदीश चन्द्र बसु ने कलकत्ता के कलेक्टर की उपस्थिति में बिना तार के सन्देश भेजने का सफल प्रयोग करके दिखाया था। गुलाम देश के निवासी होने के कारण हमारा यह दुर्भाग्य था कि यह सेहरा मारकोनी के सिर पर बँधा। एक बार जब बसु विद्युत

तरंग सम्बन्धी अनुसंधान कर रहे थे जब उन्होंने देखा कि कुछ धातुओं में बार-बार विद्युत तरंगों के प्रभाव से थकावट भी पैदा होती है। थोड़ा विश्राम कर लेने के पश्चात् यन्त्र फिर अपना कार्य पहले की तरह प्रारम्भ कर देते हैं। इसी पर विचार करते-करते उन्होंने खोज की कि भौतिक कारणों की जैसी प्रतिक्रिया जीवों में होती है, उसी प्रकार की मिलती-जुलती प्रतिक्रिया धातु इत्यादि जड़ वस्तुओं में भी होती है।

डॉ. बसु ने इस बात को सिद्ध करके दिखाया कि प्राणी-जगत के समान ही वनस्पति जगत भी भौतिक कारणों से प्रभावित होता है। सोते-जागते, खाते-पीते और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। इसके लिए उन्होंने कई यंत्रों का निर्माण किया। उन्होंने पौधों में होने वाले सूक्ष्म आन्तरिक परिवर्तनों को पता लगाने के लिये ‘रिजोनेन्ट रिकार्डर’ नामक यंत्र का निर्माण किया। इस उपकरण की सहायता से डॉ. बसु ने यह पता लगाया कि पौधों को भी झटका लगता है, थकावट होती है तथा नींद आती है। उन पर विषैले पदार्थों का प्रभाव पड़ता है। डॉ. बसु ने पौधों में होने वाली वृद्धि को नापने के लिये ‘फ्रेस्कोग्राफ’ नामक यंत्र का आविष्कार किया। पौधों में क्लोरोफिल के द्वारा अपना भोजन आप तैयार करने की प्रतिक्रिया की खोज के लिये उन्होंने ‘फोटोसिंथेटिक रिकार्डर’ नामक महत्त्वपूर्ण उपकरण का भी निर्माण किया।

उनकी प्रतिभा का अंग्रेजों ने बड़ा सम्मान किया, उन्हें लन्दन की रॉयल सोसायटी के सदस्य पद से सम्मानित किया पर वास्तविक सम्मान तो उन्हें हम भारतीयों से वैज्ञानिक प्रगति में अग्रसर होकर मिलना चाहिये।

भारत के वैज्ञानिक गौरव— डॉ. भाभा

विश्व प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा ने अपने परिश्रम, पुरुषार्थ तथा अध्यवसाय के बल पर संसार को यह चेतावनी देकर सावधान कर दिया कि भारतीय मस्तिष्क भी अणुबम बनाने में समर्थ हैं, इसलिये कोई देश अपनी अणु शक्ति के आधार पर भारत को धमकाने, दबाने अथवा भयभीत करने की कोशिश न करे।

जिनेवा में ‘एटम फॉर पीस’ (अणु शक्ति शान्ति के लिये) नामक द्वितीय गोष्ठी के अवसर पर महान् वैज्ञानिक प्रसिद्ध पैरा ने बड़े गर्व से कहा— “संसार के अल्प-विकसित तथा गरीब देश परमाणु शक्ति के आधुनिक विकास के लाभों का तब तक उपयोग करने से वंचित रहेंगे जब तक वे औद्योगिक विकास की दिशा में पूरी तरह सम्पन्न नहीं हो जाते।”

निश्चय ही यह एक सम्पन्न देश के वैज्ञानिक की एक गर्वोक्ति तथा भारत जैसे निर्धन देशों पर एक तीखा व्यंग्य था जिसके पीछे कथनकार का यह संकेत छिपा था कि असम्पन्न देश आणविक प्रगति नहीं कर सकते, यह बहुत ही व्ययसाध्य काम है, इसलिये उन्हें अणु-विकसित देशों की वरिष्ठता तथा श्रेष्ठता मानते ही रहना चाहिये।

डॉक्टर भाभा ने, जो उस गोष्ठी के सम्मानित अतिथि थे और भारत के प्रतिनिधि, उक्त वैज्ञानिक का व्यंग तथा संकेत समझ लिया और उसका वैज्ञानिक आधार पर खण्डन करते हुये कहा कि आप शीघ्र देखेंगे कि अल्पविकसित देश भी अणु प्रगति कर सकते हैं और अणुबम बना सकते हैं।

डॉ. भाभा भारत आकर अपने कथन को चरितार्थ करने में लग गये। उन्होंने दिन-रात अनुसंधान कार्य करने का कार्यक्रम बनाया और काम करने में जुट गये और अनेक वर्षों अविराम परिश्रम से अणु-शक्ति का रहस्य खोज निकाला। इस महान् सफलता के बाद उन्होंने आणविक शक्ति के विकास के लिये द्वाभे में आधुनिकतम आणविक संस्थान की स्थापना कराई और 'अप्सरा' आणविक भट्टी का प्रारम्भ किया। डॉ. भाभा की इस सफलता तथा निर्माण ने आणविक शक्ति सम्पन्न देशों के बीच भारत का स्थान बनाकर उद्धत राजनेताओं को गर्वोक्ति करने से विरत कर दिया। उन्होंने अपने महान् अध्यवसाय के बल पर सिद्ध कर दिखाया कि संसार के अल्पविकसित देश भी लगन तथा परिश्रम के द्वारा परमाणु शक्ति के विकास का लाभ उठा सकते हैं।

किन्तु भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा एक शान्तिप्रिय वैज्ञानिक थे। उन उद्धत वैज्ञानिकों में नहीं थे जो अणु शक्ति को युद्ध का साधन बनाकर अपने देश को दूसरे निर्बल देशों पर दबाव डालने की क्षमता प्रदान करने में ही अपना वैज्ञानिक गौरव समझते हैं। सक्षम एवं समर्थ होने पर भी उन्होंने ध्वंसकारी अणुबम बनाने की कभी नहीं सोची। वैज्ञानिक उपलब्धियों के विषय में उनका दृष्टिकोण सदैव शान्ति निर्माण तथा विश्व-कल्याण की दिशा में ही रहता था। वैज्ञानिक उपलब्धियों के उपयोग के विषय में उनसे जब-जब पूछा गया तब तब उन्होंने यही उत्तर दिया— "मेरा सारा प्रयास और सारी प्रगति इसलिये है कि ऐसे साधन संचय किये जा सकें जिनके आधार पर भारत के करोड़ों भूखे, नंगे लोगों के लिये रोटी-रोजी की व्यवस्था की जा सके। हमारे देश की सारी वैज्ञानिक प्रगति का लक्ष्य राष्ट्र का सर्वांगीण विकास और अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में यथासम्भव मात्र कल्याण का सम्पादन करना है। भारत कोई राजनैतिक उद्देश्य लेकर विज्ञान के क्षेत्र में नहीं बढ़ रहा है।"

अमित्र देश चीन की आणविक प्रगति तथा बम विस्फोटों के समाचारों पर जब विदेश के जिज्ञासुओं ने यह प्रश्न किया— 'सम्भवतः अब तो भारत भी अणुबम बनायेगा'— तब डॉ. भाभा ने उत्तर दिया वह उनके अनुरूप ही है और निस्सन्देह संसार के वैज्ञानिकों के लिये माननीय एवं अनुकरणीय है। डॉ. भाभा ने कहा—

"विज्ञान संसार के विनाश के लिये नहीं बल्कि दुःखी एवं संतप्त मानवता के कल्याण और उसकी सेवा करने के लिये है। परमाणु शक्ति का सही उपयोग विनाशकारी बम बनाने में नहीं उसका सही उपयोग अणु शक्ति संचालित बिजलीघर बनाने में है, जिससे लोगों को कम से कम मूल्य पर बिजली मिल सके, उनकी सुख-सुविधा के साधन बढ़ें, उद्योगों तथा कारखानों में उस शक्ति का उपयोग कर

सस्ता और अच्छा माल बनाया जा सके। नये उद्योग-धन्धे खड़े किये जा सकें जिससे गरीब लोगों को पर्याप्त राटी-रोजी मिल सके। अणु शक्ति का सही उपयोग तब है जब उससे कृषि के उत्तम-उत्तम साधन खोजे जा सकें, जिससे देश का धनधान्य बढ़े, उसकी गरीबी और भुखमरी दूर हो सके। रेतीले तथा अनुपजाऊ क्षेत्रों को उर्वर बनाने में उपयोग की गई अणु शक्ति सदुपयुक्त मानी जायेगी। अणु शक्ति का उचित उपयोग तभी है जब उसके द्वारा विभिन्न प्रकार की बीमारियों का उपचार किया जा सके और मानव-विकास को हर दिशा में गतिमान बनाया जा सके। मेरा तो विचार यह है कि एक अणु-शक्ति ही नहीं ज्ञान-विज्ञान की कोई भी शक्ति विनाश में न लगाकर निर्माण में ही लगाई जानी चाहिये। न केवल विद्याबल ही बल्कि धन-बल तथा जन-बल का उपयोग भी मानव-कल्याण की दिशा में ही किया जाना चाहिये।"

भारत के इस साधु वैज्ञानिक डॉ. भाभा का पूरा नाम डॉ. होमी जहाँगीर भाभा था। इनका जन्म ३० अक्टूबर, १९०९ में बम्बई में हुआ। एक सम्पन्न घर के पुत्र-रत्न होते हुये भी उन्होंने सुख-सुविधा की सामान्य आकांक्षा से ऊपर उठकर अपना सारा जीवन एक तपस्वी की भाँति विद्याध्ययन तथा देश की सेवा में लगा दिया। अपने प्रारम्भिक जीवन में ही इस देशभक्त को भारत की वैज्ञानिक मंदता खटकने लगी थी और विद्यार्थी जीवन में अनेकों के बहुत-बहुत कठिन बताए जाने पर भी विज्ञान का विषय ग्रहण किया और सदैव ही अपना यह विश्वास व्यक्त किया कि परिश्रमशीलता के आगे संसार का कोई भी विषय कठिन नहीं और पुरुषार्थ तथा लगन के सम्मुख कोई भी उपलब्धि असम्भव नहीं, मुझे विज्ञान का अध्ययन कर एक वैज्ञानिक बनना ही है फिर चाहे इसके लिये मुझे अपना सारा जीवन, सारी सुख-सुविधा और सारा हास-विलास ही क्यों न बलिदान करना पड़े। मुझे हर मूल्य और हर प्रयत्न पर भारत से वैज्ञानिकता की कमी दूर करनी ही है।

आगे चलकर इस लगनशील तथा उत्साही बालक ने अपने विश्वास को चरितार्थ भी कर दिखाया।

डॉक्टर भाभा ने बम्बई के कैपेकल जान कैन्नर विद्यालय से हाई-स्कूल पास करके एल्फिन्स्टन कॉलेज और रायल इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स से विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त की। अनन्तर लन्दन के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से विज्ञान में पी-एच. डी. प्राप्त कर अनुसन्धान कार्य में लग गये। सबसे पहले उन्होंने ब्रह्माण्ड विवरण के क्षेत्र में ऐसी खोजें दुनिया के सामने रखीं कि वे जल्दी ही संसार के ऊँचे वैज्ञानिकों में गिने जाने लगे। जिसका मूल्यांकन विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों ने इन्हें 'डॉ. ऑफ साइन्स' की उपाधि देकर किया। संसार की महान् वैज्ञानिक संस्थाओं से राइज वेल ट्रेवलिंग की कैम्ब्रिज आइजक न्यूटन की स्टूडेंटशिप तथा सीनियर स्टूडेंटशिप पाने वाला युवक वैज्ञानिक डॉ. भाभा यदि चाहता तो संसार के किसी भी विश्वविद्यालय में हजारों रुपये की प्रोफेसरी लेकर सम्मान एवं आराम की जिंदगी बिता सकता था। किन्तु जिन मनुष्यों के हृदय

में मानवता के दुःख का दर्द होता है, समाज की पीड़ा और राष्ट्र के गौरव-वृद्धि की कामना होती है वे जनोपयोगी कामों के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन का मूल्य कम कर दिया करते हैं।

अनेक आणविक भट्टियों की स्थापना के अतिरिक्त डॉ. भाभा ने औद्योगिक प्रगति के लिये 'टाटा वैज्ञानिक अनुसंधान संस्थान' की स्थापना की और वहाँ उसका संचालन भी किया। बम्बई का 'टाटा भन्डा मेटल रिसर्च इंस्टीट्यूट' तथा ट्राम्बे के अन्य अनेक आणविक संस्थान डॉ. भाभा के ही प्रयत्नों के फल हैं। इन स्थापनाओं के अतिरिक्त डॉ. भाभा ने जो सबसे उपयोगी, महान् तथा दूरगामी काम किया वह यह कि उन्होंने अपने प्रयत्नों, परामर्शों तथा निर्देशों से भारत में न जाने कितनी वैज्ञानिक प्रतिभाएँ उत्पन्न कर दी हैं। डॉ. भाभा अपने इस विचार के लिये सदा श्रद्धा के पात्र बने रहेंगे कि 'हर ज्ञानी-विज्ञानी, कलाकार तथा शिल्पी को अपनी विद्या नई पीढ़ी को दे जाना चाहिए, जिससे संसार में उसका अस्तित्व बना रहे, उसका परम्परा तथा विकास का क्रम बना रहे। किसी भी विशेषता प्राप्त व्यक्ति को अपनी विशेषताओं को अपने तक ही सीमित रखने की संकीर्णता नहीं रखनी चाहिये। इस प्रकार कोई भी विद्या विद्वान् के साथ ही संसार से चली जाती है जिससे मानवता की बड़ी क्षति होती है।

अपने इन्हीं उदार विचारों से प्रेरित होकर डॉ. भाभा ने बम्बई में अखिल भारतीय वैज्ञानिक परीक्षाओं की परम्परा चलाई। इन परीक्षाओं द्वारा वे देश की विकासशील वैज्ञानिक प्रतिभाओं को खोज निकालते थे और उन तथ्यों को अपने निर्देशन में रखकर विज्ञान तथा अनुसन्धानों की शिक्षा दिया करते थे। इस प्रकार वे देश में वैज्ञानिकों की एक ऐसी नई पीढ़ी पैदा कर गये कि जो आज उनके न रहने पर भी अणु क्षेत्र में उनके उद्देश्यों तथा अनुसन्धानों को आगे बढ़ा रही है और आगे बढ़ाती रहेगी।

इस भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा में दो ऐसी विशेषताएँ रही हैं जो संसार के किसी वैज्ञानिक में कदाचित् ही पाई जायें। एक तो डॉ. भाभा बहुत ही गहरे कला प्रेमी थे। उन्होंने आधुनिक कलाकृतियों से अपनी वैज्ञानिक शालाओं तक को सजा रखा था। संगीत तो उन्हें इतना प्रिय था कि जब वे अपने अनुसन्धान कार्यों में थकते तो संगीत द्वारा ही अपनी क्लान्ति दूर करते थे। कर्नाटकीय संगीत तो उन्हें इतना पसन्द था कि व्यस्तता के बावजूद भी वे उसका कोई भी कार्यक्रम बिना देखे-सुने नहीं रहते थे।

डॉ. भाभा का एक धर्म प्राण व्यक्ति होना उनकी दूसरी विशेषता थी। अपने वैज्ञानिक अध्ययन के उपरान्त उन्हें जो भी समय मिलता था उसमें वे शास्त्रों तथा धर्म पुस्तकों का ही अध्ययन किया करते थे। उनके पुस्तकालय में जहाँ एक ओर विद्याज्ञान की पुस्तकें लगी रहती थीं वहाँ दूसरी ओर की अलमारी धार्मिक पुस्तकों से भरी रहती थी। डॉ. भाभा उन वैज्ञानिकों में से थे जिसका विश्वास भौतिक तथा आध्यात्मिक, दोनों विज्ञानों पर समान रूप से था और जो दोनों से लाभ उठाने की कला से पूरी तरह परिचित थे।

इन धर्मप्राण वैज्ञानिक डॉ. भाभा को जब स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने अपने शासन काल में मन्त्री पद देने का

प्रस्ताव किया तो उसको विनम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुये डॉ. भाभा ने जो शब्द कहे थे वे उनकी त्याग तथा कर्तव्य-निष्ठा के जीते-जागते प्रमाण हैं। उन्होंने कहा— “मेरा कार्य-क्षेत्र केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल नहीं बल्कि वह अनुसन्धानशाला है जहाँ पर अणुशक्ति का मानव कल्पना के क्षेत्र में उपयोग करने के लिये विविध प्रकार के प्रयोग तथा अनुसन्धान मेरी अविरल सेवा की माँग करते रहते हैं।”

खेद है कि भारत का ऐसा विश्व-हितैषी वैज्ञानिक और महामानव केवल पचपन वर्ष की अवस्था में ही कुछ समय पूर्व एक विमान दुर्घटना से स्वर्ग चला गया किन्तु भारत को वैज्ञानिकों की एक नई पीढ़ी देकर उसने जो राष्ट्र की सेवा की है वह उसे इतिहास के पृष्ठों में सदा अमर रखेगी।

नास्तिक नित्से

नित्से जर्मनी के उस दार्शनिक का नाम है जिसने धार्मिकता और आस्तिकता अपनाने की अपेक्षा मनुष्य को श्रेष्ठ मनुष्य, महामानव, अतिमानव बनने की प्रेरणा दी। वह प्रत्येक आदर्श और विचार को विवेक एवं उपयोगिता की कसौटी पर कसने का पक्षपाती था। इसलिए उसने समाज में प्रचलित मान्यताओं में से प्रत्येक पर कसौटी लगाई और उसकी दृष्टि में जो कुछ भी खरा नहीं उतरा उसी को उसने अमान्य ठहराया। उसकी कसौटी पर आस्तिकता और धार्मिकता का प्रचलित स्वरूप भी खरा नहीं उतरा इसलिए उसने केवल प्राचीनता के आधार पर या किन्हीं ग्रन्थों एवं संतों के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण उन्हें मान्य नहीं ठहराया। उसने विवेक को अपनाने पर बहुत जोर दिया। सत्य की कसौटी पर हर आदर्श की कड़ी परीक्षा लेने के लिए उसने जन-साधारण को आमन्त्रित किया।

प्रिंस बिस्मार्क जर्मनी को शक्तिशाली बनाने में संलग्न थे। वे राजकीय, सैनिक और औद्योगिक शक्ति से अपने राष्ट्र को अधिकाधिक सम्पन्न बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, उनके कार्यक्रम को सफल बनाने में नित्से के दर्शन का महत्वपूर्ण हाथ था।

नित्से आरम्भ में एक धार्मिक ईसाई थे। बड़े प्रेम से बाइबिल पढ़ते थे। पढ़ते-पढ़ते कई बार भावावेश में उनकी आँखों से आँसू बहने लगते थे, पर जैसे-जैसे बड़े होते गये, हर बात को उन्होंने कसौटी पर कसना शुरू किया। फलस्वरूप उन्हें ईसाई मान्यताओं से विरति हो गई। धार्मिक ईश्वर के स्थान पर उन्होंने 'अति मानव' की देवता के रूप में कल्पना की और इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य को आध्यात्मिक ही नहीं भौतिक दृष्टि से भी अधिकाधिक विकसित होना चाहिए।

अपने निजी जीवन के कटु अनुभवों के आधार पर वे सुरा, सुन्दरी के घोर विरोधी थे। उन्होंने इनके फेर में पड़कर बहुत कुछ खोया था और भारी ठोकरें खाई थीं इसलिए वे उनके जाल से विचारशील लोगों को बचते रहने की ही सलाह देते थे।

नित्से ने कितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें 'दस स्पीक जराफ्रस्ट' की बहुत प्रशंसा है। स्वयं लेखक ने इसे अपनी सर्वोत्कृष्ट

और महान् कृति माना है। फिर भी उसके जीवनकाल में उसकी बहुत कम प्रतियाँ बिकीं।

इस महान् दार्शनिक के विचारों से हिटलर प्रभावित हुआ और उसने नाजीवाद अपनाया। उसी की प्रेरणा से जर्मन जाति शक्ति और शौर्य की उपासक बनी और वह नशा इतना गहरा चढ़ा कि दो-दो महायुद्धों में हारने और भारी क्षति उठाने पर भी खुमारी अभी तक गई नहीं है। जर्मन युवक अभी भी विश्व-विजय के सपने देखते हैं।

नित्से ने लिखा है— “पीछे की ओर नहीं, आगे की ओर देखो। पूर्वजों की कन्न में तुम्हें नहीं रहना है वरन् अपनी सन्तति के साथ ही दिन काटने हैं, इसलिए भविष्य ही तुम्हारी आशाओं का केन्द्र होना चाहिए। उसी के निर्माण में तुम्हारी इच्छा शक्ति केन्द्रित होनी चाहिए। तुम सबको स्वतन्त्र रूप से हर समस्या पर विचार करना चाहिए जैसा कि मैंने किया है। केवल अच्छे बनने से काम न चलेगा। साथ ही दुरस्त बनने की भी कोशिश करो।”

नित्से ने दो प्रकार की नैतिकता का प्रतिपादन किया है। एक वीरोचित दूसरी दासोचित। वीरोचित नैतिकता में वे पुरुषत्व, साहस, कर्मठता और वीरता का प्रतिपादन करते हैं और इसके लिए कठोरता, हिंसा, भयंकरता, युद्ध और कूटनीति को आवश्यक मानते हैं। दासोचित नैतिकता में वे विनम्रता, अनासक्ति, दीनता, दयालुता और शान्ति को गिनते हैं। उन्होंने ईसाई धर्म से बौद्ध युग जैसा खतरा देखा और जनता को केवल सज्जनता और शान्ति की ही रट न लगाते रहने की चेतावनी देते हुए कहा— “यह संसार शक्ति और श्रेष्ठता के सिद्धान्तों पर चल रहा है। योग्यतम का, दूसरों को परास्त करके जीवित रहना, एक कठोर तथ्य है जिसे समझ लेना ही बुद्धिमानि है। जीवन संग्राम में पिछड़कर अपने आपको नष्ट होने से बचाने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति, प्रभुत्व की लालसा और प्रबल मनोवेगों की आवश्यकता है इसके बिना कोई व्यक्ति या समाज महान् नहीं बन सकता। साहसी बनना, शक्तिशाली बनना ही सत् है। दुर्बलता ही असत् है।”

उन्होंने गणतन्त्र के सिद्धान्तों का भी विरोध करते हुए कहा— “सब मनुष्य समान नहीं हो सकते। गणतन्त्र का अर्थ है— “घटिया लोगों का वर्चस्व और श्रेष्ठ व्यक्तियों का तिरस्कार” ऐसी स्थिति में महापुरुष न तो उत्पन्न हो सकते हैं और न उन्हें वर्चस्व प्राप्त हो सकता है। चुनावों में होने वाली धाँधली और अशिष्टता को पार कर आगे बढ़ सकना श्रेष्ठ पुरुषों के लिए किस प्रकार संभव हो सकता है?”

आज जनतन्त्र के युग में नित्से के विचार विलक्षण लगते हैं। उनकी व्याख्याएँ विचित्र मालूम पड़ती हैं और शान्ति तथा समानता के सर्वप्रिय सिद्धान्तों से परिचित लोगों के लिए उनकी बातें अग्राह्य जँचती हैं, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उनके विचारों के पीछे एक बल है और एक समय ऐसा आया था जब लगता था कि नित्से द्वारा पोषित अधिनायकवाद के सिद्धान्तों के आगे ही कहीं दुनिया को मस्तक न झुकना पड़े।

नित्से जब मरने को थे तो उन्होंने अपनी बहिन से कहा— “मेरे शव के साथ स्वजनों के अतिरिक्त और कोई कोलाहल करने वाली भीड़ न हो। मेरी समाधि के पास किसी पादरी को न आने देना। मैंने अपनी रक्षा उनसे की है, तुम मेरी समाधि को भी उनकी परछाई से बचाना और एक ईमानदार नास्तिक की तरह मुझे दफना देना।”

सन् १८४४ में वे जन्मे और १८८९ में पैंतालीस वर्ष के होकर मर गये। अन्तिम दिन उनके निराशापूर्ण थे। उन्हें व्यक्तिगत जीवन में सब ओर असफलता ही मिली थी। इटली छोड़कर वे आल्प्स पर्वत पर एककी जीवन व्यतीत करने लगे थे। स्वास्थ्य भी उनका साथ नहीं देता था। उन्होंने लिखा है— “आज मेरी आकांक्षाओं के अनुरूप समय नहीं है पर एक दिन वह आयेगा अवश्य।” कौन जाने वह समय कब आये? फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उनके विचारों में बड़ी जीवटता थी और उन्होंने बहुत बड़े जन-समुदाय को प्रभावित भी किया।

नित्से के विचारों से कोई सहमत हो या असहमत पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वे अपने विचारों के प्रति ईमानदार रहे। जैसा उन्होंने सत्य समझा वैसा निर्भीकतापूर्वक कहा। भय या प्रलोभन के कारण वे अपनी मान्यताओं को दबाने या छिपाने की अपेक्षा आजीवन कष्ट भुगतते रहना, विरोध, व्यंग और उपहास सहना तथा लोगों द्वारा तिरस्कृत तथा लांछित होना पसन्द करते रहे। मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा के प्रति आस्थावान और निर्भीक होना चाहिए, इतनी शिक्षा तो उनसे हर कोई प्राप्त कर ही सकता है।

श्रमिक जीवन को अतिशय प्यार करने वाला विद्वान् ऐरिक हौफर

ओजस्वी वक्ता, तेजस्वी लेखक और मौलिक विचारक श्री ऐरिक हौफर ने समाजवादी विचारधारा पर अनेक प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं। उनकी प्रसिद्ध एवं प्रकाशित पुस्तकों में ‘दि टू बिलीवर’, ‘दि पैशनेट स्टेट ऑफ माइन्ड’ और ‘दि और्डियल ऑफ चेन्ज’ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

उनके आलोचकों का कथन है कि ऐरिक हौफर मुहावरेदार भाषा के प्रयोक्ता, नैतिकतावादी और मानव समाज की स्थिति के दृष्टा हैं। उनके सिद्धान्त व्यावहारिक और परिभाषायें सुबोध हैं। श्री ऐरिक की रचनाओं ने अमेरिका के श्रमिक वर्ग तथा समाज को एक परिवर्तनकारी विचारधारा देकर मालिक और मजदूरों को परस्पर समन्वय स्थापित करने के उपायों पर सोचने को विवश किया, जिसका फल अमेरिका में मालिक-मजदूरों के बीच एक समझदारी आयी जो राष्ट्रीय अर्थतंत्र को सुदृढ़ बना सकने में काफी हद तक सहायक सिद्ध हुई है।

श्री ऐरिक एक यथार्थवादी समाज-चिन्तक हैं। मजदूरों और मालिकों की प्रवृत्तियों को उन जैसे समझने वाले चिन्तक बिरले ही हुये हैं। इसका विशेष कारण यह है कि वे स्वयं भी एक मजदूर हैं। सो भी कलम के मजदूर नहीं, ठीक-ठीक शारीरिक श्रमिक और इस

समय भी वे प्रशांत तट पर जहाजी घाट मजदूर की हैसियत से काम करते हैं।

श्री ऐरिक हौफर एक प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक लेखक तथा प्रवक्ता हैं। यदि वे चाहें तो अपनी रचनाओं एवं वक्तृताओं के बल पर शाही जीवन व्यतीत कर सकते हैं। प्रकाशक उनके पीछे उनके लिपिबद्ध विचार लेने के लिये पैसों की धैली लिये लगे रहते हैं। नित्यप्रति कॉलिजों से समाजवाद पर लैक्चर देने के लिये उनके पास निमंत्रण आते रहते हैं सो भी अच्छे खासे पारिश्रमिक के साथ। किन्तु त्याग की मूर्ति और पश्चिम की प्रतिमा हौफर उसका कोई लाभ उठाने को तैयार नहीं होते। वे पुस्तकें लिखते हैं पर पैसे के लिये नहीं, कॉलिजों में वक्तव्य देते हैं पर पारिश्रमिक के लिये नहीं और जो कुछ उन्हें लेने के लिये विवश भी होना पड़ता है उसको वे मजदूरों के हित में ही खर्च कर देते हैं। अमेरिका में श्री ऐरिक हौफर ही एक ऐसे लोकप्रिय लेखक हैं जिनके पास न सूट है और न टाई और न वे कभी किसी होटल या रेस्टोरेन्ट में ऊँची-ऊँची बातें करते पाये जाते हैं। श्री हौफर के मित्रों का कहना है कि यदि वे एक-दो वर्ष के लिये अपनी त्यागवृत्ति का परित्याग कर दें तो उनके पास इतना पैसा हो सकता है कि वे एक आलीशान कोठी में आरामदेह जिन्दगी बिता सकते हैं।

किन्तु हौफर का कहना है—कि मैं नहीं समझ पा रहा हूँ ज्यादा धन पा जाने से मेरी वर्तमान दशा बदल जायेगी और मैं मेहनत-मजदूरी से विरत होकर आराम की जिन्दगी बिताने लूँ या राजा की तरह जिन्दगी अपनाकर अपने साथी मजदूरों के बीच आना-जाना, उठना-बैठना और रहना-सहना छोड़ सकूँ। मुझे तो विश्वास नहीं मैं धनवान बनकर अपनी पश्चिम एवं संतोषपूर्ण निर्धनता को छोड़ सकने में सफल हो जाऊँगा। जिस निर्धनता ने मुझे पश्चिमी बनाया, मेहनत-मजदूरी करने वालों के लिये दिल में दर्द पैदा किया और एक विचारक बनाकर उनकी समस्याओं पर सोचने व लिखने की प्रवृत्ति दी है और जिसकी कृतज्ञता से मेरा रोम-रोम ऋणी है, धन मुझे इस निर्धनता से विमुख कर सकेगा ऐसा सोच सकना मेरे वश की बात नहीं है। मुझे सदैव यह बात आवश्यक प्रतीत होती रहती है कि मैं उतने से अधिक कुछ भी न जुटाऊँ जिसकी गठरी अपनी पीठ पर न ढो सकूँ और एक दिन थककर पश्चिम से ही हाथ धो बैठूँ।

इस समय वे सेनफ्रान्सिस्को की खाड़ी के सामने एक मकान के छोटे-से हिस्से में अपने छोटे-से परिवार के साथ रहते हैं। वह परिवार भी उनके अपने बाल-बच्चे नहीं बल्कि एक तरुण तथा होनहार मजदूर को अपना पुत्र मानकर और उसके आठ वर्षीय पुत्र के दादा बनकर पोते का निर्माण कर रहे हैं। उनका आठ वर्षीय मजदूर पोता हर मंगल को स्कूल की पढ़ाई खत्म करके दादा के साथ समुद्र तट, उद्यान, पुस्तकालय अथवा संग्रहालय में जाता है जहाँ वे दोनों बहुत कुछ सीखते और एक-दूसरे को बहुत कुछ सिखाते हैं। श्री हौफर अपने इस परिवार के साथ काफी सुखी तथा संतुष्ट हैं।

अमेरिका के इस मजदूर विचारक का पूर्व जीवन उसके आज के जीवन से भी कठिन एवं असुविधापूर्ण रहा है। उसके पिता अलमारी बनाने का काम करने वाले एक जर्मन प्रवासी थे। घर की हालत कुछ

अच्छी न थी। अतएव ऐरिक हौफर को स्कूल जाने का अवसर न मिल सका। उसने घर पर ही जैसे-तैसे अंग्रेजी व जर्मन भाषा सीखना प्रारम्भ किया। किन्तु निर्भम नियति को बालक का उद्योग सहन न हुआ और सात वर्ष की आयु में उसकी आँखों की रोशनी छीन ली।

किन्तु बालक हौफर इससे रंचमात्र भी विचलित न हुआ। अब वह पढ़े-लिखे लोगों के पास किताबें लेकर जाने और उनसे पढ़वा कर सुनने लगा। उसकी विद्या विषयक यह लगन देखकर अनेक भद्र पुरुषों ने उसकी आँखों का इलाज करवाने का प्रबन्ध कर दिया जिससे उसे कुछ-कुछ लाभ हुआ। फिर भी पन्द्रह वर्ष की आयु तक वह ठीक से न देख पाता था।

इसी बीच उसके पिता की मृत्यु हो गई और वह गली-गली घूमने वाला एक अनाथ बालक बन गया। अनेक लोगों ने उस पर दया करके कुछ देना चाहा किन्तु उसके स्वाभिमान ने किसी का दिया स्वीकार करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। वह दया दिखलाने वाले से यही कहा करता था कि आप मुझे कुछ देने के बजाय कोई काम दें यही अच्छा होगा। बालक हौफर इसी प्रकार दस साल तक मेहनत-मजदूरी करता और पेट पालता घूमता रहा।

इस अनाथावस्था के समय में न जाने उसे कितनी रातों भूखों सोना पड़ा और न जाने कितनी सर्दियाँ ठिठुर कर काटनी पड़ीं। नियति द्वारा भिक्षु की स्थिति में पहुँचाये गये ऐरिक हौफर ने कभी न तो भीख माँगी, न किसी का दान स्वीकार किया और न हिम्मत हारी। यदि वह कभी किसी से कुछ माँगता था तो केवल पुस्तकें, जिन्हें वह किसी दुकान अथवा सड़क की रोशनी में बैठकर धीरे-धीरे पढ़ता था। अध्ययन की तन्मयता में उसने न जाने कितने दिन-रात बिना खाये-पिये बिता दिये।

इस प्रकार बहुत कुछ कष्ट उठाने और काम खोजने के बाद उसे एक सोने की खान में मजदूरी मिल गई। जहाँ उसने पराकाष्ठा तक मेहनत और ईमानदारी से काम किया। अनेक वर्षों तक सोने की खान में काम करने के बाद वह प्रशांत तट पर जहाजी घाट मजदूरों में काम करने लगे और तब से अब तक वहीं काम करते हैं।

श्री ऐरिक हौफर आज भी अपने साधियों को अपने संकट काल के अनुभव सुनाते और इस पर संतोष प्रकट करते हैं कि नियति ने उन्हें भिखारी बना देने में कोई कसर उठा न रखी, किन्तु उनके स्वाभिमान और पश्चिमशीलता ने उन्हें कभी भी पस्तहिम्मत न होने दिया। उन्होंने भविष्य का आशा प्रदीप एक क्षण के लिये भी कभी बुझने न दिया।

उन्होंने बताया “जिस समय १९२० में मेरे पिता की मृत्यु हुई उस समय मेरी आयु ठीक अठारह वर्ष की थी। पिता की मृत्यु के बाद जब मैं संसार में अकेला रह गया तो इस कोलाहल से भरी दुनिया को देखकर जी काँप उठा। किन्तु तुरन्त ही मैंने अपने को

धिवक्त्रा कि “इस प्रकार हिम्मत हारने का क्या काम ? भगवान् ने हाथ-पैर दिए हैं और संसार में काम की कमी नहीं तब डरने की क्या जरूरत ? सामान लादकर घर से निकला । हर छोटा-बड़ा काम करने के लिए तैयार हो जा । तुझे काम मिलेगा और आश्रय मिलेगा ।”

अपनी आत्मा की प्रेरक आवाज सुनकर मैं घर से टोकरी में अपनी पुस्तकों को भरकर निकल पड़ा और केलीफोर्निया में मेरे सामने काम से अधिक निवास की समस्या थी । निवास की समस्या इसलिये नहीं थी कि मैं कोई अच्छा मकान चाहता था । समस्या यह थी मेरा मकान किसी ऐसी जगह हो जहाँ पर समीप ही एक अच्छा पुस्तकालय भी हो । क्योंकि घर से एक अच्छे शहर में आकर केवल रोटी ही कमाना नहीं चाहता था ज्ञानार्जन भी करना चाहता था । मैं कई दिन तक एक ऐसे कमरे की तलाश में भटकता रहा अन्त में अपने प्रयत्न में सफल भी हो गया । किन्तु अब एक दूसरी समस्या फिर खड़ी हो गई । पास की नगण्य पूँजी खत्म हो चुकी थी और मेरे पास एक वक्त के भोजन के पैसे भी नहीं बचे थे ।

भूख से व्याकुल होकर मैं एक होटल के सामने जाकर खड़ा हो गया । होटल के मालिक ने समझा कि मैं कुछ पाने की आशा में खड़ा हूँ । उसने पूछा “क्या भूखा है ? रोटी खाना चाहता है ?” मैंने बड़ी शिष्टता से उत्तर दिया— “हाँ, श्रीमान् जी भूखा भी हूँ और रोटी भी खाना चाहता हूँ, किन्तु यों ही नहीं कुछ काम करके । मेरे पास पैसे नहीं हैं । आप मुझसे कुछ काम करा लीजिये और उसके बदले में रोटी खिला दीजिये” होटल का मालिक एक भद्र व्यक्ति था । उसने मेरी दीन दशा में छिपे हुये स्वाभिमान को समझ लिया और उसकी रक्षा भी की ।

उस समय उसके पास तश्तरियाँ धोने का काम था । मैंने सहर्ष स्वीकार किया और काम करना स्वीकार कर दिया । मैंने इतना मन लगाकर तश्तरियाँ धोने का काम किया कि होटल का मालिक खुश हो गया और मुझे स्थायी नौकर रख लिया । कुछ समय बाद हम दो नौकरों में से एक को निकालने की आवश्यकता आ पड़ी । मालिक मुझसे खुश था इसलिये उसने मेरे दूसरे साथी को नोटिस दे दिया । वह मुझसे पुराना भी था और निर्दोष भी । मैं उसका अधिकार छीनने को राजी न हुआ और खुद काम छोड़ दिया । मेरा साथी मेरे इस न्यायपूर्ण त्याग से बहुत खुश हुआ और काम खोजने में बड़ी मदद की । अपने उस होटल के साथी की मदद से ही मैं यहाँ आप लोगों के बीच जहाजी घाट पर आज भी काम करता हुआ प्रसन्न एवं संतुष्ट हूँ ।”

इन कठिन परिस्थितियों से गुजर कर अपनी योग्यता, स्वाभिमान एवं जीवन की रक्षा करने वाले श्री ऐरिक हौफर इस समय अमेरिका के लब्ध प्रतिष्ठित लेखकों तथा मजदूर नेताओं में हैं । उनके लिये आज कॉलज से लेकर सरकार तक में स्थान मिलने की सम्भावनायें बनी हुई हैं किन्तु वे अपने मजदूर जीवन में ही प्रसन्न रहकर मजदूरों की समस्याओं पर लिखते, उनका सुधार करते और आवश्यकता पड़ने पर पथ-प्रदर्शन करते हैं ।

उन्हें इस बात पर गर्व है कि वे एक मजदूर हैं । “मेरी दृष्टि में श्रम, सच्चरित्रता और मानवीय योग्यता का प्रतीक है । मेरी इच्छा है कि अन्तिम दिन तक मैं जहाजी घाट का मजदूर बना रहूँ और शायद मेरी यह इच्छा पूरी भी होगी ।”

शांति के सराहनीय सेवक— श्री फ्रैडरिक पासी

संसार में युद्ध के विरुद्ध मैत्रीपूर्ण शांति का प्रयास करने वाले फ्रांस के फ्रैडरिक पासी ने जब नब्बे वर्ष की अवस्था में अपना कर्मठ शरीर छोड़ा तब उन्होंने जो शब्द कहे वे अपना एक महत्त्व रखते हैं और शांतिप्रिय लोगों का आह्वान करते हैं कि वे उनके मिशन को आगे बढ़ाएँ । उनका अन्तिम सन्देश इस प्रकार है—

“संसार के सारे राष्ट्रे ! भेद-भाव भूलकर सहअस्तित्व तथा सहयोग के आधार पर व्यापार बढ़ाओ, नये-नये उद्योग-धन्धों की स्थापना करो और इस प्रकार दुनिया की सारी दौलत का दरवाजा मनुष्य-मात्र के लिये खोल दो । धन को युद्ध का कारण मत बनाओ । इस लोभ से बचकर मनुष्यता की रक्षा करो । युद्ध मनुष्य की सबसे पाशविक वृत्ति है इससे आत्मा की रक्षा करो । आज ही यदि हम युद्ध से विरुद्ध संकल्प कर लें और अपने जीवन का कुछ समय शांति का प्रसार करने में लगायें तो कल ही संसार में युद्ध की कोई पूछ न रहेगी, सारे झगड़े तथा घृणा की भावना समाप्त हो जायेगी । पूछ होगी तो शांति की, पश्चिम तथा पंच-निर्णय की । मनुष्य मूल रूप से शांतिप्रिय है । वह युद्ध, संघर्ष तथा रक्तपात नहीं चाहता । संसार के कुछ थोड़े-से स्वार्थी, अहंकारी अथवा कुसंस्कारी व्यक्ति ही इस विभीषिका को जन्म देते हैं । मुझे पूरी आशा है और इसी आधार पर मैं भविष्यवाणी करने का साहस कर रहा हूँ कि जल्दी मनुष्य जाति शांति के पक्ष में खड़ी होगी और आज की जलती हुई दुनिया कल का सुख-स्वर्ग बन जायेगी ।”

श्री पासी के शब्द उनकी आत्मा की वह पुकार है जिसे हर सभ्य मनुष्य मन की आत्मा से उठाना ही चाहिये । और वह दिन शीघ्र ही आने वाला है जब संसार में शांति के देवदूत श्री पासी की भविष्यवाणी की चरितार्थता और बढ़ने लगेगी क्योंकि संसार में अच्छाई ने करवट लेना शुरू कर दिया है । अच्छे और भले आदमी संसार का कल्याण चाहने वाले पुण्य-आत्मा लोग कुछ करने के लिये उत्सुक होने लगे हैं ।

श्री फ्रैडरिक पासी केवल मौखिक शांति प्रसारक ही नहीं थे । उन्होंने शांति के लिये जीवन में जो ठोस कार्य किये और विचारों के साथ जिन सभा, समितियों तथा संगठनों का निर्माण कर गये हैं वे बहुमूल्य हैं और उनके इन पुण्य कार्यों को उनके जीवन-काल में ही शांति नोबेल पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया ।

श्री फ्रैडरिक पासी अपने प्रारम्भिक जीवन में पहले वकील बने । अपने इस पेशे में वे सदा ईमानदार तथा आदर्शवादी रहे । वे हर मुकद्दमा लाने वाले व्यक्ति की पैरवी ही ईमानदारी से नहीं करते थे बल्कि उसे

मैत्रीपूर्ण जीवन तथा संघर्षपूर्ण जीवन की लाभ-हानि भी समझाते थे। इस प्रकार उन्होंने न जाने कितने लोगों के मामले अदालत में जाने से पूर्व ही निपटा दिये थे। यद्यपि उनके साथी वकील उनकी इस बात की आलोचना करते और कहते कि मि. पासी आप यह अच्छा नहीं करते। समाज में झगड़ों की वृद्धि ही हमारी आमदनी का जरिया है।

श्री पासी अपनी आलोचना को शांतिपूर्वक सुनते और उत्तर देते—“पैसा ही संसार में सब कुछ नहीं है। असत्य के आधार पर अमीर होने की अपेक्षा सत्य के आधार पर गरीब रहना मैं हजार गुना अच्छा समझता हूँ। मेरी अपनी आत्मा के प्रति एक दायित्व भी है जिसकी मैं किसी मूल्य पर भी उपेक्षा नहीं कर सकता। किसी से सौ रुपये कमा लेने की अपेक्षा यह कितना मूल्यवान तथा सुखकर है कि किन्हीं दो मनुष्यों का झगड़ा निपटा कर पुण्य प्राप्त कर लूँ। विद्या की प्राप्ति समाज में सुख-शांति की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिये की जाती है न कि दूसरों का अन्यायपूर्ण शोषण करने के लिये। यदि सत्य की रक्षा करना, किसी दूसरे को ठीक मार्ग पर लगाना, सत्पराभर्ष देना बुद्धिमानी नहीं है तो मैं अधिकारपूर्वक कह सकता हूँ कि संसार का कोई भी काम बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। दूसरों का लूटने-खसोटने तथा दुःख देने में बुद्धि का प्रयोग करना मेरे विचार से सबसे बड़ी मूर्खता है।

कुछ दिन वकालत करने के बाद पासी सरकारी नौकरी में चले गये और फिर उसके बाद उन्होंने व्याख्याता का भी काम किया। अब तक उनकी आयु लगभग पचास वर्ष की हो गई थी। प्रौढ़ता पार करते ही उन्हें विचार आया कि किसी भी सामाजिक मनुष्य को जितनी सेवा करनी चाहिये उतनी वे नहीं कर सके और आयु का आधे से अधिक भाग निकल गया। निदान जो पूँजी वे कमा और बचा सके थे उसी पर सन्तोष करके सामाजिक सेवा के क्षेत्र में उतर पड़े।

उन दिनों क्रीमिया का युद्ध चल रहा था। मनुष्य जाति के इस महाविनाश ने उनके हृदय पर बड़ी चोट पहुँचाई और उन्होंने अपनी समाज-सेवा का रूप संसार में युद्ध के विरुद्ध शांति का प्रचार निर्धारित कर लिया। श्री पासी का कहना था कि अनावृष्टि, अतिवृष्टि, आग, बाढ़ तथा महामारी आदि की विपत्तियाँ तो प्राकृतिक प्रकोप होते हैं। एक बार यदि मनुष्य उनके सामने मजबूर हो जाये तो किसी हद तक माना जा सकता है। किन्तु युद्ध की यह विभीषिका तो मनुष्य निर्मित है। वह इसे स्वयं रचता है और अपना विनाश करता है। मनुष्य को उसकी इस मूर्खता से विरत कराना प्रत्येक सत्पुरुष का पावन कर्तव्य होना चाहिये। जो व्यक्ति जितना भी इस दिशा में योगदान कर सके उसे करना ही चाहिए।

अपने विचारों के अनुसार श्री पासी ने अपना सेवा-कर्तव्य घोषित कर दिया और उसी के अनुसार वे नब्बे वर्ष की आयु तक निरन्तर अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगे रहे। सबसे पहले उन्होंने अपनी लेखनी का सहारा लिया। तात्कालिक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिख कर एक ‘शांति-समिति’ स्थापित करने की अपील निकालने लगे। उनकी

आत्मा से निकली हुई पुकार का प्रभाव पड़ा और फ्रेंच-शांति-लीग की स्थापना हुई। जिसके सचिव पद पर रहकर वे बहुत दिन तक उद्देश्य की सेवा करते रहे।

श्री पासी की प्रेरणा तथा तत्वावधान में फ्रांस की शांति लीग ने इस उत्साह से कार्य किया कि जनमत उनके पक्ष में हो गया और संसार के बड़े-बड़े युद्ध-व्यसनी युद्ध की बात करते भयभीत होने लगे। उन्होंने दिनों फ्रांको-प्रशियन युद्ध की सम्भावना उठ खड़ी हुई और श्री पासी ने विचार किया कि संसार से युद्ध का बहिष्कार कराने के लिये केवल फ्रांस की शांति लीग ही पर्याप्त नहीं है उसके लिये एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन चाहिये जो पारस्परिक विचार-विनिमय के आधार पर समस्याओं का निर्णय शस्त्रों के बजाय पंच फैसले से कराये और दिया करें। निदान उन्होंने दिन-रात की दौड़-धूप के उपरान्त फ्रांसीसी शांति मित्र-मण्डल की स्थापना कर ही डाली। इस संगठन ने अनेक स्थानों पर युद्ध की आग भड़काने से रोक कर मनुष्य जाति की सहायनीय सेवा की।

अपनी इन सेवाओं के उपलक्ष्य में जनता ने श्री पासी को फ्रांसीसी संसद का सदस्य चुना। जहाँ जाकर वे अपनी सरकार पर यह प्रभाव डालने में सफल हो सके कि किसी भी प्रश्न को हल करने के लिये फिर चाहे वह आर्थिक हो अथवा राजनीतिक, शस्त्र बल का सहारा नहीं के बराबर ही लिया जाये। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने इंग्लैंड के युद्ध समर्थक नेता विलियम रैडर क्रैमर को अपना समर्थक बनाकर अन्तरसंसदीय संघ की स्थापना कराई जो एक लम्बे समय तक संसार में युद्ध रोकने और पंच फैसलों के आधार पर समस्याओं का हल करने के लिये सफल होता रहा।

इस प्रकार व्यक्तिगत, सरकार तथा जनता की सहायता से श्री फ्रेडरिक पासी लगभग पैंतीस-चालीस वर्षों तक मानव जाति की सहायनीय सेवा करते रहे। इसी बीच में उन्हें अपने उद्देश्य में अनेक बार असफलता मिली किन्तु वे कभी निराश, हताश अथवा निष्क्रिय नहीं हुए।

चेचक का मसीहा—एडवर्ड जेनर

जैसा कि सभी जानते हैं कि चेचक एक भयानक रोग है। यह रोग चुटकियों में जंगल की आग की तरह फैल जाता है। इसके प्रकोप से विश्व में प्रतिवर्ष करोड़ों व्यक्ति पीड़ित होते हैं। जिनमें असंख्य लोगों की मृत्यु भी हो जाती है। इस प्रकोप से बचने का पहले कोई अचूक उपाय न था। मानव को इसके आगे पराजय माननी ही पड़ती थी। इसके सिवा चारा भी क्या था कि चुपचाप सभी कुछ सहा जाय।

करीब डेढ़ सौ साल पहले चेचक की रोकथाम में एक टीका सफल हुआ और तभी से इस टीके का प्रचलन हो गया। इस टीके के आविष्कार का श्रेय है, एक अंग्रेज डॉक्टर एडवर्ड जेनर को। अपने विद्यार्थी जीवन में जेनर बड़े कल्पनाशील थे और सदा अपनी धुन में खोये रहते थे। कवि-हृदय होने के कारण उन्हें ग्रामीण वातावरण से बड़ा मोह था। अतएव वे एक गाँव में ही बैठकर चिकित्सक के रूप में लोगों की सेवा करने में लग गए।

एक दिन सुबह गाँव की एक लड़की जेनर के पास अपने को दिखाने के लिए आई। उन्होंने लड़की से पूछा— क्या तुम पहले भी कभी बीमार पड़ी हो ? लड़की ने उत्तर दिया— जी हाँ— “मुझे गो-चेचक (काउपाक्स) हो चुकी है और इससे मैं अब चेचक से बची रहूँगी और जेनर के कानों में जब तब ये ही शब्द गूँजने लगे— ‘मुझे चेचक नहीं हो सकती क्योंकि मुझे गो-चेचक हो चुकी है।’ और इस अन्धविश्वास भरे शब्दों से जेनर की उत्सुकता जागी। यही उसके वैज्ञानिक अनुसन्धान कार्य की शुरुआत थी।”

कार्य करते-करते यद्यपि जेनर को टीका लगाने की कला आ गई थी लेकिन उनके अन्दर के वैज्ञानिक को आशंका थी कि इसमें कुछ कमी है और इसमें अभी सुधार की गुंजाइश है। अपने लगाये टीकों को विश्लेषण करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि इनमें वे टीके असफल रहे, जो ऐसे लोगों पर लगाये गये थे, जो जानवरों की देख-रेख करते थे या जिन्हें गो-चेचक हो चुकी थी।

जेनर ऐसे ग्रामीण क्षेत्र के थे, जहाँ यह अन्ध-विश्वास काफी प्रचलित था कि गो-चेचक हो जाने से ऐसे लोगों को फिर चेचक नहीं होती। जेनर भी इस बात से सहमत थे लेकिन इसके प्रमाणों की आवश्यकता थी। यह संयोग या सुअवसर भी एक ग्वालिन ‘सारा नेल्मी’ और आठ वर्षीय बालक ‘जेम्स फिप्स’ के रूप में उनके हाथ आया। सारा के गो-चेचक का एक फोड़ा दाहिने हाथ में और दो छोटे दाँने कलाई में फूटे थे। जेनर पूरी तरह सन्तुष्ट थे कि निश्चय ही चेचक के कारण हैं। जेनर ने सोचा कि इन दोनों में गो-चेचक का पदार्थ यदि सक्रिय है, तो उस बच्चे पर इसका अवश्य प्रभाव पड़ना चाहिए जिसको न तो चेचक और न गो-चेचक ही हुई है। १४ मई, १८७६ को उन्होंने जेम्स फिप्स की बाँह में दो हल्के चीरे लगाये और उनमें सारा ग्वालिन के बड़े दाँने से कुछ द्रव्य प्रवेश करवाया। पहले तो कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं दिखाई दी और चीरे के चिह्न भी लुप्त हो गये लेकिन तभी वे लाल हो गए और धीरे-धीरे फूल गये। एक फोड़ा दिखाई दिया जो बढ़ने लगा। बालक जेम्स सात दिन तक भला-चंगा रहा पर आठवें दिन उसे बुखार हो आया पर दूसरे ही दिन वह आपसे आप ठीक हो गया। जेनर इससे प्रसन्न हुए कि प्रतिक्रिया गम्भीर नहीं हुई। लेकिन भविष्य में क्या होगा जेम्स चेचक से सुरक्षित रहेगा या नहीं, यह चिन्ता बनी रही।

जुलाई में जेनर का दूसरा जबरदस्त प्रयोग शुरू हुआ। उन्होंने चेचक के दाँने से पदार्थ लेकर जेम्स पर सीधा उसका टीका लगा दिया। यह भी नहीं सोचा कि उसका परिणाम क्या होगा ? जेनर काफ़ी पेशान रहे। उन्हें नींद न आई। रात भर बेचैन रहे और अपने निदान कक्ष में इधर-उधर चहलकदमी करते रहे। यह सोचने लगे कि कहीं गलती न हो गई हो, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। दिन बीतते गये और टीके के सभी चिह्न मिट गये। जेम्स पर संक्रमण के कोई लक्षण नजर नहीं आये और इस बात से जेनर को गो-चेचक के रक्षात्मक महत्त्व पर पक्का विश्वास हो गया।

जेनर इस बात की सफलता पर आनन्दातिरेक से उछल पड़े और उन्होंने जेम्स को अपना ही पुत्र मान लिया। उनके लिये उन्होंने

बाद में एक मकान भी बनवा दिया। पर अभी जेनर चुप नहीं बैठे। उन्हें शंका थी कि लोग अभी ठीक से विश्वास नहीं करेंगे। इसलिये उन्होंने अपना अध्ययन एवं अनुसन्धान कार्य जारी रखा और सन् १७९८ में इस सम्बन्ध में एक पुस्तक प्रकाशित की। पुराने किस्म के टीकों के समर्थक जेनर का मजाक उड़ाने लगे। जनता भी उनके खिलाफ हो गई और पादरियों ने भी कहना शुरू कर दिया कि “यह ईश्वर की लीला के विरुद्ध कार्य कर रहा है।”

इस परिस्थिति से जेनर भी कुछ हद तक उत्तेजित हुए क्योंकि आलोचना के प्रति वे सन्वेदनशील थे। लेकिन यह आलोचना और विपरीत प्रदर्शन अधिक दिन न चले क्योंकि आलोचना की बातें बेबुनियाद थीं और फिर आयुर्विज्ञान की दो अन्य विभूतियों—पियर्सन और वुडविले—के समर्थन से तो सबके मुँह बन्द हो गए। फिर तो रूस की साम्राज्ञी एलीकज्येवना—एलेक्जेंडर प्रथम की पत्नी—ने जेनर को हीरा जड़ी एक अँगूठी भेंट की। इससे सामूहिक टीका अभियान को बहुत बल मिला और जनता में जोर-शोर से प्रचार शुरू हो गया।

चिकित्सा शास्त्र के इतिहास में चेचक के टीके का आरम्भ एक स्वर्गीय अध्याय का श्रीगणेश था। पर जेनर को इसके लिये अपनी प्रतिष्ठा की बाजी लगानी पड़ी। लोगों ने आलोचना करने के अतिरिक्त यह भी कहना शुरू कर दिया था कि जेनर का टीका लगाने का तरीका बड़ा गन्दा है और वह अपनी चाल से धन बटोरना चाहता है। लेकिन चूँकि बात ऐसी नहीं थी और निरन्तर उलटे-सुलटे प्रयोगों के बाद जेनर ने हर तरह से अपने तरीके को सत्य और निरापद प्रमाणित कर दिया था, वे सहनशील होकर सब बातें सहते रहे।

आलोचनाओं के बावजूद संसार के अनेक भागों में जेनर के टीके का प्रचलन होता गया परन्तु कुछ स्थानों पर उग्र प्रदर्शन और दंगे-फसाद हुये। वेस्टन में तो प्रदर्शन ने ही भीषण दंगे का रूप धारण कर लिया था। न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया और बाल्टीमोर में जनता ने टीका लगवाने में बड़ी आनाकानी की और पेरिस से वेक्सीनेटरों के विरुद्ध काफ़ी हल्ला-गुल्ला रहा।

परन्तु हर जगह हवा का एक ही रुख नहीं रहा। नेपल्स में एक धार्मिक जलूस ने टीके की दवा वाले जहाज का शानदार स्वागत किया। रेड इण्डियन लोगों ने जेनर की बचाव वाली दवा का बड़ा अहसान माना और उन्हें अनेक कीमती उपहार भेंट में भेजे। इस प्रकार यह दवा जेनर के समर्थकों द्वारा स्पेन, केनरी द्वीप समूह, मेक्सिको, ग्वाटे-माला, दक्षिणी अफ्रीका, फिलीपाइन, चीन आदि विश्व के अनेक भागों तक पहुँचा दी गई। फिर तो चारों ओर से जेनर को वाहवाही मिलने लगी। फ्रांस में बोनापार्ट ने जेनर के कार्य की सराहना की और सरकारी तौर पर टीके लगवाने के कार्य को प्रोत्साहित किया। उसने एक सरकारी ऐलान भी निकलवाया और जब नेपोलियन सम्राट हुआ तो उसने सभी सैनिकों के लिए टीका लगवाना अनिवार्य कर दिया। एक दिन सम्राज्ञी जोजीफिन के सामने ही नेपोलियन को एक पत्र प्राप्त हुआ। जिसमें अंग्रेज सैनिक की रिहाई की माँग की गई

थी। वह अस्वीकृति का आदेश देने ही वाले थे तभी जोजीफिन ने याद दिलाई कि वह जेनर का पत्र है। यह सुनते ही नेपोलियन ने एकदम भाव बदल कर कहा— “ओह ! जेनर की मैं कोई बात नामन्जूर नहीं कर सकता। उस ब्रिटिश सैनिक की अवश्य रिहाई कर दी जायेगी।”

चेचक के इस मसीहे के प्रति मानवता चिरऋणी है। विषम परिस्थितियों में भी जेनर ने धैर्य नहीं छोड़ा और निःस्वार्थ भाव से मानव-कल्याण की भावना से पूरित होकर परोपकार के आदर्श की ऊँची मीनार स्थापित कर गया। अब संसार इस रोग के प्रति कितना निर्भय और निःशंक है ? इसका सारा श्रेय एडवर्ड जेनर को ही है।

पागलों के मित्र—डॉ. फिलिप पिनल

मानवता के पीछे पागल हो जाने वाले और उसकी सेवा में अपने को बर्बाद कर देने वाले मानव देवताओं को अभिनन्दन करना जिस दिन संसार भूल जायेगा, वह दिन संसार में सभ्यता के सूर्यास्त की सन्ध्या होगी और जब तक अभिनन्दन होता रहेगा उनके पागलपन का अर्थ लगाया जाता रहेगा, मानव सभ्यता का सूर्य अपने तेज के साथ चमकता रहेगा।

फ्रांस के डॉक्टर फिलिप पिनल को अगर लोग पूरा नहीं तो आधा पागल तो समझते ही थे और उन्हें ‘अयोग्य डॉक्टर’ की उपाधि दे रखी थी। इसका वास्तविक कारण यह नहीं था कि उनके दिमाग में कोई खराबी हो। बात दरअसल यह थी कि उन्हें पागलों के साथ बहुत अधिक सहानुभूति थी और वे चाहते थे कि इन मुग्ध मनुष्यों के साथ भी मनुष्यों जैसा ही व्यवहार किया जाये।

१७९१ में उस जमाने में पागलों के साथ न तो आज जैसा सद्व्यवहार किया जाता था और न कोई वैज्ञानिक उपचार। हर पागल को भारी-भारी जंजीरों में जकड़ दिया जाता था और जब तब उनका दिमाग ठीक करने के लिये हन्टरों से मारा जाता था। पागलों के उपचार की यह एक आम व्यवस्था थी।

डॉ. फिलिप पिनल निरपराध पागलों की यह यातना देखकर रो उठते थे और उनके लिये परमात्मा के नाम पर दया की भीख माँगने लगते थे। अच्छे-खासे डॉक्टर को ऐसा करते देखकर लोग उन्हें भी पागल या सनकी समझने लगे। उन्हें अपने इस दयाभाव के लिये न जाने कितनी बार अपमानित, तिरस्कृत और उपहासास्पद होना पड़ा। किन्तु उन्होंने अपनी पुकार बन्द नहीं की। जब वे अपना सारा क्रम-धन्धा छोड़ कर पागलों के उद्धार का प्रयत्न और उनके साथ मानवता का व्यवहार करने की पुकार करते रहे तो लोगों ने सोचा कि सुन लो आखिर यह पागल डॉक्टर चाहता क्या है।

निदान पागलों की रखवाली करने वाले अफसरों के पूछने पर उन्होंने कहा कि पागल भी आदमी हैं और इस नाते वह अत्याचार अथवा प्रणाली के नहीं सहानुभूति के पात्र हैं। पागल होने में इनका अपराध क्या है ? जो इनको इस बुरी तरह मारा जाता है। जिसको

अपना होश नहीं उसे दोषी ठहराना कहाँ की मानवता है ? मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यदि इनके साथ सहानुभूति का व्यवहार किया जाये तो निश्चय ही इनमें से बहुत-से ठीक हो सकते हैं।

बात सरकार तक पहुँची और उसने डॉ. फिलिप पिनल को पागल समझकर पागलखाने का इस विचार से प्रबन्धक बना दिया कि पागलों की मार खाकर इसकी मानवता का भूत उतर जायेगा।

पागलखाने में पहुँचकर वहाँ के अधिकारियों से अनुरोध कर डॉ. फिलिप पिनल ने पागलों की हथकड़ियाँ, बेड़ियाँ खुलवा दीं और मारने की सख्त मुमानियत कर दी। उन्होंने उनके साथ सच्ची सहानुभूति के साथ सद्व्यवहार और मानसिक उपचार शुरू किया। यद्यपि उन्हें इसी सत्कार्य में काफी कष्ट उठाने पड़े किन्तु वे अपने प्रयत्न में लगे ही रहे। जिसका फल यह हुआ कि सद्व्यवहार की शालीनता से बहुत-से पागल पूर्वपिक्षा अधिक शान्त रहने लगे और अनेक साधारण पागल तो अच्छे भी हो गये।

डॉ. फिलिप पिनल की इस सफलता से बुद्धिमानों का विश्वास बढ़ता गया और पागलों के उपचार की मनोवैज्ञानिक विधि का श्री गणेश हो गया। आज पागलखाने और पागलों के मानसिक उपचार का जो विकास दिखाई देता है और पागलों के प्रति जनसाधारण में जो सहज दया, क्षमा एवं सहानुभूति का भाव दिखाई देता है इसका श्रेय उन्हीं डॉ. फिलिप पिनल को है जिन्होंने उनके उद्धार के लिये अपने को पागल बना डाला।

पीड़ित मानवता के ये अनन्य पुजारी—फोलेरू

आप साधारण व्यक्तियों से हमेशा मिलते रहते हैं। सबको अपने काम लगे हैं, जिन्दगी की गाड़ी खींचनी है। उन्हें अपनी ओर अपने बीबी-बच्चों की चिन्ता से ही फुरसत नहीं है। किन्तु हम आज आपको उन असाधारण व्यक्तियों से परिचय कराएंगे, जो अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जीते हैं। उनके सिर पर केवल अपनी या अपने परिवार की ही चिन्ता सवार नहीं है, किन्तु उन लोगों की चिन्ता भी सवार है, जो समाज से सर्वथा त्याज्य एवं उपेक्षित हैं। जिनके जीवन का सुख और आनन्द एक महाव्याधि ने छीन लिया है।

आप किसी न किसी तीर्थयात्रा में अवश्य गये होंगे ऐसे तीर्थ स्थानों में जो रास्ते देव-मन्दिरों को जाते हैं, उनके दोनों किनारों पर आपने ऐसे मानव देहधारियों को अवश्य देखा होगा जिनके अंग लुंज, पुंज हो चुके हैं और जिन्होंने उन अंगों पर मैले-कुचले चिचड़े लपेट रखे हैं। ये देव-दर्शनार्थियों से दया की भीख माँगते रहते हैं और दर्शनार्थी एक-दो पैसे उनकी ओर फेंककर तेजी से आगे बढ़ जाते हैं। दर्शनार्थियों को यह सोचने की फुरसत ही नहीं होती कि ये प्राणी कहाँ से आये हैं और दया की भीख माँगने यहाँ क्यों बैठे हैं ? उन्हें देखकर कई लोगों के मन में घृणा का भाव भी पैदा होता है किन्तु वे यह नहीं सोच पाते कि इस अरुचिकर दृश्य को कैसे हमेशा के

लिए खत्म किया जा सकता है। यह कुष्ठ रोग की महाव्याधि से पीड़ित मनुष्य हमारी मानवता के लिए चुनौती है, किन्तु हम उस चुनौती की लगातार उपेक्षा करते आये हैं।

जिन असाधारण व्यक्तियों से हम आपका परिचय करना चाहते हैं। उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार किया और कुष्ठ रोगियों की पीड़ा से उनका हृदय विह्वल हो उठा। उनकी चिन्ता का एकमात्र विषय यह हो गया कि इस पृथ्वी से किस प्रकार इस भयानक महाव्याधि को समाप्त किया जाय और उन अभागे व्यक्तियों को इस अभिशाप से किस तरह मुक्त किया जाये। उन्होंने अपना सारा जीवन इस महान् ध्येय के लिए समर्पित कर दिया और जो आत्मिक आनन्द उन्हें कुष्ठ रोग से लड़ने में मिला, उतना और किसी बात में नहीं मिला।

शायद आप यह जानने को उत्सुक होंगे कि ये महाभाग कौन हैं और किस देश के हैं? इनमें से एक तो फ्रांस के नागरिक हैं और उनका नाम मोशियो फोलेरू है। ३५ वर्ष पूर्व वे एक पत्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे थे। अक्सर पत्रकार का हृदय पत्थर की तरह कठोर हो जाता है। अच्छी-बुरी घटनायें उसकी आँखों के सामने से आये दिन गुजरती रहती हैं और वह निर्विकार भाव से उन्हें पीछे छोड़ता चलता है। हमारे इन पत्रकार मित्र को आदेश मिला कि वह अफ्रीका का दौरा कर अपने पत्र के लिए सामग्री प्राप्त करें। वे वहाँ सहारा मरुस्थल को एक मोटर में बैठ कर पार कर रहे थे कि एक दिन नाइजर नदी के किनारे उनकी मोटर को लुंज-पुंज व्यक्तियों की एक भीड़ ने घेर लिया। फोलेरू के साथी भाग खड़े हुए। पत्रकार महोदय ने अपने मार्गदर्शक से पूछा—‘ये लोग क्यों भटक रहे हैं?’ उत्तर मिला—‘इनका न कोई घर है, न गाँव। ये कुष्ठ रोगी हैं, जिन्हें कोई आश्रय नहीं देता और इसीलिए ये बेचारे अपने भाग्य को कोसते हुए एक जगह से दूसरी जगह इस प्रकार भटकते रहते हैं।’

इस घटना ने पत्रकार की जीवनधारा दूसरी ही दिशा में मोड़ दी। उन्होंने अनुभव किया कि बड़े से बड़े अपराधी को समाज इतना क्रूर दण्ड नहीं देता, जितना कुष्ठ रोगी को मिलता है। उसे अछूत समझा जाता है। उसे बहिष्कृत जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ता है और सारे जीवन में तिरस्कार तथा घृणा का असह्य दुःख भोगना पड़ता है। पत्रकार महोदय ने तय किया कि वे इन अभागों को गले लगायेंगे और उनकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझेंगे। उन्होंने उस पीड़ा को समाप्त करने का व्रत ले लिया।

आजकल ये मोशियो फोलेरू पेरिस के एक छोटे-से मकान में रहते हैं, किन्तु कुष्ठ रोगियों की चिन्ता उन्हें चैन से बैठने नहीं देती। जब से उन्होंने पीड़ित मानवता की सेवा के इस पुण्य कार्य को अपनाया है, वे दुनिया के इकतीस चक्कर काट चुके हैं। जहाँ जाते हैं, दिन हो या रात, कुष्ठ रोगियों की बात करते हैं। उनके लिये चन्दा जमा करते हैं, उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करते हैं, उनके पुनर्वास की योजनाएँ बनाते हैं और उनके प्रति समाज और शासन के अन्तःकरण को जगाते हैं। उन्होंने अब तक इस कार्य के लिये लाखों रुपया जमा किया है किन्तु उसे वह कुष्ठ रोगियों की धरोहर मानते हैं और उसमें से एक पैसा भी स्वयं पर खर्च नहीं करते।

मोशियो फोलेरू ने सबसे पहला क़दम यह मालूम करने का किया कि दुनिया में कुष्ठ रोगियों की संख्या कितनी है? महीनों की खोजबीन के बाद पता चला कि दुनिया में करीब एक करोड़ व्यक्ति इस रोग से पीड़ित हैं। बाद की जाँच-पड़ताल से पता चला है कि यह संख्या बढ़ रही है और अब वह डेढ़ करोड़ तक पहुँच गई है। भारत में कुष्ठ रोगियों की संख्या करीब ४ लाख है। वियतनाम में ६० हजार और जापान में ७० हजार है। चीन और योरोप में भी कुष्ठ रोगी हैं किन्तु अफ्रीका में इनकी संख्या सबसे अधिक है।

कुष्ठ रोग निवारण के लिए आज सारी दुनिया के लोग प्रयत्नशील हैं। यह खुशी की बात है इसके लिये एक विशेष दिन समारोहपूर्वक मनाने का विचार मोशियो फोलेरू के दिमाग में पैदा हुआ था और आज यह दिन दुनिया के १२७ देशों में मनाया जाता है। हमारे देश में भी इस वर्ष ३० जनवरी को यह दिन मनाया गया। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का निर्वाण दिवस भी इसी दिन है। गाँधी जी कुष्ठ रोगियों की चिकित्सा में बहुत दिलचस्पी लेते थे। उन्होंने अपने सेवाग्राम आश्रम में कुष्ठ रोगी श्री परचुरे शास्त्री को आश्रय दिया था और स्वयं अपने हाथों से उनके जख्मों की मरहम-पट्टी किया करते थे।

महात्मा गाँधी के अनुसार कुष्ठ— गरीबी, गन्दगी और अज्ञान की सन्तान है। अगर हमें यह विकृत सन्तान नहीं चाहिए तो सबसे पहले हमें गरीबी, गन्दगी और अज्ञान से जूझना होगा।

मोशियो फोलेरू जैसे महापुरुष भारत में भी मौजूद हैं। वे महाराष्ट्रीय हैं और उनका नाम श्री बाबा आपटे है। वे स्वतन्त्रता संग्राम की आग में भी तप चुके हैं। नागपुर के निकट चन्द्रपुर जिले में बसेरा एक छोटा-सा नगर है। उसके पास ही कुष्ठ रोगियों के लिए एक बड़ा केन्द्र आपटे जी चला रहे हैं। जहाँ ५७ सौ कुष्ठ रोगी रहते हैं। यहाँ इनकी चिकित्सा भी होती है और उन्हें खेती तथा अन्य उद्योगों में लगाया जाता है। इस कुष्ठ केन्द्र का आपटे जी ने नाम रखा है—‘आनन्दवन’ और वह सचमुच सैकड़ों पीड़ितों में आनन्द की सृष्टि कर रहा है।

आपटे जी कुष्ठ रोगियों के सेवक कैसे बने? इसकी भी बड़ी दिलचस्प कहानी है। वे पहले वरोरा नगरपालिका के अध्यक्ष तथा एक नामी वकील थे। एक बार नगर के सफाई कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। बरसात के दिन थे। गन्दगी बढ़ चली और नगर में बीमारी फैलने का खतरा पैदा हो गया। तब आपटे जी से न रहा गया और उन्होंने स्वयं पाखानों की सफाई शुरू कर दी। इसी दौरान उन्हें बस्ती के बाहर अन्धेरे में एक गठरी-सी पड़ी दिखाई दी। वह एक कुष्ठ रोगी था, जिसके हाथ-पैरों की अंगुलियाँ और दूसरे अंग गल चुके थे। वह पीड़ा से कराह रहा था। शायद मौत की आखिरी झुड़ियाँ गिन रहा था। आपटे जी ने सिर पर से मैले का टोकरा एक ओर रख दिया। उसे पीठ पर लादा और सुरक्षित स्थान पर ले गये। बाद में उसके लिये एक स्वतन्त्र कुटिया बनाई और उसकी बड़ी सेवा-सुश्रूषा की किन्तु उसके प्राण न बच सके। आपटे जी के हृदय को इससे बड़ा धक्का लगा और बाद में उन्होंने अपना जीवन ही कुष्ठ रोगियों की सेवा में समर्पित कर दिया। आज ‘आनन्दवन’ में सैकड़ों रोगी

स्वस्थ होकर कृषि, बढ़ईगिरी, टीन-उद्योग, प्रेस आदि के कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर स्वाभिमानपूर्वक स्वावलम्बी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। संस्था को विदेशों से भी पर्याप्त सहायता मिलने लगी है और संस्था दिन पर दिन प्रगति कर रही है। आनन्दवन आज कुष्ठ रोगियों की भारत में सबसे आदर्श संस्था है।

पीड़ित मानवता के इन सेवकों और पुजारियों के आगे सिर श्रद्धा से झुके बिना नहीं रह सकता।

मानवता का सच्चा सेवक—लुई पास्ट्यूर

मानवता की सेवा करने के लिए किस प्रकार की तत्परता, तन्मयता, त्याग एवं तपस्या की आवश्यकता पड़ती है? यदि कोई यह जानना चाहे तो उन्नीसवीं शताब्दी के महान् वैज्ञानिक लुई पास्ट्यूर के जीवन पर दृष्टिपात कर ले।

लुई पास्ट्यूर का जन्म फ्रांस के डोल नामक स्थान पर २७ दिसम्बर सन् १८२२ ई. को हुआ। इनका परिवार वास्तव में एक मजदूर परिवार था। इनके पिता चमड़े का साधारण व्यवसाय किया करते थे।

घर का वातावरण ही कुछ ऐसा था कि लुई पास्ट्यूर को पढ़ने-लिखने में कुछ रुचि नहीं थी। किन्तु उनके पिता की हार्दिक इच्छा थी कि उनका पुत्र पढ़-लिखकर एक अच्छा विद्वान् बने और संसार में नाम पैदा करे।

लुई पास्ट्यूर जब-जब पिता का हाथ बँटाने के लिए उनके साथ काम करने बैठता था तब-तब वे उससे कहा करते कि—लुई! मेरी बड़ी इच्छा है कि तुम पढ़-लिखकर विद्वान् बने। किन्तु मैं देखता हूँ कि मेरी यह इच्छा पूरी न हो सकेगी। एक तो यों ही मेरी परिस्थिति तुम्हें उच्च शिक्षा दिला सकने योग्य नहीं है, दूसरे यदि मैं अपना सर्वस्व बेचकर, ऋण लेकर अथवा भूखा रहकर तुम्हारी पढ़ाई का प्रबन्ध कर भी दूँ तो तुम्हारा मन पढ़ाई की ओर न देखकर निराश हो जाता हूँ। ऐसा कहते-कहते लुई पास्ट्यूर के पिता की आँखें जब-तब गीली हो जातीं।

लुई पास्ट्यूर ने पिता की इच्छा की गहराई को अनुभव किया और हर प्रकार से पढ़ने का निश्चय करके प्रारम्भिक शिक्षा के लिये अरबोय की एक पाठशाला में प्रवेश ले लिया, किन्तु संस्कारवश उसकी बुद्धि विद्या प्राप्त करने की दिशा में गतिवान नहीं होती थी। उसे कक्षा में पढ़ाया हुआ पाठ न तो ठीक से समझ आता था और न याद होता था। इस कारण वह कक्षा में सबसे बुद्धि समझा जाता था। पढ़ाई के विषय में उसे मन्दबुद्धि समझ कर शिक्षकों ने उसकी ओर से निराश होकर ध्यान देना छोड़ दिया और राय दी कि वह पढ़ाई छोड़कर कुछ व्यवसाय करना शुरू कर दे, यही उसके जीवन के लिये अधिक हितकारी होगा।

लुई पास्ट्यूर को अध्यापकों की इस उपेक्षा तथा अपनी मन्दबुद्धिता पर घोर खेद हुआ। एक बार उसने पढ़ाई छोड़कर पुनः पिता के व्यवसाय में पदार्पण करने की सोची। किन्तु पिता के आँसुओं की याद आते ही उसने पुनः अपना साहस संचय किया और पढ़ने

में जी-जान से जुट गया। उसने अपना अध्ययन किया और अपनी कमी खोज निकाली। उद्यमकी समझ में ठीक-ठीक आ गया कि अध्ययन में उसकी अगुति का कारण उसका आत्मविश्वास ही है। उसने कुछ ऐसी ही धारणा बना ली है कि उसे विद्या आ ही नहीं सकती और उसकी यही धारणा उसकी बुद्धि पर मोर्चा बनकर लगी हुई है जिससे वह शिक्षा में प्रगति नहीं कर रहा है।

लुई पास्ट्यूर ने अपना आत्मविश्वास जगाया, अपनी निराशापूर्ण धारणा को दूर किया और विश्वासपूर्ण अध्ययन में संलग्न हो गया। ऐसा करते ही उसे अपने अन्दर एक ऐसी जीती-जागती प्रखर शक्ति का आभास मिला जो पुकार-पुकार कर कह रही थी—“लुई! संसार का ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो लगनपूर्ण पुरुषार्थ के बल पर न किया जा सके। निरन्तर सच्चे मन से लगे रहने से मनुष्य रेत से तेल प्राप्त कर सकता है तब विद्या प्राप्त करना कौन बड़ी बात है। वह तो अपने जिज्ञासुओं को स्वयं प्राप्त हो जाती है। मनुष्य को न तो कभी हिम्मत हारनी चाहिए और न निराश होकर प्रयत्न से विमुख होना चाहिए। असफलता से हतोत्साहित होकर निरुपाय हो जाना पुरुष को शोभा नहीं देता। असफलता मनुष्य की अक्षमता की द्योतक नहीं होती बल्कि यह प्रयत्न की कमी की संबोधक संयोग ही होती है। पूरी लगन से काम में जुट जाओ, शीघ्र ही तुम सफलता का वरण करोगे।”

आत्मा का उद्बोधन पाते ही लुई पास्ट्यूर ने अपने को प्रयत्न के पारावार में डुबा दिया। अब वह कोई मन्दबुद्धि लड़का न था बल्कि कुशाग्र बुद्धि छात्र था।

अरबोय में प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करते ही लुई के पिता ने उसे उच्च शिक्षा के लिये पेरिस भेज दिया। जहाँ वह इकोल नारमेल नामक एक ऊँचे विद्यालय में प्रवेश लेकर पढ़ने लगा। किन्तु कुछ ही समय में पेरिस के अनियन्त्रित तथा अनवरत कोलाहल तथा शोर-गुल से उसका जी ऊब गया और वह पिता की अनुमति से घर में कुछ ही दूर वेसाको के एक कॉलेज में अध्ययन करने लगा।

वेसाको-कॉलेज की शिक्षा पूर्ण करने के बाद लुई पास्ट्यूर की इच्छा रसायनशास्त्र का अध्ययन करने की हुई, जिसके लिये उसे पुनः पेरिस जाना पड़ा। चूँकि पेरिस के सिवाय रसायनिक अध्ययन के लिये कोई अन्य स्थान नहीं था, इसलिये उसने अबकी बार नगर के कोलाहल से ऊबने के बजाय उसका अध्यस्त बनने की कोशिश की। कोलाहल से अप्रभावित रहने के लिये उसने अपनी एकत्र तन्मयता को और अधिक केन्द्रीभूत कर लिया। जिससे वह एक प्रकार से कोलाहल-शून्यता की स्थिति में रहने लगा। सच्ची लगन से काम करने वाले किसी बाह्य वातावरण अथवा परिस्थिति को काम में विघ्न डालने वाला बताकर कार्य से मुख मोड़ने का बहाना नहीं निकालते बल्कि घोरतम विपरीत परिस्थितियों में भी अंगद के चरण की तरह अपने कर्तव्य पर अटल रहते हैं। उन्हें छोटी-मोटी परिस्थितियाँ काम से उखाड़ नहीं पातीं।

पेरिस में इकोल नारमेल कॉलेज में भरती होकर लुई पास्ट्यूर ने केवल रसायनशास्त्र का ही अध्ययन न किया बल्कि चिकित्सा शास्त्र

में भी पारंगति प्राप्त की। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जीवन के प्रारम्भिक काल में जो लुई पास्ट्युर मन्द-बुद्धि कहा जाकर उपेक्षा का पात्र बना था वह अब परीक्षाओं पर परीक्षार्थ और विषयों पर विषय पार करता चला जा रहा था। जिसने आत्मविश्वास के साथ पश्चिमपूर्ण पुरुषार्थ करना सीख लिया है, बुद्धि को निर्णायक गुण से गौरवान्वित कर लिया है और अपने विचारों में सूझ-बूझ का प्रवाह भर लिया है। किसी भी विषय अथवा दिशा में गति में प्रतिरोध होना सम्भव नहीं।

पेरिस के अध्ययन काल में लुई पास्ट्युर का सम्पर्क विज्ञान के महान् विषय से भी हुआ जिससे उसकी रुचि उस ओर हो गई और उसने वैज्ञानिक बनकर संसार का हित करने का विचार बना लिया। उसके इस विचार को रसायनशास्त्र के पारंगत विद्वान श्री जीन वैष्टिस्टे ड्यूमा के ओजस्वी भाषणों ने और भी पक्का कर दिया, जिनके अन्त में विज्ञान के विद्यार्थियों से अपील किया करते थे कि वे अपनी योग्यता का उपयोग केवल स्वार्थ साधन के लिये न करके उसका उपयोग रोग पीड़ित मानवता की रक्षा करने के लिये भी करें।

डॉक्टर ड्यूमा की अपीलें लुई पास्ट्युर के हृदय में गूँज बन कर भर गईं। जिनसे वह एक आविष्कारक की दृष्टि से विज्ञान के अध्ययन में डूब गया।

इकोल नारमेल कॉलेज से उपाधि प्राप्त कर लुई पास्ट्युर ने केवल छब्बीस वर्ष की आयु में डिजोन में भौतिक विज्ञान के शिक्षक का पद स्वीकार किया। उन्हें आशा थी कि अध्यापन काल में उनका अन्वेषण करने के लिये पर्याप्त साधन तथा अवकाश मिल सकेगा। किन्तु परिस्थितियाँ उनके अनुमान के विपरीत निकलीं। पढ़ाने की तैयारी में सारा समय लग जाने के कारण उन्हें अपने अनुसंधान के लिये समय का अभाव रहने लगा। यद्यपि उन्हें इस पद पर पर्याप्त वेतन तथा रहन-सहन की सुविधाएँ मिली हुई थीं, तथापि अपने उद्देश्य में उक्त सुविधाओं को बाधक देख कर उन्होंने उसको बिना किसी संकोच के त्याग कर दिया और स्कॉट्सवर्ग में सहायक तथा प्रधान अध्यापक के पद पर कुछ दिन काम करने के बाद लिले में विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष का पद स्वीकार किया और अपना अनुसंधान कार्य प्रारम्भ कर दिया।

लुई पास्ट्युर ने जो सबसे पहला अनुसंधान किया वह था इमली के अम्ल से अंगूर का अम्ल बनाना। यद्यपि यह अनुसंधान कोई महत्वपूर्ण खोज नहीं थी तथापि इसका मूल्य इस माने में अवश्य है कि इसी एक खोज में अन्य अनेक वैज्ञानिक लगभग तीस वर्षों से लगे हुये थे। उनकी समस्या का हल करके लुई पास्ट्युर ने उनके मस्तिष्क मुक्त करके उन्हें अन्य महत्वपूर्ण कार्यों की ओर मोड़ दिये।

दूसरा महत्वपूर्ण अनुसंधान जो लुई पास्ट्युर ने किया यह था विषैले जन्तुओं द्वारा काटे जाने पर मनुष्यों को मरने से बचाने के उपादानों की खोज। फोड़ों की चीरफाड़ के बाद जख्मों में कीड़े पड़ जाने के कारणों की खोज और उसके उपचार की विधि निकालना। उपचार क्षेत्र में मानवता की सेवा का अनुसंधान एक महान् देन थी जिससे उस समय से आज तक असंख्य मनुष्य जख्मों से सड़ने तथा उससे मरने से बचते चले आ रहे हैं।

इसके अनन्तर रेशम के कीड़ों के रोग की रोकथाम करने तथा उनके बीमार होने पर उनका उपचार करने की विधि का अन्वेषण एक बहुत बड़ी खोज थी, इससे रेशम के व्यवसाय में महान् लाभ हुआ। रेशम के कीड़ों के रोग तथा मरण के निवारण की खोज करने में लुई पास्ट्युर ने छह वर्ष तक घोर पश्चिम किया जिससे एक बार वह इतना बीमार हो गये कि मित्रों से कहा कि— हो सकता है कि आप लोग मेरी बात सुनकर मुझे कायर समझें किन्तु वास्तव में मैं मरना नहीं चाहता। मैं जीवित रहकर देश की अधिकाधिक सेवा करना चाहता हूँ।

सबसे अन्तिम जो दो अनुसन्धान लुई पास्ट्युर ने संसार के लिये दिये उनसे मानवता का महान् हित हुआ। वे हैं पागल कुत्तों से काटे मनुष्य के इलाज का टीका तथा हैजा, प्लेग जैसे संक्रामक रोगों की रोकथाम के लिये टीकों की खोज।

इस प्रकार जीवन भर बिना किसी वैयक्तिक लाभ के लुई पास्ट्युर निष्काम भाव से मानवता की सेवा में लगे रहे और भयानकतम रोगों से मनुष्यता की रक्षा के साधन प्रदान कर २८ सितम्बर, सन् १८९५ में स्वर्ग सिधार गये।

महान् वैज्ञानिक और महान् मानव सर आइजक न्यूटन

विश्व-विख्यात वैज्ञानिक सर आइजक न्यूटन का जन्म भी ईसा की जन्म-तिथि २५ दिसम्बर, १६४२ ई. को वल्थोर्प नामक गाँव में हुआ था। तीन वर्ष की अवस्था में पिता के देहान्त तथा माता के पुनर्विवाह कर लेने से न्यूटन का लालन-पालन उसकी नानी पर आ पड़ा। आयु के प्रारम्भिक काल में ही अनाथ हो जाने से न्यूटन का मनोविक्रम रुक गया वह एक दीन-हीन बालक बनकर रह गया।

नानी ने उसे पढ़ने बिठाया जरूर लेकिन उसका मन पढ़ाई-लिखाई में जरा-भी नहीं लगता था। वह स्कूल में सारे दिन उदास बैठा रहता था। सारे साथी उसे खिझाया तथा परेशान किया करते थे। इसी तरह सहन करते-करते एक दिन उसकी मुठभेड़ एक शैतान लड़के से हो गई और न्यूटन ने जी-जान से जोर लगाकर उसे पछाड़ दिया। इस संयोग से न्यूटन जी-जान से प्रयत्न करने के महत्त्व को समझ गया।

उसने बड़े प्रयत्न से मन लगाकर पढ़ना शुरू किया जिससे कुछ ही समय में वह अपनी कक्षा में सबसे तेज विद्यार्थी बन गया। अध्यापक उसकी इस परिश्रमशीलता की प्रशंसा करके उसे प्रोत्साहित करने लगे। अपने पुरुषार्थ के बल पर आगे बढ़ने वालों को अनायास ही चारों ओर से प्रशंसा एवं प्रोत्साहन मिलने ही लगता है।

इस प्रकार जब न्यूटन अपनी योग्यता के विकास में लगा हुआ था तभी सौतेले पिता की मृत्यु हो जाने पर उसकी माता ने उसे स्कूल उठाकर खेती-बाड़ी तथा जानवरों की देख-भाल में लगा दिया। न्यूटन का स्कूल अवश्य छूट गया किन्तु उसकी अध्ययन की लगन तथा विचारशीलता में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। वह चरागाह में

अपनी पुस्तकें ले जाता और पढ़ने में लग जाता। जानवर बिखर जाते, खेत चर जाते किन्तु न्यूटन को इसकी कोई खबर न रहती। वह अपने पढ़ने अथवा किसी चीज का मॉडल बनाने में इतना तल्लीन हो जाता कि दीन-दुनिया को ही भूल बैठता। न्यूटन की यही वह तल्लीनता थी जिसने आगे चलकर उसे एक विश्वविख्यात अन्वेषक बना दिया।

न्यूटन की माता उसकी इस विद्या विषयक तल्लीनता से अप्रसन्न रहती थीं। अनेक बार उसने इसके लिये उसे दण्ड भी दिया किन्तु सारे कष्ट सहकर भी वह अपने अध्ययन में लगा ही रहा। माता ने उसकी इस आदत से परेशान होकर उसकी शिक्षागत अपने भाई से की और उसे सीधे मार्ग पर लाने के लिये कहा। न्यूटन का मामा एक बुद्धिमान व्यक्ति था। उसने न्यूटन की प्रतिभा को पहचाना और बहन को समझाते हुये कहा कि—इसे स्कूल में भर्ती करा दो यह बड़ा होनहार है। खेती-बाड़ी करना इसके वश का काम नहीं है। इसके काम का क्षेत्र तो पढ़ना तथा कुछ बड़ा काम करना है।

न्यूटन की माँ ने भाई की बात मानी और उसे पुनः स्कूल भेज दिया। यदि मनुष्य अपने ध्येय का सच्चा धनी है तो संसार का कोई भी अवरोध उसका मार्ग नहीं रोक सकता। लगनशील व्यक्ति का अवरोध यदि जान-बूझकर भी किया जाता है तब भी वह अपने अनवरत प्रयत्न से विरत नहीं होता और इस प्रकार अपने प्रतिरोधी को थकाकर मार्ग से हट जाने के लिये विवश कर देता है।

न्यूटन दुबारा स्कूल पहुँच कर इतना प्रसन्न हुआ मानो उसने पुनर्जीवन पा लिया हो और इस बार वह पहले से भी अधिक तत्परता से अध्ययन में डूब गया। उसे यह आशंका हर समय बनी रहती थी कि कहीं ऐसा न हो कि उसकी माँ का विचार फिर बदल जाये और वह उसे स्कूल से उठा ले। इसलिये वह मिले हुये अवसर का अधिक से अधिक लाभ उठाकर अपनी शिक्षा पूरी कर लेना चाहता था। स्कूल के बाद वह घर पर भी हर समय अपने अध्ययन तथा प्रयोगों में लगा रहता था। वह एक क्षण भी बेकर रहकर माँ को यह सोचने का अवसर न देना चाहता था कि न्यूटन के पास पढ़ाई के अतिरिक्त भी समय बच रहता है। न्यूटन की इस बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोगी चतुरता ने उसे जो कार्य व्यस्तता का लाभ पहुँचाया वह आगे चलकर उसके बहुत अधिक काम आया। काम करने की उसकी सारी वृत्तियाँ प्रबुद्ध हो उठीं और उसे मूर्तिमान कर्म का स्वरूप बना दिया।

न्यूटन का स्वभाव था कि वह संसार की हर गतिविधि को बड़े ध्यान से देखा करता था। जिससे उसे एक छोटी से छोटी गतिविधि भी एक रहस्य मालूम होती थी और उसमें उसे खोज निकालने की जिज्ञासा जाग उठती थी, जिससे धीरे-धीरे वह वैज्ञानिक अन्वेषणों की ओर प्रवृत्त हो गया।

कोई वैज्ञानिक खोज करने के पहले न्यूटन ने, जिस समय बी. ए. की तैयारी की थी उसने गणित के दो नये सिद्धान्त खोज निकाले थे जिससे विद्वज्जनों के बीच उसकी बड़ी प्रशंसा हुई थी और लोगों ने उसकी ओर ध्यान देना शुरू कर दिया।

अपने अन्वेषणों में न्यूटन ने एक पानी से चलने वाली घड़ी, एक धूप घड़ी तथा एक आटा पीसने वाली पवन-चक्की बनाकर छोटी आयु में ही बड़े भविष्य का आभास दे दिया था। अपनी इन प्रारम्भिक सफलताओं से न्यूटन का साहस इतना बढ़ गया कि उसने संसार को उपयोगी खोजें देकर मानवता की सेवा करने का संकल्प कर लिया।

मनुष्य में यदि कुछ करने की इच्छा है और वह उसके लिये ईमानदारी से प्रयत्नशील भी है तो कोई कारण नहीं कि वह अपने संकल्प में कृत-कृत्य हो सके। सच्ची लगन के लोगों का मस्तिष्क इतना उर्वर हो जाता है कि एक छोटा-सा सूत्र पाकर वह सृष्टि के बड़े से बड़े रहस्यों को बाहर निकाल लाता है।

निरन्तर विचार क्रिया से न्यूटन ने अपने मस्तिष्क को इतना ग्राही बना लिया था कि एक बार बाग में घूमते हुये उसने पेड़ से एक सेव को गिरते देखा। उसके जिज्ञासु मस्तिष्क ने तत्काल प्रश्न किया कि यह सेब टूट कर नीचे जमीन पर ही क्यों गिरा, ऊपर आकाश में क्यों नहीं गया? बस फिर क्या था? प्रश्न उठते ही न्यूटन का मस्तिष्क यन्त्र कारण खोजने की दिशा में गतिशील हो उठा। विचारों के स्तर पर स्तर खुलने लगे। एक के बाद एक रहस्यों के नक्षत्र कल्पना क्षितिज पर उदय और अस्त होने लगे। ऊपर मस्तिष्क की सूक्ष्म शक्तियों ने रहस्य बिन्दुओं को खोजना शुरू किया और इधर न्यूटन ने भौतिकता की कसौटी पर उनकी परख करने के लिए प्रयोग प्रारम्भ कर दिए। इस प्रकार न्यूटन का अन्तर तथा बाह्य, विचार एवं क्रिया मिलकर प्रकृति का रहस्योद्घाटन करने पर एकमत हो गये। मनुष्य का मन, मस्तिष्क तथा इन्द्रियाँ जब एकरूप होकर क्रियाशील होते हैं तब वह देवत्व की एक ऐसी कक्षा में पहुँच जाता है जहाँ पर जीवन और जगत के रहस्य उस पर स्वयं प्रकट होने लगते हैं।

न्यूटन सेब के पतन का कारण खोजने में डूब कर संसार को भूल गये और जब वे विचारधारा से निकल कर ऊपर आये तब उनके हाथ में 'गुरुत्वाकर्षण' का सिद्धान्त था।

अनेक वर्षों के अनवरत परिश्रम के बाद न्यूटन ने जिस गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को खोज निकाला था और जिसके कारण उनका नाम संसार में फैल गया था। उस पर वे सहर्ष सन्तोष करके ही नहीं बैठ रहे थे। एक सीढ़ी से वे दूसरी सीढ़ी पर आगे बढ़े और इसी सिद्धान्त के बल पर आकाशीय प्रकाश पिण्डों की गतिविधि की गणना कर डाली और एक ऐसी दूरबीन का आविष्कार किया जिसकी मदद से दूरस्थ ग्रह-नक्षत्रों को आसानी से देखा जा सकता था। इस प्रकार मानवता के कल्याण-कामी न्यूटन ने अपने को तिल-तिल खपाकर व्योमस्थ लोकों के लिए मनुष्य का प्रारम्भिक पथ प्रशस्त कर दिया। आज विज्ञान के बड़े हुए युग में भले ही हमें न्यूटन की यह खोज साधारण लगे और आधुनिक गृह-मंडलीय अभियान की तुलना में न्यूटन के सिद्धान्तों को हेय समझें किन्तु यह मानना ही होगा कि आज की इस वैज्ञानिक उन्नति के शिलान्यास का श्रेय सर आइजक न्यूटन को ही है, जिसके लिए संसार सदैव उनका आभारी रहेगा। किसी क्रांति को मूर्तिमान कर दिखाने वालों की अपेक्षा उसकी चेतना देने वाला भी किसी दशा में कम अभिनन्दनीय नहीं होता।

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तदाता न्यूटन की योग्यता और कीर्ति ने उन्हें अनेक शिक्षा संस्थाओं द्वारा आमन्त्रित कराया। यद्यपि उनकी इच्छा अध्यापन करने की नहीं थी तथापि नये-नये वैज्ञानिक निर्माण करने के मन्तव्य से वे कैम्ब्रिज कॉलेज में गणित के प्रोफेसर हो गये। अध्यापन क्षेत्र में गये हुए उन्हें अभी दो ही वर्ष हुए थे कि इंग्लैण्ड की महान वैज्ञानिक संस्था रायल सोसाइटी ने उन्हें अपना सम्मानित सदस्य बना लिया और अपनी सूझ-बूझ तथा योग्यता के बल पर शीघ्र ही वे उसके अध्यक्ष चुन लिये गये। इस पद पर निरन्तर वे पच्चीस साल तक काम करते रहे।

इसके अतिरिक्त वे यूनिवर्सिटी क्षेत्र से पार्लियामेंट के मेम्बर भी चुने गये और इंग्लैण्ड की सरकार ने उनकी खोजों से प्रसन्न होकर टकसाल का अध्यक्ष बना दिया तथा रानी ऐन ने उन्हें 'सर' की उपाधि भी दी।

मनुष्य के लगनशील पुरुषार्थ का यह कैसा जीता-जागता चमत्कार है और ज्ञान का कितना बोलता हुआ जादू है कि एक दिन भेड़ें चराने वाला अनाथ बालक न्यूटन आज इंग्लैण्ड की टकसाल का अध्यक्ष था।

अपने इन सब उत्तरदायित्वों को सँभालते हुये भी सर आइजक न्यूटन अपने खोज सम्बन्धी कार्यों में निरन्तर लगे रहे। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के बाद वे प्रकाश के सिद्धान्त की खोज कर रहे थे इसी बीच १७२७ ई. में ८५ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गई।

न्यूटन ने बीस वर्ष के अनवरत पश्चिम के बाद प्रकाश सम्बन्धी अपने सिद्धान्त पूरे कर लिये थे, जिस समय कार्य पूर्ण करने के बाद वे मेज पर सारे कागज रखकर किसी कार्यवश बाहर गये, उसी समय कमरे में बैठा हुआ उनका कुत्ता एक चूहे पर इस प्रकार झपटा कि मेज पर रखा हुआ लैम्प गिर गया जिससे उनके प्रकाश सम्बन्धी सारे कागज भस्मीभूत हो गये।

जिस समय न्यूटन ने कमरे में आकर उस दृश्य को देखा तो आह करके कुर्सी पर पड़ गये। उनका कुत्ता पास आकर दुम हिलाने लगा। उन्होंने कुत्ते पर क्रोध करने के बजाय उसको थपथपा कर केवल इतना ही कहा— “प्यारे डायमण्ड ! तुम्हें पता नहीं कि तुमने मेरा कितना बड़ा नुकसान कर डाला है।”

निःसन्देह न्यूटन का यह धैर्य, यह क्षमाशीलता ऋषित्व के स्तर की थी। उन्होंने वह वज्राघात एक साधारण घटना की भाँति सह लिया किन्तु कुत्ते पर जरा-भी क्रोध नहीं किया।

सर आइजक न्यूटन ने अपनी सारी कमाई परोपकार में ही लगाई। न्यूटन अपने पर बहुत ही कम व्यय किया करते थे, अपनी सारी आय वे कुटुम्बियों तथा दीन-जनों की सहायता में ही खर्च किया करते थे।

अपने युग का महानतम व्यक्तित्व होते हुये भी न्यूटन में अभिमान की दुर्बलता नहीं थी। वे अपने विषय में कहा करते थे कि मैं सत्य के अगाध तथा असीम समुद्र के किनारे केवल सीप और शंखों को बीनने वाला बालक हूँ।

कहना न होगा इन्हीं महान् गुणों ने सर आइजक न्यूटन को संसार का महान् पुरुष बना दिया। इन गुणों को धारण किये बिना कोई भी

महान् नहीं बन सकता और जिसमें इन गुणों का विकास होगा वह महान् पुरुष बने बिना रह नहीं सकता।

मानवता-प्रेमी वैज्ञानिक— ओपेन हाइमर

होनहार की बात है कि मानवता के एक एकनिष्ठ पुजारी को ही बाद में मानव के महाविनाश सम्बन्धी कर्मकांड होता भी बनना पड़ा। नियति का यह निष्ठुर परिहास घटित हुआ है, विश्वविख्यात भौतिक विज्ञानी डॉक्टर राबर्ट ओपेन हाइमर के जीवन में जिनका देहान्त १८ फरवरी, १९६७ में अमरीका के न्यूजर्सी राज्य के प्रिंसटन शहर में हुआ।

मानव-कल्याण को ही वैज्ञानिक ओपेन हाइमर ने अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया था। परमाणु बम के निर्माण के इतिहास में भी उनकी प्रधान भूमिका थी।

१९४२ का उत्तरार्द्ध ! आधी रात का समय है। एकाएक टेलीफोन की घण्टी बज उठी, ओपेन हाइमर के शयन-कक्ष में। नींद खुल गई। एक गोपनीय और अत्यावश्यक सन्देश सुना उन्होंने फिर परमाणु बम-निर्माण-योजना के अधिकर्ता पद पर उन्हें मनोनीत किया गया है और अमरीकी सामरिक विभाग के मैनेजर जनरल लेस्ली ग्रूव्स इस विषय में उनसे परामर्श के लिये बहुत जल्दी आ रहे हैं।

अमरीका में परमाणु-बम निर्माण की इस योजना का सूत्रपात इस घटना के तीन साल पहले हो चुका था। १९३९ में महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया था कि नाजी जर्मनी में परमाणु-विभाजन का कार्य काफ़ी आगे बढ़ गया है और सम्भवतः जल्द ही वहाँ परमाणु बम का आविष्कार भी हो जाय। इसलिये अमरीका को भी अविलम्ब ही इस क्षेत्र में कार्य आरम्भ कर देना चाहिये। आइन्स्टीन की इस चेतावनी से प्रभावित और प्रेरित होकर रूजवेल्ट ने परमाणु-बम निर्माण योजना को तत्काल कार्यान्वित करने के लिये गुप्त प्रतिरक्षा-कोष से आवश्यक अनुदान की व्यवस्था की थी।

इसके पश्चात् १९४२ के अन्तिम चरण में लास एलाइस नामक नगर में अत्यन्त गोपनीय रूप से बनावटी नाम धारण करके तीन विश्वविख्यात वैज्ञानिक—नील्स बोर, एनरिको फ़ेर्मि और राबर्ट ओपेन हाइमर परमाणु-बम-निर्माण सम्बन्धी गवेषणा में लग गये। अनेक निरीक्षण-परीक्षण के बाद उन्होंने परमाणु में अन्तर्निहित महाशक्ति के विकास की विधि का अन्वेषण किया। किन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि यह महाशक्ति सर्वप्रथम प्रयुक्त हुई बिनाशास्त्र के निर्माण में, यद्यपि मानव-जाति के कल्याण के लिये भी इसके उपयोग की यथेष्ट सम्भावना थी।

सन् १९४५ की १६ जुलाई को एलायोगरडो रेगिस्तान में सबसे पहले परमाणु-बम का विस्फोट किया गया और उसके तीन हफ्ते बाद ६ अगस्त को जापान के हिरोशिमा शहर पर परमाणु-बम सर्वप्रथम

गिराया गया। इसके तीन दिन बाद एक और बम डाला गया जापान के नागासाकी शहर पर। इन परमाणु-बमों के गिराये जाने के बाद की दर्दनाक कहानी आज किसी से भी छिपी नहीं है।

पर इस सन्दर्भ में एक ऐसी बात भी है, जिसे बहुत कम लोग जानते हैं। और वह है, परमाणु-बम-योजना के प्रधान ओपेन हाइमर के बारे में। नागासाकी में परमाणु-बम की ध्वंस-लीला की खबर जब ओपेन हाइमर के पास पहुँची, तब मानवता के पुजारी इस वैज्ञानिक की अन्तरात्मा अनुताप की तीव्र ज्वाला में दग्ध होने लगी। उन्हें लगा कि इतने निर्दोष व्यक्तियों की शोचनीय मृत्यु के लिये वे ही उत्तरदायी हैं।

उनका यह अनुताप इतना गम्भीर था कि द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते ही उन्होंने परमाणु-बम-योजना के अधिकर्ता पद से स्तीफा दे दिया। स्तीफे का कारण उन्होंने यह बतलाया— “मेरा काम मानवों को मारने के हथियार बनाना नहीं, मेरा काम है, मनुष्यों का कल्याण करना।”

१९४२ में परमाणु-बम-योजना के अध्यक्ष पद को स्वीकार करने से पहले ओपेन हाइमर कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय तथा कैलिफोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी में प्रोफेसर थे। पुनः वे उसी पद पर काम करने लगे। १९४७ में वे इन दोनों संस्थाओं को छोड़कर ‘प्रिंसटन इन्स्टीट्यूट फॉर एडवानस्ड स्टडीज’ के अध्यक्ष पद पर चले गये और १९६६ तक उसी पद पर कार्य करते रहे। प्रिंसटन में रहते समय उन्होंने महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन के साथ भी काम किया।

प्रो. आइन्स्टीन की तरह ओपेन हाइमर की भी धारणा थी कि विज्ञान समस्त मानव-जाति की सम्पत्ति है और विज्ञान क्षेत्र में गोपनीयता नहीं होनी चाहिये। उनका कथन था कि गोपनीयता विज्ञान के अस्तित्व और उद्देश्य के मूल में कुठाराघात करती है। इसलिए वे यह चाहते थे कि परमाणु-शक्ति के रहस्य का उद्घाटन संसार के सब वैज्ञानिकों के उपयोग के लिये होना चाहिए। इस उदारता के लिये वे कटु आलोचना और सन्देह का शिकार बने। अमरीका के कर्णधारों ने उन्हें इस ‘अपराध’ के लिये कई साल तक अवहेलना के कारागार में डाल रखा था। पर १९६३ में उन्हें जब अपनी गलती महसूस हुई तो परमाणुविज्ञान में अभूतपूर्व देन के लिये ओपेन हाइमर को उन्होंने ‘एनरिको फेर्मि’ नामक बहुमूल्य पुरस्कार प्रदान किया।

१९०४ में न्यूयार्क के एक सम्भ्रान्त यहूदी परिवार में ओपेन हाइमर का जन्म हुआ था। १८ साल की अवस्था में हावर्ड विश्वविद्यालय से वे आनर्स के साथ स्नातक हुए। फिर उन्होंने इंग्लैण्ड की केवेन्डिश लेबोरेटरी में विख्यात वैज्ञानिक रदरफोर्ड की देख-रेख में कुछ समय तक अनुसन्धान किया। वहाँ से एक और मशहूर वैज्ञानिक मैक्स बोर्न उन्हें गोटिंगेन विश्वविद्यालय (जर्मनी) में ले गये। वहीं उन्होंने १९३७ में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद वे कुछ समय ज्यूरिच और लोडेन विश्वविद्यालय में रहे। १९३८

में वे अमरीका लौट आये और जीवन के अन्तिम दिन तक वहीं रहे। ओपेन हाइमर केवल एक महान् वैज्ञानिक ही नहीं थे, दर्शनशास्त्र के भी अनुरागी थे। भारतीय दर्शन का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया था।

अध्यात्मवादी वैज्ञानिक—श्री प्लांक

विख्यात है कि वैज्ञानिक स्वर्गीय जी. प्लांक के नाम से समस्त विज्ञान संसार परिचित है। इनके वैज्ञानिक अन्वेषणों का उद्देश्य न तो धन की प्राप्ति था, न पद लिप्सा—और न यश की लालसा ही। कोरा वृद्धि विलास मात्र भी न था वह। उन्होंने विज्ञान का सहारा लेकर जो अन्वेषण अथवा नवीन अनुसंधान किये वे उनकी आत्मा की ज्ञान-पिपासा से ही प्रेरित थे। उनका उद्देश्य मात्र लोकहित तथा मानवता की सेवा ही था।

श्री प्लांक का जन्म २३ अप्रैल, सन् १८५८ को जर्मनी के कील नामक शहर में हुआ। इनके पिता जर्मन विश्वविद्यालय में संवैधानिक विधियों के प्राध्यापक थे। आज भी जर्मनी में उनका स्मरण ‘प्रशियन सिविल कोड’ के विशेषज्ञ के रूप में आदर के साथ किया जाता है। भौतिक विज्ञान के प्रति रुचि श्री प्लांक ने अपने पिता से ही विरासत में पाई थी।

यों रुचि तो कई व्यक्तियों को कई विषयों से होती ही है, किन्तु विशेषता तब उत्पन्न हो जाती है जब उसमें कोई उल्लेखनीय सफलता अर्जित कर ली जाये।

ध्येय के प्रति निष्ठावान प्लांक अपने अध्ययन में सम्पूर्ण शक्तियों के साथ जुट गये। १७ वर्ष की अल्पायु में म्युनिख विश्वविद्यालय में प्रवेश पाया। गुरु के रूप में गुरुताव किचहार्फ तथा हेल्फहोज जैसे महान् वैज्ञानिकों का सम्पर्क तथा मार्गदर्शन प्राप्त हुआ और उसका लाभ उठाकर इन्होंने मात्र २१ वर्ष की अवस्था में ही किचहार्फ के निर्देशित विषय पर ‘डॉक्टरेट’ की उपाधि प्राप्त की। सन् १८८५ में किल विश्वविद्यालय में आप प्राध्यापक नियुक्त हुए और केवल ७ वर्षों में ही अपने गुरु श्री किचहार्फ के स्थान पर बर्लिन विश्वविद्यालय में कार्य करने लगे। यह प्रगति उनकी परिश्रमशीलता तथा गहन अध्ययनशीलता की ही प्रतीक है।

भौतिकशास्त्र का आपने गहन अध्ययन किया तथा कई मूल्यवान शोधों की किन्तु विज्ञान को जो इनकी सबसे बड़ी और सर्वाधिक मूल्यवान देन है वह है इनका ‘कणात्मक सिद्धान्त’ जो ‘क्वांटम थ्योरी’ के नाम से जाना जाता है। यह उनके निरन्तर बीस वर्ष के श्रम का सुफल था।

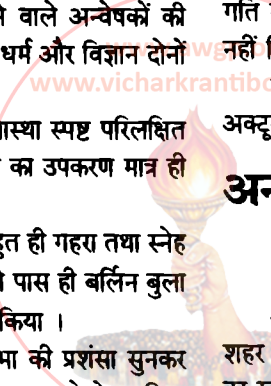
इसमें इन्होंने यह सिद्ध किया है कि शक्ति का स्वरूप अखण्ड नहीं, अपितु कणात्मक है। अर्थात् शक्ति अखण्ड रूप में प्राप्त न होकर हमें कणों के संग्रह के रूप में प्राप्त होती है। श्री प्लांक ने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार पदार्थ की इकाई अणु है—उसी प्रकार शक्ति की भी इकाई है जो कणों के रूप में पाई जाती है।

जिस प्रकार कोई भी पदार्थ अणुओं का संग्रह मात्र है उसी प्रकार शक्ति, शक्ति कणों का। इस कण को अंग्रेजी में क्वांटम नाम दिया गया है और प्लांक के इस कणात्मक सिद्धान्त को 'क्वांटम थ्योरी'।

आपकी इस शोध ने वैज्ञानिक जगत में हलचल उत्पन्न कर दी। अब तक के सिद्धान्तों के ऊपर यह अपूर्व विजय थी। अब तक की बहुमूल्य मान्यताओं को इनकी कई खोजों ने सारहीन प्रमाणित कर दिया था।

आपकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह थी कि विज्ञान को सदा आपने मानव का 'हित साधन' ही माना। आपका कहना था कि— "विज्ञान यदि मानवता के अहित की दिशा में अपने चरण बढ़ाता है तो वह विज्ञान ही नहीं है।

एक बार श्री जेम्स हम्फ्री ने पूछा— धर्म का स्थान विज्ञान और विशेषतः भौतिक शास्त्र, तेजी से लेता जा रहा है। पर क्या यह उचित है?"

तब प्लांक ने जो उत्तर दिया, वह इस प्रकार था। 'बात यह है कि मनुष्य जो धर्म की ओर आकृष्ट होता है इसका मूलकारण है उसकी आध्यात्मिक तृष्णा। वह उच्च की ओर प्रयाण करना चाहता है। विज्ञान को अपना जीवन समर्पित करने वाले अन्वेषकों की आराधना के पीछे भी यही रहस्य है। वस्तुतः धर्म और विज्ञान दोनों एक ही सत्य की ओर उन्मुख करते हैं।' 

उपरोक्त शब्दों में उनकी धर्म के प्रति आस्था स्पष्ट परिलक्षित होती है। विज्ञान को भी वे आध्यात्मिक क्षुधा का उपकरण मात्र ही मानते थे।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन से उनका बहुत ही गहरा तथा स्नेह पूर्ण सम्बन्ध था। उन्होंने आइन्स्टीन को अपने पास ही बर्लिन बुला लिया था और वर्षों दोनों ने एक साथ काम किया।

संसार के कई देशों से, प्लांक की प्रतिभा की प्रशंसा सुनकर कई छात्र उनके निर्देशों का लाभ उठाने उनके पास आते थे। प्रसिद्ध महिला अणु वैज्ञानिक डॉ. लीस मितनेर आप ही की शिष्या थीं।

आपकी विलक्षण बुद्धि तथा अपूर्व योग्यता के आधार पर आपको जीवन में बहुत सम्मान मिला। सन् १९१२ में इन्हें जर्मनी की विख्यात वैज्ञानिक संस्था 'प्रशियन एकाडेमी ऑफ साइन्सेज' का मन्त्री नियुक्त किया गया।

और सन् १९१९ में आपको विश्व के महानतम पुरस्कार— 'नोबेल पुरस्कार' से विभूषित किया गया।

सन् १९३० में सर्वोच्च सम्मान स्वरूप उन्हें जर्मनी की सर्वोत्कृष्ट विज्ञान संस्था 'केसर विलियम इन्स्टीट्यूट' का अध्यक्ष बनाया गया।

किन्तु प्लांक के जीवन में कभी इन सम्मानपूर्ण पदों के प्रति कोई आसक्ति अथवा प्रसन्नता नहीं देखी गई। वे तो अपनी साधना में ही लीन तथा व्यस्त रहते थे सदा। उन्हें कभी अपनी सफलताओं अथवा प्रशंसाओं को संजोने, सँवारने अथवा उनके प्रति सुख अनुभव करने का अवकाश ही न मिला। वे तो जैसे इन सबके प्रति अनासक्त, निर्लिप्त योगी की भाँति ही थे। वे मात्र वैज्ञानिक ही नहीं, महान् तत्त्वज्ञ

थे। सभी वरिष्ठ वैज्ञानिकों ने उन्हें 'विज्ञान जगत का ऋषि' घोषित किया है। सभी उन्हें एक वरुण्य ब्रह्मास्पद सूक्ष्मदर्शी विद्वान् मानते हैं।

अपने सिद्धान्तों के प्रति उनकी निष्ठा अडिग थी। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण निम्न घटना से मिलता है। इनकी तीन सन्तानें युवावस्था में ही परलोक प्रयाण कर चुकी थीं— मात्र एक पुत्र बचा था। उसे हिटलर ने कुछ राजनैतिक कारणों से बन्दी बना लिया था तब उसने इनके पास सन्देश भेजा कि "यदि आप मेरे प्रति वफादारी का वचन दें तो मैं आपके पुत्र को मुक्त कर दूँगा— अन्यथा फाँसी और मौत।"

और सिद्धान्तों के प्रति संकल्पशील प्लांक ने उत्तर दिया— "मेरे एकमात्र पुत्र की हत्या आप कर सकते हैं। किन्तु मैं अपने सिद्धान्तों की हत्या नहीं कर सकता।"

हिटलर यहूदियों का कट्टर विरोधी था जबकि प्लांक मानवता के पुजारी। प्रसिद्ध आइन्स्टीन ने आपकी वैज्ञानिक सिद्धि की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए एक स्थान पर लिखा है— "विज्ञान यदि मनुष्य की आत्मीयता अपेक्षा एवं तिरस्कृत रखकर उसे पार कर जाये तो गति में वह चाहे सारे अन्तरिक्ष को नाप ले— उसे अपना गन्तव्य नहीं मिल सकता।"

ऐसे थे आध्यात्मवादी वैज्ञानिक श्री प्लांक। जिनका निधन चार अक्टूबर उन्नीस सौ सैंतालिस को हुआ।

अनाथों को जोड़ने वाले कलाकार— हरमैन जी पेस्टोला जी

आस्ट्रिया का छात्र, जो अभी डॉक्टरी पढ़ रहा था, एक दिन शहर की एक व्यस्त गली से निकल रहा था तभी एक बच्चे के रोने का स्वर सुनाई दिया। बच्चे को देखने से लगता था वह देर से रो रहा है। किसी ने उसकी सहायता नहीं की। पूछा नहीं— "वह क्यों रो रहा है?"

युवक रुक बच्चे से पूछा— "क्यों रो रहे हो बच्चे?" बच्चा इतना ही कह पाया— 'पिताजी'— और-और वह बोल सकता होता तो बताता। ऐसे तो कई लोगों ने पूछा था पर जब कोई निश्चित पता नहीं चल सका तो लोगों ने कहा— पुलिस अपने आप पता लगा लेगी कौन बच्चे की हैरानी मोल ले। कितनी देर भटकता मालूम नहीं यदि युवक न आता। छात्र ने बच्चे को गोद में उठाया। जब उसने यह समझ लिया कि बच्चा किसी ग्रामीण का है, छूट गया है, बता नहीं सकता कौन है? कहाँ का है? तो उसे लेकर घर चला आया। पुलिस की बात उसके मन में आई थी पर उस सहृदय आत्मा ने अपने आपसे पूछा— "क्या मानवता कानून से ही सुरक्षित रहनी चाहिये? क्या जन-जीवन में उसके प्रति कुछ प्रेम, त्याग और सेवा का भाव नहीं आ सकता?" आत्मा ने कहा— "आ सकता है— आना चाहिए अन्यथा संसार में मनुष्य की मनुष्य के प्रति कर्तव्य भावना टिक भी नहीं सकती।"

बहुत पता लगाया पर बच्चे के अभिभावकों का पता न चला । तब वह एक दिन अनाथालय पहुँचा । उसने देखा यहाँ ऐसे सैकड़ों लड़के-लड़कियाँ पहले से ही विद्यमान हैं । युवक को देखते ही उनकी टोली दौड़ी चली आई । छात्र उन्हें वह छात्रों को बड़ी देर तक देखते रहे । बच्चों ने समझा एक और अनाथ हमारे बीच आ गया और छात्र ने देखा— इन लड़कों के लिये खाने-पीने का प्रबन्ध है, कपड़े मिलते हैं, शिक्षा की भी व्यवस्था है, खेलते-कूदते भी हैं पर अपने माता-पिता के पास रहकर खिल-खिलाकर हँसने और मखौल करने वाली मस्ती उनमें न देखी । उसे लगा अभी इनके जीवन में कोई अभाव है । स्नेह, सौजन्य और प्रेम का अभाव ।

बच्चे को अनाथालय पहुँचाकर युवक घर लौट आया पर लगा उसका कुछ खो गया है । खो, क्यों, अनाथालय में छूट गया है । सचमुच उसकी शान्ति और प्रसन्नता अनाथालय में खो गई थी । वह जितना विचार करता प्रश्न उतने ही गम्भीर हो उठते— लोगों की लापरवाही, गन्दे जीवन, क्रोध और वासना के शिकार कितने लड़के-लड़कियाँ, स्त्री-पुरुष अनाथ और परित्यक्त किये जाते रहते हैं । समाज की उदारता— उन्हें रहने को स्थान मिल जाता है, खाने को अन्न और पहनने को कपड़े भी किन्तु क्या इतने से ही जीवन सन्तुष्ट हो सकता है ? मनुष्य की मूल आवश्यकता है 'प्रेम और स्नेह ।' सौजन्य और सहज आत्मीयता— वह न मिले तो फूलों वाला संसार भी शोलों की तरह हो जाता है ।

उसके बाद से ही वह कई दिन अनाथालय गया । छूटे हुए बच्चों, परित्यक्त युवतियों और वृद्धावस्था में दुतकारे गये बुजुर्गों का वह जितना समीप से अध्ययन करता उसकी करुणा उतनी ही तीव्र हो उठती । कई रात-दिन वह छटपटाता रहा । इसलिये कि यह अनाथालय काफ़ी नहीं— मनुष्य को इससे भी आगे बढ़कर उन्हें इस तरह अपनाया चाहिए कि वे अपने पूर्व जीवन को बिल्कुल ही भूल जायें और नये संसार में इस तरह घुल-मिल जायें जैसे वह उसी का चिरकाल से अंग रहा हो । मानव जाति की विराट एकता को हम समझ सके होते तो आज संसार में अशांति और असन्तोष का नाम तक न होता पाप, बुराई, अपराध की तो बात कौन सोचे ?

पहले तो उसने एक नया आन्दोलन चलाने का निर्णय किया जिसका उद्देश्य था कोई सहृदय गृहस्थ किसी बच्चे को अपना ले, कोई किसी बालिका को गोद ले ले । परित्यक्त स्त्री के लिये किसी स्थान में धर्म-पत्नी न सही बहिन की तरह स्थान मिल जाये तो किसी घर वृद्ध मार्गदर्शक की तरह रह लें । पर हम, हमारा मनुष्य समाज इतना उदार और परमार्थी कहाँ ? लोग इतने विचारशील कहाँ जो सारे विश्व को एक परिवार मानकर मेरा-तेरा का भाव निकाल सकें ? युवक की योजना निरर्थक गई । कुल अँगुलियों में गिनने योग्य ही इस योजना के समर्थक और सहायक निकले ।

तब एक और उपाय उसने ढूँढ़ निकाला । उसने सोचा क्यों न अनाथों को जोड़कर ही नये परिवारों का निर्माण किया जाये ? उसने अपने विचार राज्याधिकारियों और पादरियों के सामने रखे पर सबने

योजना को बेकार और असम्भव ही बताया । युवक ने समाज की चुनौती स्वीकार कर ली । जब सारा संसार अपने स्वार्थ में लिप्त हो, अपनी ही उन्नति और महत्वाकांक्षाओं में धुत्त हो तब समाज के प्रति कर्तव्य भावना का आविर्भाव जगाने वाले इस युवक का आदर्श देवोपम प्रतिष्ठा ही थी जिससे सराहने और सहयोग देने वाले भी निकल ही आये । नये रक्त के सैकड़ों मित्र उसके हो लिए और इस तरह एक संघ की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य अनाथ बच्चों, परित्यक्ताओं और नाकरों को ढूँढ़कर उनके परिवार बसाना और इस कार्य में उनकी हर सम्भव मदद करना रखा गया ।

सन् १९४९ में तिरोल नगर में पहला परिवार बसाया गया । एक अथेइ आयु के व्यक्ति से एक परित्यक्ता का विवाह कराकर उन्हें एक बूढ़ा पिता, एक वृद्ध माता दो बच्चे सब एक तरह दहेज में दिये गये । पिता कहीं का, माता कहीं की बच्चों के घर-बार का पता नहीं वह स्वयं और पत्नी और इस तरह दूटे हुआ को एक स्थान पर जोड़ने का यह अभूतपूर्व प्रयोग हुआ और वह इतना सफल रहा कि देखते-देखते उनकी संख्या आस्ट्रिया में ही २० से भी अधिक हो गई ।

इन सफलताओं ने और लोगों के भी ध्यान आकर्षित किये । अखबारों में उसकी खूब प्रशंसा की गई । पोप पाल छठवें ने उसे नोबेल पुरस्कार के लिये प्रस्तावित किया और दिलाया । सैकड़ों लोगों ने उसकी मदद की । आज फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया और २० से भी अधिक देशों में इस तरह के सैकड़ों परिवार स्थापित हुये हैं जिनमें लाखों अनाथों से ईंट-रोड़े की तरह स्त्री-बच्चों और पुरुष ले लेकर हजारों परिवार बसाये गये हैं । इनमें परस्पर प्रेम होता है । कर्तव्य भावना होती है, एक-दूसरे के लिये मोह, ममता और दर्द होता है । ऐसा नहीं लगता कि अब वे अनाथ हों । अनाथों को इस तरह सुभीते की जिन्दगी दिलाने वाला यह कलाकार— हरमैन जी पेस्टोला जी आज भी अनाथ है उसका अपना कोई घर नहीं, पत्नी नहीं, बच्चे नहीं । सारा संसार उसका अपना हो गया है । अब उसे अपना घर बसाने की आवश्यकता भी नहीं रही । उसे विश्वमानव की आत्मा में ही आत्मसन्तोष और आनन्द मिल गया है ।

एक अकालग्रसित प्रतिभा— श्री रामानुजम्

कभी-कभी समाज में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जब वह कुछ ऐसे राजनीतिक, आर्थिक अथवा नैतिक समस्याओं में उलझ कर अनेक उन्नयन प्राप्त करती हुई प्रतिभाओं की ओर ध्यान नहीं दे पाता और वे उपेक्षा की आग में झुलस कर नष्ट हो जाती हैं ।

होनहार प्रतिभाओं की उपेक्षा करने में किसी हद तक समाज दोषी हो सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में वे प्रतिभायें भी कम दोषी नहीं हैं जो स्वयं ही अपनी उपेक्षा किया करती हैं और समाज की कृपा की प्रतीक्षा करते हुए निकम्मी बैठी रहती हैं । अपनी प्रतिभा को

प्रकाशित करने का स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करतीं। सर्वथा समाज के सहारे बैठे रहने वाले, जीवन में कभी उन्नति नहीं कर सकते। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि दूसरों के सहारे उन्नति की कामना करने वाले वास्तव में उन्नति करना ही नहीं चाहते। वास्तविक मन से जो अपनी उन्नति के आकांक्षी होते हैं वे परमुखापेक्षी नहीं रहते, बल्कि अपनी निज की बुद्धि तथा परिश्रम से काम में जुट जाते हैं और हठात् समाज को अपनी ओर आकर्षित करके, उसे यह सोचने पर विवश कर देते हैं कि यह एक होनहार प्रतिभा है इसकी उपेक्षा करने का अर्थ है अपनी हानि करना।

मद्रास प्रांत में जन्म लेने वाले श्री रामानुजम् की परिस्थितियाँ बड़ी ही संकुचित थीं। उनके पिता की इतनी भी आय नहीं थी कि वे परिवार को दोनों समय पूरा भोजन दे सकते। किन्तु तब भी रामानुजम् ने अपने अध्यवसाय के बल पर अपना अभ्युदय करके समाज के समक्ष एक उदाहरण उपस्थित कर दिया।

यही नहीं कि समाज ने भी उनकी और कोई ध्यान नहीं दिया। ठीक है समाज ध्यान देता भी किस तरह? वह तो उन्हीं की ओर ध्यान देता है जिनके आगे कुछ शोर होता चलता है और जिनके पीछे लक्ष्मी की चमक रहती है। उसे इतना अवकाश कहाँ कि वह वैभव-विभूति से जगमगाते हुए व्यक्तियों की ओर से अपनी दृष्टि हटा कर, उनकी ओर लगाए जो कठिन परिस्थितियों के बीच उन्नति एवं विकास के लिये संघर्ष करते होते हैं, किन्तु ऐसे श्रमवानों की संसार में कोई कमी नहीं है जो अपनी परिस्थितियों से मोर्चा लेते हुए और तिल-तिल आगे बढ़ते हुये समाज से सहायता की अपेक्षा नहीं करते। जबकि वह जो कुछ करते होते हैं या करना चाहते हैं वह सब होता समाज के हित के लिये ही। ऐसे ही अडिग तथा अविचल कर्मवीरों को निष्काम समाज सेवी कहा जाता है।

श्री रामानुजम् समाज की सेवा करना चाहते थे, किन्तु विशेष रूप से शारीरिक, सांस्थानिक अथवा आर्थिक सेवा वे नहीं करना चाहते थे। उनका झुकाव तो एक ऐसी स्थायी सेवा करने का था जो केवल अपने समाज अथवा राष्ट्र के ही लिए ही उपयोगी न हो बल्कि सारा संसार उसका लाभ उठा सके और ऐसी सार्वभौमिक सेवा एक मात्र ज्ञानदान के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकती। उनका विचार गणित के कुछ ऐसे नये सिद्धान्तों का अन्वेषण करना था जिससे गणित जैसा नीरस कहा जाने वाला विषय न केवल रुचिपूर्ण ही बने बल्कि सरल भी बन जाये। वे कुछ ऐसे सूत्रों का आविष्कार करना चाहते थे जिन की सहायता से अनेक प्रकार के प्रश्न समान सरलता के साथ हल किये जा सकें।

देखने-सुनने में तो वह बात बड़ी ही छोटी मालूम होती है कि क्या गणित के कुछ सिद्धान्त—इनसे संसार का क्या बनता—बिगड़ता है? किन्तु गणित के सिद्धान्तों का महत्त्व उन ज्योतिषियों से पूछो जो इनकी सहायता से ग्रह-नक्षत्रों की गति का पता लगाते हैं, उन वैज्ञानिकों से पूछो जो इनके उपयोग से प्रकृति के तत्त्वों को खोज निकालते हैं, उन अर्थशास्त्रियों से पूछो जो इनकी मदद से संसार का अर्थ तन्त्र नियन्त्रण में रखते हैं।

फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि कोई भी उपयोगी बात उपयोगी ही है फिर चाहे वह छोटी हो अथवा बड़ी। जो जिस रूप में जितनी भी समाज की सेवा कर सकता है, संसार का हित कर सकता है, उसे करना चाहिये। संसार के विकास में अपना अंशदान करना प्रत्येक का पावन कर्तव्य है। मनुष्यों के छोटे-छोटे अंशदान मिलकर समाज का कितना बड़ा दान हो सकता है इसका अनुमान अपने मस्तिष्क से किसी समय भी दूर नहीं करना चाहिये। किसी तालाब को भरने के लिये किसी को एक बूँद जल का दान करने में भी न तो संकोच करना चाहिये और न लज्जित होना चाहिये। जिनके पास जो भी साधन हैं, जो भी क्षमता है उस भर संसार का हित करना मनुष्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

श्री रामानुजम् में न तो कोई दिव्य प्रतिभा थी और न कोई विलक्षण बुद्धि। हाँ इतना अवश्य था कि अपने विद्यार्थी काल से ही उन्हें गणित में विशेष रुचि थी। अन्य विषयों की अपेक्षा उनको गणित के प्रश्नों को तरह-तरह से हल करने में बड़ा आनन्द आता था। धीरे-धीरे जब वे सयाने होने लगे तो अपनी इस विशेषता को पहचानने लगे। निदान उन्होंने अपनी अभिरुचि को लक्ष्य के रूप में बदलना शुरू कर दिया।

अपने इस गुण का महत्त्व तथा प्रामाणिकता को जानने के लिये रामानुजम् ने अध्यापकों के दिये प्रश्नों को नये-नये तरीकों से हल करके शिक्षकों के सम्मुख रखने शुरू कर दिये और उनसे प्रशंसा तथा सराहना पाते हुये उत्साहित होने लगे। अपनी प्रारम्भिक सफलता से प्रोत्साहित होकर उनका गणित के विषय में आत्मविश्वास जाग उठा।

यद्यपि रामानुजम् की इस विशेष प्रतिभा से लोग परिचित होने लगे थे किन्तु वे अपनी सहज उपेक्षा वृत्ति के कारण कोई ध्यान न देते। यहाँ तक कि उनके माता-पिता ने भी पुत्र के भविष्य का कोई विचार किये बिना ही उन्नीस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह कर दिया।

इस नये उत्तरदायित्व के आने से श्री रामानुजम् की सारी साधना भंग हो गई और वे पत्नी के भरण-पोषण की चिन्ता करने लगे। घर की परिस्थिति ऐसी न थी कि रामानुजम् के साथ उनकी पत्नी का भी भरण-पोषण किया जा सकता। फिर रामानुजम् की गैरत ही यह कब गवारा करती कि वे अपनी पत्नी के भरण-पोषण का भार अपने कम आय वाले पिता के सिर पर डालकर अपने गणित-सिद्धान्तों की खोज में लगे रहते। अब जब उन्होंने गृहस्थ जीवन अपना ही लिया था तो उसके संवाहन-कर्तव्य से विमुख किस प्रकार हो सकते थे। निदान इन्टर से पढ़ाई छोड़कर वे उपार्जन की चिन्ता में घूमने लगे। कुछ ही प्रयत्न से चालीस रुपये मासिक वेतन पर क्लर्क मिल गई।

यद्यपि इस प्रकार पिता के आर्थिक सहायक बनने के साथ-साथ श्री रामानुजम् एक सदगृहस्थ भी बन गये तथापि उन्हें हार्दिक सन्तोष न हो सका। उनके मन में गणितज्ञता की जो लगन लग चुकी थी वह उनकी आत्मा को चैन न लेने देती थी। अन्दर से बार-बार यही आवाज आती थी कि क्या मैं इसी प्रकार कुछ पैसों के लिये दिन भर कलम रगड़ने के लिये पैदा हूँ? क्या मानव-जीवन का इतना ही उद्देश्य है कि वह कुछ कमाये और खाता-पीता हुआ; इस संसार से चल बसे। इन्हीं भावनाओं से भरकर उनका हृदय भारी हो जाता और वे अपने गणित सिद्धान्तों की खोज के लिये तड़प उठते।

बहुत दिन मानसिक संघर्ष करने के बाद जब उनकी लगन ने उन्हें चैन न लेने दिया तो वे अपने कार्यालय के कार्य से जरा भी अवकाश मिलते ही अपनी खोज में लगने लगे। इस प्रकार कई महीने अधिकारियों की दृष्टि बचाकर काम करते रहने के बाद एक दिन उनके गणित सम्बन्धी कागज अंग्रेज अधिकारी के हाथ लग गये। वे महोदय स्वयं भी एक अच्छे गणितज्ञ थे। अतएव उन्होंने जब रामानुजम् के उन कागजों को पढ़ा तब वे यह देखकर दंग रह गये कि जिन प्रश्नों तथा हलों का अंकन उन कागजों में किया गया था गणित के क्षेत्र में एक नवीन खोज थी।

गुणग्राही उक्त अंग्रेज अधिकारी रामानुजम् से कुछ कहने के बजाय यह सोचने लगा कि कितने खेद का विषय है कि एक ऐसा व्यक्ति जवान युवक अपने समाज की उपेक्षा का शिकार बना हुआ जीवन खराब कर रहा है जबकि इसकी प्रतिभा मानव समाज के लिये बहुत ही उपयोगी बन सकती है।

उक्त अंग्रेज अधिकारी ने गम्भीरता से विचार कर तथा अच्छी प्रकार से समझ-बूझकर रामानुजम् के वे सारे कागज इंग्लैण्ड के विश्व विख्यात गणितज्ञ प्रो. जी. एच. हार्डी के पास भेज दिये। प्रो. हार्डी ने रामानुजम् के कागजों का अध्ययन-मनन करके यही निष्कर्ष निकाला कि यदि यह युवक भारत में मरने-खपने के बजाय हम लोगों के बीच इंग्लैण्ड में आ जाये तो बहुत कुछ काम कर सकता है। निदान उन्होंने मद्रास टेपो ट्रस्ट अधिकारी को लिख दिया कि उस भारतीय युवक रामानुजम् को किसी प्रकार इंग्लैण्ड भेज दें।

रामानुजम् से होता हुआ उनके इंग्लैण्ड भेजे जाने का प्रस्ताव जब उनके माता-पिता तथा परिजनों के पास पहुँचा तब तो वे आपे से बाहर हो गये और विदेश जाना धर्म विरुद्ध बताकर घोर विरोध करने लगे। किन्तु रामानुजम् की दृढ़ इच्छा तथा अंग्रेज अधिकारियों के समझाने पर रूढ़िवादी परिजन इस शर्त पर रामानुजम् को इंग्लैण्ड भेजे जाने की अनुमति के लिये सहमत हो गये कि वहाँ जाकर भी शालिग्राम की पूजा करेगा, धोती-कुर्ता पहनेगा और अपने हाथ से ब्राह्मणोचित भोजन बनाकर खायेगा। अपनी गर्ज के लिये युवक रामानुजम् सभी शर्तें निभाने की प्रतिज्ञा करके सरकारी छात्रवृत्ति पर इंग्लैण्ड चले गये।

इंग्लैण्ड पहुँचकर रामानुजम् संसार को भूलकर प्रो. बाटसन हार्डी तथा मोर्डल के सम्पर्क में रहकर गणित के नये-नये सिद्धान्तों की खोज से संसार को लाभान्वित करने लगे। उनकी आश्चर्यजनक खोजों से प्रभावित होकर उक्त विद्वान् गणितज्ञों ने उनकी इंग्लैण्ड की रॉयल सोसाइटी से फेलोशिप के लिये सिफारिश की जिसके फलस्वरूप वे फेलो ऑफ दी रॉयल सोसाइटी होकर एक स्पृहरणीय सम्मान के भागीदार बने। विद्या तथा योग्यता की पूजा क्या देश क्या विदेश सभी जगह सम्मान रूप से होती है।

किन्तु खेद का विषय है कि लगभग तीन वर्ष रूढ़िवादियों की शर्त पूरी करने और इंग्लैण्ड की उस घोर सर्दी में नंगे होकर अपने हाथ से भोजन बनाने, धोती-कुर्ता पहनने तथा ब्रह्ममुहूर्त में नहा-धोकर

बिना वस्त्र पहने घण्टों पूजा पर बैठने से उनका स्वास्थ्य चूरचूर हो गया और तैतीस वर्ष की अल्प आयु में ही वह चमत्कारी प्रतिभा सदा के लिये बुझ गई।

इस हो-हार प्रतिभा का जन्म मद्रास प्रान्त में १८८७ के आस-पास तथा तिरोधान इंग्लैण्ड में ही १९२० के लगभग हुआ।

‘युक्ति ही सफलता’ के सन्देश वाहक— हेनरी ट्राट

संसार में एक देश—अमेरिका ऐसा भी है जहाँ माचिसें निःशुल्क मिलती हैं, जबकि उसका मूल्य प्रति माचिस कई सेन्ट पड़ता है। अनुमान है कि प्रतिवर्ष ४ अरब माचिसें उपभोक्ताओं को बिना मूल्य बाँट दी जाती हैं। इन्हें कागजी माचिस के नाम से पुकारा जाता है।

इस प्रकार जो धन प्रयुक्त होता है वास्तव में वह निरर्थक नहीं जाता, उससे अनेकों गुना लाभ दुकानदारों और वस्तु निर्माताओं को होता है क्योंकि यह माचिसें विज्ञापन का ठोस आधार होती हैं। माचिस में बीस तीलियाँ होती हैं और उन तीलियों में एक विज्ञापन का कागज लिपटा रहता है। इस तरह वस्तु का एक बार में २० बार विज्ञापन हो जाता है और उस वस्तु का नाम-पता उपभोक्ता को पूरी तरह कंठस्थ हो जाता है। विज्ञापन का यह विचित्र तरीका अब जर्मनी आदि और भी कई देशों में चल पड़ा है। इससे वहाँ का हर नागरिक प्रभावित है।

इस आविष्कार का श्रेय हेनरी ट्राट नामक व्यापारिक एजेन्ट को दिया जाता है। हेनरी ट्राट की यह सफलता इस बात का प्रतीक है कि मनुष्य अपनी गिरी-गुजरी और निराशापूर्ण स्थिति को भी युक्ति के द्वारा सफल बना सकता है। सफलता के एक नहीं सैकड़ों द्वार हैं, उन्हें खोलने के लिये उद्यम, उद्योग और युक्तियों से काम लिया जाय तो अनेक मार्गों में कोई एक सफलता की सीमा तक पहुँचा ही देता है।

कोई ७५ वर्ष पहले की बात है फिलाडेल्फिया में जोशवा पोसे नाम का एक वकील रहता था। उन दिनों जिन माचिसों का प्रचलन था उनकी तीलियाँ आज जैसी ही होती थीं, आकार में उनका बोझ अधिक होता था। जब में रखने में वे बड़ी भद्दी मालूम पड़ती थीं। एक दिन जोशवा पोसे के मस्तिष्क में विचार आया कि परम्परागत वस्तुओं में यदि कोई असंगति हो अथवा भौड़ा या भद्दापन हो तो उनमें उचित सुधार किया जाना चाहिये। उसने एक दिन कैची से कई बोर्ड के बारीक टुकड़े काटे। कहीं से माचिस में लगाने का थोड़ा मसाला प्राप्त कर लिया। उसे इन कागजों की तीलियों में लगाकर जलाया तो प्रयोग सफल रहा। यह कागज की तीलियाँ हलकी भी थीं और अपेक्षाकृत शीघ्र आग पकड़ लेती थीं। जोशवा पोसे ने इस खोज को एक कम्पनी को बेच दिया। उसे काफ़ी धन भी मिला।

डायमण्ड इण्डस्ट्रीज नामक उस कम्पनी ने थोड़े ही समय में इस तरह की बहुत-सी माचिसें बना डालीं, पर बाजार में उनकी खपत न के बराबर हुई। अधिकांश लोग पहली माचिसों का ही प्रयोग करते थे।

अन्त में इन माचिसों के प्रसार का काम हेनरी ट्राट ने लिया। उसने लोगों में इनकी उपयोगिता का खूब प्रचार किया। कमीशन देने का प्रलोभन भी दिया किन्तु अन्त में असफलता ही हाथ लगी।

उपयोगी बातें लोगों को समझना और मनवा लेना उतना ही कठिन है जितना किसी को धर्म एवं नैतिक पथ पर अग्रसर करना। सीधी-सच्ची बातें लोगों के मस्तिष्क में कम चढ़ती हैं। जिनमें थोड़ा आकर्षण होता है अथवा ढर्रे के जीवन में लोगों को अधिक सुविधा अनुभव होती है।

कमर्षी दिन तक विचार करते-करते हेनरी ट्राट के मस्तिष्क में एक बात आई कि यदि युक्तियों और सतत् प्रयत्नों का सहारा लिया जाय, तो ढर्रे के रिवाजों और प्रचलनों को भी एक दिन पूरी तरह मोड़ा जा सकता है और एक दिन उसका यही विचार व्यवहार में भी पूरी तरह सार्थक हुआ।

एक दिन ट्राट ने एक व्यक्ति को विज्ञापन के एक पर्चे को मोड़ कर पंखा झलते देखा तो उसके मस्तिष्क में एक योजना कौंधी। उसने सोचा विज्ञापनों पर लोग बहुत अधिक धन खर्च करते हैं, यदि इन माचिसों को विज्ञापन का माध्यम बनाया जा सके तो माचिसों का प्रचार तेजी से हो सकता है।

फिर क्या था उसने एक अचार बेचने वाली कम्पनी के मैनेजर को समझाया कि आप छोटे-छोटे विज्ञापन के पर्चे बनाकर माचिसों की तीलियों में लपेट कर लोगों को माचिस निःशुल्क दिया करें तो जितने पैसे से एक बार विज्ञापन होता है, उतने से उसकी २० बार पुनरावृत्ति हो जो शायद पढ़ने वाले और प्रयोग करने वाले को आजीवन न भूले।

बहुत समझाने के बाद मैनेजर सहमत हो गया। उसे शीघ्र ही यह पता चल गया कि यह अनोखा तरीका विज्ञापन के लिये बहुत कारगर और प्रभावी है। फिर क्या था एक तम्बाकू की फैक्टरी से भी बहुत-सी माचिसों के आर्डर मिले। इसके बाद एक-एक करते हुये सैकड़ों कम्पनियों ने कागजी माचिस की इस विज्ञापन पद्धति को अपना लिया और सारे अमेरिका में वह निःशुल्क वितरित की जाने लगी।

जो लोग हेनरी ट्राट की तरह उद्योग करते समय निराश नहीं होते वरन् सफलता के लिये अनेक प्रयोग करते हैं, वे एक-न-एक दिन अवश्य ही सफल और समुन्नत होते हैं।

लोकसेवक—पालमारियो तिराबासी

तिराबासी एक रात अस्पताल के बरामदे में टहल रहे थे। बड़ा सुहावन समय था। नींद कह रही थी चलो अब तो बिस्तर पर विश्राम किया जाये। आँखें कह रही थीं—मालिक थक गई हूँ—आराम चाहती हूँ। सारा शरीर भी दिन भर की थकान से चूर हो चुका था इसलिए अब विश्राम करना जरूरी ही था। तिराबासी ने एक कदम उठाया ही था कि एक हलकी-सी करुण चीत्कार उनके कानों पर पहुँची। आवाज बहुत दुःख भरी थी, इसलिये दूसरा कदम आगे न बढ़ पाया।

तिराबासी फिर पीछे लौटे। जिधर से आहत ध्वनि आ रही थी, वह दबे-पाँव उधर ही बढ़ते गये। अस्पताल के पीछे से रोने का स्वर

आ रहा था। तिराबासी ने आकर देखा एक बुढ़ा ज्वर और पीड़ा से कराह रहा है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि कैसिनो के युद्ध में उसका सम्पूर्ण परिवार हवाई हमले में मारा गया, एक वही अभागा दुनिया का मुहँ देखने को बचा है। बड़े कष्ट और पीड़ाओं में वह रोम तक पहुँचा था। अस्पताल से आगे बढ़ने में अब उसका साहस कहाँ से होता, शरीर में जरा-भी शक्ति शेष न रही थी।

तिराबासी ने वृद्ध को अपने कन्धों पर उठा लिया—बाबा ! उन्होंने कहा—“तुम अपने आपको असहाय मत समझो, परमात्मा की दुनिया से दया अभी उठी नहीं, कहीं-न-कहीं से तुम्हारे लिये भी उनकी कृपा की एक किरण फूटेगी ही।” वृद्ध को अस्पताल पहुँचाया। दवा, पट्टी, भोजन और विश्राम कराने तक सबेरे के चार बज गये, तब तिराबासी अपने बिस्तर पर लौट पाये।

तिराबासी का पूरा नाम मारियो तिराबासी है। इटली के रोम नगर में एक सम्पन्न घर में जन्मे थे। स्वयं भी सरकारी सर्विस में लग गये थे। २८ साल हँसने-खेलने की उम्र थी। इसी समय द्वितीय महायुद्ध छिड़ा, जिसमें भयंकर रक्तपात हुआ। सारा इटली आहत और शरणार्थियों से भर गया।

मौज लेने वाले तब भी मौज ले रहे थे। जिन्हें केवल अपने स्वार्थों की चिन्ता होती है, जो आत्मा की पीड़ा को जरा-भी अनुभव न करते हों, उनके लिये कष्ट का समय हो तो क्या—अमन का समय हो क्या—दूसरों की सेवा की चिन्ता उन्हें क्यों होने लगी? पर जिनके हृदय में दया की, पीड़ित आत्मा की सेवा की सहानुभूति की जरा भी रोशनी होगी वह भला ऐसे समय क्या चुप बैठेगा? बैठेगा तो उसकी आत्मा धिक्करोगी—रे, यह क्या? यह समाज, सारा जगत् अधर्म, अन्याय, पीड़ा, कष्ट और परिताप से झुलस रहा है और तुम्हें मौज-शौक की सूझी है। जिस मानव-धर्म ने तुम्हारे विकास के लिये इतने परिश्रम किये हैं, क्या उसके प्रति तुम्हारा कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता?

मारियो तिराबासी उस दिन भरपूर नींद नहीं ले सके। उनके मस्तिष्क में भी ऐसा ही तूफान खड़ा था और पूछ रहा था—“तिराबासी सारा देश संकट-ग्रस्त है। आत्मा कुम्हला रही है। क्या उसकी सेवा के लिये आगे आने वालों का यहीं खात्मा हो जायेगा?”

तिराबासी ने कहा—“नहीं यह कैसे हो जायेगा? महापुरुष ईसा ने जन-सेवा में अपना सर्वस्व लुटा दिया, सुकरात, टॉलस्टाय का जीवन लोक-सेवा में उत्सर्ग हो गया। बुद्ध और मजहर ने उसके लिये बड़े-बड़े त्याग किये, वह परम्परा रुक नहीं सकती। मेरी आवश्यकतायें ही कितनी हैं, परमात्मा सारी सृष्टि को बढ़िया-बढ़िया भोजन और वस्त्र देता है, मेरे लिये क्या वह रूखी-सूखी रोटियाँ और तन ढकने को कपड़े का टुकड़ा भी नहीं दे सकता? जरूर देगा, उससे अधिक और आडम्बर चाहिये भी क्या?”

तिराबासी ने जमी-जमाई रोजी पर ठोकर मार दी। उस दिन उसने नौकरी से स्तीफा दे दिया और दुःखियों की सेवा, लोगों को प्रकाश देने की साधना में उसका जीवन बीतने लगा।

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनो का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रंगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, बिनोवाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनो में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनो का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, मैं अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अंग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है— वहाँ पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं— जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मीठे जल वाला कुँआ माना गया— वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इंटर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन वी व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुःखी, तनावग्रस्त

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छपी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी धीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट् यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्यास अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञांशुयोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञाननगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शान्तिकुंज को उनसे एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत् चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ। विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहाँ उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७१ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनो को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्रायः ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टांतर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीली संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावन्त होने का मन करता है।

ॐॐॐ

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनसे अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है। जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन

समग्र वाङ्मय का परिचय

२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्त्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२
(सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण

३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?

३८. प्रज्ञोपनिषद्
 ३९. नीरोग जीवन के महत्वपूर्ण सूत्र
 ४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
 ४१. जीवेम शरदः शतम्
 ४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
 ४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
 ४४. मरकर भी अमर हो गये जो
 ४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
 ४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
 ४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
 ४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
 ४९. शिक्षा एवं विद्या
 ५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
 ५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
 ५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
 ५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
 ५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
 ५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
 ५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
 ५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
 ५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
 ५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
 ६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
 ६१. गृहस्थ : एक तपोवन
 ६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
 ६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
 ६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
 ६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
 ६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
 ६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
 ६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
 ६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
 ७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)
- वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—**
७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
 ७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय

७३. चिन्तन का विधेयात्मक-

- निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन: एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

